श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

प्रथम व द्वितीय भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी वन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

संस्करण १०००] सन् १९७४

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एव प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,,	वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती	धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,,	मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	,,

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द वैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, मुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,, गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इजीनियर,	कानपुर
३०	,, मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मडी,	आगरा
३१	,, सचालिका, दि० जैन महिलामडल, नमककी मडी,	आगरा
३२	,, नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुड़की
३३	,, झव्वनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,, मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,, बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, दिगम्वर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	,, माता जी धनवती देवी जैन, राजागज,	इटावा
४०	,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,, हुकमचद मोतीचद जैन,	मुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	मुलतानपुर
४७	श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, वजाज	गया
४८	,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या,	जयपुर
५०	,, * बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है, शेष आने है तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मै हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

•••○O○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमे ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमे छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
की

प्रवचनसार पर प्रवचन

ज्ञानाधिकार

सर्वव्याप्येक चिद्रूप स्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानंदात्मने नमः ॥

यह प्रवचनसार कुन्दकुन्द रचित है । भगवान कुन्दकुन्दने बालावस्थामे मुनिपदको धारण किया और निज ज्ञायकरूप आत्माके अनुभवमे अपना जीवन व्यतीत किया । उनके ग्रन्थ समयसार, नियमसार और प्रवचनसार सभीमे अध्यात्मध्वनि है । उनके सर्व ग्रन्थोका उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञानभावकी पुष्टि करना है ।

पूज्य श्री कुन्दकुन्ददेवका पवित्र जीवन—जब हम कुन्दकुन्दाचार्यके वचनपर दृष्टिपात करते है तो ज्ञात होता है कि जन्मकालसे ही उनमे अध्यात्मभावोके सस्कार भरे हुए थे । जब वे केवल बच्चे थे तब उनकी माता उन्हे पालनेमे सुलाकर ये लोरिया गाया करती थी—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि ससारमायापरिवर्जितोऽसि ।
ससारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रा श्रीकुन्दकुन्द जननीदमूचे ॥

अर्थात् श्री कुन्दकुन्दकी माता बचपनमे पालनेमे झुलाती हुई कुन्दकुन्दसे कहती है कि हे बालक आत्मन् ! तू शुद्ध है, समस्त परद्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल एव परभावोसे रहित है । तू बुद्ध है, ज्ञानमय है, निरजन है, द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित है, ससारकी अन्तरंग बहिरंग रूप मायासे परिवर्जित है । ससारके स्वप्न, रागद्वेपादि प्रवृत्तिया और मोहिनीनिद्रा-अज्ञानभाव दोनोंको छोडो । बार बार इस ही व ऐसे ही गीतोको बचपनसे ही सुनने वाले कुन्दकुन्द ज्यो ज्यो बढते गये उनकी ज्ञानकला दोजके चद्रमाकी तरह विकसित होती गई । वे ११ वर्पकी आयुमे पूर्ण विरक्त महाव्रती साधु हो गये । उन्होंने अध्यात्मका पूर्ण मनन किया, आगमयुक्ति के पूर्ण विद्वान हुए, गुरुपरम्परागत उपदेशामृतोका पान किया तथा स्वानुभवसे ही निज ब्रह्म-

भावका साक्षात्कार किया था। उन्हीं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित प्रवचनसारकी तत्त्वप्रदीपिका नामकी टीकाके रचयिता उत्कृष्ट अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्यका यह प्रारंभिक मगलाचरण है।

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानंदात्मने नम॰ ॥

मंगल आचरण—मगलाचरण शब्दका अर्थ है "मं पाप गालयतीति मंगल अथवा अथवा मग सुख लाति इति मंगलम् तस्य आचरण प्रकटीकरणं कथनं तदनुकूलतया प्रवर्तनं वा मंगलम्" जो पापको नष्ट करे अथवा सुखको प्राप्त करावे ऐसे परिणामका प्रकट करना व उसके अनुसार प्रवर्तन करना सो मगलाचरण है।

यद्यपि भगवत्प्रणीत परमागमका एक एक शब्द मगल है तथापि जिनके मूलसे परम्परागत जिनसूत्रके निमित्तसे ही सातिशय अलौकिक अनुपम ज्योति जिन्हे प्राप्त हुई उन्हें इस विभूतिके वर्णनके समय उन प्रभुका उस परमात्मभावका बहुमान आये बिना रहता नही है, इसी भावके प्रतिफलस्वरूप उत्पन्न हुए योगके निमित्तसे श्री सूरिजी के मुखकमलसे प्रथम ही प्रथम जो वचन सौरभ विकसित हुआ वह मगलाचरण ही है।

चित्स्वरूपकी सर्वव्यापिता—इस मगलाचरणमे परमात्माको नमस्कार किया है। परात्मा—पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। इसे ही परात्मा, शुद्ध आत्मा आदि कहते हैं। परात्मा कैसे है ? सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय सर्व द्रव्योंमे, सर्व क्षेत्रोंमे, सर्व कालोंमे, सर्वभावोंमे, व्यापी है। फिर भी एक चैतन्य स्वरूप है। यहा ये दोनो विशेषण भावकी अपेक्षासे है और दूसरा विशेषण भावकी त्रैकालिक सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे है। शुद्धात्मा सर्वज्ञ ज्ञानभावका निज ज्ञेयाकार स्वरूपसे व्यापक है। जहा यह वर्णन आता है कि प्रभु अपने आत्मप्रदेशोमे रहते हुए समस्त विश्वको जानते है वहा ज्ञानकी अपेक्षा तो सर्वज्ञता कह दी है परन्तु क्षेत्रकी अपेक्षा करके सयुक्त दृष्टि बनाई गई है। व्याकरण शास्त्रमे जो धातुएँ जाननेके अर्थमे है वे धातुएँ गमनके अर्थमे भी है। जिससे यह सामजस्य बैठता है कि जानना गतिरूपक होता है। व्यवहारमे भी कहते हैं कि मेरा ज्ञान इस सारे कमरेमे है। यहाँ भी केवल भावकी अपेक्षा विचारो कि ज्ञानका जो स्वरूप है साधारणतया अनुपयुक्त करके उसका विशेषकी दृष्टिसे क्या उत्तर होगा ? इसका जो उत्तर होगा वह आत्मप्रदेशोकी परक्षेत्रगत सकुचितताकी प्रतिष्ठा न करेगा। परमात्मा सर्वद्रव्य, उनके सर्वगुण, उनकी सर्वपर्यायें, समस्त अविभाग अंश, सबको एक समयमे जानते हैं। प्रत्येक आत्माओका प्रधान लक्षण ज्ञान है। ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा लक्षित है तब परमात्मा भी ज्ञान गुणके द्वारा लक्षित होते हैं। वह ज्ञान भावकी दृष्टिसे सर्वविश्वरूप है अत सर्वव्यापी है। फिर भी एक

चैतन्य स्वरूपमय है। ये दोनो बात सामान्य विशेष भावकी अपेक्षासे हैं। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है और गुण भी सामान्यविशेषात्मक होते है। गुणका विशेष रूप पर्यायसंज्ञित है परन्तु कोई भी पर्याय उस समय गुणसे भिन्न नही है और गुणपर्याय द्रव्यसे भिन्न नही है।

आत्माके चैतन्यकी अविष्वग्भावता—चित्स्वरूप तो आत्माका सर्वस्व है। कितने ही लोग बुद्धिगत ज्ञानको उत्पन्न विनष्ट देखकर उस ज्ञानसे रहित आत्माकी स्थिति समझकर आत्माको अचेतन अज्ञानी कह देते है और ज्ञानके समवाय सम्बंधसे चेतन ज्ञानी कहते है। परतु यह तो विचारो कि आत्माके स्वभावमे जब चैतन्य ही नही तब समवायसम्बधसे चैतन्य आ भी जावो, फिर भी समवायसम्बधके बिना अथवा चैतन्यस्वभावके बिना आत्मा वस्तु भी क्या है ? चित्त तो आत्माका अविष्वग्भावमय धर्म है, प्राण है तथा जब चेतना है तो उसका परिणमन कार्य भी निरंतर है। उसका कार्य है प्रतिभास। साराश यह है कि आत्मा चैतन्य-मय ज्ञानदर्शनमय है तथा शुद्ध ज्ञान सर्वज्ञ है, शुद्ध दर्शन सर्वदर्शी है। जब हम ऐसी छद्मस्थ अल्पज्ञान इन्द्रिय दशामे भी इतना सब कुछ जान लेते है तब जहाँ ज्ञानके आवरक कर्मका, आवरक नोकर्मका सर्वथा अभाव हो गया। उसका ज्ञान सर्वव्यापी न हो, हम लोगोके ज्ञानसे भी गया बीता ज्ञान हो, ऐसा नही। सीमायें अशुद्धावस्थामे होती हैं। शुद्धावस्थामे गुण असीमपर्यायी होता है। भगवान परमात्मा तो सर्वव्यापी व एक चिद्रूप है, स्वरूप है, ऐसे परमात्माको नमस्कार हो।

आत्माकी स्वोपलब्धिप्रसिद्धता—अब दूसरा विशेषण कहते है 'स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय' परमात्मा स्वकी उपलब्धिसे प्रसिद्ध है। स्वकी उपलब्धि चरमसिद्धिको प्राप्त आत्मसिद्धि वाले है। वास्तवमे सिद्धपर्याय शुद्धपर्याय स्वकी उपलब्धिका परिणाम है। स्वकी उपलब्धिसे विकसित है। यहाँ स्वका अर्थ है निर्विकल्प अनाद्यनतस्थायी सामान्य स्वरूप कारणशुद्धपर-मात्मा या कारणसमयसार अर्थात् परमपारिणामिक भाव। शुद्धावस्थारूप मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति किस उपायसे होती है ? इस बातका वर्णन इस दूसरे विशेषणमे है।

जीवके निज तत्त्व ५ माने गये है—(१) औपशमिक भाव, (२) क्षायिक भाव, (३) क्षायोपशमिक भाव, (४) औदायिक भाव, (५) पारिणामिक भाव। इनमेसे आदिके ४ अर्थात् औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तो पर्यायरूप है और पारिणामिक भाव जिसके कि २ प्रकार है—(१) शुद्ध पारिणामिक (२) अशुद्ध पारिणामिक, परम पारिणामिक तो एक ही प्रकार है, ज्ञानदर्शन चेतनामय शुद्ध जीवत्वरूप है किन्तु अशुद्ध जीवत्व अशुद्धपारिणामिक भावके ३ भेद है—(१) दसप्राण जीवनरूप, (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व। पारिणामिक भावोमे से परमपारिणामिक भाव शुद्धद्रव्य रूप है। शेपके ३ अशुद्धद्रव्यरूप है व पर्यायार्थिक नयरूप है। अब यहाँ जो पर्यायरूप है सो तो कार्य है

और शुद्धपारिणामिक भाव बंधमोक्षरहित है। किन्तु जो शुद्ध पारिणामिक भावरूप चैतन्य भावकी भावनारूप परिणति है वह शुद्धोपयोगका साधन उपाय है। यह औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक भावरूप है। कथनका सारांश यह है कि प्रभु परमपारिणामिक भाव स्वरूप स्वकी उपलब्धिसे प्रसिद्ध हुए हैं।

निजब्रह्मकी ज्ञानानन्दरूपता—अहो, देखो तो कल्याणका मूल स्रोत यही तो है, इसे ही न जाकर अज्ञानीके यह तत्त्व पासमे होनेपर भी अत्यन्त दूर हो गया है। ज्ञानी होनेपर ही पता लगता है कि अरे यही तो सुखपूर्ण तत्त्व था, अनंतकाल व्यर्थ भटका।

भैया! वैराग्य प्रकाशमे एक कथा लिखी है "एक गृहस्थ साधुके दर्शनको जंगलमे गया, साधु ने उसे बताया कि एक ब्रह्म ही तत्व है अन्य सर्व माया है, अस्थिर है।" उसे उपदेश रुचिकर हुआ और आगे जाननेकी इच्छा हुई और पूछा तब साधु बोले—अधिक विशेष जानना हो तो किसी पंडितजी से पढ़ो। वह कही पंडितजीसे पढ़ने लगा और इसके एवजमें पंडितजीके आदेशानुसार उनकी गौशालामे गोबर थापनेकी सेवा करने लगा। १२ वर्ष तक पढ़ा, अन्तमे तत्त्व बताया यही। तब उसे खेद हुआ कि यह तत्त्व तो साधुसे ही जान गया था यही तो तत्त्व है, बारह वर्ष व्यर्थ गोबर उठाया। भाई कितना ही भ्रमण करे, सुखकी खोज करे क्या होता है? सुख तो यही पारिणामिक भावके उपयोगमे है। यही है, अन्य सारा भ्रमण व्यर्थ है।

इसलिये जैसे ज्ञानानंदात्मक परमात्मा है वैसे ही मैं भी स्वभावसे ही ज्ञानानन्दात्मक हूं, जिनके ज्ञान और आनन्द पूर्ण व्यक्त है ऐसे परमात्माके लक्ष्य द्वारा निज ज्ञानानंदात्मक चैतन्य भगवान की भावना रूप, परिणति रूप, अद्वैत भावको नमस्कार हो।

परमात्माको नमस्कार करके अब अनेकान्तमय तेज अर्थात् ज्ञानदात्री सरस्वतीको जयवाद रूप नमस्कार करते है—

"हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमय महः ॥२॥"

विश्वकी अनेकान्तमयता—"लीलामात्रमे ही नष्ट कर दिया है महान् मोहरूप अंधकारके समूहको जिसने तथा समस्त तत्त्वोको प्रकाशमान करने वाले अनेकान्तमय तेज प्रतिदिन जयवंत रहे।" चैतन्यस्वरूप स्वयं अनेकान्तरूप है एवं प्रतिभासस्वरूप होनेसे तेज रूप कहलाता है। इस चैतन्यस्वरूपका ही नाम सरस्वती है। सरस्वतीकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है:— "सरः प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती" अर्थात् जिसका असीम प्रसार होता है, वह सरस्वती विशुद्ध चैतन्य परिणति ही है। सर्व वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं, यह चैतन्य भगवान भी अनेकान्तात्मक है। यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावकी अपेक्षासे है, परतु परके द्रव्य, क्षेत्र, काल

एव भावकी अपेक्षासे नही है। समस्त वस्तुये तथा यह चैतन्य परिणति द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, अविनाशी है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। त्रिकाल एक स्वरूपकी अपेक्षासे एक है, प्रत्येक पर्याय अथवा प्रत्येक भावोकी अपेक्षासे अनेक है। इस प्रकार द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व एव वस्तुत्वादि अनंत धर्मोसे यह विशुद्ध चैतन्य परिणति युक्त है। इस चैतन्य भगवानका प्रधान एवं असाधारण गुण जो स्वरूप सर्वस्व है वह भी अनेकातमय है। हम इसे इस प्रकार भी कह सकते है कि "न एकः अपिः अन्तः धर्म यत्र स. अनेकात." अर्थात् जहाँ एक भी धर्म न हो, उसे कहते है अनेकात। आत्मवस्तुके गुणोके अभेदरूप अखण्ड अनुभवमे आनेपर वह अनुभवात्मक चैतन्य तेज पृथक्-पृथक् धर्मोंकी दृष्टिसे रहित होता है, उस अनुभवको अनेकान्त-मय तेज कहते है। एक वस्तुमे परिगणित कुछ धर्मोके सद्भावकी कल्पना करना अज्ञान है क्योकि यदि वस्तुको विविध विशेष दृष्टियोसे देखा जाय तो उसमे अनेक अनत गुण प्रमाणित होते है, तथा यदि सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो वह एक अखण्ड वस्तु प्रतिभासित होकर भी अन्यकी तो बात क्या, उस ही एकके विकल्परहित अनुभवमे आती है।

अनेकान्तमय तेज—परमपूज्य भगवत् अर्हद्देवकी दिव्य ध्वनिकी परम्परासे आगत यह परमागम स्याद्वादपूर्वक वस्तुतत्त्वका निर्णय करेगा। वह निर्णय वस्तुत स्वकीय विशुद्ध चैतन्यमय परिणतिके अनेकान्तमय तेजसे होगा। इसी कारण प्रात.स्मरणीय पूज्य स्वामी श्री अमृतचद्राचार्य जी टीका प्रारम्भ करनेके पूर्व ही अनेकातमय तेजका स्मरण करते है। अनेकातमय वस्तुको प्रकट करने वाला वाङ्मय भी अनेकातमय है। अतः उक्त श्लोकमे सर-स्वती एव जिनवाणी माताको भी नमस्कार किया गया है ऐसा ध्वनित है। सरस्वती तो भावरूप निगम और आगम है तथा जिनवाणी है शब्दरूप आगम। जो लिपिगत व श्रवणगत है वह जिनवाणी है और जो ज्ञानगत एव अनुभवगत भाव है वह सरस्वती है। लौकिक जन सरोवरमे कमलके ऊपर हसके समीप बैठी हुई चतुर्भुजाके रूपमे, सरस्वतीका रूपक बांधते है तथा उन चतुर्भुजाओमे माला, पुस्तक, वीणा एव शखकी कल्पना करते है। यह कल्पना कल्पना ही है, यदि हमने उसके रहस्य व लक्ष्यपर दृष्टिपात न किया। वह रूपक जिनवाणी व चैतन्यस्वरूपके विकासका उपाय आदि अनेक समुचित तत्त्वोपर प्रकाश डालता है।

"तालाबकी कल्पनाका भाव प्रसरणसे है। चैतन्यप्रसारकी अनुभूति सरस्वतीका आवास है। सरस्वती परमागमरूप है, परमागम विशुद्ध हृदयरूप कमलमे ही विलास पा सकता है। परमागम चार अनुयोगरूप है। यही अनुयोग परमागमकी चतुर्भुजाएँ है.—(१) प्रथ-मानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। निर्मल चित्तरूप भव्य हंस परमागमका आराध्य है। यह भव्य ही अपनी रुचिपूर्ण दृष्टिसे सरस्वतीका अन्तर्बाह्य दर्शन करता है। सरस्वतीकी भुजाओमे स्थित वस्तुयें परमागमके फल प्रवेशके उपाय दर्शाती है।

सरस्वतीके करमे स्थित माला यह प्रगट करती है कि अनेक भव्य प्राणी ध्यानद्वारा चैतन्य तत्त्वकी प्राप्ति करते है। अनेक भव्य पुस्तक अर्थात् स्वाध्यायसे चैतन्य पोषणमे प्रयत्नशील होते हैं। अनेक भव्य वीणाकी सुमधुर ध्वनिसे प्रसारित आत्मविकासी भजनोसे निजात्मिक हृदयतन्त्रीपर स्वयको स्वयके कल्याणार्थ अन्य सासारिक परपदार्थोसे विमुख होकर स्वयमे लीन होनेके लिये जिनतत्त्वस्वरूप आत्माके गीत गाते हैं तथा कितने ही अनाहत ध्वनिसे पुरस्कृत करके तत्त्वकी आराधना करते हैं। निज चैतन्यतत्त्वकी पोपिका जिनवाणी सरस्वती सदा जयवत रहे और इसके द्वारा प्राप्य परमलक्ष्यभूत अनेकातमय तेज सदा जयवंत रहे। यहां भावरूप देवता होनेसे जयवाद रूप नमस्कार किया गया है।

अनेकान्तमय तेजकी महामोहान्धनाशकला—अब अनेकातमय तेजके विशेषण विशदरीत्या कहे जाते हैं:—वह अनेकातमय चित्प्रकाश "हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम" अर्थात् लीलामात्रमे ही महान् मोहाधकार वितानको लुप्त करने वाला है। समर्थको किसी भी कार्यमे विशेष परिश्रम नही करना पडता, उसे सर्व क्रियाएँ साधारण ही पतीत होती है। उसकी जैसे ही चैतन्य तत्त्वकी ओर दृष्टि केन्द्रित हुई कि अनतससार, निबिड मोहाधकार पूर्णरूपेण विलीन हो जाता है, नष्ट हो जाता है। जब तक जीवकी पर्यायबुद्धि रहती है तब तक अनाद्यनंत, स्वसहाय, अखण्ड चैतन्यमय निज तत्त्वपर दृष्टि नही होती। निज शुद्ध चैतन्यतत्त्व, जो दूधमे घी की भाँति प्रति समय विद्यमान है, अव्यक्त है परतु है ज्ञानगम्य, ज्ञानमे प्रतिभासित होते ही अनंतानुबधी भाव नष्ट हो जाता है। देखो इस चेतनभगवानका विलास। यह चेतनद्रव्य एक है, अखण्ड है पुनरपि बहुप्रदेशी है। यह असख्यातप्रदेशी होनेपर भी एक-एक अंश कर सयुक्त नही है अपितु सम्पूर्ण एक निरशरूप है। जैसा एक आत्मा एक प्रदेशमे है वही वैसा ही आत्मा सर्वप्रदेशोंमे है। इस तरह असख्यातप्रदेशी अखड आत्माके प्रत्येक प्रदेशमे अनत गुण हैं तथा जो जैसे अनत गुण सर्व प्रदेशोंमे है वही वैसे अनत गुण सब प्रदेशोंमे हैं या उन अनत गुणोंके अविभागी समुदायका जो क्षेत्र है वही तो प्रदेश है। एक गुणका कार्य सर्वगुणोमे व्याप रहा है क्योकि वस्तु एक अखण्ड है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जैसे एक सूक्ष्म गुणके प्रभावसे सर्वगुण सूक्ष्मरूप है, ज्ञान सूक्ष्म, दर्शन सूक्ष्म, सुख सूक्ष्म, शक्ति सूक्ष्म आदि आदि। इस ही प्रकार प्रत्येक गुणोके कार्य प्रत्येक गुणोंमे व्याप रहे है, प्रत्येक गुण प्रत्येक गुणोमे है, फिर भी उनका आधारभूत एक चैतन्य द्रव्य ही है। श्रीमदुमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्रका भी यही वचन है—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा।"

प्रत्येक गुणके अनत अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उन सबकी अनत पर्यायें है। इस प्रकार इस चेतनका अनत विलास हो रहा है। यह विलास अनादिसे चला आ रहा है, और अनत

काल तक चलता रहेगा, परतु चैतन्यतत्त्वके अवलोकन होनेपर अर्थात् सम्यग्दर्शन होनेपर सबका ढग बदल जाता है और मोक्षमार्गके विलासमे परिणमन होता है। ऐसा वह अनेकातमय चित्प्रकाश, जो कि निज दृष्टिमात्रसे ही महान मोहाधकारको नष्ट कर देता है, वह सर्वदा अहर्निश जयवत रहे, उत्कर्षशील रहे।

अनेकान्तमय तेजमें विश्वकी प्रकाशकता—अब अनेकातमय तेजका अग्रिम विशेषण "जगत्तत्त्व प्रकाशयत्" का स्पष्टीकरण किया जाता है—यह "जगत्तत्व प्रकाशयत्" अर्थात् समस्त ससारके सम्पूर्ण तत्त्वोको प्रकाशमान करता है। यह समस्त ससार जाति अपेक्षया ६ द्रव्य रूप है—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश एव काल—ये सभी द्रव्य अनेकातमय है, गुणपर्यायमय है। इन द्रव्योमे पुद्गल द्रव्य रूपी है। इसी कारण स्थूल अवस्थाको प्राप्त पुद्गल द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब पुद्गल द्रव्य ही है। जीव चैतन्यस्वरूप है। धर्मास्तिकाय भी अमूर्तिक है, निरूपी है और है गमन करते हुए जीव पुद्गलोंके गमनमे सहायक निमित्त। अधर्मास्तिकाय अमूर्तिक है और ठहरनेके सम्मुख हुए जीव पुद्गलोके ठहरनेमे सहायक निमित्त है। आकाश अमूर्तिक है तथा समस्त द्रव्योको अवगाहन देनेमे सहायक है। काल एकप्रदेशी है और अमूर्तिक है तथा सर्व द्रव्योंके परिणमनमे निमित्तभूत है। इन समस्त द्रव्योके परिज्ञानका फल है, सर्व परद्रव्योसे, परक्षेत्रों से, परपर्यायोसे, परभावोसे भिन्न, मात्र निज चैतन्यमय वस्तुका अवलोकन करना।

कितने ही मनुष्य इसी परमब्रह्मका लक्ष्य करना चाहते है किन्तु सकुचित बुद्धिगत कुछ ही धर्मोका व एक धर्मकी ही प्ररूपणाकी मान्यता करके मूलतत्त्वकी खडना करते हैं, किन्तु भाई! यथार्थ पूर्ण अखड अनेकातमय अभेद वस्तुके अनुभव बिना आनद समाधान रूप स्थायी सत्य नही हो पाता।

कभी बुद्धिकी यह दिशा हो जाती है कि सर्व जगत कल्पना मात्र है, केवल ज्ञानतत्त्व ही है, ज्ञानकी ही ये सब दृष्टिगत वस्तुएँ विवर्त है, अतः मायारूप है। परतु विचारो! यदि यथार्थभूत ज्ञेय वस्तु न हो तो ज्ञानका स्वरूप ही क्या हो? और यदि ज्ञान न हो तो यह विसवादका अवसर ही क्यो हो? जगत षट्द्रव्यमय है। वे सर्व द्रव्य अनादिसे है और अनतकाल तक रहेगे। इन्हे न किसीने बनाया है और न इन्हे कोई धारण करता है। अनादिसे ही सभी द्रव्य यथायोग्य नैमित्तिक अनैमित्तिक रूप परिणमते आ रहे है। द्रव्यका परिणमन स्वभाव ही है; प्रति समय द्रव्यका परिणमन होता ही रहता है। ऐसे इस जगततत्त्वको प्रकाशमान करने वाला यह अनेकातमय चैतन्य तेज जयशील होवे, ऐसी भावना ही इसका सत्य नमस्कार है।

वस्तुधर्म—अनेकात प्रत्येक वस्तुका धर्म है, जो अनेकांतका खडन करना चाहे वे भी

अनेकातमय हैं और जिन्हे अनेकांतका स्मरण ही नही वे भी अनेकातमय है । प्रत्येक आत्मा स्वद्रव्यसे ही है, परद्रव्यसे नही है, स्वक्षेत्र प्रदेशसे ही है, परक्षेत्र प्रदेशसे नही है, स्वभावसे ही है, परभावसे नही है, एकानेक रूप है, नित्यानित्य रूप है एव अनत गुणोसे युक्त है । व्यवहारमे भी देखो एक ही पुरुषमे पितृत्व, पुत्रत्व मातुलत्व आदि अनत धर्म पाये जाते हैं, विरुद्ध अनेक धर्मोंका अपेक्षा भेदसे अवस्थान होनेमे विरोध नही आता ।

यहाँ चैतन्य भाव मात्र निज वस्तुकी श्रद्धाके लिये प्रेरणा है । चैतन्यमात्र, ज्ञानदर्शनमात्र, ज्ञानमात्र आत्मवस्तु इसलिये कहा गया है कि यह ज्ञानभाव ही सर्व अनत गुणोका अभिन्न प्रतिनिधि है । सर्व गुणोका अनुभवन ज्ञानमे मिलकर प्रतिभात होकर उनके कार्यसे प्रभावित होकर ज्ञान द्वारा होता है । कितने ही, अनुभव बुद्धिपूर्वक बन जाते है और कितने ही अनुभव अबुद्धिपूर्वक हो जाते है ।

इस प्रकार यह अनेकातमय विलक्षण ज्ञानसूर्य सशय, विपर्यय एव अनध्यवसायरूप गहन अधकारको नष्ट करके प्रकट होता है । आनद गुण रूप कमल इस सूर्यके उदित होते ही सहजमे ही प्रस्फुटित हो जाते है । भव्यलोक सजग, सावधान निज पुरुषार्थमे अग्रसर हो जाता है । अहो ! ऐसे निजतत्त्वकी दृष्टि प्राणियोको अनादिसे अब तक प्राप्त नही हुई थी, यही कारण है कि सीधा सरल एव सुगममार्ग होनेपर भी चतुर्गतियोमे भ्रमण करना पडा । जिस पर्यायमे गया उस ही पर्यायमे उस भवके अनेक समागमोंमे यह मुग्ध ही रहा । एकेन्द्रियसे असज्ञी पचेन्द्रिय तकके भवोमे तो यह करे ही क्या ? परतु सज्ञी पचेन्द्रिय एव मनुष्य होकर भी मनका उपयोग विषयसाधनोंके सग्रहमे किया । अब हे आत्मन् ! ससार सागरसे तरनेके साधन प्राप्त किये हैं एव आत्मयोग्यता पायी है अब सब विकल्पोको त्यागकर निज चैतन्य भावमय स्वयसिद्ध वर्तमानमे अव्यक्त किन्तु ज्ञानोपयोग द्वारा अन्तर्व्यक्त स्वभावकी आराधना एव उपासना कर । दृष्ट, श्रुत एव अनुभूत भोगोकी आकाक्षारूप अथवा माया, मिथ्या, निदान शल्य आदि विकार भावोसे पृथक् अनेकातमय अनाकुल स्वभावमे ज्ञप्ति परिणति विधिसे मग्न होओ, यही सर्वसार है, यही निजतत्त्वकी जय है ।

अब टीकाकार पूज्य श्री १०८ आचार्य अमृतचद्र जी महाराज प्रस्तुत ग्रथकी टीका करनेके प्रयोजनको बतलाते हैं:—

''परमानन्दसुधारसपिपासिताना हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥''

प्रवचनसारकी वृत्तिरचनाका प्रयोजन—''रागद्वेषादि विकल्पोसे रहित, निर्विकल्प ज्ञायक भाव रूप, शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए, परमानदरूप अमृतके प्यासे, भव्य जीवोंके हितके लिये यह प्रवचनसारकी वृत्ति-टीका की जा रही है ।'' एक बार दृष्टापनकी

स्थिति समझ लेनेपर, उक्त स्थितिमे परमानंदका अपूर्व एव अलौकिक आस्वादन कर लेनेसे, कुछ समयके पश्चात् ज्ञाताद्रष्टारूप स्थितिसे रहित होनेपर अस्थिर अवस्थामे उस परमानद सुधाकी तृषा पुनः जागृत हो उठती है, ऐसे परमानदानुभवकी प्राप्तिमे रुचि रखने वाले भव्य जीवोंके यह टीका करनेका प्रयास है। इतनी उत्कृष्ट अध्यात्म चर्चाका, आध्यात्मिक रुचि वाले योग्य पात्रोंके बिना अथवा उनके अभावमे अपात्रोको दृष्टिमे रखकर किया जाना कठिन है।

परम आनन्द—अब श्लोकमे आये हुये पदोका अर्थ स्पष्टीकरण किया जाता है। परमानद परा अर्थात् उत्कृष्ट है, मा कहिये ज्ञप्ति, प्रमितिका ज्ञान अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको परम कहते है, और उसका अविनाभावी जो आनद है, वही परमानद है। ज्ञानके बिना प्राप्त आनद परमानंद नहीं कहा जा सकता। यो तो शून्यवादि "आत्मा कुछ नही है भ्रम समाप्त होनेपर कोई क्लेश ही नही रहता" इस प्रकारकी भावनासे कुछ भी न अनुभव करनेपर आनंद तो प्राप्त कर ही लेते है। इसी प्रकार "आनन्द ब्रह्मणो रूपम्" अर्थात् केवल आनद ही ब्रह्मका रूप है—इस प्रकारकी भावना करते-करते अन्य कुछ उपयोगमे न रहनेसे आनद प्राप्त हो जायगा, परन्तु वह क्षणिक अनाकुलता रूप परिणमन समाधान रूप न होनेसे यथार्थता व स्थिरता नही ला सकता। अतः आत्माका स्वभाव आनद मात्र नही है किन्तु ज्ञान एव आनद गर्भित है और सहज आनदमे गर्भित है सहज ज्ञान।

परमानदका द्वितीय अर्थ इस प्रकार भी हम जान सकते है। परा अर्थात् उत्कृष्ट है, मा-लक्ष्मी शोभा, या ज्ञप्ति स्वभाव जहाँपर ऐसा परम आनद परमानन्द है। अनादि अनन्त एक स्वरूप, सदा प्रकाशमान किन्तु अव्यक्त, ज्ञानगम्य चैतन्यभावके दृढ लक्ष्यभावसे स्वय होने वाली पर्याय निर्मलताके कारण वह परमानन्द अनुभवकी वस्तु है।

परमानन्दसुधारसपिपासा——आनन्द यह रूपका उपसर्गपूर्वक "टुनदि समृद्धौ" धातुसे कृत प्रत्यय होकर बना है, जिससे यह भाव प्रगट है कि सर्व ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोमे जो समृद्धि रूप है वह आनन्द है और वही परमानन्द ही सच्चा "सुधारस है। सुष्ठु दधाति इति सुधा" अर्थात् जो आत्माको दु.खके कूपसे बचाकर उत्तम आनन्दके स्थानमे धर दे, उसे कहते है सुधा। लोकमे तो जिसे इष्ट होता है उसे ही वे सुधा कहने लगते है किन्तु परद्रव्य कोई भी आत्माको हितरूप परिणमित तो क्या किसी भी रूप परिणमित करनेमे समर्थ नही, मात्र प्रत्येक वस्तु अपने आपको ही परिणमाती है, धारण करती है, अतः मेरे लिए जगतमे कुछ भी सुधारस नही है। मेरे चैतन्यभावकी दृष्टि मेरे लिए सुधारस है, चैतन्यभावकी दृष्टिरूप पानेसे मै उपयोग परिणमनसे ही अमर रहूगा। उस परमानन्दरूप सुधारसकी तृषासे आतुर एवं उसकी आराधना करनेके अनुरागी भव्य जीवोके हितके लिये इस टीकाका प्रयास है।

भव्यहितार्थ वृत्ति—भव्यानाम्—"भवितु योग्य' भव्य" अर्थात् जो रत्नत्रयके विशुद्ध परिणमनरूपसे पर्यायमे होने योग्य है उन्हे भव्य कहते हैं। यद्यपि आत्मा स्वादनके महत्त्वको वर्णन करते करते स्वय आचार्य स्वानुभवमे विभोर होकर समस्त जगतको सम्बोधन करके विशुद्ध मार्गानुगामी होनेका आदेश करें, फिर भी प्रारम्भमे जो प्रवृत्ति होती है वह किसी विशेषको लक्ष्य करके होती है, अत. यहाँ भव्योके हितके लिये इस टीकका प्रयास है यह बात उचित प्रतीत होती है। पद्मनन्दि पचविशतिकामे भव्यका लक्षण निम्नरूपेण किया है—

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥"

चैतन्य तत्त्वकी वार्ता भी जिसने विशुद्ध अनुरागसे सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और है पात्र निर्वाणका। चैतन्यभावकी अभिमुखता हुए बिना चैतन्य तत्त्वकी वार्ता सुननेकी भी नही होती। अतः जिसकी चैतन्यमे रुचि हुई वही ऐसी वार्ता सुन सकता है और वही भव्य है। हित वास्तवमे आत्मस्वभावकी व्यक्ति ही है, स्वभाव विरुद्धभाव आकुलताका ही अविनाभावी है। यह प्रवचनसारकी वृत्ति है जिसने 'प्रकटिततत्त्वा' अर्थात् गाथाओमे ग्रथित भावको जिसने प्रकट कर दिया है, स्पष्ट कर दिया है।

प्रकृष्ट वचन—यह ग्रथ, यह टीका सर्व प्रमाणभूत है। प्रवचन कहिये आगम उसका सक्षिप्त रूप यह प्रवचनसार है या 'प्रकृष्ट प्रमाणीभूत वचन यत्र तत् प्रवचन पारमेश्वरस्यागमः इत्यर्थ ।' उस प्रवचनसारकी गाथाओमे भावको प्रकट किया गया है। अत· इसका प्रवचनसार वृत्ति नामकरण सार्थक है तथा तत्त्वप्रदीपका वृत्ति इसका दूसरा नाम है। पूज्य श्री १०८ आचार्य जयसैन जी महाराजने जो प्रवचनसारकी वृत्ति की है उसका नाम तात्पर्य वृत्ति है। सारांश यह कि जो गाथाके भावकी विवेचना करे उसे वृत्ति करते हैं।

"यह प्रवचनसारकी वृत्ति की जाती है," यहाँ कर्मवाच्यका प्रयोग किया गया है जिससे अध्यात्मयोगी टीकाकार आचार्यश्रीके कर्तृभावका रहितपना ध्वनित होता है। "यह प्रवचनसारकी वृत्ति की जाती है' इस वाक्यमे अहबुद्धिका बोध नही होता, जैसे कि "मैं प्रवचनसारकी वृत्ति करता हू" वाक्यमे अहबुद्धि ध्वनित होती है।

आत्मप्रभुस्वरूप—प्रस्तुत प्रवचनसार परमागममे जो सारभूत निज चैतन्य तत्त्व कहा गया है वह मैं ही तो हू, वह ज्ञाताद्रष्टा स्वभावी निज चैतन्य तत्त्व अनादिसे मुझमे ही तो विद्यमान है, प्रकाशमान है, किन्तु उसपर दृष्टि न पडनेसे, उसका अवलोकन न करनेसे उसे त्यागकर अन्य पदार्थ, जिनको आश्रय मानकर मात्रा दु खके अतिरिक्त कुछ पाया ही नही उन्हे ही हितकारी, शान्तिप्रदायी, सुखदाता एव कल्याणकारी मैं मानता आ रहा हू। अब मैंने निज आत्मिक चैतन्यनिधिको पहिचान लिया है, अत परमसार, परमहितरूप मैं स्वयं

ही तो हूँ। इस प्रकारकी विविध आत्मसुखकारी भव्यात्माओका चिन्तवन एव अंतस्तलमे मनन कर निज चैतन्य भगवानके परम श्रद्धालु टीकाकार आत्मोपलब्धि प्राप्त करके जिन श्रोताओके हितार्थ कह रहे है उनमे भी यही अनत शक्ति विद्यमान है, वे निर्लिप्त निराकार, निष्कर्म सिद्ध प्रभुके सदृश अनंत शक्तिके अक्षय भण्डार है। ऐसी द्रव्यदृष्टिको लेकर ' ··· समझकर ही कह रहे है, क्योकि जो स्वभावसे पूर्ण ज्ञानानद नही वह त्रिकालमे ज्ञानानन्दकी उत्कृष्टता नही पा सकता। सिद्ध भगवानकी तरह मैं भी स्वभावत· स्वय एव निरजन हू, इस दृढ़ श्रद्धाके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नही होता। यहाँ आचार्य श्री पर्यायरूप नही, किन्तु उनके देहस्थित आत्मामें स्वय अपने आपको सिद्ध प्रभुकी तरह कृतकृत्य, ज्ञानधन, आनन्दमय देख रहे है और जीवोंको भी सिद्ध समान देख रहे है। ऐसी अलौकिक द्रव्यदृष्टिकी प्रधानता प्राप्त हुई है, जिससे यह कल्याणका अनुपम प्रयास अल्पपरिमाणमे अवशिष्ट रागभावके उदयमे हो रहा है।

ग्रन्थरचनामें मूल प्रेरणा—आचार्य महाराज वस्तु स्वातन्त्र्यके दृढ श्रद्धालु है, अतः प्रस्तुत ग्रथमे भी वस्तुस्वातन्त्र्यका विशद वर्णन करेंगे। एक द्रव्य अन्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नही कर सकता। यह आत्मा जो कुछ करता है वह अपना ही परिणमन करता है, ऐसी वस्तुस्थितिकी अमद घोषणा भी है, फिर भी इस रचनाकी आत्मीय स्वतत्र प्रयासरूप पर्याय होनेसे जो भव्य जीव आश्रयभूत है और जिनपर रचयिताकी दृष्टि गई है "उनके हितके लिये यह वृत्ति की जा रही है।" यह कथन उपचारसे हुआ है। वास्तवमे तो सिद्ध स्वभावके सच्चे पारखी आचार्य महाराजके अतरमे वृथा भ्रमवश, सक्लेशोको सहते हुये भव्योको देखकर, जो परमकरुणामय वेदना हुई है उसीका यह प्रतिकार है अथवा निजानुभूतिको निर्मल बनाये रखनेका उद्देश्य तो मुख्य रहा है और गौण रूपेण परकल्याणका प्रयोजन रहा है या प्रथम उद्देश्य अतरङ्ग है और द्वितीय उद्देश्य बहिरङ्ग है। अतरङ्ग प्रयोजन तो मगलाचरणसे ही ध्वनित हो गया है। अत अब श्रीमद् अमृतचद्राचार्य अपने प्रयासके बहिरङ्ग प्रयोजनको बतलाते है कि "परमानन्दरूप अमृतरसके पिपासु भव्य जीवोके कल्याणके लिये प्रगट हुये है तत्त्व जिससे ऐसी प्रवचनसारकी टीका की जा रही है।"

अब गाथाओके विवरणसे पहिले मूलग्रथप्रणेता पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यके भावोको एव गाथाओके निर्माण कालके भावको श्री अमृतचद्र जी बतलाते है—

जिसका ससार पारावार समीप आ गया है, ऐसा कोई निकट भव्य ही इस ग्रथका प्रणेता हो सकता है, क्योकि विषयकषायोकी विषम शृङ्खलाओसे निकलना एव भेदविज्ञान, नीर क्षीर विवेकका प्रयत्न करना अति कठिन है। ससारसे मुक्त होनेकी इच्छा सब ससारियो के होती है, पर ससारजालसे मुक्त बिरले ही हो पाते है। अज्ञानी संसारीका ससारसे मुक्त

होना जितना कठिन है आत्मस्वरूपके ज्ञानीको मुक्ति प्राप्त करना उतना ही सरल है।

एक दो भवावतारी व्यक्ति ही इस ग्रथके रचनेका पात्र होना चाहिए। पूज्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराजका ससार अति निकट आ गया था, उनकी विवेक ज्योति प्रकट हो गई थी, भेदविज्ञानकी पैनी छेनीका उन्होंने आश्रय लिया, इसीके फलस्वरूप वे समता सुधाके पात्र हुए। उन्होने यह ग्रंथ नही बनाया किन्तु समता प्राप्तिका ही उन्होंने उद्यम किया है।

शान्ति और क्रान्तिका अभ्युदय—श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यके बनाये हुए समयसार एव प्रवचनसार—इन दोनो ग्रथोमे लोग छोटे बडेपनका भाव लाते है कि समयसार और प्रवचन-सारमे कौन ग्रथ बडा है? किसमे अध्यात्मरस अधिक भरा है? लोग समयसारको बडा समझते हैं। प्रवचनसारमे समयसारकी अपेक्षा ज्ञान, ज्ञेय, चारित्रका एव प्रमेयका वर्णन अधिक है तथा समयसारमे निमित्त-नैमित्तिकका अच्छा वर्णन है तथा आत्मस्वभावका विशद निरूपण है। समयसार शातिप्रद ग्रथ है, उसमे भेदविज्ञानका विस्तृत वर्णन है तो प्रवचन-सार क्रातिका ग्रथ है। अतः मेरी दृष्टिमे तो दोनो दोनोंसे ही बडे हैं। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य का पञ्चास्तिकाय अभ्रान्तिका ग्रथ है क्योकि वह द्रव्य सम्बधी भ्रान्तिको दूर करता है, वह भी अपूर्व ग्रथ है।

समतामें विवेक—कुन्दकुन्दाचार्यको भेदविज्ञान प्राप्त हो गया अतः उन्होंने इस ग्रथको आलम्बन बनाकर समताप्राप्तिका यत्न किया। भेदविज्ञानके बिना कौन समताको प्राप्त हुआ?

तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी अपने विशाल वैभवका परित्याग कर जब निजात्मामे लीन हुए तब समता सुधाका आस्वादन कर पाये। पर हम उनसे विपरीत हैं और वैभवको जुटाकर समता पाना चाहते है। हम अपने जीवनके अतिम क्षणो तक सासारिक गृहजालके कृत्योमे ही निजको कृतकार्य माना करते हैं। जुलाहा कपडा बुनता है तो बुनते-बुनते २-४ अगुल जगह अतमे छोड ही देता है किन्तु मोही जीव अपने जीवनके अत तक रागभावके तन्तु पूरनेमे ही लगा रहता है, चार-छः मिनटको भी बुनना नही छोडता। सुख पाना है तो विकल्पोका नाश कीजिये। धन सम्पत्ति आदिके सयोग वियोगके कारण ससारी जीव नाना विकल्प करते रहते हैं, किन्तु भैया! धनादिकका आना जाना तो कर्मोदयके आधीन है, मनुष्य तो केवल कल्पनाएँ ही कर सकता है, अत वह अशुभके स्थानमे शुभ कल्पनाएँ क्यो नही करता? बच्चे कभी आपसमे जीमनवार करते है तो पत्तोको परोसकर रेतीके दानोमे बूदीकी कल्पना करते है। पर जब सब काल्पनिक ही वस्तुये हैं तो फिर अच्छी कल्पना करनी नही चाहिये।

क्लेशका मूल राग—ससारके जिस पदार्थमे हमारा जितना अधिकार राग होगा, वह पदार्थ निमित्त दृष्टिसे हमारा उतना ही बडा शत्रु है और समझना भी चाहिए। बम्बईमे

एक दम्पति रहते थे। दोनो जब शहरमे या अन्यत्र पर्यटनार्थ निकलते तब पुरुष अपनी स्त्री के ऊपर छतरी तान लेता था। उसे अत्यधिक राग था और पत्नीका अल्पमात्र कष्ट भी देखा न जाता था। स्त्री बार बार उसे समझाती, देखो जो आप मुझसे इतना अधिक राग करते है, यह आगे जाकर आपको बहुत दुःखदायी होगा किन्तु मोहमदिरासे मत्त पुरुष नही मानता था। दैवयोगसे पत्नीका स्वर्गवास हो गया। वह उसके वियोगमे पागल हो गया। हमारा यह राग ही महा दुःखदायी है, दुःखकी खान है। जिनका लक्ष्य करोडपति बनना है और जो सम्पत्तिमे राग रखते है, वे दुःखी है, बहुत दुःखी है, किन्तु जिनका लक्ष्य भेदविज्ञान प्राप्त करना है, वे सुखी है, बहुत सुखी है।

मनुष्यभवकी सार्थकता—जीव एक श्वासमे अष्टदश बार जन्म मरणरूप निगोद पर्यायसे निकलकर उत्तरोत्तर ऊची पर्याय भी प्राप्त करले, उच्च कुलमे जन्म लेकर वेदादिक का अध्ययन भी कर ले, यदि फिर भी वह एकान्तवादसे दूषित रहा तो उच्च कुल पाना एव ज्ञानार्जन करना व्यर्थ ही गया। उसी प्रकार जैनकुलोत्पन्न होकर भी यदि हम परम्परागत रूढियोके दास बने रहे, रूढियोका आलम्बन अन्धविश्वासपूर्वक लिये रहे, उनके रहस्यको न समझे, उनके वास्तविक स्वरूपका स्पर्श भी न किया, सिर्फ परलक्ष्यी ही बने रहे तो जैनकुल मे जन्म लेनेका हमने कोई सदुपयोग नही किया। परलक्ष्यी पुरुष मोक्षमार्गानुगामी नही कहे जा सकते।

तीर्थंकरकी महत्ता—श्री समतभद्राचार्यने "देवागम" स्तोत्रकी रचना की, किन्तु वे भगवान महावीर स्वामीके अन्धभक्त न थे प्रत्युत गुणरत्न निरीक्षण एव परीक्षणमे ही उन्होने अपने स्तोत्रका निर्माण किया है। अत. श्री समन्तभद्राचार्य भगवान महावीर स्वामीके अन्ध-भक्त नही अपितु अनन्य भक्त थे। वे भगवान महावीर स्वामीसे कहते है—

"देवागम नभोयानचामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥"

हे भगवन्! आपके कल्याणकोमे देवगण आते है, आप आकाशमे गमन करते है, छत्र चामरादि अनेक विभूतियाँ आपके दृष्टिगोचर होती है, इस कारण आप हमारे लिये महान् है, आराध्य है, ऐसी बात नहीं है क्योकि ये शक्तियाँ तो अन्य मायावी इन्द्रजालिकोमे भी दिखाई देती है। कदाचित् आप यह कहे कि:—

"अध्यात्म वहिरप्येष, विग्रहादि महोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्वप्यस्ति रागादिमत्सु स ॥२॥"

मेरा परमौदारिक शरीर है, मै कवलाहार नही करता हू, शरीर मल मूत्रादिकी बाधा रहित है, तो हे भगवन्! ये सब बाते तो रागी देवोमे भी पाई जाती है। अत इस कारण

भी आप हमारे लिये महान् नही है।

यदि आप कहे, "हम सिद्धार्थके पुत्र हैं, हरिवशमे उत्पन्न हुए हैं तथा और भी विशेषताएँ बतलाएँ" तो भी आप हमारे लिये पूज्य-या महान् नही है। यथार्थमे-आप हमारे लिये महान् इसलिये है क्योकि "आपका-ज्ञायकस्वभाव प्रकट हो गया है, रागादिक विकृतभाव दूर हो गये हैं, आप शुद्ध हैं, निरजन है, निर्विकार है, निराकार है, अत आप पूज्य हैं, आराध्य हैं, हमारे लिए महान् है।" इस प्रकार गुणानुरागी आचार्य समन्तभद्रजी अपने आराध्यदेवकी परीक्षा करके ही उनकी स्तुतिमे प्रवृत्त हुए है।

यदि कोई भक्त वीतराग भगवानके यथार्थस्वरूपको न जान करके भी उन्हे नमस्कार करता है, उनकी भक्ति एव स्तुति करता है तो यद्यपि उससे परम अभीष्टकी सिद्धि नही होती, फिर भी उसकी स्तुति निष्फल नही जाती। इसीके सम्बधमे-श्री धनञ्जय महाकवि 'विषापहार' स्तोत्रमे कहते है —

"अजानतस्त्वा नमत· फलयत्,
तज्जानतोऽन्य नतु देवतेति।
हरिन्मणि काचधिया दधानस्,
ततस्य बुद्धया वहतो नरिक्त ॥"

हे भगवन्! आपको नही जान करके भी नमस्कार करने से जो भक्तको प्राप्त होता है-वह फल ब्रह्मादिको देव मानकर नमस्कार करनेसे भी प्राप्त नही हो सकता। इसका सरल सुबोध उदाहरण यह है कि यदि-कोई एक पुरुष तो काचको हरिन्मणि समझकर बाजारमे बेचने जाये, और दूसरा हरिन्मणिको मणि न समझके भी उसे बेचने जाये तो इन दोनोमे से मणिका मूल्य कौन प्राप्त करेगा? जिसके हाथमे मणि होगी वही मणिका मूल्य प्राप्त करेगा। वैसे ही जो सच्चे देवकी भक्ति करेगा, वही फल प्राप्त करेगा, अन्य नही।

एक भक्त तो रागादिकके मैलसे मलिनदेव-की भक्ति, स्तुति करता है और दूसरा वीतराग, परम शुद्ध, ससारमायापरिवर्जित भगवान-की भक्ति करता है। जो जैसी और जिसकी भक्ति करेगा वह वैसा ही फल प्राप्त करेगा। काँचको मणि समझने वाले और मणि को काच समझने वाले दोनो व्यक्तियोका अन्तर तो विचारो! काचको मणि समझकर हाथ मे रखने वाला पुरुष निर्धन ही है—उसे कुछ धन उसके बदले मिल नही सकता, किन्तु मणिको हाथमे रखने वाला धनी ही है क्योकि वह अतुल धन राशि मणिके बदलेमे प्राप्त कर सकता है। मणिको काच जानने वाला व्यक्ति बुद्धिसे अवश्य रिक्त है पर वास्तवमे रिक्त नही हैं और दूसरा व्यक्ति बुद्धिसे रिक्त भी है-और वास्तवमे हाथसे भी रिक्त है।

पूज्य पूजकका सामंजस्य—यदि देखा जाय तो आराध्य और आराधक, पूज्य और

पूजक और साधक, उपास्य और उपासक दोनोकी साध्य एक ही श्रेणी है। हाँ! अन्तर इतना है कि सिद्ध भगवानने अष्टकर्म नष्ट करके अष्टगुण प्राप्त कर लिये है और हमने अष्टकर्म तो नष्ट नही किये किन्तु वैसी ही शक्ति हममे अन्तर्निहित है जैसी की सिद्ध भगवान्मे है। भक्त एव पूजकका विवेक जागृत होना चाहिये। बिना विवेकके पूजककी निर्मल भावाभिव्यक्ति सभव नही। अत शुद्ध, बुद्ध निरजन सिद्ध भगवान्के भक्तको उन गुणोकी अनुभूति स्वत. होते रहना चाहिये जिनसे समेत होने के कारण हम उन्हे पूजते, उनकी भक्ति करते है। उनके सदृश बनना ही हमारा अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। भगवान्का स्वरूप उच्च है, उनका स्थान उच्च है और उनकी भक्ति पद्धति भी उच्च है।

भक्तका प्रमुख लक्ष्य—सभी भक्त विपत्तिकालमे जिन देवताको ऊर्ध्वमुख करके ही पुकारते है। अद्यपर्यन्त क्या किसी भक्तने अपने इष्टदेवको अधोमुख होकर अर्थात् पाताल की ओर मुख करके पुकारा है? नही! नही! इससे ज्ञात होता है कि सच्चे देवका निवास नीचे नही, अपितु ऊपर है, सिद्धालयमे है। भक्त उनकी भक्ति अहसानके लिये नही करता और न वे सुनते ही है, वह भक्ति तो स्वसुख प्राप्तिके लिये ही करता है।

वास्तवमे देखा जाय तो कोई भी भक्त निज इष्टदेवकी आराधना अपने प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ही करता है। भक्तको आराध्यदेवके द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावके आश्रयसे उनका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए। मूर्तिके समक्ष स्थित होकर उसपर उसकी वीतराग छविपर, उसकी नग्न एवं शातमुद्रापर और उसकी नासादृष्टिरूप निश्चल निष्काम तथा नयनाभिरामावस्थापर अपनी दृष्टि रखो, इसके पश्चात् निजपर, निजचैतन्य, विशुद्ध, ध्रुव, अहेतुक एवं निजस्वाभाविक परिणतिपर अपनी दृष्टि स्थिर रखो। मूर्तिमे पाषाण, स्वर्ण, रजतादि से निर्मितताका ध्यान करनेसे कोई लाभ नही। अरहत, सर्वज्ञ, वीतराग और सिद्धके रूपमे ही उसका अवलोकन, दर्शन एव ध्यान करो और फिर उसके सहारे निजशुद्धात्माका ध्यान स्मरण करो, तब भक्त अलौकिक, अनत, अविनश्वर एव अचिन्तनीय सुखानुभव करेगा। इसी मे उसे लाभ है, सुख शाति है।

स्वानुभवमे जिनबिम्बका आश्रय—हर एकको अपनी योग्यताके अनुसार मूर्तिमे वीतरागताके दर्शन करने चाहिएँ। साधु-सन्त मूर्तिके बिना भी अपने ही आधारपर स्वय ज्ञायकभावकी आराधना करते है पर गृह-जजालोमे फँसे गृहस्थ केवल अपने ही आधारपर, बिना मूर्ति आदिकका अवलम्बन लिये तत्त्वका ध्यानी कितनी देर तक रह सकता है? इसलिए भैया! मन्दिर और मूर्तियोके अवलम्बन गृहस्थोके समुज्ज्वल एवं उन्नत भविष्यके निमित्त हैं, किन्तु वहाँ मात्र बाह्यपदार्थ या बाह्य क्रियाओका लक्ष्य न होना चाहिए। मन्दिरमे मूर्तिके दर्शन करते समय आत्मस्थित, ज्ञानानदमय स्वचैतन्य भगवानके भी दर्शन करने चाहिएँ तथा

पूजनमे मूर्तिका आश्रय लेकर अनत सुखके सागर निजात्माका ही पूजन करनेका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जिनका ससार पारावार निकट है, सम्यग्दर्शनकी पतवार जिन्होंने हस्तगत कर ली है तथा ज्ञान ध्यान एव तप ही जिनके रत्न है, उन्हे केनापि प्रकारेण अतरगमे ज्ञायक भावका अवलोकन हो ही जाता है।

अन्धविश्वास और रूढ़ियां त्याज्य—अब श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य जी के विशेषणका स्पष्टीकरण किया जाता है—

"अस्तमित समस्तैकान्तवाद विद्याभिनिवेशः" अर्थात् जिनका समस्त एकान्तरूप अभिप्राय नष्ट हो गया है अतएव उन्हे किसी पक्षका परिग्रह नही रहा। वर्तमानमे ऐसे अनेक उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि कितने ही विद्वान ऊँचेसे ऊँचा अध्ययन कर लेते हैं तथा दिगम्बर जैन दर्शनके ग्रन्थोको भी पढाते है और उनके पढानेसे उन्हे सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है किन्तु फिर भी कुलपरम्परागत रूढिका पक्ष नहीं छोड पाते।

बनारसमे एक पडित जी थे, वे ऊँचे विद्वान थे। जैन धर्मपर उन्हे सच्ची श्रद्धा भी हो गई फिर भी वे रात्रिके अन्तिम प्रहरमे गगामे खडे होकर कुलपरम्परागतानुसार विविध दैनिक क्रियाएँ करते रहे। जब उनसे पूछा गया कि आपकी यथार्थ श्रद्धा व्यक्त होनेपर भी आप क्रियाएँ विपरीत क्यो करते हैं? उत्तर मिला "श्रद्धा तो हमे आत्मस्वभावकी हो चुकी है फिर भी जो कार्य पहलेसे करते आये है, उन्हे करनेके लिये अनादि सस्कारवश शरीर चल पडता है। अत स्पष्ट है कि यहाँपर पडितजीके सूक्ष्म पक्षका परिग्रह तो है ही।

पक्षवादिताकी चरमसीमा—जैन दर्शन यथार्थ तत्त्वका प्रतिपादन करता है। कितने ही लोग तत्त्वकी यथार्थताको समझ ही नही पाते। अत इससे हैरान होकर उन्होने कह रखा है, कि—

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।
न गच्छेज्जैनमन्दिर, न पठेज्जैनदर्शनम् ॥"

हाथीके पग तले कुचले जाकर मर जाना अच्छा है किन्तु जैनमन्दिरमे जाना और जैन दर्शनको पढना ठीक नही। यह भी ठीक ही है, क्योकि जो जिन-मन्दिरमे जायगा अथवा जो जिन-दर्शन पढेगा वह जैन हो जायगा। यह बात उन मोहियोको अभीष्ट नही, अत उन्होंने ऐसी विषाक्त उक्तियाँ गढ रखी है।

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्"

इसके निराकरणमे जैन दर्शनके अनुयायियोने भी ठीक ही लिखा है:—

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न त्यजेज्जैनमन्दिरम्"

अर्थात् हाथीके पग तले कुचले जानेपर भी जैनमन्दिरमे जाना न छोडना चाहिए।

अनेकान्तकी उपयोगिता—सचमुचमे जैनदर्शन इतना सरल और यथार्थ प्रतिपादक है कि जो इसे एक बार भी हृदयकी आँखोसे देख लेता है तो अवश्य ही वह इसका अनन्य श्रद्धालु हुये बिना नही रहता। अनेकान्त जैन-सिद्धान्तका प्राण है। इस अनेकान्तको हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते है। यह काचका गोला जो हम हाथमे लिए है, यह सदा रहेगा या नही रहेगा ? इसका जो आकार प्रकार है वह तो सदा रहने वाला नही है पर इसका जो द्रव्य है वह सदा रहेगा, इसका कभी नाश नही होगा। वस्तुकी यह अनेकान्तरूपता सदा बनी रहती है और इसके प्रतिपादनको ही स्याद्वाद कहते है। यही जैनदर्शनका स्वरूप है और इस स्याद्वादको माने बिना ससारका कोई काम नही चल सकता। देखो ! इस हाथकी तीन अगुलियोमे कौन छोटी है और कौन बडी है ? न किसीको छोटी कह सकते है और न किसीको बडी। वे परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षासे छोटी बडी है। एकान्तवादी भी इस बातको मानते है और एक ही व्यक्तिमे अनेक बातोसे उसमे मामा, चाचा, नाना आदि अनेकरूपका व्यवहार करते है, किन्तु वस्तुस्वभावको अनेक धर्मात्मक नही मानते, यही उनका मिथ्याभिनिवेश है।

क्रियायें प्रमुख लक्ष्यकी पूरक हो—जिन धर्मके दार्शनिक और आध्यात्मिक शास्त्र यद्यपि कुछ कठिन है तथापि यदि आप निरन्तर अभ्यास करते रहेगे—उन्हे सुनते रहेगे तो अवश्य ही उनके ज्ञाता एव मर्मज्ञ हो जावेंगे। आध्यात्मिक ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। जितनी भी हमारी व्रत, तप, क्रियायें है, वे तब इसी ज्ञानमात्र भावको दृढताके लिए है। जो भी क्रियाएँ होती है वे कोई भी रहस्यसे रिक्त नही होती, यदि उन्हे कोई न समझे और क्रिया करे तो वह कर्मकाण्डी कहलाता है। यदि लक्ष्यपर दृष्टि रहे और क्रियाएँ करे तब तो वह निश्चयसे व्यवहारके मार्गपर चलते हुए बोधके रथमे बैठा है।

किसी सेठ जी के यहाँ जीमनवार थी। भोजनके अनन्तर कुछ व्यक्तियोको दाँत कुतेरनेके लिए सीककी आवश्यकता पडी। उन्होने पत्तलमे से एक सीक निकालकर दाँतका मैल निकाला जिसे देखकर सेठ जी ने सोचा कि इन लोगोने हमारी पत्तलोमे खाया और उन्हीमे छेद किया। अगली जीमनवारमे सेठ जी ने पत्तलके साथ-साथ चार-चार अगुलकी सीक भी परोसवा दी। सेठ जी की मृत्यु हो जानेपर उनके पुत्रको जीमनवार करनेका अवसर आया। उन्होने सोचा कि मेरे पिताने ४ तरहकी मिठाई बनवाई थी, अत मुझे उनमे भी अच्छी जीमनवार करना चाहिए। इसलिए ६ तरहकी मिठाई व सीक भी परोसवा दी जिससे कि पिताके किये गये कार्योमे बेटा किसी भी कार्यमे पीछे न रह जाय। उसके भी परलोक सिधार जानेपर उसके पुत्रने अपने बापके समयसे ड्योढी चीजे बनवाई और तदनुसार ८-६ अगुल लम्बी और मोटी एक-एक दातुन भी जीमनवारमे परोसी। यह क्रम यहाँ तक बढता गया

कि तीसरी–चौथी पीढीमे उसके यहाँ विविध मिष्टान्नोंके साथ एक-एक हाथका डडा भी परोसा जाने लगा। देखो! एक बार लक्ष्य भ्रष्ट होनेसे कहाँ तककी नौबत ग्रा गई। यदि लक्ष्य रहता तो बात सीकसे ग्रागे न बढती। उसी प्रकार हमारी जितनी भी क्रियाएँ हैं उन सबका लक्ष्य पहिचानना चाहिए। जिसको इस लक्ष्यकी दृष्टि हो जाती है, उस मनुष्यकी बाह्य प्रवृत्ति भी उचित हो जाती है। वह मधु मासादिक सेवन नही करता। उचित प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनकी ग्रनुमापक है, समयसारमे भी लिखा है:—

"जिनके भेदविज्ञान होता है, उनके उसी क्षण क्रोधादिकी निवृत्ति भी होती है। ग्रर्थात् ग्रन्तरगके भावोके ग्रनुसार बाह्य ग्राचरणमे ग्रन्तर ग्राता ही है। जिनके कपायादिकमे ग्रन्तर नही उनके भेदविज्ञान होनेमे शका ही है।"

ग्रहो भव्य जीवो! पुण्य पापकी कथा तुमने ग्रनतकालसे सुनी है, तद्रूप ग्रनेक क्रियाये की है ग्रौर उनका फल देखा है, उनका ग्रनुभवन किया है परन्तु क्या तुमको सुखका सोपान मिल सका? एक बार चिरकालसे ग्रपरिचित ग्रपनी कथा सुनो, ग्रनुभवन करो। तुमको वह ग्रानन्द प्राप्त होगा जो ग्रानन्द इन्द्रादिकके ऐश्वर्य ग्रनत बार भोग करके भी नही मिल सका।

क्रियाका फल ग्रन्तर्भावनाके ग्राश्रित है—हमे हर क्रियाको करते हुए ग्रपना लक्ष्य विशुद्ध एव निर्मल रखना चाहिए। जिन्होंने ग्रपने लक्ष्यका निर्णय नही किया, ग्रपने ग्रतरङ्ग भावोको बाह्य क्रियाग्रोमे विस्मृत कर दिया, वे वास्तविक मार्गसे कितने दूर भटक गये है, इसका उन्हे ज्ञान नही रहता। हम भगवानके समक्ष जल चढाते समय "जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामिति स्वाहा" तो कहते हैं किन्तु ग्रन्तस्तलमे यही मन्द स्वरे गूजता रहता है 'हे भगवन! मै धनसम्पन्न हो जाऊँ, मैं पुत्रवान हो जाऊँ, मेरा सदा सम्मान हो ग्रादि।" तो भैया! सीधा यही क्यो नही कहते? "पुत्र-पौत्रोत्पादनाय जल निर्वपामिति स्वाहा।" हम भगवानकी पूजा करें, जोर-जोरसे नामोच्चारण करें किन्तु उन क्रियाग्रोमे जब तक भावनाकी प्रमुखता नही होती तब तक हमारी क्रियाएँ निष्फल ही है। ग्रन्तरङ्ग भावनाग्रोकी बाह्याचरणमे भी रक्षा करनेके लिये मुमुक्षु एव जिज्ञासुग्रोके लिये सम्यग्ज्ञानको वृद्धिगत करनेकी ग्रावश्यकता है ग्रौर ग्रावश्यकता है एकान्त मिथ्याज्ञानको मिटानेकी, विध्वस करनेकी।

साधकमे पर्यायदृष्टि नहीं होती—भगवन् कुन्दकुन्दाचार्य एकान्त दुरभिनिवेशसे विमुक्त थे। कोई योगी या मुनि यदि स्वयमे यह ग्रनुभव करता है कि मैं मुनि हूँ, तो वह उसी समयसे मिथ्यात्वी है। वास्तवमे जिन वस्तुग्रोसे प्रयोजन छूट जाता है, वे वस्तुएँ स्वयमेव छूट जाती है। सच्चे सतसे वस्तुएँ स्वतः सम्बध विच्छेद कर लेती है किन्तु झूठे साधुसे वस्तुएँ ग्रपना निकट सम्बध जोडती हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐसा साधु त्यागीका ग्रभिनय मात्र

करता रहता है । सच्चा साधु अपनी विकृतावस्था एव विविध गतियोमे प्राप्त पर्यायोपर दृष्टि नही रखता, किन्तु उसकी दृष्टि सदा निज चैतन्य प्रभुकी शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, अहेतुक, ज्ञान-दर्शनरूप वास्तविक अवस्थापर ही केन्द्रित रहती है । "मै शुद्ध हू, बुद्ध हू, निरञ्जन हू एव मै ससारकी माया मोह आदिसे रहित हू, स्वयमे लीन, स्वय सिद्ध और स्वयमे पूर्ण ।" ग्रथकी इन प्रारम्भिक बातोका समझना ही ग्रथका समझना है । दर्जीके कपडेका आकार प्रकार बतलाना कपडे सिलानेका ही कार्य है ।

अमृत शब्दकी तात्त्विक परिभाषा—यह कहा जाता है कि चन्द्रमासे अमृत झरता है और यह भी कहा जाता है कि देवताओके कठसे अमृत झरता है तथा वे उसका पान करते है । अमृतका पान करने वाला अमर हो जाता है, किन्तु अमृतसेवी देवताओकी तो मृत्यु होती है फिर अमृत क्या वस्तु है ? मेरे ध्यानसे अमृत कोई पौद्गलिक वस्तु नही है किन्तु ज्ञानमात्र परिणमनको अमृत कहते है, क्योकि वह कभी नष्ट नही होता । उस ज्ञानमात्र परिणमनपर जिसकी दृष्टि हो जाती है वह अमर हो जाता है । हमे सदा इसी अमृतका नित्य प्रति सेवन करना चाहिए । ज्ञानके समान ससारमे सुखका अन्य कोई उपाय नही है । गृहस्थीके विविध कार्योके सम्पादनमे, भोगोपभोग द्वारा पचेन्द्रियोके विषय सुखोकी प्राप्तिमे व्यस्त मानव शान्तिके दर्शन तक न कर सका । जब बाह्यपदार्थोमे सुख एव शान्ति देनेका स्वभाव ही नही फिर उनसे सम्पर्क बढाकर हम सुखी हो जायें, यह हो नही सकता । अत इनसे विमुख होकर इनकी प्रवृत्तिको निवृत्तिमे परिणत कर देना ही श्रेयस्कर है । अशुभादि क्रियाओसे निवृत्ति रूप मार्ग अपनानेमे अन्तरग चारित्रका प्रादुर्भाव होता है, जो अविनश्वर है । इस पकारकी सुधासरिता जिनके हृदयमे प्रवाहित हो रही है ऐसे श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य, श्री आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रस्तुत ग्रथ प्रवचनसारकी टीका करते है । सासारिक गृह-जजालो मे फँसा मानव अपने इष्ट पदार्थको अमृत मानता है । ऊँट नीमके पत्तोको इष्ट मानता है तो क्या नीमके पत्ते अमृत हो गये ? नही, सम्यग्ज्ञान ही अमृत है, उसका पान करके ही हम अमर हो सकते है ।

समताभावमे पक्ष-परिग्रह भी बाधक है—बाह्य परिग्रह छोडना सरल है किन्तु अतरगमे स्थित पक्षके परिग्रहका छोडना अति कठिन है । भगवान कुन्दकुन्द बाह्य परिग्रहसे मुक्त तो थे ही, पर अन्तरङ्गमे भी समस्त एकात रूप पक्ष परिग्रहसे सर्वथा विमुक्त थे । साधु अथवा मुनि मित्र और शत्रु महल और श्मशान, कचन और काच, निन्दा और स्तुति, अर्चन और असि प्रहार आदि इष्टानिष्ट समस्त अवस्थाओमे समता सुधाका ही निरन्तर आस्वादन करते रहते है । कविवर दौलतराम जी ने कहा भी है —

"अरि मित्र महल मसान कचन काच निन्दन थुति करन ।
अर्घावतारन असि प्रहारनमे सदा समता धरन ।।"

मुनिके अन्तरमे विद्यमान यह समता भाव कोई पौद्गलिक वस्तु नही है कि किसी पौद्गलिक पदार्थको टोक पीटकर समता निकाल ली जाय। जव तक पक्ष परिग्रह नही मिटता, तव तक माध्यस्थ भावरूप समताका उदय नही हो पाता। किसी स्थान तक पहुचनेके दो मार्ग हैं। पहिला सरल है और दूसरा कठिन है और ऐसा कठिन जिसमे सफलताकी असभावना है तव सरल मार्ग वताये जानेपर भी यदि कोई कठिन मार्गका ही अनुसरण करे तो यह कार्य उसका दुराग्रह ही है। वैसे ही सम्यग्ज्ञान एव परिग्रहके त्यागमे ही सुख निहित है इत्यादि श्रवण करके भी यदि कोई रूढियो एव परिग्रहके सचयको ही सुख माने तो उसे हम मन्द वुद्धिके अतिरिक्त और क्या कह सकते है ?

सम्यग्दृष्टि निन्दा प्रशंसासे सुखी-दुःखी नही होते—ज्ञायक भावरूप आत्माका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। निजका ही निज शत्रु है और निजका निज ही मित्र है। ज्ञायकस्वभावीके लिये महल और मसान दोनो समान है। काच और कचनके भेदसे उसे प्रयोजन ही क्या है ? भगवान आदिनाथ षाण्मासिक उपवासके वाद आहारके लिये निकले तो कोई उनके समक्ष हाथी लाकर खडा करता था तो कोई घोडे, कोई मणि मणिक्यादिसे पूर्ण स्वर्ण थाल समर्पित करता था तो कोई अपनी कन्याएँ तक उन्हे भेंट रूप देनेके लिए तैयार हो गये। पर भगवान आदिनाथको उनसे क्या प्रयोजन था ? वे उनसे मुक्त थे, असार जानकर उन्हे त्याग चुके थे। अज्ञानी मनुष्य निन्दकपर रोष और प्रशसकसे राग करते है किन्तु ज्ञानी उस प्रकारके रागद्वेषसे वहुत दूर रहता है तथा ज्ञायक शुद्ध चैतन्यभावके वहुत समीप ही उसका निवास होता है। अज्ञानी जीव शरीरको ही मैं समझता है, इसी कारण वह निन्दा और प्रशसा करनेका परिश्रम करता है तथा स्वयके निन्दित या प्रशसित होनेपर दुःखी और सुखी होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरसे भिन्न ज्ञायक भावमय आत्माको जानता है इसलिये उसके परिणाम सम एव विषम परिस्थितियो तथा इष्टानिष्ट पदार्थोमे समान रहते है। भैया ! मरणके वाद यह शरीर, जिसे तुम अपना मान रहे हो अग्निमे जला दिया जाता है, अत वह तुम्हारा कैसे है ? यदि है तो उसे तुम्हारे साथ ही जाना चाहिये था।

पक्ष एवं विषयकषाय ही आत्माके पतनके कारण हैं—आचार्य श्री कुन्दकुन्द पक्ष परिग्रहका अभाव होनेसे निष्पक्ष थे। जव तक मनुष्यके हृदयमे किसी वातका या किसी जाति या पदका पक्ष होता है तव तक वह निष्पक्ष नही वन सकता। एक समयकी वात है कि हस-हसनीका एक जोडा मानसरोवरको जा रहा था, मार्गमे जाते हुये रात्रि हो गई। वे एक स्थानपर रात्रिमे विश्राम करनेके लिये उतरे। एक कौआसे उन्होने पूछा—क्यो भैया ! हम

एक रात तुम्हारे यहाँ बिता सकते है ? कौआने अनुमति दे दी । प्रात जब हस युगल जानेको उद्यत हुआ, तो कौआने हसनीको पकड लिया और बोला—यह तो मेरी स्त्री है, मै इसे नही जाने दूगा । हंस यह सुनकर बडा दु खी हुआ । उसने अनेक प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया किन्तु कौवेने एक न मानी । अन्तमे हसने कहा कि हम इसका निर्णय पंचोंके ऊपर छोड देवे और जो निर्णय वे करेंगे वह दोनोको मानना होगा," ऐसा किया गया । पाँच पच निर्वाचित किये गये । सब मामला सुनकर दो पचोने हसनीको कौवेकी स्त्री बतलाया और दो ने हंसकी स्त्री सिद्ध किया । अतमे सरपचने अपनी जातिका पक्ष लेकर हसनी कौवेकी स्त्री है, अपना निर्णय सुना दिया । यह सुनकर कौआ मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया । सचेत होनेपर पूछा गया कि तुम इस निर्णयसे मूर्च्छित होकर क्यो गिर पडे ? तुम्हे तो प्रसन्नता होनी चाहिए थी । कौआ बोला भाइयो ! पचोमे परमेश्वर निवास करता है यह मुझे स्मरण था और मुझे यह दृढ विश्वास था कि कमसे कम सरपच तो झूठ नही बोलेगा । जब जातिका पक्ष लेकर सरपचने ही झूठ कहा तो सच्चा न्याय और कौन दे उकता है ? तात्पर्य यही है कि जब तक निष्पक्षता नही आती तब तक उसके वचनोमे सत्यता एव यथार्थता तथा दृढता नही आ सकती । योगीश्वर श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी अत्यन्त निष्पक्ष थे, उन्हे मोक्षलक्ष्मीका उपादेय रूपसे दृढ निश्चय था । सर्व पुरुषार्थोमे मोक्षका पुरुषार्थ ही सारभूत पुरुषार्थ है अन्यथा साड भी अपने सीगोसे किसी घूरे (कूडा-करकटका ढेर) को उखाडकर अपने ऊपर फेकता है और स्वयको पूर लेता है, फिर पूँछ हिलाकर और गर्दनको ऊँची-नीची करके दहाडता है तथा स्वाभिमानसे चारो ओर देखता है, मानो वह कहता है कि हे दुनियाके लोगो ! देखो मैने कितना बडा पुरुषार्थ किया है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी विषयकषायरूप घूरेको उछाल-उछालकर अपने आपको पूर लेता है और अपनेको बडा पुरुषार्थी एव वैभवशाली समझता है । पर ऐसे मिथ्याभिमानसे क्या लाभ है ? इस तरह विषयकषायोमें फँस करके अपना क्या उत्कर्ष पालेगा, समझमे नही आता । अभी-अभी कोई दिन तो ऐसा आवेगा कि मृत्यु होगी और आत्मा एकाकी रह जायगा, तब क्या अवस्था होगी ? अपने उपार्जित कर्मोका पाप-पुण्यका फल क्या भोगना नही होगा ? तुम्हे इसका कुछ भी ध्यान नही है । भैया ! इस अपनी आत्माका भी तो कुछ ध्यान रखो । इसे विषयकषायोसे दूर रखकर बचाना ही स्वदया है । स्वदया करके परदया करना ही श्रेष्ठ है । जो स्वदया न करके मात्र परदया करनेमे अपने कर्तव्यकी इतिश्री मानते है, वे सत्पथपर नही है । जब तक मनुष्य स्वदयाको नही करता तब तक सच्ची परदया भी नही कर सकता, किन्तु स्वदयाके करने वालेके परदया तो स्वयमेव हो जाती है ।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वदयासे ओतप्रोत थे, तभी उनके निमित्तसे अभूतपूर्व परदया

अभी तक हो रही है । यहाँ यह वताया जा रहा है कि भगवान कुन्दकुन्द कैसे हैं ? उन्होंने प्रस्तुत ग्रथमें क्या कहा है तथा उनके कथित ग्रथमे क्या-क्या सार-रत्न सचित है ? श्रीमद् कुन्दकुन्द केवल ११ वर्षकी अवस्थामे ही दीक्षित हो गये थे । सरकार १८ वर्षके व्यक्तिको बालिग मानती है किन्तु जैन शासन ८ वर्षके बालक को भी बालिग मानता है ।

साधक परवस्तुका कर्ता-भोक्ता नहीं—भगवान् कुन्दकुन्दने मोक्षलक्ष्मीको उपादेय रूप से निश्चय किया है । वह मोक्षलक्ष्मी सकल पुरुषार्थोंमे सार है, अतः निश्चयसे आत्माके हितरूप ही है । लोकमे भी कहते है कि अपनी वस्तु ही भली होती है और यह मोक्षलक्ष्मी आत्मस्वरूप ही है, अत भली है, उत्तम है, श्रेष्ठ है अत सारभूत है । भैया ! ये बाहरी कोई भी वस्तुएँ आत्माका हित नही कर सकती और केवलज्ञान ही जानेका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है । अपनी आत्मामे ही तीव्रानुराग करना चाहिए । कहा भी है —'स्वशुद्धात्मरुचिः सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् निज शुद्धात्मामे रुचि, श्रद्धा या दृढ प्रतीतिका होना सम्यग्दर्शन है । ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवकी बडी विचित्र गति होती है । वह "गच्छन्नपि न गच्छति, पश्यन्नपि न पश्यति, कुर्वन्नपि न करोति, हसन्नपि न हसति एव जल्पन्नपि न जल्पति" की अलौकिक स्थितिमे होता है, अर्थात् वह विविध क्रियाएँ करते हुए भी उनमे रमता नही, उनमे लिप्त होता नही, वह कभी लक्ष्य भ्रष्ट नही होता, किसी कार्यको करते हुए भी अपने उद्देश्यको भूलता नही, कभी ध्येयसे हटता नही । वह निरतर अपने ज्ञायकभावमे जागरूक रहता है । वह जानता है कि मैं परका कुछ हित नही कर सकता । मैं जो कुछ भी करता हू वह स्वहितके लिये ही करता हू । मैं क्या सबके हितके लिये यह सब कुछ बोल रहा हू ? नही, मैं सबके आश्रयसे स्वयके लिये ही कह रहा हू । इस प्रकार अपने ही मार्गको स्वच्छ कर उसपर ही चलनेका यह प्रयत्न कर रहा हू ।

आत्माका ज्ञाता स्वभाव ही सौख्यपूर्ण स्वदेश है—प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिको जानता है । सभी समझ सकते हैं कि मेरी रुचिमे क्या वस्तु है ? यदि रुचिमे स्त्री, पुत्र एव मित्रादि हैं तो समझो कि हम निजात्माकी रुचिके विरुद्ध है और सन्मार्गसे बहुत दूर भटक चुके हैं तथा यदि केवल ज्ञाताद्रष्टा स्वभावरूप ही रहनेकी उत्कण्ठा हो तो समझिये कि मैंने सन्मार्ग पा लिया । ज्ञायकभावके दर्शन कर लेने पर आत्माके परिणामोमे कितनी विरक्ता एव शरीरके प्रति कितना निरपेक्षाचरण हो जाता है कि उसे अपनी आत्मामे लीनताके अतिरिक्त अपने शरीरसे कोई ममत्व या मोह नही रहता । इसका वर्णन समयसारमे एक स्थल पर किया गया है—

छिज्जदुवा भिज्जदुवा णिज्जदुवा अहव जादु विप्पलय ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहविहुण परिग्गहो मज्झ ॥"

इसीकी टीकामे कहा है, छिद्यता वा, भिद्यतां वा, नीयता वा विप्रलय यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्य परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्य । मम स्व, नाह परद्रव्यस्य स्वामी । परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्व, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी । अह एव मम स्व, अह एव मम स्वामी ।

अर्थात् यह शरीर चाहे छिद जाय, चाहे भिद जाय चाहे कही चला जाय, चाहे प्रलयको प्राप्त हो जाय और चाहे जहाँ कही भी चला जाय, तथापि मैं परद्रव्यको ग्रहण नही करता हू, क्योकि परद्रव्य मेरा 'स्व' निज धन नही है और न मै परद्रव्यका स्वामी हू ? परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है और वही उसका स्वामी है । इसी प्रकार मै ही मेरा स्व हू और मेरा मै ही स्वामी हू ।

परपदसे हटकर स्वपदमें आनेका अनुरोध—भैया ! देखो ! बाह्य वस्तुए जो दिखती है वे तो अजीव है और मै ज्ञाता द्रव्य हू, फिर मै उनमे क्यो लुभाया जा रहा हू ? हम सबको तो यह चाहिये कि सभी सभीसे निपटकर अपने आत्माके स्वरूप अपने ही चैतन्य भावमे विश्राम करें । लोकमे भी तो ऐसा ही हम लोग किया करते है । जैसे कोई एक जयपुर निवासी विदेशमे देशाटनको गया । कई दिनो बाद जब वह लौटता है तो कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि भैया ! कहाँ जा रहे हो ? उत्तर मिलता है कि भारत जा रहा हू । जब वह भारतके बन्दरगाह पर उतरता है तो लोग पूछते है कि भैया ! कहाँ जा रहे हो ? वह कहता है राजपूताना जा रहा हू । राजपूतानामे प्रवेश करते ही पूछा जाता है—कहाँ जाओगे ? उत्तर मिलता है—जयपुर जावेंगे । जयपुर स्टेशन पर उतरते ही तागे वाला पूछता है—किस मुहल्लेमे जाओगे ? वह उत्तर देता है—जौहरी बाजार जावेंगे । ताँगे वाला फिर पूछता है किस गलीमे जायेंगे आप ? हल्दियोंके रास्तेमे ले चलो; वहा पहुचनेपर वह अपने मकानका नम्बर बतलाता है । अपने मकानमें जाने पर फिर वह अपने कमरेमे जाकर विश्राम करने लगता है । इसी प्रकार भैया ! गृहस्थ लोग भी गृहस्थी एव स्त्री, पुत्र, धन, वैभवादिके विदेशमे पहुचे हुए है । जैसे जयपुर निवासी विदेशमें सुखी नही था वैसे ही गृहस्थी लोग भी धन, मित्र, पुत्र, कलत्रादिके विदेशमे, उनके सम्पर्कमे स्वयको कदापि सुखी अनुभव नही कर सकता । अत भैया ! अपने आराम, विश्राम एव सुख शान्तिका उपाय सोचो । सुख शान्तिका उपाय यही है कि प्रथम सोना, चाँदी एव धन-धान्यादि अचेतन पदार्थोंसे अपनेको हटालो, और फिर स्त्री पुत्रादि तथा उनके सम्बन्धी जन चेतन पदार्थोको अपनेसे अलग कर दो । देखो भैया ! हम तुम्हे नातेदारी माननेसे मना नही करते । नातेदारी तो करो, पर रिश्तेदारी मत करो । नातेदारीका शब्दार्थ होता है ना-ते-दारी अर्थात् 'ना' माने नही, 'ते'

मानें तेरी, और "दारी" माने सम्बन्ध । अर्थात् तुम्हारा किसीसे कुछ सम्बन्ध नही है, ऐसी
मान्यताको नातेदारी कहते है ।

काश ! यदि यह आजकी विरक्त बुद्धि बचपनमे होती, तो कितना उत्कर्ष होता ?
अब भी कुछ नही विगडा है । आज भी अच्छी तरह भेद-विज्ञान करके अपने लक्ष्य पर आ
जाना चाहिए । वैराग्यपूर्ण अल्पायुका होना भी श्रेष्ठ है पर रागद्वेषपूर्ण दीर्घायुका पाना श्रेष्ठ
नही । भेद-विज्ञानका आश्रय तो लो ! कल्याणका अनन्तपथ आपके चरण चिह्नोंसे सुशोभित
होनेके लिये उत्सुक होगा ।

प्रत्येक द्रव्य अपना स्वयं स्वामी है—वास्तविक नातेदारी बनाये रखनेके लिये स्त्री,
पुत्र, मित्रादिसे अपनेको हटाओ और फिर क्रमश. शरीरसे आत्मबुद्धिको भी दूर करो तथा
फिर अपने को रागद्वेषादिसे पृथक् ज्ञायक भावरूप समझो और तदन्तर क्षायोपशमिक ज्ञान
रूप भी हम नही है, ऐसा निश्चय करो तथा अपनेको उससे भी जुदा समझो फिर आप
कहेगे कि केवल ज्ञानरूप तो हू । सो भैया ! वह केवलज्ञान मेरे स्वभावके अनुकूल ही तो
परिणमन है, परन्तु वह स्वभाव नही है, क्योकि स्वभाव अनादि अनन्त होता है । इस
प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर अपने शुद्ध चैतन्य भाव रूप अपने आरामके कमरेमे प्रवेश करो ।
अपने शुद्ध चैतन्यभावको जाने बिना मिथ्यात्वी विषय-व्यामोहके कारण स्व-भवनसे निकल
कर कितनी ही दूर चला गया किन्तु वापिसीमे सोचता है कि अरे ! इस बाह्य कूडा-कर्कटमे
कैसा फस गया ? बाह्य पदार्थ नोकर्म अवश्य है पर मै अपनी विकल्प बुद्धिसे ही परमे फसता
हू । जिसकी स्वमे दृष्टि है वे सम्यग्दृष्टि है और जिनकी घसीटे करोडोमे दृष्टि है वे स्वात्म-
मार्गसे च्युत है ।

जगतमे जितने भी पदार्थ है उनमे से न कोई किसीका रक्षक ही है और न सहारक ।
वे स्वयके ही रक्षक और सहारक है । एक कथा है कि एक मुनि एक निर्जन वनमे तपस्या
कर रहे थे कि इतने मे एक सम्राट वहाँ पहुचा । उसने पूछा हे साधो ! तुम इस नवीन वय
मे क्यो इस घोर वनमे कठिन तपस्या कर रहे हो ? मै अनाथ हू, उत्तर मिला । सम्राट
पुनः बोला—यदि तुम्हारा कोई नाथ नही है तो चलो मैं तुम्हारा नाथ हू और तुम्हारी
सर्व प्रकारेण रक्षा करूँगा । साधु ने प्रश्न किया—तुम कौन हो ? मैं इस देशका राजा हू ।
मेरे पास सर्व प्रकारकी सुख सामग्री एव भोगोपभोगकी वस्तुएँ विद्यमान है, चलो ! मेरे
साथ चलो ! राजाने सहानुभूति बतलाते हुये यह कहा । साधु बोला—किसी समय तो मै
ऐसा ही था, मेरे पास भी सभी प्रकारका वैभव था । यह सुनकर सम्राटको आश्चर्य हुआ
और उत्सुकतापूर्वक पूछा फिर छोडकर क्यो चले आये ? साधुने अपनी व्यथा सुनाई–एक
वार मुझे भयकर शिर दर्द हुआ । राजवैद्योने बडे-बडे उपचार किये, किन्तु किसी भी प्रकार

कम नही हुआ। सहस्रो प्रयत्न करने पर भी मेरे कुटुम्बीजन लेश मात्र भी मेरे कष्टको न बँटा सके। तब मेरा अन्तर्चेतन बोला—अरे! संसारमे तेरा कोई नही है–यह नातेदारी और रिश्तेदारी सब असत्य है और मिथ्या है–अतः मै तो अनाथ हू। बस ऐसा बोध जागृत होते ही मैं साधु बन गया और इस बनमे रहकर अपने दु खके कारणोकी इतिश्री करनेमे लगा हुआ हूं। सम्राट साधुका उत्तर सुनकर मौन रहा और अपने नगरको चला गया। ससारका प्रत्येक प्राणी मुनिके समान ही अनाथ है। जब यह प्राणी अपनेको अनाथ समझ-कर परसे दृष्टिको हटाकर स्वमे रत हो जाता है तभीसे वह सनाथ बन जाता है क्योकि वह जान लेता है कि मै मेरा ही स्वामी हू।

भौतिक साधना ही दुःखका कारण है—तुम्हारे साथ अनेक प्रकारकी बाह्य विपदायें भी लगी हुई है। आपको वैसे विषयकषायोके लोलुपी वातावरणमे रहना पड रहा है? जो परिग्रहमे व्यासक्त है, आडम्बर वाले है, उनमे रहनेका अवसर आ गया है। फलस्वरूप इच्छाएँ और इच्छाओके कारण पुन. आवश्यकताएँ बढती जा रही है। एक ग्राम निवासी जिसने मिठाई नही चखी, जिसे सौन्दर्यपूर्ण वस्त्रोसे प्रयोजन नही, जिसने शहरके आडम्बर मे परिचय नहीं किया, ऐसे व्यक्तिके तृष्णा भी नही, व्याकुलता भी नही। जब शहरमे आया मिठाई खाई, रईसोकी मोटरे देखी कि इच्छा बढी और बीमार पड गया ईर्ष्यासे। अत जीवनमे अशात हो गया। हमारे बिगाडका कारण कुसग है, विषयकषायोसे भरा वातावरण है। किन्तु भगवान कुन्दकुन्द ऐसे दूषित वातावरणसे दूर थे, बहुत दूर थे। वे आध्यात्मिक ज्ञानसाधनामे सलग्न थे। उन्होने मोक्षलक्ष्मीको ही उपादेय निश्चित किया। वह मोक्षलक्ष्मी "भगवत्पचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्या" अर्थात् भगवान पचपरमेष्ठीके प्रसादसे उप-जन्य है। जो जिसकी भक्ति करता है वह उसके उपास्यके अनुरूप हो ही जाता है। वास्तव मे रागके समयमें इतना जरूर है मन्दरागकी भक्ति अन्य जातिकी है और तीव्र रागकी भक्ति अन्य जातिकी। अतः मै तो यही मानता हू कि यहाँ जितने मनुष्य हैं वे सभी भक्त है पुजारी हैं। भेद केवल यही है कि यदि कोई धनका भक्त है तो कोई स्त्रीका और कोई भग वानका। किसीका चित्त स्त्री पुत्रादिकी सेवा शुश्रूषामे लगा है तो किसीका मुक्तिलक्ष्मीकी आराधनामे। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सच्चे भक्त थे। इसी कारण उन्होने मोक्षलक्ष्मीको ही उपा देय रूपसे माना और उसे पचपरमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य समझकर वे पचपरमेष्ठीके आश्रयसे अपने स्वरूपमे लीन होते थे। देखो कहाँ तो उनकी स्थिति और कहाँ हम लोगोकी? इतना जीवन खोया, किसमे चित्त था? किसकी भक्तिमे लीन रहे? उस भक्तिसे क्या शान्ति पाई? कुछ नही, पाई अशान्ति और बारम्बार उसी अशान्तिका कडुवा घूट शान्ति समझकर पी गये, परतु कभी मुक्तिका उपाय न सोचा, न विचारा।

लोग कहेगे कि यदि सभी विरागपूर्ण जीवन-यापन करने लगे तो ससार कैसे चलेगा?

मानो दुनियाका उन्होंने ठेका ले रखा हो। जैसे मुक्तिमार्ग चलते हुए भी दुनिया अभी तक चलती रही तथैव भविष्यमें भी चलेती रहेगी। भैया ! तुम दुनियाकी चिन्ता न करो, चिन्ता करो अपने आत्मकल्याण की, जिससे सहज आनन्दरूप शाश्वत परमधामको प्राप्त होओ, अपनेपर लक्ष्य रखो, परको लक्ष्य मत बनाओ। यही स्वाधीन होनेका प्रशस्त मार्ग है।

घरमें जाकर स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे राग कथाएँ तो बहुत की, अब उस पुरातन शैली को बदलकर वैराग्य कथाएँ करो जिससे तुम्हारा भी धर्म सधे और श्रोताका भी। वीतराग कथा ही सत्कथा है। उसके सुने बिना तुम्हें सुख शांति न मिल सकेगी।

मोक्षकी परिभाषा—अब कहते है कि वह मोक्ष लक्ष्मी कैसी है ? "परमार्थसत्याम्, अक्षयाम्" अर्थात् वह मोक्षलक्ष्मी परमार्थ सत्य है और अविनाशी है क्योंकि वह परम पवित्र है, शुद्ध है और केवल निज स्वरूप है। अंग्रेजीमें शुद्धको (प्योर) कहते है जिसका तात्पर्य खालिससे है अर्थात् पर सम्बन्धके अभावका नाम ही शुद्ध है। कल्पना कीजिये इस चौकीपर (सामने रखी चौकीकी ओर संकेत करते हुये) कबूतरने बीट कर दी। हमने नौकरसे कहा—इसे शुद्ध कर दो। उसने पानी डालकर बीट धो डाली। बस ! चौकी शुद्ध हो गई। जिस प्रकार बीटके संसर्गका अभाव चौकीका शुद्ध होना कहलाता है उसी प्रकार आत्माके ऊपर जो कर्ममलरूप बीट लगी हुई है, उसे भेदविज्ञानरूप निर्मल जलसे धोकर साफ कर डालना ही आत्माका शुद्ध होना है। आत्मासे परपदार्थके संयोगका दूर कर देना ही उसकी शुद्धता है। आत्माको शुद्ध करो, इसका मतलब यही है कि कर्मरूप मलको धो डालो। भैया ! पर-संगको भेदविज्ञान रूप जलसे धोकर एक शुद्ध ज्ञायकरूप बन जाओ।

श्री आचार्य कुन्दकुन्द इस शुद्ध, बुद्ध ज्ञायकभावरूप अक्षय मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका लक्ष्य रखने वाले थे। हमें भी अपनी शक्ति प्रमाण प्रयत्न करना चाहिए और उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये। कवि द्यानतरायजी ने कहा भी है—

"कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरे।
"द्यानत" सरधावान, अजर अमर पद भोगवे।"

आचार्य श्री कुन्दकुन्दने मोक्षलक्ष्मीका उपादेयरूपसे निर्णय किया है। निर्णयके बाद ही हम निर्बाध और अमोघरूपसे अपना पथ सुगम और सरल बना सकते है। श्री कुन्दकुन्दा-चार्यने यह निर्णय किया कि शुद्ध ज्ञायकभाव ही उपादेय है। इसीको अन्य शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते है। कुछ मत करो, कुछ मत बोलो, कुछ मत सोचो, जो होता हो सो हो, मुझे तो एक निज लक्ष्मी ही उपादेय है।"

मङ्गलाचरणमें धर्मपरम्पराका प्रकाश—"प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवत: पंच-परमेष्ठिन प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन, सभाव्य सर्वारम्भेण, मोक्षमार्गं सम्प्रतिपद्यमान:

प्रनिजानीते ।"

श्री आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्गको प्राप्त होते हुए प्रतिज्ञा करते है कि वर्तमानमे जिनका तीर्थ चल रहा है, ऐसे भगवान महावीरको आदि लेकर शेष अन्यका भी आदर करके ग्रथ प्रारम्भ करते है:—

"वर्तमान तीर्थंकरोको" इसका अर्थ =

इस भरत क्षेत्रमे आज जो शासन चल रहा है, वह यद्यपि भगवान महावीरका है तथापि वही शासन आदि पुरुष, आदि सुविधि कर्ता, धर्म धुरन्धर, परम गुरु, भगवान ऋषभ देवने प्रतिपादित किया और वही भगवान अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकरोंने भी । वर्तमानमे प्रचलित उनका यह शासन "वर्तमान तीर्थंकरोका शासन" कहलाता है । विदेहोमे भी सीमन्धरादि २० तीर्थंकर आज वर्तमान है, पर उन्हे इस नामसे न कहकर विद्यमान बीस तीर्थंकरोंके नामसे पुकारा जाता है । वे आज विद्यमान अवश्य है, पर यहाँ उनका शासन प्रवर्तमान नही है ।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि जब यहाँ चौबीस तीर्थंकरोका शासन प्रवर्तमान है तो "ऋषभपुरसरान्" ऐसा क्यो नही कहा ? इसका उत्तर यह है कि संभवतः आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवने 'पश्चादनुपूर्वी' की अपेक्षा उक्त कथन किया है । किसी बातको व्यवस्थित ढगसे कथन करनेको आनुपूर्वी कहते है । वह आनुपूर्वी तीन प्रकारकी होती है । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादनुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी ।

जैसे एक-दो-तीनसे लेकर १०० तक क्रमश कथन करनेको पूर्वानुपूर्वी कहते हैं । सो निन्यानवे आदिसे लेकर एक तक विपरीत क्रमसे गिननेको पश्चादनुपूर्वी और १०, १५, २०, ५०, ४०, ३० आदिका उच्चारण अनुलोम या विलोम क्रमसे करनेको यथातथानुपूर्वी कहते है । इन तीनोमे से प्रकृत नमस्कार पश्चादनुपूर्वीसे किया गया समझना चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि परम्परासे तीर्थ आ तो रहा है किन्तु बीच-बीचमे कितने ही बार शिथिलता आ गई थी । आजका यह वर्तमान तीर्थ भगवान द्वारा प्रकाशित है । भगवान महावीर वर्तमानमे तीर्थप्रवर्तनके साक्षात् कारण है, अत: यह करने उनको सर्वप्रथम स्मरण किया है । सत्पुरुष कृतज्ञतासे परिपूर्ण होते है, अतः जिनके वर्तमान तीर्थसे भव्य जीवोका उद्धार हुआ है, उनका स्मरण करना कृतज्ञताद्योतक ही है ।

मङ्गलाचरण करनेका प्रयोजन—"भगवत पचपरमेष्ठिन" इस पदका यह अर्थ है—"परमे उत्कृष्टे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी" अर्थात् जो परमपदमे अवस्थित है, रहते है, वे परमेष्ठी है । भगवान अरहत परमेष्ठी है, क्योकि वे घातिचतुष्कके अभावसे उत्पन्न हुये अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्यरूप परमपदमे रहते है । सिद्ध भगवान भी परमेष्ठी है क्योकि

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप तीनो प्रकारके कर्म मलोंसे रहित शुद्ध सिद्धावस्थारूप परमपदमे रहते है। आचार्य महाराज भी परमेष्ठी है क्योकि वे भी अपनी तपस्या, त्याग, तेजस्विता आदिके साथ-साथ शुद्ध चारित्रका पालन करते हुये अन्य भव्य जीवोको भी उनका परिपालन कराते है। सघके समस्त साधु उनका शासन मानते है और उसपर चलते है, अत. वे भी परमेष्ठी है, उपाध्याय महाराज अनादि निधन श्रुतके द्वादश अगोका स्वयं अध्ययन करते है और अन्य समीपस्थ भव्य जीवोको भी पढाते है, सदा मुमुक्षु एव जिज्ञासु जनोंको धर्मोपदेश देनेमे निरत रहते है। सघके समस्त साधु जन उनके वचनोको अरहतके समान प्रमाण मानते है, अत वे भी परमेष्ठी हैं। जिनका मन विषयकषायोंसे दूर हो गया, आरम्भ परिग्रहके जो सर्वथा त्यागी है, जो ज्ञान, ध्यान और तपमे सदा अनुरक्त है, ऐसे साधुगण भी परमेष्ठी ही है। इस प्रकार श्री० आ० कुन्दकुन्द देव वन्दना और नमस्कार करके प्रभुको समादृत करते हैं। वस्तुस्वरूपसे देखा जाय तो हमारी और पाँचो परमेष्ठियोकी सभी की चेतन जाति एक ही है। शक्तिसे, द्रव्यसे जो वे है, सो हम है।

'णमो अरहन्ताण' का उच्चारण करते हुये श्री आ० कुन्दकुन्द मानो यह भाव व्यक्त करते है कि जैसे स्वपुरुषार्थसे वे अरहन्त बने वैसे हो मै भी स्व-पर दृष्टि रखकर अरहन्त बनने जा रहा हूँ। अरहन्त, सिद्धरूप मेरा भी स्वरूप है, अतः उसी मार्गपर मैं भी चल सकता हू।

हम लोग घरमे भी देखते है कि उत्साहहीन व्यक्तिसे कोई कार्य कराया नही जा सकता है। जब जिस कामके करनेका मनुष्यमे उत्साह होता है तभी वह उस कामको भली भाँति सम्पन्न कर सकता है। अत आ० कुन्दकुन्द पूरे उत्साह और उल्लाससे ओत-प्रोत होकर ग्रन्थरचनाका उपक्रम करते है।

भक्तका उद्देश्य—सच्चा भक्त भगवानकी किस प्रकार स्तुति करता है, जरा उसे देखिये—

विराग सनातन शान्त निरंश, निरामय निर्भय निर्मल हस।

अर्थात् सिद्ध-भगवान विराग है। भक्त मनमे सोचता है कि मेरा स्वरूप भी तो विराग है। यह जो राग वितान मेरे दिखाई पड रहा है, वह मेरा स्वभाव नही है। इसे मैं निज पुरुषार्थ जागृत करके दूर कर सकता हू। यही बात आत्मकीर्तनमे भी कही है 'वे विराग यहाँ रागवितान'। इसमे भी 'मैं राग वितान' न कह कर 'यह राग वितान' कहा है। लोग भी कभी अपनेको 'यह ससुरा नही मानता' ऐसा देहको लक्ष्यमे रखकर कहा करते है। कभी कषायको लक्ष्यमे रखकर कहते है कि 'यह ससुरी नही मानती'। इन दोनो उक्तियोमे भेद कर रखा है। ज्ञात होता है कि अनुभवकर्ता भी अपनी दृष्टिमे शरीर और

कषाय भी भिन्न-भिन्न ही है, मानता है। सम्यक्त्वी निजको रागी न समझकर व्यक्तिरूप तत्त्वमें भेद मानता है स्वभावमे नही।

सिद्ध भगवान सनातन है। 'सना-सर्वकालं तनोति व्याप्नोतीति सनातन' अर्थात् चिरकाल तक अपने एक स्वरूपसे अवस्थित है। मै भी अपने चैतन्यभावकी अपेक्षा सदा चेतन ही हू, कभी अचेतन नही हो सकता। भगवन्! आप शान्त है क्योकि सर्वविकल्प जाल आपके शान्त हो चुके है। मैं यद्यपि सकल्प विकल्पोसे भरा नजर आता हू तथापि मेरा आत्मा सबसे परे है, शान्त स्वरूप है। यदि स्वभावमे अशान्तिका प्रदेश हो जाय, तो वह कभी नही निकले। स्वभावदृष्टिसे देखो—ये विभाव पर्यायें अशान्ति आदिक जलमे तैल के समान ऊपर ही ऊपर तैर रही है, उनका अन्तः प्रवेश नही है।

द्रव्यदृष्टिसे भक्त और भगवानमे समानता—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चारोकी अपेक्षासे हे भगवन्! आप निरश है। उनमे कही कोई अशपना नही है। द्रव्यकी अपेक्षा आप निरश अखण्ड चिन्मय पिण्ड है। मैं भी द्रव्यकी अपेक्षा निरश हूँ, मेरे मे भी कोई अश या खण्ड नही है।

ससारमे धर्म ही महान् है, वह भवसागर तरनेके लिये दृढ सेतु है। धर्मशून्य जीवन जीवन नही। जब तक जीवनमे धर्म क्रियान्वित नही होता तब तक मनुष्यका जीवन गर्भ-वास ही समझना चाहिए। वास्तवमे जीवनका प्रारम्भ होता है धार्मिक श्रद्धा, आत्म-विश्वास एव आत्म-विकास होने पर। इहलौकिक एव पारलौकिक जीवन सुखी एव समृद्ध बनानेके लिये शुभ क्रियाओ द्वारा पुण्य बन्ध आवश्यक है—वह आपके जीवन पथमे पाथेय का काम देगा किन्तु शुभकी अपेक्षा शुद्ध सदा महान और महत्वपूर्ण रहा है।

द्रव्य दृष्टिसे भक्त और भगवानमे समानता—क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्ध भगवान असख्यात-प्रदेशी है तो मै भी असख्यातप्रदेशी हूँ। असख्यातप्रदेशी होने पर भी सिद्ध भगवान या मेरी आत्मामे कोई अश या खण्डरूप विभाग नही है कि अमुक स्थानपर ज्ञानगुण है और अमुक स्थान पर दर्शन गुण है। अतः उस अपेक्षा दोनो निरश है। दोनोके सर्वागमे सर्वगुण तिलमे तैलके समान व्याप्त है। कालकी अपेक्षा हे भगवान! आप निरश है। यहाँ कालसे मतलब उस पर्यायसे है, जो एक क्षणभावी है। एक क्षणभावी पर्याय निरश ही होती है परन्तु मैं कालकी अपेक्षा साश हूँ, क्योकि सकषाय हूँ। एक क्षणवर्ती कषाय-पर्यायोमे भी अविभाग प्रतिच्छेदोका अन्तर रहता है। भावकी अपेक्षा भी आप निरश है क्योकि सामान्य तत्त्वरूप भाव एक स्वरूप होता है। उसी प्रकार मै भी निरश हू। इस प्रकार भक्तकी दृष्टि निजपर और अपने आराध्य दोनोपर जाती है। सच्चा भक्त दोनोकी समानतापर दृष्टि देता है। यहाँ काल-पर्यायकी अपेक्षा भक्त और भगवानमे भेद सिद्ध होता है।

तत्त्व प्रतिपादनके चार प्रकार—जिज्ञासु—जीवतत्त्व और जीव पदार्थमे क्या अन्तर है ?

समाधान—यहाँ पर उक्त जीवतत्त्व और जीव पदार्थमे ही नही किन्तु जीवतत्त्व, जीवपदार्थ, जीवास्तिकाय और जीवद्रव्य—इन चारका अन्तर बतलाया जाता है।

देखो भैया ! (कांचका गोला हाथमे लेकर) यह हाथमे वस्तु है। इसे हम चार दृष्टियोसे देख सकते हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। यहाँ द्रव्यका तात्पर्य एक पिण्डसे है। अत द्रव्यकी दृष्टिके जैसा यह पूर्ण ज्ञात हो रहा है, वैसा है। इसे हम इससे अधिक और किसी विशेषतासे नही कह सकते, क्योकि, कुछ विशेषता कही कि क्षेत्र, काल और भाव इन तीनोमे से किसी न किसीकी अपेक्षा आ जाती है। अत. द्रव्यसे तो यह काचका गोला है। यदि इसका क्षेत्रकी अपेक्षासे वर्णन किया जाय तो यह कहा जायगा कि यह गोला है या चपटा है। कालकी अपेक्षासे देखो तो यह पुराना है, हरा है आदि बातें कही जायेंगी। भाव की दृष्टिसे देखनेपर इसमे जो अनाद्यनन्त स्थायीरूप रसादि भाव हैं वे ही ज्ञानगम्य होते हैं। इस तरह जैसे हम इसे चार दृष्टियोसे देखते हैं उसी तरह जीवको चार दृष्टियोसे देखनेसे जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य और जीवतत्त्व ये चार सिद्ध हो जाते हैं। जब हम अनन्त गुणोके पिण्ड रूपसे देखते है तब वह जीव पदार्थ है क्योकि "पदस्य अर्थ पदार्थः जो पदका वाच्य है, वही पदार्थ कहलाता है। क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत प्रदेशी होनेसे जीवास्तिकाय सज्ञा दी गई है। कालकी अपेक्षा तीनो कालोमे वर्तमान होनेसे जीवद्रव्य है, क्योकि द्रव्यका लक्षण "अदुद्रुवत्, द्रवति दोस्यतीति द्रव्यम्" कहा है। अर्थात् भूतकालमे जो पर्यायोको प्राप्त करता रहा, वर्तमानमे कर रहा है और भविष्यमे करेगा, वह द्रव्य कहलाता है। भावकी अपेक्षा अनाद्यनन्त चैतन्यमात्र जीव अथवा जिस गुणपर दृष्टि देवें, उस गुण मात्र जीव है। यहा भाव दृष्टिगत है, इसलिये भावकी अपेक्षा "जीवतत्त्व" है, तत्त्वका लक्षण भी "तस्य भाव तत्त्वम्" कहा गया है। इस प्रकार चारो अपेक्षाओसे उक्त चारो नामोकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है और यही इन चारोमे अन्तर है। इन चारो अपेक्षाओंसे वर्णन किये बिना वस्तुका सर्वागीण प्रतिपादन नही हो सकता।

निरामय, निर्भय, निर्मल हंस—सिद्ध भगवान निरामय है। आमय नाम रोगका है, सिद्ध भगवान शारीरिक मानसिक आदि समस्त प्रकारके रोगोसे विमुक्त हो चुके है। वे निर्भय हैं, क्योकि वे सर्व प्रकारके भयोसे विमुक्त हैं। वे सर्व मलोमे रहित हैं अतएव निर्मल हैं। आप परमहस हैं। जैसे हंसका धवल श्वेत वर्ण होता है वैसे ही सर्व कर्म कालिमा दूर हो जानेसे आप हसके समान होकर भी परमहंस हैं। मैं भी परमहंस हू। परमहंसका पदच्छेद है:—"परम + अह + स" पर नाम बाह्य पदार्थोका है, परमे जिसकी दृष्टि हो ऐसे

बहिरात्माको पर कहते है। अह नाम अपने भीतर विद्यमान अन्तरात्मा है। "स" का अर्थ वह है। यहा 'वह' का अर्थ परमात्मासे है। इस निरुक्तिका समुदायार्थ हुआ "मै भूतकालकी अपेक्षा बहिरात्मा हूं, वर्तमानकी अपेक्षा अन्तरात्मा हू और भविष्यकालकी अपेक्षा परमात्मा हूं। इस प्रकार जितने भी जीव है, वे सब तीनो तत्त्वोको लिये हुये है। केवल अभव्योमें बहिरात्मत्व ही होता है, दो तत्त्व नही होते। पर वे भी शक्तिसे तीनो तत्त्वकर सहित है, क्योकि वे भी चेतन द्रव्य है।

भगवन्! तुम भी अनन्तकाल तक मेरे समान भटके थे। आज आपमे भी तीनो तत्त्व समाविष्ट हैं। भूतकालकी अपेक्षा आप बहिरात्मा और अन्तरात्मा है तथा वर्तमानकी अपेक्षा परमात्मा है ही।

हस जैसे स्वय स्वच्छ होता है, स्वतन्त्र बिहारी और मानसरोवर वासी होता है उसी प्रकार आप भी स्वच्छ है, स्वतन्त्र है, अनन्त ज्ञेयको स्वय जानने के कारण स्वतन्त्र बिहारी है तथा सिद्धालयके निवासी हैं।

इस प्रकारके स्वरूप वाले पचपरमेष्ठियोको भ० कुन्दकुन्दजी प्रणमन और वन्दन करते है। प्रणमन तो देहसे होता है और वन्दना वचनसे होती है। दोनो करते हुये भी अन्तरगमे क्षायिक भावसे अनुभवरूपसे उत्पन्न हुआ नमस्कार भाव नमस्कार कहलाता है।

सच्चा भक्त कौन ?—हमे भी श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीके समान सच्ची भक्ति करनी चाहिये। पर हमारी भक्ति कैसी होती है और हम कैसे भक्त है, यह एक दृष्टान्तसे स्पष्ट किया जाता है। आप ही बतलाइये पिताका सच्चा भक्त कौन है ? जो पिताको अच्छा खिला-पिला करके भी उसकी एक भी बात न माने वह या वह जो पिताको शक्ति न छुपाकर रूखी सूखी रोटियाँ भी खिला करके कहना मानता है। मेरे ध्यानसे दूसरे पुत्रको ही आप अच्छा कहेगे। उसी प्रकार हम लोगोको वीतराग भगवान का सच्चा भक्त होना चाहिए और उनके बतलाये मार्गपर चलना चाहिए। यदि ऐसा न करेंगे तो जैसे अनन्तकालसे आज तक ससारमे भटके है और इसी प्रकार आगे भी भटकते रहेगे।

वीतराग भगवान तो अपने भक्तोसे बार-बार यही कहते है कि तुक लोग मेरेमे भी भक्ति मत करो। यदि मुझमे राग करोगे तो पुण्यका बन्ध होगा और उसके फलसे तुम्हे स्वर्गमे उत्पन्न होना पडेगा। वहाँ सहस्रो देवियोसे ससर्ग होगा। सभव है, उस समय तुम मुझे भी भूल जावो। इससे उत्तम तो यही होगा कि पीछे भूलनेकी अपेक्षा तुम मुझे यहाँ पहिले ही भूल जाओ। अर्थात् मेरी भी भक्ति मत करो, वीतराग मार्गी रहो, पर भगवान ज्यो-ज्यो अपने भक्तको मना करते है त्यो-त्यो वह और भी अधिक उनकी भक्ति करता है।

विरागभक्ति भवतरणसेतु—आचार्य श्री कुन्दकुन्दने यह कितना सुन्दर ग्रथ बनाया ? वे इस भवसे मोक्ष तो गये नही । उनका सम्यक्त्व सहित ही मरण हुआ होगा, तो देवगति मे ही गये होगे । वहाँ उन्हे अधिक ऐश्वर्य वाले देवका पद मिला होगा । हजारो देवियाँ मिली होगी और वे उनमे रमकर अपने इष्टदेवको भूल गये होगे अथवा यह भी सभव है कि वे लौकान्तिक देव हुये हो । इसीलिये वीतराग भगवान बराबर अपने भक्तोसे यही कहते है कि तुम लोग मुझमे राग मत करो । भगवानने यह कभी नही कहा कि जो मेरी भक्ति करेगा उसे मैं तार दूगा, प्रत्युत वे तो कहते है कि हे मेरे भक्तो ! जब तक तुम लोगोमे मेरी भक्तिका भी राग रहेगा तब तक तिर नही सकोगे । ऐसा सुनकर सामान्य जनोकी भक्ति तो बढती है, पर जो पहुचे हुए व्यक्ति होते हैं, उसकी भक्ति करते करते भक्ति छूट जाती है ।

किसीके कर्ता मत बनो—कोई किसीका कुछ नही करता, मात्र अपनी ही चेष्टा किया करता है, किन्तु हम परकी दृष्टि रखकर मानते है, यह ही हमारा सुखदाता है और यही हमारा दुखकारी है, मैंने इसको पाला और मैने इसका उपकार किया, ऐसा मानना अज्ञान है । जहाँ स्वभावके विरुद्ध कर्तृत्व बुद्धि आई कि अनेकानेक दुःखोका सामना करना पडा । सुख कर्ता बननेमे नही, ज्ञाताद्रष्टा बननेमे है । अतः सदा ज्ञाताद्रष्टा ही बने रहो—

एक रामू नामका लडका था, वह कही घोडेपर सवार होकर गया । रास्तेमे शाम हो गई और एक जुलाहेकी पत्नीसे पूछकर उसके यहाँ ठहर गया तथा परिचयमे उसने अपना नाम बतलाया 'तू ही तो था ।' शामको भोजन सामग्री लेने पासके बनियेके पास गया और बोला कि पैसे मैं सवेरे दूँगा, तथा पूछनेपर उसे अपना नाम 'मैं था' बतलाया । उसने रातको भोजन पकाया और आलस्यवश पानी वगैरह उसने बाहर न फेककर कोठेमे ही रुईपर डाल दिया । सवेरा हुआ और रामू चल दिया । जब जुलाहा घर आया और रुई गीली देखी तो उसने पूछा—यह रुई खराब किसने की ? यहाँ रातको कौन ठहरा था । पत्नीने कहा—"तू ही तो था ।" अरी ठीक-ठीक क्यो नही बताती, जुलाहा क्रोधित होकर बोला । पत्नी बोली—मैं सच कहती हू यहाँ जो रातको ठहरा था वह 'तू ही तो था ।' जुलाहेको क्रोध आया और उसने स्त्रीको पीटना शुरू कर दिया । बनिया उसे पिटता न देख सका और वस्तुस्थिति समझकर बोला—यहा जो रातको ठहरा था वह 'मैं था' तुम उसे क्यो पीटते हो ? जुलाहा बोला—तू था, तो तू आ जा और जुलाहेने उसे डण्डे मारना शुरू कर दिये । वैसे ही भैया ! जो बीचमे किसीका कर्ता धरता बनता है तो उसपर भी विभावके डडे पडते हैं । यदि बनिया वह सब कुछ जानता और विवेकसे समझता तो उसे मार न खानी पडती । उसी प्रकार यदि तुम भी ज्ञाताद्रष्टा बने रहो तो तुम्हे भी विभावके डडे नही खाने पडते । किन्तु भैया !

सोचते तो यही हो कि मै पुत्री, स्त्री एव माता पिताकी सहायता करता हू या वे मेरी सहायता करते है । बस भैया ! यही बुद्धि तो कष्टप्रदायिनी है, और ससार बढाने वाली है ।

यहाँके अनुभवोको भी देख लो । जब तक बालक अकेला स्वतन्त्र रहता है तब निर्मलतासे बना रहता है, खुश रहता है । इसका बाह्य स्थूल कारण है कि—

जब अवस्था कम होती है तब आत्मामे निर्दोषता एव पवित्रता रहती है । किन्तु जब लडकेकी शादी हो जाती है तब उसमे मायाचारी आ जाती है और वह विविध मायादि पूर्ण चेष्टाएँ करता है । कारण यह हुआ कि स्वामित्व बुद्धि आई उसके मनमे । परन्तु भैया उसकी भयशील क्रियायें यह ही तो प्रभावित कर रही है कि यह पाप ही है । पापाचारसे दूर रहकर निज पवित्र स्वभावको देखो, यही शातिका मार्ग है ।

धर्म ही जीवन है—इस प्रकार पचपरमेष्ठी और वर्तमान तीर्थंकरोका भली भाति आदर करके, इतना आदर कि यह उनके ही रूप हो जाय । अब ग्रन्थकार ग्रन्थ आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करते है—"सर्वारम्भेण" अर्थात् पूर्ण रूपसे तैयारी करके ग्रन्थका प्रारम्भ करते है । जहाँ मल्ल युद्धका खास आयोजन चल रहा हो, वहाँ कोई लडने वाला मल्ल यह भाव नही रखता कि मैं पहिले सामान्य रूपसे लडूँगा, फिर विशेष रूपसे लडूँगा । इसी प्रकार ज्ञायकभाव रूप धर्मतत्त्वका अवलोकन कर लेने वाला सर्व आरम्भसे यथा शीघ्र धर्मोपार्जनके लिये उद्यमी होता है वह तो धर्मको ही अपना जीवन समझता है ।

भैया ! एक सेठजी थे । उनके यहाँ १० बजे भोजन वेलामे एक नव-वयस्क साधु आहारार्थ गये । आहार करनेके बाद धर्मोपदेशके लिये बैठे कि इतनेमे सेठकी पुत्र बधूने पूछा—महाराज ! आप सबेरे क्यो आ गये ? साधु बोले—मुझे समयकी खबर नही थी । साधुने पूछा—बेटी ! तेरी उम्र क्या है ? वह बोली—मेरी उम्र चार वर्षकी है । साधु—तेरे पति की उम्र क्या है ? पुत्रबधु—मेरे पतिकी उम्र चार मासकी है । साधु—ससुरकी उम्र क्या है ? पुत्रवधू—अभी मेरे ससुरजी तो पैदा नही हुए । साधु—बेटी ! तुम ताजा खाती हो या बासी ? पुत्रबधू—महाराज ! अभी तक तो बासी ही खाती हू । सेठजी इन अटपटे प्रश्नोत्तरोको सुनकर बडे हैरान एवं आश्चर्य चकित हुये क्योकि साधु तो ठीक समय पर ही आये थे और उनसे पूछा गया यह कि तुम इतने सबेरे क्यो आये ? उम्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर तो सारेके सारे ही अटपटे हैं और यह प्रतिदिन ताजा भोजन भी करती है और साधुसे कहती है कि बासी खाती हू । साधुजी तो आहारसे चल दिये किन्तु प्रश्नोत्तरोको जाननेकी लालसासे सेठजीको चैन न थी । जाकर पुत्रवधूसे पूछने और कहने लगे । तूने तो आज मेरे घरकी लुटिया डुबो दी । पुत्रवधू समझ गई कि ससुरजीने हम लोगोकी बातोका अभिप्राय

नही समझा। अत बोली—ससुर जी ! साधु जी के पासमे ही चलकर समाधान कर लिया जाय। दोनो वहाँ पहुचे। सेठ जी ने पूछा—महाराज ! आपके एव मेरी पुत्रवधूके बीचमे हुई वार्तालापका क्या अर्थ है ?

धर्मश्रद्धा होनेपर जीवनका प्रारम्भ—साधु बोले—देखो ! इसने मुझसे पूछा था कि इतने सवेरे क्यो आये ? इस प्रश्नका तात्पर्य था कि मैं इतनी अल्पायुमे दीक्षित क्यो हो गया ? मैंने इसका उत्तर दिया था कि समयकी खबर न थी। इसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपनी आयुका पता नही कि कितनी है, न जाने कब मृत्यु हो जाये ? अत नववय मे ही दीक्षित हो गया। सेठजी बोले—महाराज ! इसकी उम्र तो २० वर्षकी है फिर इसने ४ वर्ष की क्यो बतलाई ? और पति तो २५ वर्षका है और उसकी उम्र ४ माहकी कही। मैं तो वृद्धावस्थाको प्राप्त जीर्णकाय आपके समक्ष खडा हू और यह कहती है कि अभी मेरे ससुर पैदा ही नही हुए। साधु बोले—बेटी ! सेठजी का समाधान कर। पुत्रवधू बोली—मुझे धर्मकी श्रद्धा चार वर्षसे ही हुई है, अत मैंने अपनी उम्र ४ वर्षकी बतलाई और पतिदेव की धार्मिक श्रद्धा चार माहसे ही प्रारम्भ हुई है, अतः उनकी उम्र ४ माहकी बतलाई है किन्तु आपके मनमे वह धर्म-श्रद्धा तो अभी तक हुई ही नही अतः मैने कहा कि ससुरजी तो अभी पैदा ही नही हुये। सेठजी बोले—महाराज ! यह प्रातः एवं सन्ध्या दोनो समय ताजा आहार करती है फिर बासी खानेकी बात कैसे कही ? इसका पुत्रवधूने उत्तर दिया—महाराज, हम लोगोने जो पूर्व जन्ममे पुण्य कमाया है उसीका फल हम आज भोग रहे हैं। नया पुण्य तो हम कुछ भी उपार्जित नही कर रहे हैं। अत. मैंने बासी खाने की बात कही। सेठजी प्रश्नोत्तरोको समाधानित कर घर चले गये। ठीक है, आत्मश्रद्धा बिना जीवन व्यर्थ है।

रे मूढ ! तू आत्माकी खोजमे निकला है ? जिज्ञासु है उसका ! किन्तु वह तुझे यहाँ बाह्य जगत्‌मे कहाँ मिलेगी ? स्वय अनन्तगुणयुक्त आत्मा तुझमे विद्यमान होते हुए भी अज्ञानवश तू उसकी खोज कर रहा है—अतः उपहासका पात्र है। यह तो 'पानीमे मीन प्यासी, मोहि सुन-सुन आवे हाँसी' के समान बात होगी। तू आत्माकी खोज कर स्वयमे, उसका एक बार साक्षात्कार हो जाने पर फिर सदाके लिये सुखी हो जायगा। जिससे तू चेतन है; ज्ञानमय, दर्शनमय कहलाता है, ज्ञान, ध्यान एव तपादि तपता है और जिसकी स्वतन्त्र तथा निश्चल दशा मोक्षप्रदायी है। वही आत्मा है, तू उसका स्वामी सदासे रहा है, पर उसका अनुभव प्राप्त न कर सका। आत्मानुभवन गूंगेके द्वारा खाई गई शक्करके सदृश उसके ही द्वारा सवेद्य है, उसके सवेदनका बचनोसे वर्णन नही किया जा सकता।

विरागी विषयोमे लिप्त नहीं होते—इस कथाका अभिप्राय यही है कि जब तक

मनुष्यकी धार्मिक श्रद्धा नही जगी तब तक वह गर्भमे ही है, जन्मा नही है और तब तक वह नवीन पुण्य उपार्जित नही करता है बासी ही खा रहा है। यदि धर्मशून्य जीवनको ही जीवन माना जाय तो फिर केवल इसी भवकी उम्रको ही क्यों बताया जाय ? अनादिसे ही हम लोग धर्मशून्य जीवन बिताते आ रहे है तब यही कहना चाहिए कि हमारी उम्र अनन्त कालकी है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भी ११ वर्षकी अल्पायुमे दीक्षित हुये थे। जिसके हृदयमे वैराग्य जग जाता है, सवेग उत्पन्न हो जाता है, वे विषय कषायोके कर्दममे लिप्त नही रह सकते। जब और जिस अवस्थामे यह बोध उत्पन्न हो जाता है, तभी मनुष्यका मोह दूर हो जाता है।

अब आगे ग्रन्थका प्रारम्भ होगा, इसके पहिले श्री परमपूज्य अमृतचन्दसूरि जी कहते है—सर्वारम्भेण मोक्षमार्ग सम्प्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते। तात्पर्य यह है कि आसन्न निकट भव्य, भेदविज्ञानसे ओतप्रोत, एकान्तवादके हठाग्रहसे दूर, पक्ष परिग्रहसे रहित, मध्यस्थ, मोक्ष-तत्त्वके दृढनिश्चयी भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री वर्द्धमान भगवानको आगे करके समस्त पचपरमेष्ठियोको द्रव्य-भाव नमस्कारसे बहुमान करते हुये ग्रन्थ क्या बनाते है—साम्यभाव की प्रतिज्ञा करते है।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी की वाणी मगलाचरणपूर्वक प्रारम्भ होती है—

एस सुरासुरमणुसिंदवदिद धोदघाइकम्ममल।
पणमामि वड्ढमाण तित्थ धम्मस्स कत्तार॥१॥

यह मै, सुर, असुर और मनुष्योके इन्द्रोसे बन्दित, धो दिया है घातियाकर्म रूप मल को जिसने और धर्मरूप तीर्थके कर्ता ऐसे वर्द्धमान स्वामीको प्रणाम करता हू।

भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा—गाथामे प्रयुक्त 'यह' (एप) पद ग्रन्थ-रचयिता की ओर सकेत है और 'मै' 'अह' पदसे स्वसवेदन प्रत्यक्षकी ओर भाव व्यक्त किया गया है। यह ग्रन्थ भी रच रहे है और स्वसवेदन भी कर रहे है। जैसे कि मानो कोई लिखता भी जाता हो और वार्तालाप भी करता जाता हो।

व्याकरण शास्त्रसे भी इसका कुछ रहस्य खुलता है। यहाँ 'एप' यह अन्य पुरुषका कर्तृपद है और 'प्रणमामि' उत्तम पुरुषका क्रियापद है। आप यह सोचेंगे कि किसी भी व्याकरणमे कर्ता क्रियाका वाक्यमे ऐसा मेल नही देखा जाता। किन्तु होता यह है कि जिस जिस पुरुषकी क्रिया होती है उसी उसी पुरुषका कर्ता होता है। तब इसका समाधान क्या है ? भाई! इसका समाधान यह है कि आचार्य अपने ही आत्माको प्रत्यक्ष करते हुये कह रहे है, इसलिये इसके बीचमे 'अह' लगाकर अर्थ होता है। स्वसवेदन ज्ञानसे प्रत्यक्षीभूत,

चैतन्यस्वरूप, परमपारिणामिक भावमय, स्वभाव पूर्ण यह मैं आत्मा वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करता हू। अहो! यह अद्भुत बात है। जो यह नमस्कार कर रहा है सो मैं नही हू। जिसे यह मैं आत्मा कहा गया, वह नमस्कार नही कर रहा, फिर भैया! यह ज्ञानीकी लीला है। ध्रुव, त्रैकालिक, अकालिक, निर्विकल्प शुद्ध तत्त्वभूत सत्य आत्माकी ओर लक्ष्य करने वाले, उसकी ओर उन्मुख होने वाले, परिणत होने वाले गुरु ज्ञानी उस आरम्भके समय तीर्थनायक श्री वर्द्धमान स्वामीके विपयमे बहुत सन्मान भावसे कितने भरे हुए है कि सुध-बुध भूलकर उच्च शुभ क्रिया कर रहे हैं।

स्वसंवेदनसे आत्माका प्रत्यक्षीकरण—वास्तवमे यह आत्मा स्वसवेदन ज्ञानके द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। कोई कहे–मुझे आत्मा दिखा दो। तो उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श नही, फिर उसे कैसे दिखाया जा सकता है? जब यहाँ चतुर्थ काल था, साक्षात् केवलज्ञानी भी विद्यमान थे, तब भी वे किसीको हाथपर रखकर 'यह आत्मा है' ऐसा साक्षात् नही दिखा सकते थे। यह तो सबको स्वसवेदनमे आ ही रहा है। दर्शन ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है। मैं दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप हू।

सामान्य और विशेषका स्वरूप—जिज्ञासा—यहाँ 'दर्शन ज्ञान विशेप स्वरूप हू' ऐसा क्यो नही कहा? समाधान—इसमे एक रहस्य है। पहिले सामान्य विशेषके स्वरूपको आम के दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया जाता है। जैसे कोई आम अपनी प्रारम्भिक दशामे कैरी रूप था अर्थात् कुछ काले रगको लिये हुए था। जब वह कुछ बडा हुआ तब उसका हरा रग प्रगट हुआ। कुछ और बडे होनेपर पीला रग प्रगट हुआ और अन्तमे पूरा पक जानेपर लाल रग प्रगट होता है तब यहाँ देखो रूपके कितने रूप परिवर्तन हुए? जिसमे इन रूपविशेषोके परिवर्तन हुए वही रूपसामान्य है और जो काले, हरे, पीले, लालरूप विभिन्न परिवर्तन हुए है, वे सब रूप विशेष है। यहाँ विचारो तो रूप विशेष तो सबकी समझमे, देखनेमे आता है परन्तु रूपसामान्यका दर्शन नही होता। वह तो केवल (मात्र) ज्ञान द्वारा ही गम्य है। इसी प्रकार यह आत्मज्ञानसे कभी घटको जानता है, कभी पटको जानता है, तो इन घटपटादि ज्ञानविशेपोमे परिवर्तित होता रहता है। ये ज्ञानविशेषके परिवर्तन अस्थायी हैं, क्षणभगुर हैं। अत इन्हे आत्माका स्वरूप नही मान सकते। यदि इन ज्ञानविशेषोको आत्माका स्वरूप माना जायगा तो विवक्षित ज्ञानविशेषके अभाव होते ही आत्मा या ज्ञानका भी अभाव मानना पड़ेगा। ये ज्ञानविशेष आत्मा की पर्याय तो अवश्य है, परन्तु उन विशेषोके मात्र ही आत्मा नही है। तो फिर उन ज्ञानविशेषोमे अन्वय या एक सतानरूपसे रहने वाला जो ज्ञानसामान्य है, वह त्रैकालिक है और वही आत्माका स्वरूप है। देखो! बालकसे वृद्धावस्था तक बदलने वाली क्या वस्तु है? जो बदलने वाली हो करके भी बनी रहती है, वह है मनुष्य उस खाली

मनुष्यको किसीने नही देखा । जैसे मनुष्योको देख रहा हू, वह केवल बाल, वृद्ध, युवा आदि पर्यायोको ही देख रहा हू, मनुष्यत्व तो सबमे व्याप्त है । वह मनुष्य तो केवल ज्ञानगम्य है ।

मै ज्ञानविशेषोमे चलता अवश्य हू, पर मैं ज्ञानविशेषरूप नही हू । यदि मै ज्ञानविशेष रूप हो जाऊँ तो विवक्षित विशेष ज्ञानके समाप्त होनेके साथ ही मै भी नष्ट हो जाऊँगा—अतः मै ज्ञान सामान्यरूप हू । यह मैं इन्द्रियगम्य नही, किन्तु स्वसवेदनगम्य हू ।

आत्माका अन्वेषण—लोगोकी दृष्टि परपदार्थोमे अटकी रहती है, कारण है कि उन्हे आत्माका ज्ञान नही होता । यदि परका लक्ष्य छोडकर परको पर जानकर अपने स्वभाव रूप रहे, तो आत्मा हस्तगत ही तो है । आत्माका जानना कोई अधिक कठिन नही । एक वेदान्त की कथा है कि कोई मनुष्य किसी वेदान्ती साधुके पास गया और पूछने लगा—महाराज ! आत्मा क्या वस्तु है ? वे बोले—भाई ! मेरा मित्र एक मगर है, अमुक सरोवरमे रहता है, उसके पास जाओ, वह तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देगा और तुम्हे बतलायेगा कि आत्मा क्या वस्तु है ? वह जिज्ञासु सरोवरपर पहुचा और मगरको देखकर बोला—भाई मगर ! मुझे यह बतलाओ कि आत्मा क्या वस्तु है ? वह बोला—भाई ! मुझे बडे जोरसे प्यास लग रही है । तुम जाकर किसी कुएसे अपना लोटा भरकर लाओ और मुझे पहिले पानी पिला दो । पीछे मै तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूंगा । आगन्तुक बोला—भाई ! तुम बडे मूर्ख मालूम पडते हो जो पानीमे रहकर भी प्यासे हो । मगर बोला—और तुम मुझसे भी अधिक मूर्ख हो जो तुम स्वय ही तो ज्ञानसे परिपूर्ण हो और मुझसे पूछते हो कि आत्मा क्या वस्तु है ? अरे ! जो तुम पूछ रहे हो वही तो आत्मा है । जिसे यह जिज्ञासा हो रही है, जिसके भीतरसे जाननेका विकल्प उठ रहा है, जो मुझसे पूछ रहा है—वही तो आत्मा है । आगन्तुक मगरका उत्तर सुन विस्मित हो गया और आत्मबोध पाकर प्रसन्न होता हुआ अपने घर चल दिया ।

स्वका ज्ञान करो परका नहीं—उक्त कथानकसे भी यही सिद्ध हुआ है कि यह आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्ष गम्य है । सबका सार यही है—'एक मैं आत्मा हू ।' देखो ! व्याकरण शास्त्रके नियमसे 'अह' उत्तम पुरुष है, 'त्वम्' मध्यम पुरुष है और इन दोनोंके अतिरिक्त शेष सब अन्य पुरुष है । उसे अग्रेजीमे क्रमशः फर्स्ट परसन, सेकिन्ड परसन और थर्ड परसन कहते है । उन व्याकरण प्रयोगो से भी सिद्ध होता है कि केवल 'मैं' तो फर्स्ट हू, और इस ही को—कर्म मलीमस अपने आपको जब समझाया जाता है, तो उस समय 'तुम या तू' का लक्ष्यभूत उसी आत्माको सबोधनमे कहा जाता है—और मेरे अतिरिक्त जगतके जितने भी पदार्थ है वे सब थर्ड परसन है । भाई ! थर्ड और सेकिन्ड परसनमे मोहको छोडकर फर्स्ट परसनमे ही रुचि करो, अपनी आत्माको अपनेमे लगाओ । स्वयको समझे बिना परका सर्व ज्ञान भी व्यर्थ है । जब तक परके ज्ञानका उपक्रम करते रहोगे तब तक स्वबोध नही हो सकेगा ।

गुरणैः हि सर्वत्र पदं निधीयते—यहा श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'एप' पदका भाव श्री अमृतचदसूरिने व्यक्त किया है कि 'दर्शन-ज्ञान-सामान्य-आत्मा' ऐसा कहकर आत्माका वह परिचय दिया है, जिसके द्वारा एक दृष्टिसे जिन प्रभुकी वन्दना करना है, उनकी तुलना हो जाती है। वह वन्दनाका अन्तरगसे अधिकारी क्या ? जो अपनेको पतित, दीन, हीन और नीच ही समझता हो। लोकमे भी ऐसा ही देखा जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी राजासे या प्रतिष्ठित अधिकारीसे मिलने जाता है तो अपने परिचय-पत्र पर अपनी पदवी आदिका उल्लेख कर अपनी योग्यताका परिचय देता है, तभी राजा आदि उससे सम्मानके साथ मिलते है। यदि कोई अपने परिचय-पत्रमे यह परिचय देवे कि मैं दीन हू, गरीब हूँ, भिखारी हूँ तो उसके भेंट करनेके लिए कभी भी राजादिकी ओरसे स्वीकृति नही मिलेगी। इसी प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्दने भी गौरवपूर्ण शब्दोमे भगवान महावीरको अपना परिचय दिया है—मै दर्शन-ज्ञान-सामान्य-स्वरूप आत्मा हू।

स्वभाव और विभाव—आत्मशातिका उत्तम उपाय समाधि है। सर्व प्रकारके मानसिक, वाचनिक एव कायिक विकल्पोको त्यागकर मात्र आत्मतत्त्वके निरीक्षण एवं परीक्षण मे सलग्न हो जाना, तथा उसमे तल्लीन होकर 'यह मेरा है और यह है दूसरेका' इत्यादि वैभाविक विकल्पजालोकी उत्पत्ति ही न होने देना समाधि है। उस निर्विकल्पावस्थामे आत्मा ही हमारा ध्येय, आत्मा ही हमारा ध्यान और स्वय आत्मा ही ध्याता होता है। यही अवस्था समाधिकी श्रेष्ठतमावस्था है और आत्माके विकासका श्रेष्ठतम साधन है।

सुरासुरवन्दित वर्द्धमान—कैसे है वर्द्धमान स्वामी ? सुरासुर मानवोसे इन्द्रोंसे वन्दित है। इन तीनो इन्द्रोका उल्लेख उपलक्षण मात्र है, अतः सुरेन्द्रसे समस्त ऊर्ध्वलोकके जो इन्द्र है उनका और सूर्य, चन्द्र तथा अहमिन्द्रोका भी ग्रहण करना चाहिए। असुरेन्द्र पाताल लोक का स्वामी माना गया है उससे सभी भवनवासी और व्यन्तर देवोंके इन्द्रोका ग्रहण करना चाहिए। मनुष्य शब्दसे तिर्यग्लोक, मध्यलोक ध्वनित किया गया है, अत मनुष्येन्द्रसे मनुष्यो का इन्द्र चक्रवर्ती और तिर्यञ्चोका इन्द्र सिंहका ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार भगवान महावीर तीनो लोकोके शतवद्य है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि ससारमे जितने भी प्राणी है उन सबके द्वारा भगवान महावीर वदित हैं। यहाँ नारकियोको भी इस वन्दनासे वचित नही समझना चाहिए। असुर शब्दके उपलक्षणसे अधोलोकके निवासी सभी सज्ञी जीवोका ग्रहण किया गया है। इस प्रकार भगवान महावीर जिन जगत्रयके श्रेष्ठ जीवोसे वन्दित है—अत सर्व श्रेष्ठ, सर्वमान्य और महान हैं—यह स्वय सिद्ध हो जाता है। सम्यग्दृष्टि नारकी तिर्यंच अनेक जीव चाहे वर्द्धमान स्वामीको न समझें, न जानें तो भी वर्द्धमान स्वामी जिस बातके कारण पूज्य हैं वह भावगुण सभीके सन्मानकी वस्तु है।

प्रभुसे जगतका उपकार—जिज्ञासा—यदि भगवान महावीर सुरासुरादिकके इन्द्रोसे पूज्य है, तो भले ही रहे, इससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? समाधान--वे श्री वीतराग वर्द्धमान स्वामी सभीके द्वारा वन्दित होनेसे तीनो लोकोके गुरु सिद्ध होते है। क्योकि तीनो लोकोंसे नमस्कृत है—अत वे तीनो लोकोके गुरु है। हितानुशास्ताको गुरु कहते है। भगवान महावीर स्वामीने प्राणीमात्रके हितका उपदेश दिया है। अतः वे सबके गुरु है। तीन जगतके जीवोके द्वारा आराधना किया जाने वाला जो ज्ञायक भाव है, उसके भगवान प्रतिष्ठापक है, अधिनायक हैं, इसलिये भी वे तीन लोकके गुरु सिद्ध होते है। हम उन्ही अपने गुरुके उपदेशों का निमित्त पाकर स्वचतुष्टयमे अपनी परिणतिसे शुद्धि प्राप्त कर रहे हैं। हमपर उनका महान उपकार है।

परम दयालु आचार्यदेवने अनेक मुमुक्षुओको यह समझाया है कि यदि शाश्वत सुख शाति चाहते हो तो वीतराग जिनेन्द्रदेवकी उपासना करो, उनके उपदेशोसे अपने हृदयस्तलको आपूरित कर लो।

धोदघाइकम्ममलंका स्पष्टीकरण—अब द्वितीय विशेषण 'धोदघाइकम्ममल' (धौत-घाति-कर्म-मल) का अर्थ प्रारम्भ होता है। धो डाला है घातिया कर्मोके मलको, अथवा घातिया कर्मरूपी मलको धोया है जिन्होंने ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी है। जो स्वभावगत नही होता वह धोनेसे धुल जाता है अर्थात् अपनेसे पृथक् हो जाता है। जैसे वस्त्रका मैल जलसे धोनेपर छूट जाता है, पर वस्त्रका जो स्वाभाविक रूप है वह धोनेपर कभी दूर नही हो सकता। यह घातिया कर्मरूप मल भी जीवका स्वभावगत मल नहीं है। इसलिये यह भी भेदविज्ञानरूपी जलसे धुल जाता है अर्थात् आत्मासे अलग हो जाता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि आत्मा द्रव्य कर्मोको नही धोता क्योकि वे परवस्तु है और आत्मा परवस्तुका नही है। अत. आत्मा अपने रागद्वेष मोह आदि भाव कर्मोको ही धोता है और भावकर्मोके धोनेसे आत्मासे सम्बद्ध द्रव्य कर्म अपने आप धुल जाते है।

दृष्टान्तपूर्वक कर्ममलके धुलनेका वर्णन—जिज्ञासा—आत्माके विभावपरिणमन धोने से कर्म कैसे धुल जायेंगे ? समाधान—आत्माके विभावपरिणाम भी नैमित्तिक होनेसे पर है, वे भेदविज्ञानरूपी जलादिमे धुल जाते है। इसी बातको एक दृष्टान्तसे स्पष्ट किया जाता है— जैसे एक दर्पण सामने है और हरे रगका उसमे प्रतिबिम्ब पडा तो वह प्रतिबिम्ब किसका है ? दर्पणका या सन्मुखस्थित हरित पदार्थका ? यदि उसे दर्पणका माना जाय, तो उस हरे पदार्थके दूर होनेपर भी प्रतिबिम्बको हटना नही चाहिए, और यदि हरे पदार्थका माना जाय तो सम्मुख स्थित घट पटादि किसी भी पदार्थमे उसका प्रतिबिम्ब पडना चाहिए ? पर ये दोनो ही बातें नही होती। अतः उस प्रतिबिम्बको न दोनोका कह सकते है और न यही कह

सकते हैं कि यह दोनोका नही है । इसी प्रकार रागादि भाव किसके है ? क्या आत्माके है ? यदि है तो सिद्धावस्थामे उनका अभाव क्यो ? यदि कर्मके है, तो उसे ही दु ख भोगना चाहिए । किन्तु ऐसा भी प्रतिलक्षित नही होता । तब क्या है ? निश्चित किसीका नही कहा जा सकता । इसीलिए तो विभिन्न मतवालोमे से किसीने इस जगतको विवर्त रूप माना है और किसीने मायारूप । वास्तविक बात तो यह है कि वे रागादि विभाव भाव कर्मके निमित्त से होनेके कारण कर्मके कहलाते हैं और आत्मामे होनेके कारण आत्माके कहे जाते है । इसलिये दोनोंके भी है और दोनोके भी नही है । जैसे किसी बालकको कहा जाय कि यह माँ और बाप दोनोका है अथवा दोनोका भी नही है ।

इस प्रकार विभिन्न विविक्षाओसे अपेक्षित वस्तु तत्त्वका ज्ञान हो गया, पर यदि कोई प्रश्न करे कि--क्या ज्ञान हो गया ? तो , कह नही सकते, क्योकि तत्त्व जाननेके लिए जो उपाय काममे लाये जाते है, वे तत्त्व जान लेनेके पश्चात् त्याग दिये जाते हैं, ग्रहण नही किये जाते ।

समझ, सुन, चेत सयाने—भगवान महावीरने घातिया कर्मरूप मलका सम्पूर्ण एव समस्तरूपेण प्रक्षालन और परिमार्जन कर दिया है । ऊपरी चीजका धोना सरल है । पानी से बाह्यद्रव्य धो लिए जाते है, परन्तु भेदविज्ञानके जलसे अथवा समता-भावरूप सलिलसे धोये जाते है रागादिक भाव । दोनो द्रव्यकर्म और भावकर्म धुल जाते है । चैतन्य भावपर दृष्टि रखनेसे विभाव रूप मल स्वय धुल जाया करते है । सर्वविभावोंके परित्यागसे ही श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता प्राप्त होती है । स्वयको मार्गपर स्थित एव स्थिर करो और सभालो उच्चता और श्रेष्ठता आपके चरणोमे चिपट जायगी । जब तक अपने आपको नही सभाला तब तक आत्माके महत्वपूर्ण पदको प्राप्त नही किया जा सकता ।

आत्मशान्तिका उत्तम उपाय समाधि—आत्माके इस बडप्पनको प्राप्त करनेके लिए सबसे उत्तम उपाय है--समाधि । सर्व मानसिक, वाचनिक एव कायिक सकल्प विकल्पोको दूर कर शुद्ध ज्ञायकभावमे तल्लीन होनेको समाधि कहते हैं । सम + आधि = समाधि । आधि नाम है मानसिक व्यथा या पीडाका, समका तात्पर्य शान्तिसे है । अतः जहाँ पर सभी मानसिक व्यथाएँ या चिन्ताएँ शान्त हो जायें और कोई नवीन सकल्प उत्पन्न न हो--उसे समाधि कहते है । अथवा जहाँ पर आधियाँ = मानसिक चिन्ताएँ दूर होकर समता भाव जागृत हो जाता है—उसे समाधि कहते है । सर्व-प्रथम आत्महितैषीको इस समाधिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए । यदि यह प्राप्त न हो सके या जब तक यह प्राप्त न हो जाय तब तक मध्यम उपाय निष्काम कर्म करना चाहिए ।

निष्काम कर्म--फलकी इच्छा न करके कार्य करनेको निष्काम कर्म कहते हैं, ऐसा

गीताकारका मत है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" पर जैनदर्शनके आचार्य कहते है कि फलकी इच्छा न होना और कार्य होना यह निष्काम कर्मयोग है। मोही जन निष्काम कर्मयोगकी बात करके भी कर्मयोग कहते है। अत. उनकी निष्काम परसे दृष्टि चली जाती है। यदि निष्कामका महत्त्व न माना जायगा तो सम्यक्त्वीकी अपेक्षा मिथ्यात्वी अधिक सुखी सिद्ध होगा। देखो! सम्यक्त्वी जीव गोदमे बैठे हुये बालकको खिलाता हुआ भी सासारिक और पारमार्थिक दोनो दृष्टियोसे सुखी नही, पारमार्थिक दृष्टिसे तो इसलिये सुखी नही कि उसे भीतरसे यह दृढ निश्चय है कि यह न मेरा है और न मैं इसका हू, सो लोकरीतिमे जैसा चाहिए करना चाहिए वैसा प्रेम वह बालकसे नही कर पाता। अत. सासारिक दृष्टिसे भी सुखी नही। मिथ्यात्वीके कमसे कम एक सासारिक सुख तो है। क्या यह कथन ठीक है? नही। भले ही ससारमे लोगोको मिथ्यात्वी सुखी दिखाई दे, किन्तु वास्तव मे वह सुखी नही है। सम्यक्त्वी बाहरसे भले ही हम लोगोको दुखी दिखाई दे, पर यथार्थमे वह निष्कामताका आनन्द प्रति क्षण ही ले रहा है इसलिए वह सदा सुखी है। सुख बाह्य पदार्थोंसे नही होता।

ज्ञानीके रागमे राग नहीं—कुत्ता हड्डी चबाता है, उसे उठाकर एकान्तमे ले जाता है, दूसरे कुत्तेको देखकर गुर्राता है और भौकता है। इसी प्रकारकी बात परिग्रही व्यक्ति की भी है। वह धनार्जनकर घर लाता है और गुप्त स्थानमे गाडकर रखता है। यदि कोई उसे चुराने या लेने आता है तो वह लडता है और उसे मारकर भगाने का प्रयत्न करता है। धन वैभवकी मूर्छाका ऐसा ही स्वभाव है। जिनके बाह्य पदार्थोंमे मूर्छा लग रही है उन्हे कभी शान्ति नही मिल सकती। किन्तु सम्यक्त्वीके इष्ट जनोमे या प्रिय वस्तुओमे अतरगसे राग नही होता। उनकी बीमारीके इलाजका राग तो रहता है पर इलाजके राग का राग नही होता।

बाह्य वस्तुएं सुख दुःख दाता नहीं—एक रईस रोगी होता है तो उसको सुख पहुचानेके लिए नाना प्रकारके साधन जुटाये जाते है। कमरेका वातावरण शान्त रखा जाता है, ओढने-बिछानेके वस्त्रादिक स्वच्छ रखे जाते है। बैठने-उठनेके लिए बडी-बडी गदियाँ-तकिया लगाई जाती है। कुशल, मधुभाषी एव सकेतज्ञ सेवक परिचारक उसकी सेवाके लिए नियुक्त किये जाते है। चाँदी-सोने आदिके पात्रो द्वारा उसे दवा खिलाई जाती है, कुशल क्षेम पूछने वाले सदा आते रहते है। डाक्टर और वैद्य चारो ओरसे घेरे रहते है। लिखनेका तात्पर्य यह है कि उसे जो भी ऊँचीसे ऊँची, बढ़ियासे बढ़िया सुख सुविधा पहुचाई जा सकती है, पहुचाई जाती है। तो क्या यह सब ठाट-बाट देखकर कोई रोगी यह भावना करेगा कि मैं सदा बीमार बना रहू जिससे ये ठाट-बाट ज्योका त्यो बना रहे। इस प्रश्नका

उत्तर होगा—नही ? कोई भी बीमार केवल बाह्य आडम्बरोको सदा बनाये नही रखना चाहता । उसे केवल तभी तक उन्हे पास रखना चाहता है जब तक कि उसका रोग दूर नही होता । किन्तु वह चाहे बीमार हो या स्वस्थ उसे बाह्य वस्तुओसे, इलाजके उपायो और दवाओसे मोह कभी नही होता ।

चाह सदा अतृप्त रहती है—क्या किया जाय ? ससारका धन्धा ही ऐसा है कि जब जिस चीजकी चाह होती है, तब वह नही मिलती और जब वह मिलती है तब उसकी चाह नही रहती । एक उदाहरण है—एक भगीकी ड्यूटी रोज महलके इर्द-गिर्द झाडनेकी थी । झाड़ते-झाडते उसे अकस्मात रानीके महलके झरोखेके नीचेसे उडती वायुमे सुगन्धि मालूम हुई । जाकर देखता है तो रानीका तत्काल उगला हुआ पान पडा है और उसकी सुगन्धिके लोलुप भ्रमर उस पर मडरा रहे हैं । रानीने उसे जरासा चूसकर तत्काल ही थूका था । वह कीमती एव सुगन्धित वस्तुओसे तैयार किया गया था । भगीने उसे उठाकर खा लिया । खाते ही जैसे उसने ऊपर देखा वह कामान्ध हो गया और घर जाकर खाट पर पड रहा । भगिनने उसकी ऐसी परिस्थितिका कारण पूछा—यदि मुझे महारानी मिल जाय तो मैं जीवित रह सकता हू—अन्यथा नही । पत्नी सुनकर बोली—"पागल हो गये हो क्या ? यदि कोई सुन लेगा तो अभी फाँसीपर लटका दिये जाओगे ।" भगी कामान्ध हो रहा था, बोला—"चाहे जो कुछ हो यदि रानी मिलेगी तो मै जीवित रहूगा अन्यथा मर जाऊँगा ।" जब समझानेके प्रयत्न व्यर्थ गये तब भगिन किसी उपायकी खोजमे निकली । उसे ज्ञात हुआ कि नगरमे एक सिद्ध महात्मा आये हुये है और वे सर्व सिद्धिका मन्त्र देते हैं । भगिन ने आकर भगीसे कहा— अपने नगरमे एक सिद्ध महात्मा आये हैं, चलो उनके पास चलें और अपने अभीष्टकी सिद्धि करें । दोनो उस महात्माके पास गये और सर्व सिद्धि मत्र देनेके लिए प्रार्थना की । महात्मा बोले, हम उसे ही मत्र देते है जो हमारी दीक्षा स्वीकार कर हमारे साथ रहता है, फिर उस मत्रकी १२ वर्ष तक आराधना करना पडती है, तब वह सिद्ध होता है । भगीने सब स्वीकार किया और उसके पास दीक्षित हो गया । चातुर्मासके बाद देश-देशान्तरोंमे परिभ्रमण करता, मत्रकी आराधना करता १२ वर्षके बाद अपने नगरमें साधु-सघके साथ आया । भगिन भी वर्षोंको गिन रही थी और सोच रही थी कि मेरा पति अबके चातुर्मासमे अवश्य आयेगा । साधु-आगमनके समाचार सुनकर वह सघ-दर्शनार्थ गई । अपने पतिको देखकर बडी प्रसन्न हुई और दूसरे दिन राजभवनको जब झाडने गई तो महारानीसे बोली—नगरमे एक बड़ा साधु-सघ आया है, उसमे एक बहुत बडे सिद्ध महात्मा भी है, वे ऐसा मत्र देते हैं कि उसके प्रतापसे इष्ट सिद्धि हो जाती है । रानीके पुत्र नही था, वह वर्षोंसे पुत्र-प्राप्तिके लिए नाना

उपाय कर चुकी थी। अतः भगिनकी बात स्वीकार कर गुप्त रूपसे उसके साथ साधु-दर्शनको चल पडी। भगिन सब साधुओके दर्शन कराती हुई अन्तमे अपने पतिके पास ले गई। उस समय वह नेत्र बन्द कर ध्यानस्थ था। भगिन बोली—महाराज, नेत्र खोलिए, देखिये राजरानी आपके सामने खडी है। और साधु अपनी भगिनकी बोली पहिचान कर आँख बन्द किये ही बोला—मुझे उस महारानीके (स्वानुभूतिके) दर्शन हो रहे है, जिसके सामने दुनियाकी बडीसे भी बडी राजरानियाँ कोई चीज नही है। भगीको निरन्तर साधु-सगसे विवेक जागृत हो गया था और वह स्वानुभूतिका दर्शन कर चुका था, अत उसने यह उत्तर दिया। यह एक कथानक है, जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य जब तक जिस चीजको चाहता है, तब तक वह उसे नही मिलती और जब मिलती है तब उसकी चाह मिट जाती है।

कीर्तिकी दशा—कीर्तिका भी यही हाल है। लोग ससारमे कीर्तिके भूखे हैं, उन्हे उसके पानेकी सदा चाह बनी रहती है। पर बताओ—उस कीर्तिसे क्या लाभ है? जो चाहने पर नही मिलती, और जब नही चाहते, तब मिलती है। कहा जाता है कि कीर्ति अभी तक कुमारी है, उसने अभी तक अपना विवाह नही किया है। इसका कारण यह है कि जो कीर्ति को चाहता है, कीर्ति उसे नही चाहती और जिसे कीर्ति चाहती है, वह कीर्तिको नही चाहता। इससे वह आज तक कुमारी ही बनी हुई है, और आगे भी सदा कुमारी ही बनी रहेगी। पर लक्ष्मीकी बात विपरीत है, उसे लोग वेश्या या व्यभिचारिणी कहते हैं, क्योकि वह कभी एक को वर करके नही रहती, सदा नये-नये पतियोकी खोज करती रहती है। सो भैया! लक्ष्मी और कीर्तिके रागके साथ समस्त विभावोके रागका भी राग छोडना चाहिए।

सम्यक्त्वीकी निर्विकल्पभावना—सम्यक्त्वी विकल्पोपर नजर रखता है तो इस तरह कि मुझमे विकल्प न हो? क्या इसका कोई उपाय है? इसका एक मात्र उपाय निजक्रीडा का स्थान प्राप्त करना है? एक बच्चेके पास एक खिलौना था, दूसरा बच्चा उसे देखकर रोने लगा कि मुझे यह दो। वह तब तक रोता रहा जब तक कि दूसरा खिलौना लाकर उसे नही मिल गया। इसी प्रकार हमारा रोना भी तब तक नही मिट सकता, जब तक कि हमारी वस्तु हमे नही मिल जाती। भगवान महावीरको सिहके भवमे जब सम्यक्त्व हुआ, तभीसे कर्ममल धोनेका उपक्रम होने लगा और समय आनेपर उन्होने समस्त घातिया कर्ममलको धो डाला।

उनके कर्ममल धोनेसे हमे क्या लाभ हुआ? इस प्रश्नका उत्तर करते हुए आचार्य कहते हैं:—'जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यम्' अर्थात् समस्त जगत्के अनुग्रह करनेमे समर्थ ऐसी अनन्तशक्तिरूप परम ऐश्वर्य उन्हे प्राप्त हो गया। यह शक्ति भगवानको घातिकर्म दूर होनेसे प्राप्त हुई, और उनके परम्परागत उपदेशोसे ही मेरा आज उपकार हो रहा है, यह हमे

वडा भारी लाभ हुआ है ।

स्वानुग्रह—रागद्वेषादिसे दूर होकर निज ज्ञायकभावपर दृष्टि रखना ही यथार्थ स्वानुग्रह है । सदा ज्ञानोपयोगका प्रयत्न होना चाहिए, और मन्दिर तो इसीलिए ही आते हैं कि रागद्वेषसे दूर होकर ज्ञानमात्र रह सकूं । जब आप मन्दिरमे जाकर और पैर धोकर 'नि सही' ३ बार बोलते है, तो इसका क्या अर्थ है ? इसका शब्दार्थ है निकलो, निकलो । इसका व्यवहारकी अपेक्षा तो यह अर्थ है कि यदि कोई भक्त मनुष्य या देवादिक भगवानके सामने खडा होकर स्तुति आदि कर रहा हो तो उसके लिए उक्त 'निःसही' शब्द द्वारा यह सकेत या निवेदन किया जा रहा है, कि हे भाई, तुम जरा भगवानके सामनेसे एक तरफ हो जाओ और मुझे भगवद्-भक्तिका अवसर दो । निश्चयदृष्टिसे इस 'नि सही' शब्दका यह अर्थ है कि रागादि भाव जो अभी तक तुम लोग मेरे भीतर भरे हुए थे, सो अब दूर हटो, भीतरसे वाहर निकलो—अब मै वीतरागके दर्शनार्थ आया हू और अपने हृदयके भीतर वीतरागता भरना चाहता हूँ । यदि एक वार भी स्त्री पुत्रादिसे भिन्न होनेका भाव जागृत हो जाय, तो फिर देखो—क्या होता है ? सदा अपने शुद्ध स्वरूपको विचारोगे और उसपर ही दृष्टि रखोगे । जगत्के सर्व पदार्थ स्व-स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप) से युक्त है मैं भी स्वचतुष्टयसे युक्त हू । अतएव मैं शरीर भोजनादिके कारण नही जी रहा हू, किन्तु अपने चैतन्यभावके कारण जी रहा हू, अतएव सदा स्वपर अपना लक्ष्य रखो ।

स्वात्माकी प्रियता—दो मित्रोकी कथा है कि एकने दूसरेसे कहा कि भैया ! ससार को छोडकर जो पहले स्वर्ग चला जाय, वह अपने साथीको सबोधनेके लिए आये, जिनमे से एक पहले स्वर्गमे जाकर देव हुआ, पूर्व भवकी बात स्मरण कर अपने साथीको सबोधनेके लिए आया ।,नाना प्रकारसे समझाया, मगर उसे घरवारसे विरक्ति ही नही हुई । तब उसने कहा भाई ये सब स्त्री पुत्रादिक स्वार्थके साथी है, न विश्वास हो तो परीक्षा करके देख लो । देव बोला—अच्छा पेटके दर्दका वहाना करके वीमार बन जाओ और जो भी दवा पिलायें, कहते जाओ कि दर्द दूर नही हुआ । उसने ऐसा ही किया । अनेक वैद्य आए, पर किसीकी दवासे आराम नही हुआ, तब वही देव वैद्य बनकर सामने आया और बोला—मेरे पास एक ऐसी दवा है कि जिसके पीते ही पेटका दर्द तुरन्त चला जाय । घर वालोने कहा, तो दवा दीजिए । वैद्य बोला—पर इस दवाकी यह विशेषता है कि इसे बीमार नही पियेगा—तुममे से किसीको पीना पडेगी और उसका दर्द दूर हो जायगा । पर साथ ही यह भी विशेषता है कि पीने वाला मर जायगा । वैद्यने सबसे पहले उसकी बूढी माँ से कहा, तू तो आज कलमे मरने ही वाली है, अतः तू पीले तो तेरा लडका जी जाय । वह सोचने लगी कि चार मे से यदि एक मर भी जाय, तो तीन ही मेरे बच्चे बचेंगे, उनका सुख देखूंगी—ऐसा सोच

कर उसने इन्कार कर दिया। पिताने भी ऐसा ही सोचकर इन्कार कर दिया। कहनेका साराश यह कि उसके भाई, लडकी स्त्री आदि सभी ने अपना स्वार्थ सोच-सोचकर दूध पीने से इन्कार कर दिया, तो वह बोला यदि कोई नही पीता है, तो मैं ही पी लेता हू। उसके दवा पीते ही वह स्वस्थ होकर उठ बैठा और घरबार छोडकर साधु बन गया। भैया, हर कोई इसी प्रकार घर वालोकी जाच कर सकता है और सभी की जाच कर सकता है। यदि तुम्हे आत्मबोध प्राप्त करना है, तो इन सबका परित्याग करना ही पडेगा, भेदविज्ञानका अवलबन करना होगा, क्योकि भेदविज्ञानके बिना घातिया कर्मोके नाश करनेकी ताकत भी नही आती और उनके नाश हुए बिना अघातिया कर्म चतुष्टय भी नष्ट नही हो सकते।

कर्मप्रकृतियोकी सिद्धि—प्रश्न—कैसे जानें कि कर्म आठ है? उत्तर—आत्माकी जितनी झझटें है, उतने ही उनके निमित्तभूत कर्म होते है। वे झझटे आठ है—१–ज्ञानका प्रगट नही होना, २–दर्शनका प्रगट नही होना, ३–साता असाताका चक्र चलना, ४–यथार्थ दृष्टि और सुखका नही रहना, ५–विभिन्न शरीरोमे रुके रहना, ६–दुःखके कारणभूत नाना प्रकारके शरीरोका पाना, ७–ऊँच नीचके वचन-प्रहारोका आघात होना और ८–दान, लाभ आदिकी शक्तिका न प्रगट होना। जब ये झझटें आठ है तो उनके निमित्तभूत कर्म भी आठ है। इनमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातियाकर्म है और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र—ये चार अघातिया कर्म है। जो आत्माके ज्ञान दर्शनादि अनुजीवी गुणोको घाते वे घातिया कर्म है और जो अगुरुलघुत्वादि प्रतिजीवी गुणोको घाते वे अघातिया कर्म है।

ये घातिया कर्म इसलिए कहलाते हैं कि जीवके भोग और कषायसे निमित्तको पाकर बद्ध हुए इन कर्मोमे जीवोके गुण घातने रूप प्रयोजनमे निमित्तपना है। देखो तो निमित्त-नैमित्तिक—सम्बन्ध जिसमे ये दोनो बातें एक साथ है कि निमित्त कुछ नही करता है, और निमित्त बिना होता नही है। इसका रहस्य प्रमाण दृष्टिसे समझमे आता है। यहाँ प्रश्न होता है कि श्री वर्द्धमान स्वामी घातिया कर्ममलसे रहित है। इसमे हमारे हितका सम्बन्ध उनसे क्या निकला? इसका समाधान यह है कि घातिया कर्ममल दूर होनेसे यह बात प्रगट है कि इन जिनेन्द्र प्रभुमे सर्वके अनुग्रहमे समर्थ अनन्त शक्तिकी परम ईश्वरता है। अर्थात् इनमे वह निमित्तशक्ति है कि जिससे विवेकी प्राणी इनकी उपासना रूप निज विशुद्ध परिणतिसे अपना सर्व ससार क्लेश दूर करके अपनी परमेश्वरताका अनुभव कर सकते है। अहो? कितनी प्रिय आगमकी घोषणा हो रही है कि ये प्रभु प्राणियोके पाप मलके धोनेमे, दूर करनेमे कारण है। क्योकि इनके स्वय घातिया कर्ममल दूर हो गये है, क्षत हो गए है। निर्दोषकी ही उपासनासे निर्दोषता प्राप्त होगी, अतः मुमुक्षु जन, आओ—इनकी धार्मिक छत्रछायामे बैठकर पाप सन्ताप

को नष्ट करो । वास्तवमे आत्माका अनुग्रह यही है कि परम समताभावसे उत्पन्न स्वाभाविक सुखरूपी निर्मलजलसे रागद्वेषादि पापभावोको धो डाला जावे ।

अब आत्मगुणोंके घात करने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, कायरता आदि विभावो को एव स्वविकासके साक्षात् घात करनेमे निमित्तभूत घातिया कर्मोको जिन्होंने धो डाला है, और इसी कारण जिनके ससारी समस्त जीवोंके परम अनुग्रह करनेकी सामर्थ्य प्रगट हुई है, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको कुन्दकुन्दाचार्यके शब्दोमे 'यह मैं' प्रणाम करता हू ।

वर्द्धमान प्रभुकी तीर्थरूपता—अब आगे आचार्य कहते हैं कि वर्द्धमान प्रभु तीर्थ हैं, क्योकि ये स्वयं परमसमाधिरूप जहाज—जिसमे रागद्वेषादिरूप कोई छिद्र न होनेसे विषयाभिलाप, कषाय आदि जलका प्रवेश नही हो सकता, ऐसे समाधिजहाजके द्वारा ससारसमुद्रको तिर चुके है, तथा इसीलिए अनेक भक्तोंके तिरनेके उपायभूत है, इसलिए तीर्थ हैं । निरुक्ति भी यही है—'तीर्यते अनेनेति तीर्थम् ।'

'तीर्यते ससारसागरो येन तत्तीर्थम्' जिस भावसे ससारसागर तिरा जाय, वह भाव तीर्थ कहलाता है । वह भाव है ज्ञायकभाव । तन्मय होनेसे वर्द्धमान प्रभु भी तीर्थ हैं अथवा द्वादशागवाणीका भी नाम तीर्थ है । उसके प्रणेता होनेसे आप भी तीर्थ हैं अथवा चारित्ररूप धर्मको भी तीर्थ कहते हैं । आप स्वय सम्यक्चारित्ररूप होनेसे तीर्थ है अथवा जिनपूजनका नाम भी तीर्थ है, उसके विषयभूत होनेसे भी भगवान महावीर तीर्थ है अथवा तीर्थभूत पुरुषो को भी तीर्थ कहते हैं, उनके सेव्य होनेसे भगवान तीर्थ है अथवा निर्वाणक्षेत्रादिको भी तीर्थ कहते हैं । पावा तीर्थसे आपका निर्वाण हुआ, अत भगवान भी उसके सम्बधसे तीर्थ कहलाते हैं अथवा तीर्थ दर्शनको भी कहते हैं, उससे योग्य होनेसे आप भी तीर्थ हैं अथवा मुक्तिलक्ष्मी को भी तीर्थ कहते है, उसके साथ अभिन्न सम्बध होनेसे आप भी तीर्थ कहलाते हैं अथवा तीर्थ पात्रको भी कहते है, सर्वोत्तम पात्र होनेसे वर्द्धमान स्वामी तीर्थ है । अवतारका नाम भी तीर्थ है, स्वर्गसे अवतरण करके जगदुद्धारक बनकर आप यहाँ आये, इसलिए तीर्थ हैं अथवा विशिष्ट जलको भी तीर्थ कहते है । आपने केवल ज्ञानरूप विशिष्ट जलमे अवगाहन कर स्वय अपने कर्ममलको धोया और अनेक भव्य जीवोने भी अपने कर्ममल धोये, अत आप तीर्थ है अथवा तीर्थ नाम उपायका भी है, आपने मोक्षका उपाय (रत्नत्रय) बताया और स्वय भी मोक्षके उपायभूत हुए, इसलिए भी आप तीर्थ हैं अथवा तीर्थ यज्ञको भी कहते हैं । आपका केवल ज्ञान स्वय यज्ञरूप है, क्योकि उसमे कर्म प्रकृतियाँ होती जाती हैं, इसलिए भी भगवान वर्द्धमान तीर्थ है ।

जैसे तीर्थ यानी नदीका किनारा स्वय जलरहित है और उसका आश्रय करने वाले भी जलके भयसे रहित है, इसी प्रकार आप स्वय ससारके दु खोंसे रहित है और आपकी

आराधना करने वाले भव्य जीव भी ससार-दुःख-सागरके भयसे रहित है ।

योगियोंका योग—स्वामी अमृतचन्द्र कहते है—'योगिनां तीर्थत्वात् तारण-समर्थम्' योगियोके आप तीर्थ है, अतएव तारणसमर्थ है । योगीका अर्थ है–'युनक्ति आत्मान आत्मनि इति योगी ।' जो अपनी आत्माको अपनी आत्मामें लगावे, सो योगी है । योगीके ऋषि, यति मुनि, सयत, वर्णी साधु आदि अनेक नाम हैं । ऋषि-ऋद्धि-सम्पन्न मुनिको कहते हैं । अथवा चैतन्य चमत्काररूप आत्मऋद्धिको जो प्राप्त हो; उन्हे ऋषि कहते है । यति—'यत्ने यत्न करोति रत्नत्रये इति यति.' अर्थात् जो सदा रत्नत्रयमे यत्न करे, उद्यमशील रहे, उसे यति कहते है । मुनि– 'मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचर जगदिति मुनिः' अर्थात् जो प्रत्यक्ष प्रमाणसे चराचर जगत्को जाने, उसे मुनि कहते हैं । सयत–'सम्यक् यतते इति संयत.' अर्थात् जो सावधानी पूर्वक अपने कर्तव्यके पालनमे यत्न करते है, उसे सयत कहते है । साधु–'साधयति रत्नत्रयमिति साधु ' जो रत्नत्रयको साधन करे, आत्महितको साधे उसे साधु कहते हैं । वर्णी—'वर्णो रूपः स यस्यास्ति वर्णी' वर्णनाम रूपका-स्वरूपका है, वह आत्म-स्वरूप जिन्हे प्राप्त हो गया है उन्हे वर्णी कहते है । ब्रह्मचारीको भी वर्णी कहते हैं । विशेप ज्ञानी और ज्ञायक-भावसे रमने वालेका नाम वर्णी है ।

प्रभुकी तारकता—योगीके इन विभिन्न नामो और उनकी निरुक्तियोंके अर्थसे ही साधुकी चर्या ज्ञात हो जाती है । भगवान् महावीर ऐसे योगियोके भी तीर्थ है क्योकि उन्हे ससार-सागरसे पार उतारनेमे समर्थ है । भगवान् क्या है ? ज्ञायक भावरूप है, चित्प्रकाश स्वरूप है । यद्यपि भगवान् किसीको तारते नही हैं, क्योकि वे तो रागसे रहित है, तथापि जो भक्त उसका ध्यान करता है, वह स्वय तिर जाता है । आ० कुमुदचन्द्र अपने कल्याण-मन्दिर स्तोत्रमे कहते है—त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्त-रन्त' । यद्वा हृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतिस्य मरुतः स किल प्रभावः ॥

अर्थात्– हे जिन भगवान्, तुम भव्यजीवोके तारक–तारने वाले कैसे हो ? नही हो । क्योकि वे लोग ही तुम्हें हृदयमे धारणकर स्वय जगत्से पार होते हुए तुम्हे भी पार कर ले जाते है । अथवा जलमे जो मशक तिरती है, वह उसके भीतर भरी हुई हवाका ही प्रभाव है । इसी प्रकार जो भक्त तुम्हे सदा हृदयमे धारण करते हैं, वे स्वय ही जगसे पार हो जाते हैं । मशक आदमीको तिराता है कि आदमी मशकको तिराता है ? वस्तुत न मैं परमात्मा को उठाता हू और न परमात्मा मुझे उठाता है । फिर भी जो भगवानका ध्यान करता है, वह स्वय तिर जाता है । जिसके उपयोगमे ज्ञायकभावका बल आ जाता है वही सच्चा भक्त और वही ससार-सागरसे स्वय पार हो जाता है । जैसे-जैसे हम भगवानका आश्रय लेकर अपने ज्ञायकभावको बढाते है, वैसे-वैसे ही हम भगवान् को क्या उठाते है,

स्वय ऊपरको उठ जाते हैं। निजके भीतर रहने वाले ज्ञायकभावने निज अखडरूप परमात्मा को उठा दिया। वस्तुतः न मै परमात्माको उठाता हू और न परमात्मा मुझे उठाता है।

संसारसागरतारक समाधिपोत—भगवान महावीर तीर्थ है, योगियोके समुत्तारण करने वाले हैं। मैं संसारसमुद्रमे पडा हू। यदि मैं भी उनके समीप पहुच जाऊँगा तो तिर जाऊँगा—ऐसा व्यवहार है, पर यथार्थमे समाधिरूप जहाजके बिना कोई तिर नही सकता। समाधिपोतमे बैठकर लोग पार होते है। पर वह समाधिपोत खूब मजबूत होना चाहिए कि कषायोकी चट्टानोंसे टकरानेपर भी न टूटे, विषयोकी आधी-तूफान आनेपर भी हिले-डुले नही। इसीको दूसरे शब्दोमें यह कहा जाता है कि किसी भी कारणसे उसमे कोई छिद्र न होने पावे, जिससे कि विषयकषाय रूप जल उसमे प्रवेश न कर सके। यदि तुम्हारे ज्ञायक भावमे विषयकषायरूप जल आ जायगा, तो वह भारी हो जायगा और डूब जायगा।

वर्द्धमान प्रभुकी शौर्य—भगवान महावीर बालब्रह्मचारी थे। तीस वर्षकी उम्रमे चढती जवानीमें दीक्षा धारण कर ली थी। मनुष्य अपनी कमजोरीसे ही विषयसेवनके चक्करमे पडता है। जो ब्रह्मचर्यसे रहित हैं, उनकी न शारीरिक शक्ति बढती है, न ज्ञान-शक्ति ही। फिर आत्मिक शक्ति तो बढ ही कैसे सकती है? मनुष्यकी पवित्रता ब्रह्मचर्यसे ही है। ब्रह्मचर्यके अभावसे वह सदा ही अपवित्र रहता है। भगवानने तो कामपर विजय पाई, उसे जलाया और राख लगाई शिवजीने। तो नाम फैल गया शिवजीका, कि काम को उन्होने ही जलाया है। यदि सचमुचमे उन्होने जलाया होता, तो अपने आधे शरीरमे पार्वतीको क्यो लिए फिरते और क्यो अर्धनारीश्वर कहलाते?

एक मनुष्य अपनी वीरताकी बहुत डीग मारा करता था और स्त्रीसे कहा करता कि मेरे बराबर शूर कोई नही? एक बार उसे एक युद्धमे जानेको कहा गया। युद्ध समाप्त होने पर जब घरको लौटने लगा, तो युद्धसे लोगोकी टागें काटकर अपने घर लाया और स्त्रीको दिखाकर कहने लगा कि देखो, मैं कितना वीर हू। स्त्री बोली—यदि वीर थे, तो टागें काटकर क्यो लाए, सिर काटकर लाए होते? वह बोला—पगली! यदि उनके सिर होते, तो मैं पैर ही कैसे काट पाता? स्त्री हसकर बोली, तव तो तुम सचमुचमे बडे शूर हो! दुनिया स्त्रियोके साथ विषयसेवन करके ही अपनेको शूरवीर समझती है। पर जो शूरवीर होते है, वे ससारमे रहते समय तक युद्धादिमे शूरवीरता दिखाते है, और ससारसे विरक्त हो जानेपर परीषह और उपसर्ग सहन करने और आने वाले उपद्रवोको जीतनेमें शूरवीरता दिखाते है और कर्मशत्रुओको जलाकर सच्ची मोक्षलक्ष्मीके साथ रमण करते हैं। भगवान महावीर बाल ब्रह्मचारी थे। उस ब्रह्मचर्यकी महान ताकतके बलसे ही उन्होने दुर्जय कामपर विजय पाई। देखो—महावीराष्टकमे स्तुतिकारने क्या कहा है? 'अनिर्वारोद्रे-

कस्त्रिभुवनजयी कामसुभट , कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजित. । स्फुरन्नित्यानन्दप्रशम-पदराज्याय स जिन , महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।' अर्थात् जो कामरूपी सुभट महायोद्धा जिसने तीन जगत्को पछाडकर अपने वशमे कर रखा है, अतएव जो त्रिभुवनजयी है, जिसका उद्रेक दुर्निवार है, उस महाबली कामसुभटको हे भगवन्, आपने कुमारावस्था मे ही निज बलसे जीत डाला और जो स्फुरित होने वाले नित्य आनन्दस्वरूप प्रशमपदराज्य के पानेके लिए समर्थ हुए । वे महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी हो अर्थात् मुझे मुक्तिका मार्ग दिखावे ।

धर्मके कर्ता—अब 'धम्मस्स कत्तार' पदका अर्थ किया जाता है—भगवान धर्मके कर्ता है, अर्थात् उसके उपदेष्टा है, उन्होने सर्व प्रथम स्वय धर्मका मार्ग स्वीकार किया और पीछे ससारको भी धर्मका, सन्मार्गका, कल्याणका, मोक्षका मार्ग दिखाया । पहले उन्होने अपने सहज स्वाभाविक गुणोका विकास किया, पीछे उसका उपदेश दिया, इस कारण वे धर्म के कर्ता कहलाते है । ऐसे उक्त विशेषण विशिष्ट भगवान महावीरको नमस्कार करता हू ।

भगवान महावीरके बाद निर्वाण चले जानेके पश्चात् गौतम गणधर केवली हुए, उनके निर्वाण पाते ही सुधर्मास्वामी केवली हुए और उनके निर्वाण पाते ही जम्बूस्वामी केवली हुए । भगवान महावीरके पश्चात् ये तीनो ही केवली हुए हो, यह बात नही है, हुए तो अनेक केवली है, पर वे अनुबद्ध केवली हुए—गौतम आदि अनुबद्ध केवली हुए है अर्थात् एकके निर्वाण पाते ही दूसरेने तत्काल उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त किया । उनके मध्यमे पीछे भी किसी परम्पराके बिना अनेकोने केवलज्ञान पाया है, पर वे किसी अनवच्छिन्न गुरु शिष्य परम्परामे नही थे, एकके निर्वाण पाते ही दूसरे कोई उन्हीके शिष्यने केवलज्ञान नही पाया, इसलिए वे अनुबद्ध केवली हुए । उक्त तीन केवलियोके पश्चात् पाच श्रुतकेवली क्रमश. हुए । उनके दिवगत हो जानेके पश्चात् उसी परम्परामे अखण्ड प्रवाहरूपसे दशपूर्वधारी, एकादशागधारी, आचारागधारी आदि अनेक आचार्य होते रहे । इस प्रकार भगवान महावीरके ६८३ वर्ष तक तो अगज्ञानकी परम्परा चलती रही, पीछे जब कालदोपसे अंग-पूर्वोका ज्ञान लुप्त हो गया और अग पूर्वोके एक-एक देशका ज्ञान रह गया, उस समय एक आचार्य परम्परा मे तो धरसेन आचार्य हुए । जिन्होने भूतबलि और पुप्पदन्तको पढाया और उन्होने षट्खडागमकी रचना की । लगभग इसी समयके दूसरी आचार्य-परम्परामे गुणधर आचार्य हुए, जिन्होने पेज्ज-दोष-पाहुडका २३३ गाथाओमे उपसहार करके कपायपाहुडकी रचना की । इन दोनोके कुछ आस-पास ही भगवान कुन्दकुन्द हुए, जिन्होने अनेक पाहुड रचकर अध्यात्म श्रुत का सकलन किया और समयसार, प्रवचनसार जैसे ग्रन्थोको रचकर अध्यात्मरसकी निर्मल धारा बहाई और अध्यात्मविद्याका प्रचार किया । इन्ही आचार्योकी परम्परामे आज तक अनेक

आचार्य हुए है जो अपनी वाणीके द्वारा, ग्रन्थ-रचनाके द्वारा आज तक बराबर भगवान महावीरसे प्रवाहित अमृत-जलको यहाँ तक बहाते हुए चले आ रहे है। इनके कथनोंमे कोई विरोध नही है यदि कही कोई विरुद्ध बातसी दिखती है तो वह विभिन्नता विवक्षामात्र ही समझना चाहिए। आत्मीय सत्य शाश्वत आनद चाहते हो तब निज आत्माके सहज भावका अनुसधान करो। यही बात यही कार्य अपूर्व है। ऐसा पवित्र अवसर यो ही नही खोना चाहिये। जगतके सारे काम आत्महित रूप नही। निजका सहज कार्य ही हितरूप है।

भोगोंकी असारता—हन लोगोको सर्व भोगोपभोग आज तक मिले, उनको हमने भोगा, पर तृप्ति कुछ भी नही हुई, तो इनके पानेसे क्या लाभ हुआ ? दो भाई थे, उनमेसे बडा भाई मर गया। उसके मरनेकी चर्चा मित्रोमे चली, लोगोने पूछा—यार बताओ वह क्या-क्या काम करके मरा है ? एक बोला—"क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गये ? बी ए. किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गये।।" यही हाल हम सबका है। हममेसे किसी एकके मरने पर यदि कोई पूछे कि वह क्या-क्या काम कर गया—तो यही उत्तर होगा कि—"पैदा हुए, व्यापार सीखा, धन कमा बूढे हुए। बन्धु जनको सौपकर धन, इस जगत से चल दिये।।" कोई कुछ भी करे, मरना तो सभीका निश्चित है। जब तक जीवन है तब तक कुछ भी कर लो, चाहे किसीको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करो, चाहे धन-वैभव बढाओ और चाहे अन्याय करो, पर अन्तमे इसके साथ पाप पुण्यका संस्कार ही जायेगा और कुछ जाने वाला नही है।

दो मित्र थे, उनमेंसे एक बोला—देखो अपन लोगोने सब काम हिल-मिलकर एक साथ किये है, यदि हमसे कभी आपका चित्त दुखा हो, या अविनय हुई हो तो क्षमा करना। तब दूसरा बोला—"यार मरते वक्त होगा एक बेअदबीका कार। आप तो पैंदल चलोगे, हम जनाजे पर सवार।।" मृत्युका कोई भरोसा नही। हमारी आँखो देखी घटना है। हमारा एक साथी छज्जू था। हम दशलक्षणमे शास्त्र पढ़कर मन्दिरके बाहर बैठ गये। वह लघुशका करने गया कि उसे सापने डस लिया और देखते-देखते आध घटेके भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई। हम प्रतिदिन देखते और सुनते हैं कि कितने ही चलते-फिरते हार्टफेल होकर मर जाते हैं, परन्तु तृष्णा नही छूटती। तृष्णामे आकर हम निरन्तर धन कमानेमे ही लगे रहते है। यहा तक कि उपार्जन की हुई सम्पत्ति तकको भी भोगनेका अवसर नही मिलता, न चैनसे, आरामसे रह पाते है और हाय-हाय करते ही मर जाते हैं। धन कमानेमें इतनी तत्परता क्यो होती है। अरे, "पूत सपूत तो क्यो धन सचय ? पूत कपूत तो क्यो धन सचय ?" यदि तुम्हारा पुत्र सपूत है, तो वह स्वय कमा खायगा और यदि कपूत है, तो तुम जितना भी कमाकर रख जाओगे, वह चार दिनमे उडाकर नष्ट कर देगा। इसलिए अपने-

भविष्यकी चिन्ता करो। धर्मसाधनके अनेक उपाय है—देवपूजा, स्वाध्याय, सयम, तप, दान आदि। यदि कोई इन कर्तव्योंके पालनमे ४ घटे भी लगावे और अपने सहजभावका लक्ष्य बनाये रखे तो वेडा पार हो जाय।

व्यर्थका अहङ्कार—हमारे मनमे यह बात दृढ़रूपसे जम जानी चाहिए कि मेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ है। मैं अपने कर्मोदयके आधीन परिणत होऊगा और तुम लोग अपने कर्मोदयके अनुसार परिणत होओगे। अहंकार व्यर्थ है। देखो, लोग मानके लिए भी अपने घर बारको बर्बाद करते हैं। एक सुनारिन थी, गरीब थी, पतिसे लड-भिड़कर उसने बधौरा (बाजूबन्द) बनवाये और पहनकर घरसे बाहर निकली, पर लोकलाजवश वह हाथको कपडेसे ही ढांककर निकली। न किसीने उसके उस आभूषणको देखा, न किसीने उसके विषयमे ही कुछ कहा। उसे इस बातका बडा दुःख हुआ और सोचने लगी—मैं क्या करू जिससे कि लोग मेरे इस आभूषणको देख लेवें और उसकी तारीफ करें। जब कोई अन्य उपाय उसे समझमे नही आया, तब अन्तमे उसने यह सोचकर अपनी झोपडीमें आग लगा दी कि बुझानेके समय तो लोगोको इसके दिखानेका अवसर मिलेगा। जब लोग झोपडी जलती देखकर बुझाने आये तो वह हाथ ऊँचे करके चिल्लाने लगी—अरे, वहा बाल्टी रखी है, वहाँ रस्सी रखी है, पानी इधर है, कुआ उधर है आदि। इतनेमे एक पडौसिनने उसके हाथका आभूषण देख लिया, बोली—जीजी! ये कब बनवाये थे? वह सुनारिन झल्लाकर बोली—रांड, पहले ही पूछ लेती, तो ये झोपडी काहेको जलती? भाइयो, यही हमारा हाल है, हम लोग दुनियाके झूठे अभिमानके प्रदर्शनार्थ बरबाद होते है। जो अभिमान रखता है, वह अपने आपको ही बरबाद करता है, अत हमे मानका स्तीफा दे देना चाहिए। कषायो का स्तीफा दे दो, कह दो कि मैंने संसारका स्वरूप जान लिया है। अब हमारे भीतर तुम्हें रहनेका अवकाश नही है, अत चले जाओ। जब हमे क्रोध आवे, तो गाल फुलाकर मौन ग्रहण कर रह जाना चाहिए, कितने ही लोग यह उपाय बताते है परन्तु ऐसे गाडी कब तक खिंचेगी? कषायोके नष्ट करनेका यही उपाय है कि क्रोधावेशके समय हम अपने अनाद्यनन्त ज्ञायकभावका विचार करें। तथा जब क्रोधादिका निमित्त न हो तब और भी अधिक तत्परता के साथ स्वमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करें। जो अपने आपमे स्थिर रहते है, परकी नही सुनते हैं, उन्हे उपसर्ग आदिके आनेपर, दूसरोंके गाली आदिके देनेपर उसका भान ही नही होता और वे उस परीषह या उपसर्गको सहज भावसे सहन कर लेते है। भैया! अब तो भेदविज्ञान करके रागमोहके विनाशमें उद्यमी होओ। रागकी चालें बदल दो और नही तो राग न छूटे तो ऐसा ही किया करें। आप लोग जो धर्मकी बात यहाँ सुनें, उसे घर जाकर अपनी पत्नीको, पुत्रोंको व नातियो भी सुनावें, उनमे भी धार्मिक भाव और वैराग्य जाग्रत करें, उनमे आपको भी

परिवारकी ओरसे धर्ममे बाधा न श्रावेगी ।

धर्मकी दृष्टि—'धम्मस्स कत्तार' ये प्रभु धर्मके कर्ता है क्योकि समस्त रागीपरागसे रहित जो निजशुद्धात्मप्रवर्तनरूप निश्चयधर्म उस अपने स्वभावमय निज धर्मके उपादान कारण हैं तथा अन्य जीवोको धर्मका उपदेश देनेसे शुद्ध भावनाके विषय होनेसे अलौकिक निमित्त कारण है । आत्मरूपकी सम्हाल ही धर्म है और विषयकषाय रूप प्रवृत्तिको ही अधर्म कहते है । इसलिए प० दौलतराम जी ने कहा है —आतमके अहित विषयकषाय । इनमे मेरी परिणति न जाय ।। मै रहू आपमे आप लीन । सो करहु होहु ज्यो निजाधीन ।। हे भगवन् ! मेरे आत्माके अहित करने वाले ये विषयकषाय है, अतएव मेरी इनमे परिणति न जावे । इस पूर्वार्द्धसे स्तुतिकारने अधर्मका स्वरूप बताकर उससे निवृत्तिकी भावना की है, और उत्तरार्द्धके द्वारा धर्मका स्वरूप बताया है कि मैं अपने आपमे सदा लीन रहू । हे भगवन् ! निज शुद्धात्मन्, यदि आप सचमुचमे भक्तोके तारने वाले है, तो ऐसा उपाय कर लो कि जिससे मैं निजाधीन स्वाधीन बन जाऊँ । भक्तको यही भावना करनी चाहिए कि मैं कब स्वाधीन बनूं । वास्तवमे देखा जाय, तो कोई मेरा कल्याण या अकल्याण नही करता । मेरा समताभाव ही कल्याण है और ममताभाव ही अकल्याण है, जगतके प्राणियोको ममताका परिचय तो खूब है परन्तु समताका परिचय कठिन है ।

मोहमे निज एकत्वकी असुलभता—देखो तो भैया ! निजकी चीज कैसी कठिन बना रखी है ? समयसारमे भगवान कुन्दकुन्दने कहा है —'सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबधकहा' एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।। अर्थात् सर्व ही लोगोको कामभोग, विषयक बन्धकी कथा तो सुननेमे आई, परिचयमे आई और अनुभवमे आई है, इसलिए सुलभ है । किन्तु केवल भिन्न आत्माका एकपना कभी न सुना, न परिचयमे आया और न अनुभवमे आया । इसलिए एक यही सुलभ नही है । इसकी टीका करते हुए अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य ससारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रान्तमनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्तैः समुपक्रान्तभ्रान्तेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य, प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातकत्वेन व्यक्तान्तराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमान विषयग्राममुपरुधानस्य, परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनन्तश श्रुतपूर्वानन्तश परिचितपूर्वानन्तशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्व विरुद्धत्वेनात्यन्तविसवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इद तु नित्यव्यक्ततयान्त प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूत सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्त केवलमेकत्व । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।।४।।

जितना भी संसारी जीवलोक है, वह ससार-चक्रके बीचमे बैठा हुआ है । कुम्हारका

चक्र लोहेकी कीलपर घूमता है और यह ससारका चक्र रागद्वेषकी कीलपर घूमता है। अनादिकालसे निरन्तर घूमनेके कारण यह बहुत थका-हुआ है। इस जीवलोकने अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तन किये है, उनसे इसे महाभ्रान्ति उत्पन्न हुई है। ये जीव मोहवश विश्वकी विभूतिको इकट्ठा करना चाहता है, सर्व विश्वपर साम्राज्य करना चाहता है, इसी चाहकी व्यग्रतासे पीडित है, सो महामोह-पिशाचके वशीभूत होकर यद्वा-तद्वा कार्य करता है। कोल्हूके बैलकी तरह ससारके कार्योमे जुत रहा है। देखो—जैसे कोल्हूका बैल आखोसे पट्टी बाधकर कोल्हूके इर्दगिर्द चक्करसे निरतर घूमता रहता है। यदि उसकी आँखोपर पट्टी न हो या पट्टी होनेपर भी किसी निमित्तसे यह ज्ञात हो जाय कि मै यहीका यही गोल चक्कर काट रहा हू, तो फौरन चक्कर खाकर गिर जाय, इसी प्रकार ससारी जन भी रागद्वेषके निमित्तसे सभी पुत्र, धनादिके इर्द-गिर्द निरन्तर चक्कर काटते रहते है और जानते है कि मै तो बिल्कुल सीधी चाल चल रहा हू। मनुष्यकी दैनिक चर्या भी कोल्हूके ही समान है। भ्रमी का जब तक भ्रम नही निकलता, तब तक वह निर्भ्रान्ति नही होता, भ्रममे ही पडा रहता है। यही हाल इस ससारी जीवका है। वह भी स्त्री आदिके गुणगान करता हुआ उसके चारो ओर चक्कर काटता रहता है। जिसके मनमे अपनी स्त्री बसी हो, वह दुनियाकी सब स्त्रियो को अपनीसे नीची समझता है। इस प्रकार ये मोही जीव अपने विपरीताभिनिवशरूप कदाग्रह से परमे रति मानकर किसीको भला और किसीको बुरा समझकर ८४ लाख योनियो और १९७॥ लाख कोटि कुलोमे परिभ्रमण करता रहता है। जिस धर्मभावके बिना ससारी जीवो की यह दुर्दशा हो रही है, उस ही प्रतितोद्धारक धर्मके प्रवर्तक भगवान वर्द्धमान स्वामी है। उनके उपदिष्ट धर्मका जो कि सबकी आत्मामे स्वतः शक्तिरूपसे विद्यमान है उसका जो पालन करेगा, वह दुःखसागरसे अवश्य पार हो जायगा। देखो—मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है। यदि इसमे ऐसा ही चक्कर काटते रहे तो मनुष्यभव पानेका क्या लाभ हुआ ?

महामोहग्रहकी पीड़ा—ये ससारी जीव महामोहग्रहसे दु.खी है। इन्हे बडी वेगवती तृष्णा लग रही है। उससे अन्तरगमे नाना सकल्प विकल्प होते है और उनसे यह निरन्तर दु.खी रहता है। एक कथा है कि दो भाई घरसे धन कमानेके लिए विदेश गये। वहाँ उन्होने खूब धन कमाया और वापिस देशको लौटते समय सोचा कि इतना धन साथमे ले जानेमे भारी झझट होगा। अतः एक लाख रुपयोका एक नीलमणि खरीद लिया और देशको वापिस हुए। जब उनका जहाज समुद्रके बीच जाता था, तो बडे भाईके मनमे विकल्प उत्पन्न हुआ कि सारा धन कमानेका उपक्रम तो मैंने किया है। इसलिये इस मणिको पानेका एकमात्र मुझे ही अधिकार है, क्यो न इस छोटे भाईको यही समुद्रमे धकेल दूँ, जिससे सम्पत्ति बाँटनेका झगडा ही समाप्त हो जाय। कुछ देरके पश्चात् उसे विचार आया—अरे मैंने यह कितना बुरा

विचार किया है ? यह मेरा छोटा भाई है, मुझे लक्ष्मणकी तरह अधिक प्यार करता है और मैं इस मणिके लोभमे उसे ही मारना चाहता हू । इससे तो अच्छा यही है कि मैं यह मणि छोटे भैयाको ही दे दू, जिससे मेरे हृदयमे ऐसी बुरी भावना फिर न उठे । यह सोचकर वह मणि छोटे भैयाको देने लगा । उसने कहा—भाई, इसे तुम अपने ही पास रखो, आप तो मेरे बडे है, आपको ही यह शोभा देता है । इससे तुम्ही रखो । बडा भाई बोला—नही भैया, मैं तो केवल कहता ही रहा हूं, सारा धन तो तुम्हीने कमाया है इसलिए तुम्ही इसे अपने पास रखो । यह कहकर उसने वह मणि दे दिया । उसे पाकर उसका भी भाव बिगड गया । सोचने लगा—हा बात तो ठीक है, धन कमानेका परिश्रम तो मैंने ही किया है, मैं ही इसे रखनेका सच्चा अधिकारी हू । आगे घर जाकर इसे बाटना न पडे, इससे बडे भाईको यही खत्म कर देना चाहिए । फिर उसके विचार आया—अरे, मैं यह कितनी बुरी बात सोच रहा हू, जो भैया मुझे इतना प्यार करता है, उसके लिए मेरे हृदयमे ऐसा पाप उत्पन्न हो रहा है, मैं बहुत नीच हूँ । इस मणिको अपने पास नही रखूंगा, यह सोचकर उसने वह मणि बडे भाईको ही वापिस दे दिया । बडे भाईने जब उसका कारण पूछा तो उसने कह दिया । दोनो जब घर आये तो उन्होंने सोचा कि यह मणि अपनी छोटी बहिनको दे देना चाहिए, जिससे वह सुखी रहे और हम लोग भी इन बुरे विकल्पोसे बचे रहे । ऐसा सोचकर दोनो भाइयोंने वह मणि अपनी बहिनको दे दी । मणि पाकर बहिनके भी बुरे भाव हुए और सोचने लगी कि आज तो दोनो भाई मुझे प्यार करते है सो यह मणि मुझे दिया है, पर एक न एक दिन यह अवश्य मुझसे वापिस ले लेंगे । अच्छा तो यही है कि किसी प्रकार इन दोनो भाइयोका अन्त कर दिया जाय । फिर विचार आया—अरे मैं कितना बुरा विचार कर रही हू, जो भाई मुझे इतना प्यार करते हैं कि वर्षोंके परिश्रमसे उपार्जित यह मणि मुझे दिया और मैं पापिनी उनके ही मारनेकी सोच रही हू । वह उठी और भाइयोको मणि देकर बोली—भाइयो, यह मणि तुम अपने ही पास रखो । इसे हाथमे लेते ही मेरे तो भाव बिगड गये हैं । भाइयोंने सोचा—चलो इसे माताको दे देवें । वह तो हमारी सब तरहसे हितचिन्तक है । जाकर मणि माताको दे दिया । उसे लेनेके बाद उसके भी भाव बिगड गये । तब उसने दोनो पुत्रोको बुलाकर कहा—अरे, तुम लोग यह क्या कमाई कर लाये, जो इसे हाथमे लेता है, उसके ही भाव बिगड जाते हैं । माताने कहा—जाओ इस मणिको समुद्रमे फेक आओ, इससे तो हम गरीब ही अच्छे, जो परस्पर प्रेमसे तो रहते थे । अन्तमे मणि समुद्रमे फेंक दी गई । भाइयो, इस लक्ष्मीका निमित्त स्वभाव ही ऐसा है कि जिसके पास यह जाती है, उसीके भाव बुरे हो जाते है । इसलिए धनादिसे मूर्च्छा छोडो । उससे हमारा कुछ भी हित नही होने वाला है ।

तृष्णाके फंसावका फैलाव—अन्तरंगमें तृष्णाके होनेपर यह प्राणी बार-बार बाहर उचकता है और मृगतृष्णाके समान इन पांचो इन्द्रियोके विषयग्राममे ही फसकर परस्पर एक दूसरेका आचार्य बन रहा है। इस प्रकार संसारके इन प्राणियोने कामभोग सम्बधी कथा अनन्त बार सुनी, अनन्त बार परिचयमे की और अनन्त बार ही भोगी। पर इससे हमे कभी विरक्ति नही हुई और न अन्तरंगमे विराजमान चैतन्य भगवानको जो आज गरीब बनाया जा रहा है, समझनेका प्रयत्न किया। समझ जाय तो खुद प्रभु हो जाय। देखो प्रद्युम्नको वैराग्य जागृत हुआ और अपनी स्त्रियोके पास जाकर बोले—मुझे ससारसे विरक्ति हो गई है, अतः दीक्षा लेने जा रहा हू। स्त्रिया बोली—अभी वैराग्य प्रगट नही हुआ। यदि सचमुच वैराग्य प्रगट हो गया तो यहाँ हमसे कहने नही आते, सीधे वनको चले जाते। तो तुम जाओ या नही, मैं तो ये चली। ऐसा कहकर भगवान नेमिनाथके समवशरणमे चली गई और वह राजमतीसे दीक्षित हो गई। जब अन्तःकरणमे विरक्ति पूर्णरूपसे जग जाती है, तब वह इससे उससे पूछनेकी परवाह नही करता।

भैया! आत्माके निर्मल परिणामोमे ही शान्ति मिलेगी। आत्माके ज्ञायकभावके बिना अन्यत्र कही भी शान्ति नही मिलेगी। पर हम स्वय विषयोमे उलझे रहते है और दूसरोको विषयोमे चलानेके लिए आचार्य बनते हैं। विषयभोगकी कथा अनन्त बार सुनी, परिचयमे आई और भोगी है, अत. बुरे कार्योमे मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वतः होती है और यदि परोपदेशादि का निमित्त मिल जाय, तो कहना ही क्या है? पर आत्मस्वरूपकी कथा न पहले कभी सुनी, न परिचयमे आई और न अनुभव ही की, अत· वह जल्दीसे गले नही उतरती है।

निराकुलताका साधकतम निजस्वरूपका अनुभव—यदि एक बार भी आत्माका अनुभव हो जाय तो फिर इसकी परिणति हो और की और हो जाय। जैसे गणितके सवालका सही उत्तर सबका एक ही होगा, किन्तु गलत उत्तर सबका भिन्न-भिन्न होता है इसी प्रकार धर्मका अनुभव सबको एकसा ही होता है। पर विषयकषायोका अनुभव भिन्न-भिन्न ही होता है, इसी कारण यह कथा अत्यन्त विसवादिनी विसवाद करने वाली है अथवा किसी भी पर्यायरूप द्वैतकी कथा आपदा है। दुनियाके लोग मेरे जाननेमे नही आते तो मत आओ, एक मात्र मेरा ज्ञानस्वभाव मेरेमे रहो, यही हितकारी है। जिसके एक पुत्र होता है उसे धन, मकान आदिकी अधिक चिन्ता नही होती। किन्तु जिसके ४ पुत्र होते है उसे अधिक चिन्ता होती है। इसी प्रकार जो केवल एक ज्ञायकभावपर दृष्टि रखता है, वह सदा निराकुल रहता है, किन्तु जो विषयोपर दृष्टि रखता है, वह सदा आकुल-व्याकुल रहता है। आत्माके एक स्वरूप रहने तक कोई विसवाद नही। अनेकरूप होनेपर ही विसंवाद खडा होता है।

यह सत्रूप एकत्व घट-घटमे विराजमान है। सर्व जीव सिद्धोंके समान अनन्त शक्ति

वाले है। जो जीवत्व सिद्धमे है, वह मेरेमे भी है। यह कथन शक्तिकी अपेक्षासे है, व्यक्तिकी अपेक्षासे नही। द्रव्यत्वसे दोनोंमें भेद नही, समानता है। हम तृष्णालु होकर दुःखी हो रहे हैं। ज्ञानियोके लिए यह चैतन्य-एकत्व सदा प्रकाशमान है। निगोदियो तकमे भी चैतन्यका एकत्व प्रकाश एक ही है। ज्ञानियोको यह दिखता है, अज्ञानियोको नही। ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, अज्ञानीकी दृष्टि पर्यायपर रहती है। ये ससारी प्राणी कषायरूप स्थितिको समझने नही पाता। कषायचक्रके साथ एकमेक हो रहा है और समझ रहा है कि जो कषायमे है, वह भी मैं एक ही हू। पर वास्तवमे मेरा शुद्ध एक ज्ञान चैतन्य ढक रहा है, अव्यक्त हो रहा है, किन्तु ज्ञानमे प्रकाशमान है, ऐसा विरले ही समझते है। अज्ञानी जन प्रथम तो अपने ज्ञायकभावको स्वय जानते नही हैं। फिर यदि कोई समझावे, तो वे समझते नही है, ज्ञानियोकी सगति नही करते है। अत. स्वस्वभावकी कथा न सुननेमे आई, न परिचय और अनुभवमे आई। इस एकत्वकी कथा समयसारमे विस्तृतरूपसे वर्णित की गई है।

अजानकारी व अमानकारीकी व्याधि—आज गुरु पूर्णिमा है। हमे हमारे गुरु (श्रद्धेय श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी न्यायाचार्य) का बार-बार स्मरण आ रहा है, क्योकि उनका हमपर असीम उपकार है। इस समय उनकी आखो देखी और उनके द्वारा सुनाई गई सच्ची कथा याद आ रही है। बनारसमे एक मुसलमान था, जो बोलनेमे बहुत होशियार था। वह जहाँ कही भी रास्तेपर खडा हो जाता, और जिस जातिके लोग उधरसे निकलते देखता, उन्हे ही लक्ष्य करके वह अपना व्याख्यान झाडने लगता। एक बार उधरसे बहुतसे जैनी जा रहे थे। वह तुरन्त उन्हे लक्ष्य करके कहने लगा—सारी दुनियाके मनुष्योमे तो ७२ ही कलाए होती हैं, पर जैनियोमे ७४ कलाए होती है। लोग उसकी यह बात सुनकर उसके पास खडे हो गये और पूछने लगे—भाई दो कलाए कौनसी अधिक होती हैं? वह बोला—सुनो, एक तो ये लोग खुद जानना नही चाहते, यह एक कला अधिक है और दूसरी यह कि कोई इन्हे बतावे तो मानना नही चाहते। ये दो कला अधिक हैं। भाई, यही हाल सभी ससारी जीवो का है। वे प्रथम तो आत्महितकी बात स्वय जानते नही, और यदि कोई बतावे, तो वे उसे मानते नही हैं। जैनधर्म तो ससारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रेम बढाने वाला (अविरोध रखने वाला) है। पर हमने उसे समझा नही, माना नही। अत वह आज हास्यास्पद हो रहा है।

वर्द्धमान प्रभुको प्रणाम—परमभट्टारक, देवाधिदेव, सुगृहीत नामधेय श्री वर्द्धमान स्वामीको 'एष अह प्रणमामि।' यह मैं कुन्दकुन्द प्रणाम करता हू। छठे सातवे गुणस्थानमे झूलने वाले श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी की आन्तरिक परिणतिका पता उनके 'एष अह' पदसे ध्वनित होता है। जो प्रणाम करता है, वह मैं नही, और जो मैं हू वह प्रणाम नही कर सकता। परन्तु यह निमित्तनैमित्तिक भावकी विशेषता है। यहा श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी

ने जिन विशेषणोसे नमस्कार किया है वे बहुत ही प्रयोजन और रहस्यको लिये है। उपाय उपेय उद्देश्यविधान सब ही तत्त्व इसमे गर्भित है, जिनसे हमे सरल शब्दोमे यह सीख मिलती है कि वर्द्धमान स्वामी सर्व गुरु है, जगतका अनुग्रह करनेका अनन्त सामर्थ्य इनमे है, ससार-सागरमे डूबते हुओको पार करनेके लिये यह तीर्थ है, धर्मके कर्ता है, अतएव अपने सर्व प्रयोजन——जहा फिर कोई प्रयोजन शेष न रहे, इनके निर्देशके अनुकूल अपने प्रवर्तनमे ही सिद्ध होते है, सो हे दुःखमोक्षार्थी भावुक जन ! इनके तीर्थका शरण लेकर बहुमानपूर्वक आगमका अभ्यास करके समस्त पर-अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात कालाणु——इनके गुणपर्यायसे अत्यन्त भिन्न परोपाधिज रागादि भावक कर्मसे पृथक् शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावना रूप एकदेश शुद्धपर्यायसे असकुचित, सर्व देश पूर्ण शुद्ध पर्यायसे अविशेषित निज दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप अहका दर्शन करते हुए सर्व क्लेश जाल के बन्धनसे रहित होओ।

पहिली गाथामे भगवान महावीर स्वामीको प्रणाम करके अब द्वितीय गाथामे शेष सर्व पूज्य आत्माओको नमस्कार करते है——

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विमुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदसणचरित्ततववीरियायारे ॥

शेष तीर्थङ्करोको प्रणाम— विशुद्ध सत्ता वाले या विशुद्ध सद्भाव वाले शेषके तीर्थंकरोको, तीर्थंकरोको ही नही, सर्वसिद्धोकर सहित तीर्थंकरोको नमस्कार करता हू। विशुद्ध सद्भावके मायने यह है कि जिनके द्रव्यमे अन्य द्रव्यमल नही रहा। द्रव्य तो स्वरूपसे ऐसा ही एकाकी है परन्तु अपने अज्ञान-भ्रमके कारण अपना विभाव द्रव्य कर्म आदि मलसे मलीन होता आया है उस दुर्दशाके मेटनेका मूलमन्त्र भ्रमका नाश है। ये शेषके तीर्थनायक अर्थात् वृषभको आदि लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त २३ तीर्थंकर और सर्वसिद्ध कैसे है कि विशुद्ध सद्भाव होनेसे अतिम पाकपर उतरे हुए सुवर्णकी तरह शुद्ध दर्शन ज्ञानस्वभाव वाले है। यहां आत्मा के अनुजीवी गुणोपर दृष्टि है, जिस अपेक्षासे तीर्थनायक और सर्वसिद्ध एक ही विशेषणसे विशेषित है। इस ही भावकी दृष्टि लिये हुए ग्रथकार किन्हे पहिले नमस्कार करें, किसे पश्चात् ? न तो यह विकल्प ही था और न ऐसी चेष्टा हुई जो "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" इस पदन्याससे प्रकट है अर्थात् सर्वसिद्धोकर सहित शेष तीर्थंकरोको नमस्कार करता हू। यहा शेष पदसे २३ तीर्थंकर विवक्षित हैं क्योकि पहिली गाथामे प्रवर्तमान तीर्थनायक श्री महावीर भगवानको वदना की है। उस सम्बन्धके कारण यहाँ २३ तीर्थंकर विवक्षित है। तब शेष अतीत सब तीर्थंकरोको सिद्धोमे अन्तर्गत करके नमस्कार किया है। यद्यपि वर्तमान २४ तीर्थंकर भी वर्तमानमे सिद्ध ही है, फिर भी तीर्थप्रवर्तनाके कारण उन्हे पृथक् नमस्कार किया है। उनकी

उपदेश-परम्पराका हमपर महान् उपकार है।

विशुद्ध सद्भावता—यहाँ विशुद्ध सद्भावात् शब्दसे यह विवक्षित है वे सिद्ध प्रभु पर्याय से भी शुद्ध है, द्रव्यसे तो सभी सत् विशुद्ध हैं। परमाणु परमाणुकी सत्ता न्यारी-न्यारी है। यह निर्मल पर्याय कैसे प्रगट होती है ? इसका उत्तर टीकाकारके मगलाचरणमे भी है कि "स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय" अनादि अनन्त एकस्वरूप चैतन्य भावमय निज आत्माकी उपलब्धिसे परमात्मा प्रसिद्ध है, निष्पन्न है। जो शक्तिमे था वह व्यक्तिपर्यायमे भी आ गया। जैसे सिद्ध प्रभु गुणशाली है वैसा मै भी हू। क्योकि जो सिद्धिमे गुण हैं, शक्ति है वे मुझमे भी हैं और जो मुझमे शक्तियाँ नही हैं वह सिद्धोमे नही हो सकेंगी। कारण कि चेतन तत्त्व समान ही है। अहो ऐसी अपूर्व महिमायुक्त होकर भी विषयकषायके कीचड चिथडोमे यह हम आप चैतन्य भगवान विश्राम करके सुखी होना चाहता है ? सुखका उपाय द्रव्यदृष्टिकी दृढता बिना असभव है। निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर ही निर्मल पर्याय प्रकट होती है। दृष्टिमे तो विकारी पर्याय रहे अथवा कुछ भी क्षणिक तत्त्व रहे और निर्मलता प्रकट होना असम्भव है। एक आत्मदृष्टिका प्रबल प्रोग्राम बनाओ। यहाँ कुन्दकुन्द स्वामीके विनयको देखो—पहिले उपकारक तीर्थके साक्षात् प्रवर्तक होनेसे वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करके जब आगे नमस्कार करने चले तो कहते हैं "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" द्रव्यदृष्टिके दृढ कर्मठ योगीकी व्यवहार-प्रवृत्ति कितनी गुणग्राहिणी है। लोकमे भी तो निष्पक्ष अध्यापक जब किसी कारणसे कक्षासे छात्रोको बुलाता है तब यही तो कहता है कि सर्व छात्रो सहित फलाने आवो।

यशपिशाचका परिहार व स्वरूपका उपादान—आज जनसाधारणके परमोपकारी तीर्थकर देवोका परिचय नही है परन्तु ज्ञानीके तो वे आराध्य है। उनके नैर्मल्य और मार्गकी उत्कृष्टता देख प्रमोदभावमे स्नान करते हैं। देखो, परमपूज्य आराध्य तीर्थंकरोका भी लोको की अपेक्षा यश न रहा तो भाइयो ! किसका यश कब तक रहता है, यश पिशाचका मोह छोडो। अतीत तीर्थंकरोकी तो बात जाने दो, किसे याद हैं उनके क्या नाम थे परन्तु वर्तमान तीर्थंकरोमे लोक किस किसका नाम स्मरण रखते ? इन प्रभु देवोका कैसा निष्पक्ष उपदेश है कि प्राणियो ! कल्याण चाहते हो तो सर्व राग छोडो, मेरा भी राग छोडो।

अपने भीतर रहने वाला, इन्द्रिय मनसे परे उनसे अगोचर जो सामान्य तत्त्व है, वह वस्तुमे त्रिकाल अबाधित रहता है। भूतकालमे भी उसकी उपस्थिति थी, आज भी हो रही है और आगामी कालमे भी होती रहेगी। इसलिए उस एक त्रिकाल अबाधित चैतन्यभावके पाने का प्रयत्न करो। एक कथा है कि किसी देशका राजा दूसरे देशपर चढाई करने गया। वहाँसे उसने अपनी रानियोको पत्र लिखा कि जिसे जो-जो चीज चाहिए, सो लिखो, हम आते समय लेते आयेंगे। राजाके अनेक रानिया थी। किसीने हार लानेको लिखा, किसीने बनारसी साडी

लानेको लिखा, किसीने कुछ लानेको और किसीने कुछ लानेको लिखा। एक रानीने कोरे कागजपर १ एकका अंक लिखकर और पत्र लिफाफेमे रखकर भेज दिया। राजाने सबके पत्र पढे और सबकी मनोवांछित चीजें मगवा ली। मगर इस रानीका पत्र दीवानको दिया कि इसका क्या मतलब है ? दीवान चतुर था, बोला—महाराज ! इसका संकेत है कि मुझे और कुछ नही चाहिए, केवल एकमात्र आप ही चाहिएँ। राजा सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। वापिस लौटनेपर जिसने जो चीज मगाई थी, वह तो उसके पास भेजी और स्वय उस १ का अंक लिखने वाली रानीके यहाँ बहुतसे वस्त्र भूषणादि लेकर चला गया। भाई, जिसके पास राजा चला गया, उसके कमी ही किस बातकी रह गई ? इसी प्रकार जो बाहरी इन छोटी मोटी सम्पदाओंके पानेका प्रयत्न न करके एक चैतन्य प्रभुको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते है उन्हे सभी सच्ची विभूतियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। अतएव अपने एक चैतन्य विज्ञानघनमे लीन हो जाओ और सदा यही भावना करते रहना चाहिए कि मेरी एकमात्र ज्ञायकदृष्टि मजबूत बनी रहे।

धर्मके लिये सर्वस्व समर्पण—जितने भी नेता लोग हुए है उन्होने अपने जीवनमे सकटोको, बडी-बडी यातनाओंको सहा, तभी वे देशके नेता बन सके। गांधी जी के ऊपर कितनी आपदाएं आई विदेशमे। अफ्रीकामे विदेशियोंने उनके ऊपर विष्टा तक फेंका, पर कभी उनके मनमे विपक्षियोके प्रति दुर्भाव पैदा नही हुआ। तब कही जाकर वे देशके नेता और महात्मा बन सके। धर्मके नेता बननेके लिए किसी बाहरी पदार्थपर विजय नही पाना है, अपने भीतर बन रहे रागादि विकार भावोपर ही विजय पाना है। अकलंक और निकलंकका बलिदान हमारे सामने एक आदर्श है कि अपने धर्मकी प्रभावनाके लिए निकलंकने अपने प्राण हसते-हसते न्यौछावर कर दिये। लोग शायद निकलंकके त्यागको बडा समझते है, पर मेरी दृष्टिमे अकलंकका त्याग उनसे भी कही बहुत अधिक है। जब उन्होने अपने सामने अपने छोटे भाईका सिर कटते देखा होगा, तो उनके दिलपर क्या बीती होगी ? पर वे बौद्धोसे उसका बदला खूनके रूपमे लेनेको कभी कृतसकल्प नही हुए। उनके भीतर जो कारुण्य जाग रहा था कि ये सारा जगत इन नैरात्मवादियोसे शासित होकर नास्तिक बना जा रहा है वह कैसे सुमार्गपर स्थित रह सके ? इसलिए छोटे भाईके बलिदानका स्मरण होते हुए भी, अपने भाईके बदला लेनेका कभी भाव जागृत नही हुआ, अपने कषायभावोपर पहिले उन्होने विजय पाई, पीछे बौद्धोंके ऊपर विजय पाई। यदि वे पहिले अपने कषायभावोपर विजय न पाते, तो निश्चयत वे बौद्धोंके ऊपर भी विजय नही पा पाते। क्योंकि कषायोकी तीव्रतासे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम उत्तरोत्तर मद हो जाता है। पर उन्होंने जो अपने भीतर भाईकी हत्यासे उत्पन्न प्रतिशोधकी आग नही भड़कने दी, उससे वे निर्विकार रहे, कषायोपर विजय पाई, इस

सबका ही यह माहात्म्य हुआ कि उनके भीतर ज्ञानावरणका वह विशुद्ध क्षयोपशम प्रकट हुआ कि बौद्धोकी इष्ट देवी तारा भी उनके सामने नही ठहर सकी और शास्त्रार्थमे पराजित हुई। भगवान अकलक देवने सारे भारतवर्षसे क्षणिक सिद्धान्तको भगा दिया, दडबलसे नही, अपने प्रखर तर्कशरोसे विह्वल करके। उसी समयसे भारतवर्षसे बौद्ध धर्म उठ गया और लका, श्याम, चीन, ब्रह्मा आदि बाहरके देशोमे बचे-खुचे बौद्ध विद्वान् चले गये। इतिहासका यह अध्याय आज प्रकाशमे लानेके योग्य एव विचारणीय है कि जो बौद्धधर्म एक बार सारे भारत में फैला था और चारो ओर जिसकी विजय-दुन्दुभि बज रही थी, वह सातवी-आठवी शताब्दी के बाद भारतसे क्यो विलुप्त हो गया? मैं तो इसमे भट्टाकलकदेवका ही महान प्रभाव मानता हू। उनके समस्त तर्कग्रन्थ बौद्धोके प्रबल खडनसे भरे पडे हैं, जिनके खडनका आज तक कोई भी बौद्ध आचार्य उत्तर नही दे सका है। हमारा बौद्ध भाइयोसे द्वेष नही, बौद्ध अब सत्य बुद्ध बनें, हमारी यही भावना है।

कष्टसहिष्णुता व विपन्निवारण—सकट सहनेसे ही मनुष्य बडा बनता है। भीरु बननेसे लोग लेंडू कहने लगते है। अपनेको समझो कि मैं बिल्कुल स्वतन्त्र हू, सुरक्षित हू। विशुद्ध सद्भाव पानेका उपाय यही है कि सदा अपने विशुद्ध ज्ञायकभावपर दृष्टि रखो। इस मलभरे शरीरपर दृष्टि मत रखो। मल पिंडका मोह सबसे भारी मोह है। इसके छूटते ही मार्ग जल्दी प्राप्त हो जाता है। विशुद्ध सद्भाव पानेके लिए सप्त-व्यसनोके त्यागकी भी बडी आवश्यकता है। व्यसनोमे प्रधान जुआ है। आज जुआ खेलनेके भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। जरा जुआरियोकी मनोवृत्तिका अध्ययन तो करो कितनी सक्लेश भरी रहती है। ससारके सभी जीव जुआ खेल रहे है:—'शुभ अशुभ बधके फल मझार। रति अरति करे निज पद विसार॥' यह जुआ नही, तो क्या है? यदि शुभ बधका फल मिला, पुण्योदयसे इष्ट सामग्री प्राप्त हुई, तो बस 'पौ बारा आ गए' मारे हर्षके फूले नही समाते, और यदि कही अशुभ बन्ध का फल मिला, पापके उदयसे इष्ट पुत्र, धनादिका वियोग हो गया तो 'तीन काने आ गए' की कहावत चरितार्थ होती है और हाय-हाय करते मर जाते है। पर जो ज्ञानी होते हैं, वे पुण्य और पाप—इन दोनोके फलमे हर्ष-विषाद नही करते। इसी प्रकार मास खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना—इन शेषके छह व्यसनोका अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारसे परित्याग करना आवश्यक है। जब तक इनका परित्याग नही होगा, तब तक विशुद्ध सद्भावकी ओर मनकी प्रवृत्ति ही नही हो सकती।

विशुद्धसद्भावताके उद्यममे—हे भाइयो! यदि ज्ञायकभावकी प्राप्ति करना चाहते हो, तो आत्मपरिणतिको अत्यन्त मलिन, कलुषित बनाने वाले समस्त व्यसनोका परित्याग करो। अपने आपमे सदा प्रकाशमान ध्रुव वस्तुको देखो। आचार्य पद्मनन्दिने कहा है—यदव्यक्तमबो-

धानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् । सार यत्सर्वभूताना नमस्तस्मै चिदात्मने ।। अर्थात् जो चैतन्य-भाव सज्ज्ञान चक्षुवाले पुरुषोको व्यक्त है, प्रगट है, अज्ञानियोको जिसका पता ही नही और जो सब प्राणियोमे सार स्वरूप है उस चिदात्माको हमारा नमस्कार हो ।

स्वकी आत्मस्वरूपकी पहिचान ही सुखका मार्ग है और स्वकी अजानकारी ही दु खका मार्ग है । स्व ज्ञायकभावकी भक्ति आराधना ही जगत्से पार होनेका उपाय है । समाधितन्त्रमे कहा है—मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् । यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ।। मूढ जन जहाँ जिस वस्तुमे विश्वास कर रहे है, उससे अधिक भयका कोई स्थान नही, और जिससे यह मूढ़ात्मा भयभीत होता है, भय मानता है, उससे अधिक आत्माके लिए और कोई निर्भय स्थान नही है लेकिन ससारी जीवोकी विपरीत प्रवृत्ति देखो कि "रागादि प्रगट जो दु ख दैन । तिन ही को सेवत गिनत चैन ।।" जो रागद्वेषादि प्रत्यक्षमे ही दु खके देने वाले है, सारे जीव जिनका प्रत्यक्षमे अनुभव कर रहे हैं, उन्हे ही सेवन करके ये मूढ आत्मा चैन मानता है, बाह्यपदार्थको पाकर चैन मानता है, यह तो मूर्खता है ही, परन्तु यशकी बात सोचना, उसकी चाह करना, प्रयत्न करना पढे लिखोकी मूर्खता है, महामूर्खता है । देखो सदा कीर्ति कितनी रहती है ? तीर्थंकरो जैसे महापुरुषोकी तो सदा कीर्ति रही नही, फिर हम अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाले—जो निरन्तर दुर्भावनाओसे भरे हुए है—उनकी कीर्ति कितने दिन रहेगी ? परमात्माकी निजकीर्ति तो परमात्मामें सदा रहती ही है, परन्तु लोगोकी दृष्टिसे कह रहा हू कि परमात्माके नाम लेने वाले कितने है ? जितना बिगाड होता है, वह यशकी इच्छा से ही होता है । यशकी इच्छाके साथ ही अनेक झझटें सबद्ध है । यशकी इच्छा छूटते ही अनेक झंझटें स्वयमेव छूट जाती है ।

तीर्थनायकोकी परिपूर्ण विशुद्धता—जिन्होने सर्व आकाक्षाओको, कषायोको नष्ट किया है, ये तीर्थंकर कैसे है, सो कहते है—उपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् अर्थात् अन्तिम सोलहवे तापसे तपे हुए जात्य सुवर्णके सदृश शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले है । सोनाको शुद्ध करनेके लिए सोलह ताप लगाये जाते हैं, ऐसी प्राचीन प्रसिद्धि एव पद्धति है । सोलहवा ताप लगनेपर जैसे सोना अपने शुद्ध रूपमे प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार आभ्यतर व्रत, समिति, गुप्ति, तप आदिमे तपकर आत्माके जब द्रव्यभावमल दूर हो जाते है, तब शुद्ध आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है । इस प्रकारके स्वभावसे 'शेषातीततीर्थनायकान्' वर्तमान चौबीसीके शेष तेईस तीर्थंकरोका तो ग्रहण किया ही है, साथ ही अतीतकालमे जितने भी अनन्त तीर्थंकर हो गये है, उन सबका भी स्मरण किया गया है । इस प्रकार अतीतकालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरो और वर्तमान कालके शेष तेईस तीर्थङ्करोको और सर्व-

विशुद्धसद्भावसाधक परमेष्ठी—ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात् सभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणाश्च प्रणमामि ॥२॥ अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाच आचारोसे युक्त है, अतः जिनके परम शुद्धोपयोगकी भूमिकाकी सभावना की जाती है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपनेसे युक्तसहित श्रमणोको मै प्रणाम करता हू। श्रमण नाम गुरुका है। गुरुओका हमपर कितना उपकार है, यह वचनके अगोचर है। यदि इन्होने शास्त्रोकी रचना न की होती, तो हम अरहत और सिद्धको कैसे उन तक पहुचनेका, उन जैसा बननेका प्रयत्न कर पाते ? एक कविने कहा है:—बलिहारी वा गुरुकी गोविन्द दिये मिलाय। गुरु, गोविन्द दोनो खडे, काके लागू पाय ॥ चारुदत्तकी कथा प्रसिद्ध है। जब वे चैत्यालयमे गये और वहापर उनका गृहस्थ गुरु और साधु दोनो बैठे थे, तो चारुदत्तने आसन्न उपकारी होनेसे पहले गृहस्थ गुरुको ही प्रणाम किया।

गुरुका महत्त्व—गुरुका महत्त्व बहुत बडा है। हमने गुरुविनय बचपनसे ही किया है। हम सदा इसी टोहमे रहा करते थे कि गुरजन किसी कार्यका आदेश दें तो हम सबसे पहले करेंगे। हमारी जैनियोकी यही परम्परा रही है कि गुरुजनोका सदा विनय किया जाय। यही कारण है कि सकलपरमात्मा और निकलपरमात्माके नामके साथ ही गुरुजनोको भी अनादि कालसे ही नमस्कार किया गया है और वह नमस्कार मन्त्र अनादि मूल मन्त्रके नामसे पुकारा जाता है। गुरुजनोंमे जो प्रधान होते है, सघकी सार सम्हाल करते हैं, शिक्षा दीक्षा और प्रायश्चित देते है, वे आचार्य कहलाते है। जैसे किसी गुरुकुलका प्रधान आचार्य होता है, उसी प्रकार सघके स्वामी आचार्य होते है। बहुतसे कल्याणार्थी एकत्रित हो, तो उनका कोई न कोई मुखिया होता ही है, क्योकि उसके बिना सघकी गति नही। जहा भी समुदाय होगा, वहाँ कोई न कोई मुख्य होगा ही। वही उनका आचार्य है। जो स्थान गुरुकुलमे अध्यापकोका है, वही स्थान साधुओमे उपाध्यायोका है। ये द्वादशागके पाठी होते हैं, अच्छे वक्ता और उपदेष्टा होते है। कदाचित् अगपूर्वज्ञान न भी हो, तो भी जो सघमे प्रभावक, प्रतिभासम्पन्न एवं कुशल वक्ता होते है, उन्हे आचार्यके द्वारा उपाध्याय पद दिया जाता है। आचार्य द्वारा पद दिये बिना उपाध्याय सज्ञा प्राप्त नही होती। जो आत्मार्थी है, आत्मकल्याणके लिए सदा श्रम करते रहते हैं उन्हे श्रमण कहते है। इन तीनो प्रकारके गुरुओका आदर्श इनका मूर्तिमानरूप ही भव्य जीवोका महान हितकारी है, इसलिए भगवान कुन्दकुन्दने तीनोका स्मरण किया है।

प्रश्न—आपने आचार्यको प्रायश्चित आदिका विधायक कहा है, सो यह तो बडे ददफदमे फस गये, और यह भी सुना जाता है कि जब वे अपना आचार्यपद छोड देते हैं तभी वे मोक्ष प्राप्त कर पाते है, सो क्या यह सत्य है ? उत्तर—ऐसी बात नही है। बहिरगमे वे शिक्षा आदि अनेक कार्योंमे व्यस्त रह करके भी वे साधुत्वमे किसीसे भी कम नहीं है। यह

ख्याल भी गलत है कि वे आचार्यपद छोड देनेके उपरान्त ही मोक्ष प्राप्त कर पाते है, इस कथनके कई अपवाद भी उपलब्ध है। हा, यह बात दूसरी है कि कोई आचार्यपदके व्यामोहमे पड जाय और उसे न छोडे, तब तो उसे मुक्ति प्राप नही होगी। पर यदि वे आचार्यपदपर रहते हुए कभी ध्यानस्थ हो और शुक्लध्यान प्रगट हो जाय तो वे मोक्षको प्राप्त करते ही है।

साधकोंकी स्वभावरुचि—ज्ञाता दृष्टा रहनेके अतिरिक्त और सर्वभाव त्याज्य है। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधुजन आठ प्रकारके ज्ञानाचार, आठ प्रकारके दर्शनाचार, त्रयोदश प्रकारके चारित्राचार, बारह प्रकारके तपाचार और पाच पकारके वीर्याचारका परिपालन करते है, तथापि उनकी दृष्टि सदा स्वज्ञायकभावपर ही रहती है और वे शुद्धोपयोगके पाने तक ही पृथक्-पृथक् आचारोका पालन करते हुए कहते है कि हे अष्टविध ज्ञानाचार, मै तब तक ही तुम्हारा आचरण करता हू, जब तक कि मुझमे तेरे प्रसादसे मेरे भीतर तेरेसे भिन्न मेरा ज्ञायकभाव नही पा लेता हू, तब तक ही तुम्हारी आराधना करता हू। इसी प्रकार दर्शनाचार आदिको भी सबोधन करके वही बात कहता है। जब शुद्धोपयोगकी भूमिका तैयार हो जाती है, तो एक-एक आचारको पृथक्-पृथक् सबोधन करके मानो कहता है कि ज्ञानाचार, तुम मेरे स्वरूप नही हो, अत मैं तुम्हे छोडता हू। कही ऐसा साधु कहते नही है और न विकल्प ही करते है किन्तु उच्च भूमिकामे सर्व प्रवृत्ति छूट ही जाती है। इस प्रकार सर्वका प्रतिक्रमण कर देता है। इन ज्ञानाचार आदि बाह्यपदार्थोंसे विरक्त होना ही पडेगा, तभी इष्ट ज्ञायकभाव सिद्ध होगा।

सम्यक्त्वकी शैली तो देखो—सबकी चौथे, पाचवे, छठे गुणस्थान वालोकी एक ढंगसे चलती है। अविरत सम्यक्त्वीके पास जो समागम है, वह उससे विरक्त और साधुके पास जो समागम है वह उससे विरक्त रहता है। वैसे मुनि २२ बाईस परीषह सहता है, पर गृहस्थ तो २२००० बाईस हजार झझटरूपी परीषहो और अनेक जातिके उपद्रवोको सहता है, पर विशुद्धता जिनके बढी-चढी होती है, वे ही बढे माने जाते है। झझटें जिसके कम रह गईं, वह स्वय ही का तो फल है। ये आचार्य, उपाध्याय और साधु सयमकी अपेक्षा सभीसे महान है। पचाचारके निमित्तसे उनके विशुद्ध भूमिका तैयार हो गई है, अतएव मैं उन्हे नमस्कार करता हू।

ते ते सव्वे समग समग पत्तेगमेव पत्तेय।
वदामि य वट्टते अरहते माणुसे खेत्ते ॥३॥

वन्दनका विशुद्ध अनुराग—मानुष क्षेत्रमे वर्तमान रहने वाले जितने अरहत है, उन-उन सब अरहतोको मैं समव-रामक अर्थात् एक साथ युगपत् अथवा प्रत्येकको काल-क्रमसे

हन्तोको एक साथ भी नमस्कार कर रहे हैं और पृथक्-पृथक् भी नमस्कार कर रहे है तथा अढाई द्वीपमे जितने अरहन्त है, चाहे वे तीर्थंकर अरहत हो और चाहे सामान्य अरहत, उन सबका युगपत् ही स्मरण कर रहे है । ग्रन्थकारकी दृष्टि कितनी विशाल उदार एव विवेकपूर्ण है यह उसके गाथामे प्रयुक्त पदोसे प्रगट होता है । खंडवाकी बात है, कोई ७-८ वर्षका बच्चा दर्शन कर रहा था, मैंने पूछा—किसके दर्शन कर रहे हो ? बोला—भगवानके । मैंने फिर पूछा सबसे बडे भगवान कौनसे है ? वह सबसे बडी मूर्तिको दिखाकर बोला ये है । मैंने फिर पूछा—इनसे छोटे कौनसे है ? उसने पूर्व मूर्तिसे छोटी मूर्ति दिखाई । मैं उत्तरोत्तर पूछता गया कि इनसे छोटे कौनसे भगवान है और वह उत्तरोत्तर छोटी-छोटी मूर्ति दिखलाता गया। वह बच्चा मूर्तिको ही भगवान समझ रहा था, अत उसने तदनुसार उत्तर दिया । हममेसे भी तो कितने ही लोग मूर्तिके पैर दाबते है, चरणोको स्पर्शकर मस्तिष्कपर लगाते है, मानो वे यही समझते है कि मैं भगवानकी ही साक्षात् सेवा कर रहा हू । भैया ! ये मूर्तिया इस प्रकार की सेवा पूजाके लिए नही बनाई गई है । बल्कि इनके सामने बैठकर, निरखकर वीतरागता को अपने हृदयमे उतारें ।

आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि ग्रथारम्भ करते हुए कभी सामान्यपर जाती है, कभी विशेषपर जाती है, कभी व्यक्तिपर और कभी समष्टिपर । यह स्वाभाविक ही है, क्योकि आत्मामे जब तक एकत्ववितर्क शुक्लध्यान प्रगट नही होता है तब तक पृथक्-पृथक् वितर्क उत्पन्न हुआ ही करते हैं और फिर जो यहा छठे सातवें गुणस्थानमे भूल रहा हो, उसकी तो इस प्रकारसे द्वैत-अद्वैत रूप सामान्य-विशेषरूप दृष्टि उत्पन्न होगी ही । छठे सातवे गुणस्थानका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त है, पर छठेसे सातवेका काल आधा है । आचार्य कुदकुन्द जब प्रमत्त सयत होते हैं शुभोपयोगी होते हैं तो उनकी दृष्टि मनुष्य क्षेत्रवर्ती एव-एक अरहन्त पर जाती है और 'पत्तेय पत्तेय' कहते हैं । जब वे सप्तम गुणस्थानमे प्रवेश करते हैं, शुद्धोपयोगी होते हैं तो वहा उन्हे द्वैतका प्रतिभास ही नही होता है, सभी एकसे चिन्मात्रस्वरूपमे दिखाई देते हैं । इस दशाके अनन्तर प्रमत्त होते ही मानो तब उनके मुखसे 'समग समग' पद प्रगट होता है । भगवत्स्मरण भी अनुपम बलका निमित्त है ।

देवदर्शन—प्रतिमाका सच्चा दर्शन क्या है ? उसके आधारसे आत्मदर्शन करो, अपने भीतर उनके स्वरूपका चिन्तवन करो । पत्थर या धातुपर दृष्टि नही रहनी चाहिए । पिताका चित्र देखनेपर जैसे हमारी दृष्टि उनके चरित्रपर जाती है, वैसे ही हमे वीतराग भगवानकी मूर्तिको देखकर उनके चरित्रपर दृष्टि रखनी चाहिए । प्रतिमाके दर्शन द्वारा अपनी आत्माके स्वरूपका चिन्तवन करो । दर्शन करते समय प्राय भक्तजन किसी कविकी बनाई हुई स्तुति बोलते हैं । स्तुति कठस्थ होनेसे वह मुखसे निकलती जाती है और हमारा मन कही भटकता

रहता है। इसलिए कभी-कभी पररचित स्तुतिको छोडकर अपनी चिट्ठीकी चालमे स्तुति करो—"हे भगवान हमने मोहके वश होकर आज तक आपके स्वरूपको नही जाना, आज हमे आपकी वीतराग मुद्राको देखकर अपने स्वरूपकी याद आ रही है। हे भगवान्! आप मेरे लिए कुछ करते नही है, फिर भी मेरे उद्धारमे आप निमित्त कारण तो अवश्य है। यदि आपके दर्शनका सुयोग न मिलता, तो पता नही मैं कब आत्मस्वरूपका भान कर पाता, अथवा अहो! अहो! ऐसा ही तो मैं हू, ऐं! यह क्या हो रहा? होओ, मै तो यह ध्रुव हू इत्यादि रूपसे अपने शब्दोमे स्तुति करना बहुत लाभदायक है। आप पररचित स्तुतिको जब बोलते है, उस समयसे भावको, स्ववचनोमे की गई स्तुतिके समयके भावोको और मौनपूर्वक दर्शन करते समयके भावोको जरा देखो तो, उनके तारतम्यपर विचार तो करो, आपको जमीन आसमान जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होगा।

यथार्थ लाभका विवेक—प्रत्येक कार्यमे अपना लाभ देखना चाहिए कि मुझे इसके करनेसे क्या लाभ हुआ? यदि आत्माको ज्ञातृत्वस्थिति पानेका लाभ हुआ, तो उसे ही सच्ची स्वदया समझना चाहिए। जिसे स्वदया नही, वह क्या स्वहित कर सकता है? भाई, यह मनुष्यजन्म महादुर्लभ है, इसे पाकर स्वहितकी शीघ्रता करो अन्यथा मरना तो सबको पडेगा ही। मरनेके बाद क्या होगा, इसका उत्तर यही है कि जैसा पाप-पुण्य किया वैसा ही फल प्राप्त होगा। मरनेकी कोई तिथि ज्ञात नही कि कब मृत्यु हो जाय? दो मित्र थे, उनमे एक बीमार पडा। दूसरा मित्र शामको उसे देखने गया, और उसकी तवियतका हाल पूछा। तब वह बोला—भाई, बहुत कमजोरी हो गई है, बिस्तरसे उठा नही जाता। वह कुछ सेवा-शुश्रूषा करके घर चला आया, किसी कार्यसे एक दिनको बाहर जाना पडा। लौटकर मित्रके घर गया। उसके वहा नही दीखनेपर स्त्रीसे पूछा—मित्र कहा है? वह बोली—दुनियासे चले गये। तब वह मित्र खेद और झुझलाहटके साथ बोला—कल तक यो कहते थे कि बिस्तर से उठा जाता नही। आज दुनियासे भी चल देनेकी ताकत आ गई? मरनेपर यह जीव कहासे कहा चला जाता है, कुछ पता नही है और ये सब सग साथी यही छूट जाते है, कोई साथ नही चलता। साथ चलने वाला एक ज्ञायकभाव ही है, अत. ज्ञायक प्रभुकी ही भक्ति करके अपना जीवन सफल करो।

पूर्वजोकी धर्मपरिपाटी—हमारे पूर्वजोने जो ये मन्दिर आदि बनवाये है और पूजनादि की परिपाटी प्रचलित की है, यह सब धर्मके साधन है। परन्तु हम इनका उपयोग पूरा नही करते। हम मन्दिरोमे देखते है कि कोई किसी भगवानका पूजन कर रहा है, तो कोई किसी भगवानका। कोई किसी पूजनका स्थापन कर रहा है, तो कोई किसीका विसर्जन। लोग इस बातको नही समझे कि मन्दिरमे पूजनका जो समय नियत है, उसके भीतर ही समयपर पहुचकर सब एक साथ, एक स्वरमें पूजन करें। ईसाइयोमे [illegible]

दिन नियत है। उस दिन नियत समयपर वे सबके सब एक साथ पहुचते हैं और उनका पादरी ईश्वरप्रार्थना कराते समय जब और जैसा बोलता है, या कायिक क्रिया करता है, सभी एक साथ, एक स्वरमे वैसा ही करते और बोलते है। मुझे शिमलामे एक बार गिरजा-घरमे जानेका और उनकी प्रार्थना करनेका ढग देखनेका अवसर मिला। मैं वहाकी शान्तिको देखकर अवाक् रह गया। काश ! हमारे मन्दिरोंमे भी पूजा-प्रार्थनाके समय वह शान्ति विराजती तो भक्तोको एक अपूर्व आनन्द आता। बौद्धो तकमे भी मौनपूर्वक सध्या उपासना होती है। बौद्धोके प्रसिद्ध तीर्थ सारनाथमे जाकर देखिए—जहां दुनियाके कोने-कोनेसे भक्त लोग प्रतिदिन आया करते हैं और शान्तिपूर्वक भगवद्‌आराधना करते हुए परमशान्तिका लाभ लिया करते है।

सदेह परमेष्ठियोकी मानुषक्षेत्रमे वर्तमानता—आचार्य कुन्दकुन्द ग्रन्थारम्भमे ईश्वर वन्दना कर रहे है। जिन्होने स्वात्मोपलब्धि कर ली, उन अरहत सिद्धको नमस्कार किया, जो आज स्वात्मोपलब्धिके पथपर आरूढ है, सतत उसे प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओको भी उन्होने नमस्कार किया है। 'माणुसखेत्ते वट्टते' पदके द्वारा जो एक विशिष्ट अर्थ निकलता है, वह यह है कि महाविदेहोंमे एक साथ कमसे कम बीस तीर्थंकर होते है, और अधिकसे अधिक १६० एक सौ साठ होते हैं। इसका भाव यह है कि सारे मनुष्य-क्षेत्रमे अढाई द्वीपके भीतर ५ विदेह है। जम्बूद्वीपके मध्य भागमे सुमेरु पर्वत है। उसके दक्षिणी भागमे क्रमशः हिमवान्, महाहिमवान्, निषध—ये तीन पर्वत हैं और उत्तरी भागमे नील, रुक्मी और शिखरी—ये तीन पर्वत है। इन छहोसे विभक्त हो जानेके कारण जम्बूद्वीपमे भरत आदि सात क्षेत्र होते हैं। सुमेरुके पूर्वभागको पूर्व विदेह और पश्चिमी भागको पश्चिम विदेह कहते है। पूर्व विदेहके मध्यमे से सीता नदी और पश्चिमी विदेहके मध्यमे से सीतोदा नदी बहती है। इससे दोनोंके २-२ भाग और हो जाते है। इन चारो ही भागोमे तीन-तीन विभगा नदियो और चार-चार वक्षार पर्वतोके योगसे आठ-आठ भाग हो जाते हैं। इनमेसे प्रत्येक भागके भीतर विजयार्ध और दो-दो नदियोके योगसे पाच म्लेच्छ खण्ड और एक आर्यखण्डकी रचना है, इस प्रकार चारो भागोमे ३२ क्षेत्र है। इनमेसे ईशान कोणस्थ आठ भागोके एक विभागके जिस किसी भी क्षेत्रमें सीमधर नामक एक तीर्थङ्कर सदा काल विद्यमान रहते है। इसी प्रकार शेषके तीन भागोमे क्रमश युग्मन्धर, बाहु और सुबाहु—ये चार तीर्थङ्कर विहार करते रहते है। जम्बूद्वीपस्थ विदेहमे उक्त चार तीर्थङ्कर विद्यमान रहते है। धातकी खण्डमे दो सुमेरु पर्वत है, उनके योगसे वहापर विदेहोके आठ विभाग हो जाते है। उनमे सजातक आदि आठ तीर्थङ्कर सदाकाल विराजमान रहते हैं। पुष्करार्धमे भी धातकी खण्डके समान विदेहके आठ विभाग हैं, उनमें अन्तिम आठ तीर्थङ्कर विद्यमान है। इस

प्रकार सर्व मिलाकर अढ़ाई द्वीपरूप मनुष्य क्षेत्रके भीतर विदेहों-सम्बन्धी बीस तीर्थंकर कमसे कम सदा वर्तमान रहते है। सदा वर्तमानका अर्थ यह है कि इन बीसमे से जिस किसी भी तीर्थंकरका जब निर्वाण होता है, तब उसी समय उनके स्थानपर उनका नामधारी तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार वहां उनका समवशरण प्रायः कभी खाली नही रहता। पहले जो एक मेरु सम्बन्धी ३२ क्षेत्र बताए है, उनमे कभी ऐसा भी अवसर आता है कि प्रत्येक क्षेत्रमे एक-एक तीर्थकर पूर्व नामके और भी उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार पाचो मेरु सम्बन्धी (३२ × ५ = १६०) एकसौ साठ तीर्थंकर, एक साथ विहार करते हुए किसी अवसर विशेषपर पाये जाते है। यह बीस सख्या व नाम श्री वर्द्धमान स्वामीकी धर्म देशनाके समयकी बात है। प्रसिद्धि ऐसी है कि विदेहमे एक तीर्थंकरके निर्वाणके बाद वहाँ जो अन्य तीर्थंकर होते है वे इसी नामके होते है, किन्तु भिन्न-भिन्न नामधारी भी हो तो भी प्राकृतिकताके विरुद्ध नही मालूम होता। जब विदेहोमे १६० तीर्थंकर विद्यमान हो और प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्रमे तीसरेका अन्त या चौथा काल हो और तीर्थंकर विद्यमान हो तो इन दस तीर्थंकरोके मिलनेसे १७० एक सौ सत्तर तीर्थंकर एक साथ सारे मनुष्यक्षेत्रमे पाये जाते है।

सर्व परमेष्ठियोको युगपद् नमन—इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेवने उक्त पदके द्वारा इन सबका स्मरण किया है। 'वर्तमान काल' यह पद दोनो ओर घटता है और उसके प्रयोग द्वारा सबका स्मरण कर लिया गया है। सर्वका स्मरण करते समय आत्मामे तो सभी वर्तमान कालसे है। यहा आचार्य सभी पूज्य आत्मावोको स्मरणके द्वारा आत्मवर्तमानकालस्थ कर रहे है। सभी पूज्य आत्मा निष्परिग्रह होते है, साधु दीक्षाके अनन्तर ही निर्वाणका मार्ग साक्षात् हो पाता है। जैसे किसी कन्याके स्वयवर मंडपके समय जो मगलाचार किया जाता है और उसके पश्चात् कन्या पतिका वरण करती है, इसी प्रकार यहाँपर भी नैर्ग्रन्थ्य दीक्षाको स्वयवर मडप जानना चाहिए और इसमे जो उपयुक्त पात्र सिद्ध होगा, उसे मुक्ति कन्या वरण करेगी। उक्त प्रकरणोमे यह बतलाया गया कि जो ये पचपरमेष्ठी हैं, उनकी व्यक्तियोमे रहने वाले सब ही को मै नमस्कार करता हू। सब ऐसा कहनेपर सभी परमेष्ठियोमे सब शब्द लगाना चाहिए अर्थात् सब अरहतोको, सब सिद्धोको, सब आचार्योको, सब उपाध्यायोको और सब साधुवोको नमस्कार करता हू।

पट्खडागमकार पूज्य श्री १०८ आचार्य पुष्पदन्त जी महाराजका उक्त ग्रन्थमे एक निबद्ध मगलाचरण है जो "णमोकार मत्र" से प्रसिद्ध है—णमो अरहताण णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण" इसकी टीका करते हुए पूज्य श्री

लगाये जाने चाहिएँ, जिससे ऐसा अन्वय हो जाता हे—"णमो लोए सव्व अरहंताण, णमो लोए सव्व सिद्धाण, णमो लोए सव्व आइरियाण, णमो लोए सव्व उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण" अर्थात् लोकमे सब अरहंतोको नमस्कार हो, लोकमे सर्व सिद्धोको नमस्कार हो, लोकमे सब आचार्योको नमस्कार हो, लोकमे सब उपाध्यायोको नमस्कार हो और लोकमे सर्व साधुवोको नमस्कार हो।

णमोकारमंत्रका उच्चारण—इस णमोकारमंत्रका प्राकृत व्याकरणके अनुसार उच्चारण १८४३२ प्रकारसे है। अरहंताण शब्दमे विकल्पसे र उत्तरवर्ती अ के स्थानमे इ व उ होता है, जिससे ३ रूप हो जाते है--अरहंताण, अरिहंताण, अरुहंताण। फिर ण के अनुस्वार का विकल्पसे लोप होता है जिससे अरहंताण अरहंताण अरिहंताण अरिहंताण अरुहंताण अरुहंताण—ये ६ रूप हो जाते है। णमो शब्दमे रहने वाले ण के स्थानमे यहा न भी विकल्प से हो जाता है तब छहो रूपोंसे पहिले नमो अथवा णमो पढनेसे नमो अरहंताणं, णमो अरहंताणं आदि १२ रूप हो जाते हैं।

णमो सिद्धाण यहाँपर ण के अनुस्वारका विकल्पसे लोप होनेपर तथा णमोके ण के स्थानमें विकल्पसे न आदेश होनेपर 'नमो सिद्धाण, णमो सिद्धाण, नमो सिद्धाण, णमो सिद्धाण ये ४ रूप हो जाते है।

णमो आयरियाणं—इसमे प्रथम य के स्थानमे य, इ, अ भी होते हैं, इसलिए भगके लिये ३ रखो, द्वितीय या के स्थानमे विकल्पसे आ होता है, सो ३ × २ = ६, ण के अनुस्वार का विकल्पसे लोप होता है सो ६×२ = १२, और णमो के ण के स्थानमे विकल्पसे न होता है इसलिये १२ × २ = २४ प्रकारसे इस तृतीय पदका उच्चारण होता है। यथा—णमो आयरियाणं, णमो आइरियाणं, णमो आअरियाण, णमो आयरिआण, णमो आइरिआण, णमो आअरिआण, णमो आयरियाण, णमो आइरियाण, णमो आअरियाण, णमो आयरिआण, णमो आइरिआण, णमो आअरिआण—ये १२ रूप है तथा इन्हीमे णमोके स्थानमे नमो पढनेसे १२ और हुए, इस तरह २४ प्रकार हैं।

णमो उवज्झायाणं—इसमे णके अनुस्वारका विकल्पसे लोप हुआ तथा णमोके ण के स्थानमे विकल्पसे न आदेश होता है, तब 'णमो उवज्झायाण, णमो उवज्झायाण, नमो उवज्झायाण, नमो उवज्झायाण, इस प्रकारसे ४ रूप हुए।

णमोलोए सव्वसाहूणं—पूर्वोक्त प्रकारसे णमोके स्थानमे नमो विकल्पसे होनेपर व अनुस्वारका विकल्पसे लोप होनेपर "णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो लोए सव्वसाहूण, नमो लोए सव्वसाहूणं, नमो लोए सव्वसाहूण" इस तरह ४ उच्चारण हुए।

इन सबको परस्पर गुणा करनेसे १२ × ४ × २४ × ४ × ४ = १८४३२ प्रकारसे

णमोकार मंत्रका उच्चारण होता है। यह मत्र गाथा आर्यारूपमे है, सो किसी भी उच्चारणमे गाथाके लक्षणका भग भी नही होता है। गाथा आर्याका लक्षण यह है—यस्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चादश सार्या।

नमस्कार मंत्रकी गुणप्रधानता— यह नमस्कार मत्र व्यक्तिप्रधान नही है, गुणप्रधान है, क्योकि इसमे आत्माके उत्थानके पदोका ही वर्णन है। इसमे श्री आदिनाथ जी या श्री महावीरजी अथवा श्री रामचन्द्रजी या श्री हनुमानजी आदिका कोई नाम नही है। पञ्चपरमेष्ठी पदोमे पहुचे हुए महान् आत्माएँ पहिले पहिले तो हम आप जैसे ही गृहस्थ, गृहमे उत्पन्न हुए बालक कुमार आदिकी तरह ही थे, उन्हे जब आत्मज्ञान दृढ हुआ, परद्रव्योसे लक्ष्य हटा, विरक्ति हुई, सर्व बाह्यार्थ छूट गये, मात्र शौचोपकरण व दयोपकरण प्रवृत्तिमे समितिके अर्थ रहा यही तो साधुपद है। ऐसे महाव्रती अनेक साधुओका जहाँ समूह हो तो "समूह एक प्रधान बिना रहता ही नही" इस न्यायप्रकृतिके अनुसार उनमे प्रधान होना सुनिश्चित ही है। जिसमे प्रधानका यह कार्य हो जाता है कि उपदेश आदेश आदि द्वारा साधुओके आत्माका पोषण एव दीक्षा, प्रायश्चित आदि द्वारा उनका शोधन होना ये ही प्रधान आचार्य पदसे सज्ञित है। इस साधुसमूहमे जो विशेष ज्ञानी होते है और जिन्हे आचार्य महाराज ये उपाध्याय है ऐसा घोषित करते है वे उपाध्याय कहलाते है। ये तीनो गुरुराज इन्द्रियोके दमी मन वचन काय गुप्ति व ईर्या भाषा ऐषणा आदान निक्षेपण प्रतिष्ठापना समितिके धारक होते है। तीनो ही श्रमण है, इनमे जो कोई अन्तरात्मा समताकी अपूर्व साधना करते है, निज शुद्धात्माका निर्विकल्प सवेदन करते है, पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान करते है उनके स्वय घातिया कर्मके क्षय होनेसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तबल व्यक्त हो जाते है। यद्यपि यह प्रसिद्धि है कि आचार्य महाराज दूसरे विशिष्ट योगीको आचार्य पद देकर फिर ध्यानमे रत हो जाते है और उनके वीतराग निर्विकल्प निज शुद्धात्म-सवेदन बलसे कैवल्य प्रकट हो जाता है। ठीक है, परन्तु कदाचित् कोई आचार्य आचार्यपद न दे सके तो भी नि.स्पृह दिगम्बर तो वे है ही, निर्विकल्प शुक्लध्यान हो जानेपर कैवल्यमे क्या बाधा?

विरक्तिका आधार यथार्थ ज्ञान—वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर जो विरक्ति होती है वही यथार्थ अपना अमोघ कार्य करती है। स्त्री पुत्रोसे झगडा होनेपर उदास विरक्त होने मे, अकेले रह गये, अब क्यो कष्ट उठाना अथवा त्यागी सन्तोका बहुमान होता है,-सो इसी मार्गकी लेना आदि भावोसे हुए वेशमे वैराग्य स्थायी नही होता। वस्तुस्वरूपको ज्ञानमे लेकर उठने वाला वैराग्य स्थायी है। सच्चा वैराग्य आत्माको उत्कर्षमय स्थितिमे पहुचाने वाला है। वस्तुविज्ञानके अर्थ द्रव्य गुण पर्यायकी पहिचान करो, फिर अर्थका अनुभव कर लो।

द्रव्य क्या है? जो अनादि हो अनन्त हो स्वसहाय हो और [illegible]

सबकी परीक्षा कर सकते है कि यह द्रव्य है या अन्य कुछ। यद्यपि जो कुछ है वह द्रव्यसे भिन्न नही है तथापि द्रव्यके लक्षणसे पहिचानकर देखो जो उसमे द्रव्य तत्त्व निकले उसकी दृष्टिसे यथार्थता निर्मलता प्रकट होती है। देखो (चौकीपर रखे हुए काचके गोलेको लेकर) इसमे जो यह आपके सामने दिखता है क्या यह अनादिसे है ? नही, ऐसा सदा रहेगा ? नही, क्या परके सयोग बिना यह आकार है ? नही, क्या अखड है, इसके टुकडे नही हो सकते क्या ? टुकडे हो सकते। तब यह दृश्य द्रव्य नही है, फिर क्या है ? यह समानजातीय पर्याय है—अनेक द्रव्योकी पर्याय है। वे अनेक द्रव्य कौन है ? परमाणु-पुद्गल। परमाणु तो अनादि हैं, अनन्त है, स्वसहाय हैं, अखड हैं। बस इसीलिए परमाणु द्रव्य हैं।

दिखने वाले ये मनुष्य पशु आदि क्या है ? असमानजातीय द्रव्य पर्याय। ये अनादि नही, अनन्त नही, स्वसहाय नही, अखड नही है। अत. ये द्रव्य नही है, इनमे जीव द्रव्य है, परमाणु द्रव्य है। सयुक्तपर्याय या नैमित्तिकपर्याय परवस्तुकी उपस्थिति बिना नही होते है इसलिये स्वसहायताका वहा निषेध किया है। वैसे तो सभी परिणमन अपने आधारभूत स्व-चतुष्टयके परिणमनसे ही परिणमते है, किन्तु जो परिणमन परवस्तुकी उपस्थित बिना नही है उसका यहा विचार है।

ज्ञानीका अवलम्बन—ज्ञानी किस बुनियादपर विरक्त है ? इस ही द्रव्यकी स्वतन्त्रता के विज्ञानकी बुनियादपर और निर्विकल्प निज परमात्मा पदार्थके अनुभवकी बुनियादपर। उसकी दृष्टिमे दृश्यमान तो सब माया है, पर्याय है क्षणिक है। तत्त्वभूत तो अव्यक्त किन्तु ज्ञानीके गम्य है। द्रव्यका लक्षण कसौटी है इसपर सबको कसते जावो, जो सादिसान्त हो वह पर्याय है। पर्यायमे द्रव्य-तत्त्वबुद्धि ही तो ससार है। जहाँ अपने द्रव्यपर दृष्टि जावेगी वहा तो यह स्वरूप आवेगा—अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द। जाण अलिंगग्गहण जीव-मणिद्दिट्ठसठाण ॥

जो रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द कर रहित है, जो किसी व्यक्त चिह्नसे ग्रहणमे नही आता, जिसका स्वय कोई सस्थान नही है और चेतना गुणकर पूर्ण है वह जीव है। सर्वजीव स्वतन्त्र है, मैं किसीकी परिणतिसे नही परिणमता, अन्य कोई भी मेरी परिणतिसे नही परिण-मता। सर्वसे विविक्त स्वरूपमे अवस्थित अपने द्रव्यको विलीन सकल्प-विकल्प होकर अनुभवता है वह ज्ञानी साधु है। शुद्ध होनेका उपाय अध्यात्मदृष्टि है। रागद्वेषरहित स्वशुद्धात्माका निर्विकल्पसवेदन अथवा आगमभाषामे एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान होनेपर सर्वगुणघाती मल घुल जाते हैं।

उक्त पञ्चपरमेष्ठीको स्वभावसे देखो और अपनेमे रुचि करो स्वभावकी। णमो अर-हन्ताण मैं। णमो सिद्धाण " मैं। णमो आइरियाण' मैं। णमो उवज्झायाण''''मैं। णमो

लोए सव्वसाहूण मैं।

अरहंत देवका स्थान—जैसे आचार्य उपाध्याय साधु कही भी बैठे हुए हमे मिल जाते हैं वैसे अरहन्त देव यहाँ कही बैठे नही मिलेंगे। क्योकि कैवल्य होते ही उनका वादरनिगोद विकलत्रय आदि अन्य सर्व साधार जीवोसे रहित स्फटिककी तरह हुआ परमौदारिक शरीर ५ हजार धनुष ऊपर जाकर विराजमान रहता है। इन्द्र देवो द्वारा समवशरण या मात्र गध-कुटीकी रचना ऊपर हो जाती है। समवशरणमे शोभायमान कोट वेदिकाओसे परिवेष्टित उप-वन, खातिका चैत्यप्रसाद आदि ८ भूमियोके बाद १२ सभाकी रचना होती है, वहा ४ कोठी मे ४ प्रकारके देव, ४ कोठोमे ४ प्रकारकी देविया, १ मे मनुष्य, १ मे श्राविका, १ मे मुनि, १ मे तिर्यंच बैठते है। सभी अपनी योग्यतानुसार धर्मसेवन करते है, सबको भगवानका मुख दीखता है।

ये अरहन्त प्रभु अन्तमे जिनकी आयु तो कम और अन्य कर्मोकी स्थिति अधिक है वे समुद्घात करके अघातिया कर्मोकी आयु समान स्थिति कर देते है अथवा जिनकी स्थिति समु-द्घातके विना ही समान है, सर्व कर्मोके क्षय होनेपर सर्वद्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे अत्यन्त रहित होते ही सिद्धलोकमे विराजमान हो जाते है। जो जहांसे सिद्ध होता है वह वहींसे सीधा सिद्धस्थलपर पहुच जाता है। हनुमानजी इन्द्रजीतजी आदि सभी इस समय सिद्ध है। परन्तु देखो न सिद्धोमे, न अन्य परमेष्ठियोमे किसीका भी नाम नही लिया गया है। गुणोका पदोका ही नाम है। अतः परमात्माका स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ ही है, वह कोई भी हो। गुरुका स्वरूप सारयदर्शी है।

इस समय यहाँ तीर्थंकर नही है फिर भी विदेहक्षेत्रमे तो है ही। विदेहक्षेत्र भी मनुष्य-क्षेत्र (नृलोक) है और हमारा क्षेत्र भी मनुष्यक्षेत्र है फिर हमारे ही क्षेत्रमे तो तीर्थंकर है। हम वहाँ नही पहुच सकते। यदि विद्याबल होता तो क्या न पहुच जाते ? विद्याधर तो आज भी विदेहक्षेत्रमे पहुचकर उन तीर्थङ्करोका दर्शन करते है। मनुष्यक्षेत्र हम मनुष्योका क्षेत्र है। लोकमे भी कहते हैं भारतसे लगे हुए चीन जापान आदि स्वक्षेत्र ही है, लोकोका वहाँ यातायात है इसलिये इसमे व्यवहार करते है। विदेहक्षेत्रमे जो तीर्थङ्कर हैं उन्हे वर्तमानके गोचर करके नमस्कार करता हू। वे तीर्थङ्कर इस समय है सो उनका वर्तमानकाल है और मेरे उपयोगमे वे तीर्थङ्कर है सो मेरे वर्तमानकालमे भी तीर्थङ्कर है, कहाँ है ? यही है। इनको वदना नामक शब्दसे—जो कृतिकर्मशास्त्रमे उपदिष्ट है व मोक्षलक्ष्मीके स्वयवरमे मानो निर्ग्रन्थदीक्षाके अवसर मे मगलाचारभूत है—आदर किया है, पूजा है।

वन्दनात्वकी उत्कृष्टता—वन्दना शब्दका अर्थ भी नमस्कार ही है। वन्दना, वन्दामि नमोऽस्तु सबका एक ही अर्थ है, परन्तु यहा व्यवहारकी अपेक्षा ऐसा लगा दिया गया है कि

साधुवोंको नमोऽस्तु कहना, ब्रह्मचारियोंको वन्दना कहना व आर्यिका आदि जैनलिंग वाले उत्कृष्ट श्रावकोंको वन्दामि कहना। भक्ति भी वन्दनाका अनर्थान्तर है। भक्ति साधु बननेके समय मोक्षलक्ष्मीके स्वयवरमे मगलाचरण रूप है। साधु दीक्षाके समय सिद्धभक्ति, आचार्य-भक्ति, योगभक्ति की जाती है। इनमे भावकी अपेक्षा आचार्य भी योगी है। सिद्ध भक्तिमे तो यह पाठ पढा जाता है—सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान् साधितात्मस्वभावान् आदि और योगि-भक्तिमे यह पाठ पढा जाता है—जातिजरोरुरोगमरणातुर शोकसहस्रदीपिता आदि। फिर भी जहा भक्तिपाठ करनेका अवसर नही अथवा पाठ करने वाला नही या पाठ याद नही, न भी सिद्धभक्ति योगिभक्ति कर पाये, फिर भी भावसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति होती ही है। यथार्थ सिद्धभक्ति–अनत ज्ञानादि सिद्धगुणोकी भावनारूप है और योगिभक्ति निर्मल समाधिमे परिणत हुए परमयोगियोके समाधि परिणाम आदि गुणोकी भावनारूप है। कभी यह भक्ति न भी पढी जावे तब भी अन्तरग भावसे होने वाले साधुवोंके सिद्ध व योगिभक्ति हो ही जाती है। पद्म-पुराणमे एक चरित्र है–वज्रभानु एक राजपुत्र थे, उसका विवाह हुआ, ८-१० दिन बाद वज्र-भानुका साला उदयसुन्दर बहिनको लिवाने आया। सोही वज्रभानु भी स्त्रीके साथ चल दिया। एक अटवीमे तीनो जा रहे थे कि पर्वतशिलापर नवयुवक साधु शान्तिमुद्रामे ध्यानमग्न थे, उनके दर्शन करते ही वज्रभानुको आत्मज्ञान हो गया, उन्होंने निर्मोहता व अपने मोहभाव का अन्तर ताडा, अपनी विकृतपर्यायका पश्चाताप हुआ। एकटकी लगाकर देखने लगे। उदय-सुन्दरने बहनोईसे मजाक किया, क्या तुम भी मुनि हो रहे हो ? वज्रभानुके मुनि होनेका भाव तो हो ही गया था। कुछ सकोच था कि इनको क्या कहकर विदा किया जावे ? उसे तो अनायास अवसर मिल गया। वज्रभानु बोले कि हम मुनि होवेंगे तो क्या तुम भी हो जावोगे ? उदयसुन्दर बोला—हाँ हाँ तुम मुनि होगे तो मैं भी हो जाऊँगा। उदयसुन्दर तो वज्रभानुको मोही समझकर ही प्रश्नोत्तर करता गया था। बस क्या था, वज्रभानु वस्त्र उतारकर केशलोच करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गए। देखो भैया ! वज्रभानुके भावमे सिद्ध-भक्ति व योगिभक्ति हुई या नही ? हो गई, जिस स्वरूपका लक्ष्य किया वही तो सिद्धभक्त है, किस रूप प्रवृत्ति और क्यो बन गई यही तो योगिभक्ति है। वज्रभानुको अत्यन्त निर्मोह देख-कर उदयसुन्दरको भी आत्मज्ञान हुआ, वह भी दिगम्बर हो गया। दोनोकी अपूर्व विलक्षण परिणति देखकर वह रानी भी आर्यिका हो गई। देखो इन तीनोका न इस घरको पता, न उस घरको पता, न इन तीनोके मनमे विकल्प। यहाँ तो मोहकी ऐसी पराकाष्ठा कर रखी है कि बाहर गए तो रेलमे ही चिट्ठी लिखने लगे। वहा तो वे जगलके जगलमे ही रह गए।

मोक्षलक्ष्मीका स्वयंवर मडप—मोक्षलक्ष्मीका स्वयम्वर मडप क्या है ? आत्मीय शुद्ध

आचरण जैसे पहिले स्वयंवर होते थे, अनेक राजपुत्र शृङ्गार ठाट-बाटके साथ मडपमे जाते थे, जब कन्या वरणके अर्थ घूमती थी, तब अनेक राजपुत्र कोई ऐंठसे कोई प्रसन्नमुख बनाकर कोई बलसा प्रकट कर अनेक प्रकारकी बैठे-बैठे चेष्टा करने लगते थे, परन्तु विवेकशील कन्या न जाने किसे वरमाला पहिनावेगी ? कहो सुसज्जितोपर दृष्टि न जमे और सादे भेषमे रहते हुए धूलभरेको वर ले। हुआ भी कितनी जगह ऐसा। इसी प्रकार मोक्षलक्ष्मी तो उसे ही वरेगी जो अन्तरङ्गमे गुणपूर्ण है, अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव ही अभी तक जिसके उपयोग मे है। कहो—जो समयपर विशेष आवश्यक क्रिया करते रहे, बडे उपसर्ग सहते रहे, मुद्रा आडम्बर लीला विशेष विशेष भी करते रहे, यदि लक्ष्यसे दूर हो तो उन्हे न वरे और जो बाह्य व्रत तपमे अग्रणी नही है किन्तु अन्तरङ्गमे गुणपूर्ण हैं अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव ही जिसके उपयोगमे है उसे वर ले। भाई जो काम जिस उपायसे होता वह तो उस ही उपायसे होती। अन्तरङ्ग निर्मलता बिना मोक्षमार्ग नही है। मुक्ति तो चैतन्यमात्र आत्माको निश्चित करके ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप समाधिमे परिणत हो जाने वाले मुनिके ही होती है। यही निश्चय चारित्र है और व्यवहारचारित्र— साधुके आहारादिके समय अर्थात् प्रमाद दशामे जो सावधान रूप प्रवृत्ति होती है वह व्यवहारचारित्र है अथवा वन्दना आदि व्यवहारचारित्र है। साधुके अन्य कषायें तो है नही केवल सज्वलन कषायके तीव्र उदयको यहा प्रमाद कहा है। प्रमादका अर्थ यहा आलस्य नही है। साधुवोकी सावधान प्रवृत्तिको यहा प्रमाद शब्दसे सूचित किया है। इस प्रकार उत्सर्ग अपवादकी मैत्रीपूर्वक धर्मध्यान करने वाले साधु उत्सर्ग द्वारा कल्याण प्राप्त करते है। ये सभी साधु उस ज्ञायकभावकी आराधना करते है जिसके फलस्वरूप निश्चल ज्ञायक अरहत सिद्ध हो लेते है। इस प्रकार पचपरमेष्ठियोको उनकी व्यक्तिमे व्यापने वाले सब परमेष्ठियोको विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थङ्करोको ज्ञायकके लक्ष्यके द्वारा बहुबहु नमस्कार, आदर, पूजन, आराधन करता हू।

अब आगे नमस्कारके भावको दुहराते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते है—

किच्चा अरहताण सिद्धाण तह णमो गणहराण।
अज्झावयवग्गाण साहूण चेव सव्वेसि ॥

इस प्रकार अरहन्तोको, सिद्धोको, गणधरोको अर्थात् आचार्योको उपाध्यायोको और सर्व साधुओको नमस्कार करके (समतापरिणामको प्राप्त होता हू)।

द्वैत और अद्वैत नमस्कार—यहा शब्दोके रूपमे तो अरहन्त सिद्ध आदि परमेष्ठियोको प्रणाम वन्दन। नमस्कार शब्दसे नमस्कार किया है यह तो द्वैत नमस्कार है और इस द्वैत नमस्कारके द्वारसे आचार्य भावनमस्कार अद्वैतनमस्कार करते हैं। मैं आराधक हू और ये अरहत आदि आराध्य देव है, इस प्रकार आराध्य आराधकके विकल्परूप विनयादि द्वैत नमस्कार

है। रागादि सर्व उपाधिविकल्पसे शून्य परमसमाधिके वलसे आत्मामे ही आराध्य आराधक भावकी परिणति होना भावनमस्कार अद्वैत नमस्कार है। प्रणाम तो कायकृत विनय है और वन्दना वचनकृत विनय है और प्रणाम वन्दना जिसके वाह्यरूप वन जाते है ऐसा गुणानुराग-रूप वितर्क मानसिक विनय है। उक्त द्वैत नमस्कारमे जो भगवानके साथ अपने स्वभावका सन्तुलन करते जाते है उस सतुलनमे स्वभावपर दृढ दृष्टि होनेसे यह ही मैं आराध्य हू, यही मैं आराधक हू, इस प्रकार स्वय भाव्य स्वयं भावक भावकी परिवृद्धि होनेसे जव स्वपरके भावका विलय हो जाता है वहाँ ज्ञायकताका सवेदन रहता है वह अद्वैत नमस्कार है अद्वैत विनय है।

वैसे तो हम सभी जो करते है अपना ही विनय करते है किन्तु जव विनयावस्थाका लक्ष्य मात्रपर न हो तव वह अद्वैत विनय है। हम क्या कभी अरहन्तका विनय कर सकते या सिद्धका विनय कर सकते है? पहिली वात तो यह है कि विनय हमारे चारित्रगुणकी अवस्था है वह अवस्थावानमे ही व्याप्य है सो वह विनय हमारा भावरूप ही परिणाम है, वह हमारा भाव ही विनय है व भावका विनय है उस विनयरूप परिणामका जो विषय है उसका विनय उपचारसे कहते है किन्तु गुणानुरागी अन्तरात्मा ऐसा बहुमान करता ही है। इस तरह यहाँ द्वैत नमस्कार द्वारा अद्वैत नमस्कार अभीष्ट है। अद्वैत नमस्कार रूप फलके विना द्वैत नमस्कार आत्मीय परमपदमे स्थापित नही कर सकता, मात्र वह शुभोपयोग है। द्वैतनमस्कार तो सामान्यतः मिथ्यात्व या सम्यक्त्व किसी भी अवस्थामें हो सकता है परन्तु अद्वैत नमस्कार सम्यग्दृष्टिके ही होता है। भक्तको भगवानके पास इतना पहुचना चाहिए कि पास तो क्या खुद ही तद्रूपयोगी हो जावे। जहाँ सोऽहके सो (सः) का विकल्प भी न रहकर व अन्य भी सर्व विकल्पोसे अत्यन्त मुक्त होता हुआ केवल अहवा अनुभवी रह जावे। वही परमसमाधि है, वही निर्विकल्प परिणति है वही स्वानुभव है अद्वैत विनय है अद्वैत नमस्कार है। यह केवल साधुकी लीलाकी ही वात नही है, हम आप भी जितनी भी स्थिरता हो उसीके ही अनुकूल सही भावविनय भावपूजाका अनुभव करनेका लक्ष्य रखें।

द्रव्यवन्दनमे भी भावकी आवश्यकता—मदिरोमे द्रव्य पूजन करते है सो तो गृहस्थो के योग्य ही है परन्तु उस ही प्रक्रियामे जो पाठ पढते है उसके आश्रयसे, जिस छविका दर्शन करते है उसके आश्रयसे, जो शव्द सुनते है उसके आश्रयसे भावविनयकी ओर बढ़ें। पूजामे पढते है "विदभ वितृष्ण विदोष विनिद्र। परात्पर शकर सार वितन्द्र। विकोप विरूप, विशक विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह" इस पदका अर्थ अपने स्वभावमे भी लगावे। स्वभावसे मैं पूर्ण सिद्धके समान है। जो सिद्धमे है वह है मुझमे है, जो मुझमे नही वह सिद्धदेवमे भी नही। यहा अपने स्वभावकी व सिद्धके व्यक्तभावकी सधि की गई है। उसमे अद्वैत नमस्कार आपतित है, आचार्य महाराज यह अद्वैत नमस्कार किसलिये कर रहे है? जो भाव है वह सरल राग

रहनेपर कहे विना नही रहा जा सकता । ग्रन्थकार स्वय आगेके छन्दमें कहने वाले है कि नमस्कार करके समतापरिणामको प्राप्त होता हू । जीवका सुखका स्थान समतापरिणाम है, और समताका उल्टा दु.खका स्थान है । समता—इसे अन्तके शब्दसे प्रारम्भ करके आदि तक पढो ता म स । तामस परिणाम दु.खमय है ।

कुटेवकी अड़चन—भैया सबसे बड़ी अडचन यह है कि ससारी जीव करता तो उल्टा पुरुषार्थ है और मानता है कि मै सीधा काम कर रहा हू । बतावो भ्रममे कही सुरझेरा हो भी सकता ? नही, क्योकि उल्टे पर छाप सच्चीकी लगाये बैठे हैं । एक ग्राममे लुहार था । उसका घर गाँवके कुछ अन्तमे था, सो वहासे कोई नया मुसाफिर गुजरे और वह पूछे कि अमुक गावका रास्ता कौन है सो रास्ता तो पूर्वमे था बता देता था दक्षिणमे और साथ ही यह भी कह देता था कि देखो इस गाँवके लोग मजाकिया बहुत है सो तुमको यह कहेगे कि इस गावका रास्ता यह नही है दूसरी ओर है, सो तुम किसीकी एक न मानना । इस तरह मोही प्राणी भी उल्टे रास्तेपर चलकर मानते है कि हम सीधे मार्गपर चल रहे, सो किसी ज्ञानीकी भी एक नही मानना चाहता । हाय ! पचेन्द्रियोके विषयोके मोहमे ऐसे डूब गये कि सतोपकी सास भी नही ले पा रहे । भाई ! अब तक जो हुआ सो हुआ अब अपनेको सम्हालो और वस्तुका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके आत्मसुखके सत्यमार्गमे लगो । मै क्या कहू ? एक शहरमे एक श्रावकके आहार किया । आहारोपरान्त थोड़ी देरको बैठ गया । वहा एक वृद्ध महाशय करीव ७५ वर्षसे भी ऊपरके बैठे थे, मैने उनसे वैसे ही कह दिया कि बाबा जी आपके तो पूरा ब्रह्मचर्य होगा ? क्या उत्तर मिला-सो मुझे तो कहनेमे भी सकोच आता ।

ब्रह्मचर्यकी साधनाका अनुरोध—नवयुवक बन्धुवो ! चेतो, ब्रह्मचर्य जीवनकी अनुपम साधना है, सर्व फल इसकी बुनियादपर लगते है । ब्रह्मचर्यकी क्षतिसे तन मन धन ज्ञान वचन सभी शिथिल हो जाते हैं, पुण्य क्षय हो जाता है । आप स्वय बुद्धिमान है, इस तपका आदर करो जहा तक बने स्वस्त्रीसे भी ब्रह्मचर्यसे रहो । यदि पूर्ण ब्रह्मचारी गृहस्थीमे न रह सको तो प्रतिमाह २६-२७ दिन या २९ दिन जैसा समझो पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहो । इस विषयमे नि.सकोच होकर किसी वृद्ध महाशयसे पूछो कि ब्रह्मचर्य न रखनेके फलमे क्या प्राप्त होवेगा ? अब भी कितने ही नवयुवक ऐसे है जो बालब्रह्मचारी हैं अथवा बहुत अधिक इस समयमे जीवन बिताते हैं । मेरठमे ताराचदजी एम. ए. हैं, करीव ३४ वर्षकी आयु होगी, माहमे २९ दिन ब्रह्मचर्यसे रहते हैं । वह ३०वा दिन भी प्रायः ब्रह्मचर्यमे ही है । कितने ही तो आजन्म ब्रह्मचर्य ले चुके हैं । सहारनपुरमे रतनचन्दजी व नेमिचन्दजी वकील है, अनेक ऐसे भव्यजीव हैं उनकी ओर भी देखो । जो समयपर चूकता है वह पीछे पछताता है । इसलिये ब्रह्मचर्यका आदर करो व सभी इन्द्रियोका सयमन करो । अनन्तकाल व्यतीत हो गया । जब अब तक इन्द्रियोसे

तृप्ति नही प्रत्युत सक्लेश दुर्गमन ही बढा तो अब क्या आशा करते हो ? मुख मोडो विषयोसे, परलक्ष्यसे, विषयोके भावमे । जिसे जबसे बोध जग जाय तभीसे धर्ममे लग जावे ।

धर्मपालनसे ही लाभ—धर्म ज्ञानमात्रभावकी परिणतिका अनुभव है। बाह्यमे तो पुण्यसे बढकर और क्या होवेगा ? उत्तम परिणति स्वयकी स्वयके स्वभावरूप रहनेमे है। "ज्ञान समान न आन जगतमे सुखको कारण" मनुष्य जन्म भव तो जरूर है परन्तु दुर्लभ भव है। मोक्षप्राप्तिसे पहिले जो भव रहता वह मनुष्यभव ही है। अब तो मूर्च्छा परिणामको छोडो। अन्यथा मौतके घाटपर तो हम सबको उतरना ही होगा। फिर समय चूकेका बडा प्रायश्चित भोगना होगा। यहाँ बाह्यपदार्थोंके सग्रहमे क्या मिलेगा ? कोयलेकी दलालीमे काले हाथ तो जरूर होते, फिर भी पैसे तो दो मिल ही जाते। किन्तु यहा अध्यात्म प्रकरणमे देखो बाह्य-पदार्थोंके सग्रह विग्रहरूप क्रय-विक्रय करनेमे क्या हाथ लगेगा, उल्टा गाठका ही खोया जायगा, अपना निश्चय प्राण ज्ञान दर्शन मलीन ही होगा। मैं समझता हू कि हम सबने काफी धक्के खा लिये है। अब निज चैतन्य भगवानकी दृष्टि करो, उसका प्रसाद पावो। जिसने उस निज चैतन्यदेवके स्वरूपकी सत्कथा भी चावसे सुनी, वह भव्य ही है। होनहार ठीक समीप आये बिना चैतन्यकी बात भी सुननेकी रुचि नही होती। श्री पद्मनन्दि पचविंशतिकामे लिखा है—"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चित स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।" जिसने चैतन्यतत्त्वका स्वरूप प्रीतिचित्त होकर सुना वह भव्य ही है, मोक्षका पात्र है। ऐसा जीव विरला ही होता है। बहुमतके सहारे आत्मजीवनका निर्णय मत बनाओ। हा बहुमत ही लेना हो तो ज्ञानियोका लो। लौकिक जन तो प्राय पापकार्यमे ही लगे और उस ही मे दूसरोको लगा रहे। ज्यादा बढे तो "पुण्य करो पुण्यसे सर्व सुख मिलेगा" ऐसा कहकर पर-लक्ष्यी हो रहे और दूसरोको परलक्ष्यी बना रहे। अच्छा भाई शुभ परलक्ष्यी रहो, स्त्री पुत्र देवागनायें राजपाट लूट लो परन्तु अतरगसे तो कहो ध्रुव निर्विकार एक रस स्थायी आनन्द मिल जावेगा ? नही। ससारके सभी यह दुखमय हैं। पुण्यमे व पुण्यके विकारमे व पुण्यके फलमे जिनकी रुचि है वे स्वलक्ष्यसे भ्रष्ट है। निज स्वभावकी पहिचान बिना निर्वाणमार्ग शान्तिमार्ग नही मिलेगा।

धर्मसे ही मनुष्यकी विशेषता— भैया ! मनुष्यकी विशेषता धर्मसे ही है, अन्यथा किसी कविने कहा—"आहारनिद्राभयमैथुन च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणा। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीन पशुभिः समान ॥" अहार नीद डर काम ये चार मनुष्यमे भी पाई जाती है और पशुमे भी पाई जाती है, इस दृष्टिमे दोनो समान है, मनुष्यमे केवल धर्मकी विशेषता है। तो इस कविने वर्णनमे मनुष्यपर फिर भी विशेष कृपा की। नही तो बात तो ऐसी है कि एक धर्मको छोडकर बाकी कुछ भी कला लो, सब कलावोमे मनुष्य पशुसे हीन है। वह कैसे ?

देखो जगतमे जिसके लिए उपमा दी जाती है वह तो लघु होता है और जिसकी उपमा दी जावे वह महान् होता है। जैसे कवि कहने लगते कि इसका मुख चन्द्रमाके समान है तो यहा चन्द्रमा उत्कृष्ट हुआ। इसी तरह प्रकृतमे घटाओ। मनुष्यके बलके लिए लोक उपमा देते हुए कहते है कि यह मनुष्य शेरके समान है। तब बतावो बलमे शेर ही बडा हुआ ना। और इस मनुष्यकी चाल हसकी तरह है, इसकी नीद कुत्तेकी तरह है, इसका स्वर कोयलकी तरह है। तो यहा देखो चाल, नीद, स्वरमे मनुष्यसे बढकर ही तो ये पशु हुए। शरीरकी बनावटमे कहते है कि इसकी नाक सुवा सरीखी है, इसकी जघा केलेकी तरह है आदि, लो अब स्थावरोसे भी हल्का नम्बर आ गया। साराश यह है कि मनुष्य जन्मकी शोभा धर्मसे है। इसलिए भाई भगवान्की पूजा होने दो, षट् आवश्यक होने दो, व्यवहार धर्म चलने दो। अपना ध्येय मत छोडो। आपका उद्देश्य ज्ञानमात्र स्वभावरूप रहना है। लक्ष्य विशुद्ध रखिए।

ये गाथायें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने नमस्कार करते हुए की। वे द्वैतनमस्कार करते हुए अद्वैतनमस्कारमे प्रविष्ट होते थे। उनमे प्रमाद व निष्प्रमाद अवस्थाका क्षण-क्षणमे परिवर्तन होता था। वे अपनी परिणतिसे, वाणीसे हमको यह सीख दे रहे है कि भव्यो! तुम भी व्यवहारमे हो तो क्या करे वह तो आपतित ही है। अपने ज्ञान दर्शन स्वभावकी दृष्टि निश्चल रखो। अब नमस्कार गाथायें कहकर आचार्य अपना आशय प्रकृत ग्रन्थके मूल विषयको ही ध्वनित करते हुए मानो कह रहे हैं—

तेसिं विसुद्धदसणणाणपहाणासम समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती ॥

उन सब अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुवोके विशुद्ध दर्शनज्ञानप्रधान आश्रमको पा करके समतापरिणामको प्राप्त होता हू जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

विशुद्ध आश्रम—यहा व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियोसे वर्णन है, प्रत्युत निश्चय की मुख्यतासे वर्णन है। इनके आश्रमको पाकर समताको प्राप्त होऊ। इनके आश्रम आवास स्थानको प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हू यह व्यवहार अर्थ है। निश्चयसे तो जिस आश्रम को प्राप्त करना है वह आश्रम कैसा है? सहज शुद्ध दर्शन ज्ञान है स्वभाव जिसका, ऐसे आत्मतत्त्वको श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका और बोधरूप सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करने वाला है। अब विचार करो कि मेरे सम्यग्दर्शनका व सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करने वाला कौन है? सहज स्वभावका श्रद्धान व अवबोध करने वाला कौन है? वह मैं ही हू, मेरा आश्रम है, भावाश्रम है, मेरी भूमिका की यह बात है। अन्यथा चलो, अरहतके घर या चलो सिद्धके घर जहाँ वे बैठे है। कहाँ जाते? सिद्धके आश्रममे तो कोई शरीरी रहकर जा भी नही सकता और पहुचेगा सकर्म ही रहकर तो निगोदके वेशमे पहुचेगा।

भावाश्रमकी शोभा व विस्तीर्णता—विचारिए, साधु जिस जिस गुफामे जिस जिस वनमे जिस जिस पर्वतपर जिस जिस नदी तटपर जिस आसनसे विधानसे तपस्या कर रहे हैं विचारिये, सर्वक्षेत्र सर्वसाधु सर्वविधान इस मनमदिरमें आ गया, यह मनमदिर इनका महान् आश्रम बन गया। सर्वसाधुओका आश्रम मेरा मनमंदिर हो गया। इसी तरह उपाध्यायोको विचारिये—कैसा कहा पठनपाठन कर रहे हैं विशेषतया एकाग्र होकर विचारते जाइए, आचार्यों को भी उनके कृपाकार्यको लेकर विचारिए, सबका आश्रम मेरा यह मनमदिर हो रहा है। अरहंत सिद्धोके गुणानुरागके भावोको विलासका स्थान भी यह मन-उपयोग हो रहा है। यह तो अन्तरगमे भी द्वैतकी अपेक्षाकी बात है, अब यही भावाश्रम अद्वैतरूपमे होता है। तब वहा उस आश्रमको पाकर निश्चयत. शाति-समता प्राप्त होती ही है। इनका स्वरूप जो मेरे उपयोग मे जा रहा है वही मेरा आश्रम है, उसे ही मैं प्राप्त हो रहा हू।

अब विवेकी गृहस्थो! भाव गृहस्थाश्रमको छोडकर भगवत्पंचपरमेष्ठियोंके आश्रममे जाकर ज्ञान दर्शन परिणामका अभ्यास करो। यहाके गृहस्थाश्रममे आश्रयकी मुख्यतासे कितनी झझटें है ? विकल्पकी मुख्यतासे असख्यात लोक प्रमाण उपसर्ग हैं, विपदावोमे पडे हुए विपदावोके आदी हो गये है। यदि यह परलक्ष्य छूट जाय (ज्ञानमे क्षति नही) तो इस अन्तरात्मा का शीघ्र उद्धार हो जाय। अब परसे लक्ष्य हटाकर स्वमे उपयुक्त होना चाहिये। वस्तुविज्ञान इस अनुपम चारित्रका मूल है। वस्तुका निर्णय कर उसके ज्ञाता रहो। वस्तु स्वतन्त्र है, अखड है। किसीमे किसीका प्रवेश नही, किसीकी परिणतिसे मेरी परिणति नही, कोई मेरा रक्षक नही। मेरे स्वभाव—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ही मेरे रक्षक हैं। मैं उक्त निज स्वभावाश्रमको पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर साम्यभावको प्राप्त होता हू।

साम्यभाव—यह साम्यभाव क्या वस्तु है ? सर्व विज्ञानका फल है, सर्व व्रत तपस्यावोका सार है, परात्परभाव साम्यभाव ही है। जहाँ रागद्वेषका लेश मालिन्य न हो वह साम्यभाव है। इसे वीतरागचारित्र अथवा निर्विकल्पध्यान आदि किन्ही शब्दोसे कह लो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। यहाँ तक कि मिले हुए जीव कर्मोंके भेद कराने वाली सीमा यदि है तो यही साम्यभाव है। "अहो! यह साम्यभाव तो अभी बहुत दूर है। अभी तो अणुव्रतके भाव महाव्रत के भाव समिति तपस्यावोंके भाव आदि बहुतसे भाव करनेको पडे है। साम्यभावकी बात तो इन सबको पार करनेके बाद ऊँची अवस्थामे करनेकी है।" यह पर्यायबुद्धिकी हालत है। ज्ञानी को तो मात्र वही लक्ष्य दीखता, वीतरागचारित्र-साम्य उसकी सीधी एक नजरमे है। बीचमे गुणस्थानपरिपाटीके अनुसार सरागचारित्र चारित्रमोहके मन्दोदयवश जबरदस्ती आ जाता है, आनेपर भी ज्ञानीके लक्ष्यसे वह छूटा ही है। यह सरागचारित्र औपाधिक है, जीवके कषायकण के निमित्तसे है, यह मात्र पुण्यबन्धका कारण है। मुक्ति, निर्वाण, पूर्ण स्वातन्त्र्य तो धर्मका

फल है। सम्यग्ज्ञान प्राप्त साधुका लक्ष्य तो वीतरागचारित्र अर्थात् धर्म है, उसका परिणाम तो ज्ञाताद्रष्टा बने रहनेका है। सरागचारित्र प्रवृत्तिमे असावधानता नही है, फिर भी प्रवृत्तिमे असावधानता नही है। अहो कैसी विलक्षण अलौकिक परिणति है योगीकी ? ठीक ही है, लक्ष्य ऊंचे हुए बिना वह अनुपम लक्ष्य तत्त्व प्राप्त नही हो सकता।

जो व्यवहारचारित्रमे सर्वथा उपादेय बुद्धि रखता है वह अधेरेमे है तथा जो अनुभव बिना निश्चयकी वार्तामात्र करके "व्यवहारचारित्र छोडने योग्य है" रटा करता वह भी अधेरे मे है। लक्ष्य निश्चयका रखें व्यवहारचारित्र छूट जावेगा। व्यवहारचारित्र छूट जानेकी चीज है। पुण्यबधका कारणभूत सरागचारित्र सामने आवेगा तो जरूर, परतु उसे दूरसे ही उल्लघन करके वीतराग चारित्र नामके समताभावको प्राप्त करूगा। कैसा है वह समताभाव—समस्त कलंक कालिकासे रहित है इसी कारण निर्वाणप्राप्तिका कारणभूत है। उसे पानेका लक्ष्य हो।

साम्यसदनमे गमनकी पद्धति—जरा छतपर जानेके लिये सीढीपर चढ़ने वालोके भाव और चेष्टाको देखो, जो निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्रके रहस्योका प्रदर्शन करने वाला है। वह मुख कुछ ऊपर उठाये हुए ऊपर जानेका सकल्प रखता हुआ सीढ़ीपर रुचिसे कदम रखता है परन्तु रखता है उसे छोड़नेके लिये। यदि जिस सीढीपर पैर रखा है उसीपर ही रखे रहे छोडे नही तो छतपर कैसे पहुचे अथवा छोडकर नीची सीढ़ीका आश्रय करे तो भी छतपर पहुचना तो दूर ही है उल्टा नीचे ही पहुचेगा एव जिस सीढीपर पैर रखनेको होता है वहा वह कुछ रुचि और बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करता है किन्तु कुछ ही अनन्तर अन्य ऊपरकी सीढ़ी चढ़नेको उद्यमी होनेपर पहिला कदम वहाँ न जमकर ऊपर उठनेको होता है। जब तक सीढ़ियो तक रहता है तब तक वह विराम नही लेता परन्तु लक्ष्यस्थानपर पहुचकर ही विराम पाता है।

इस ही प्रकार ज्ञानी आत्माके यथार्थ स्वभाव दृष्टि ज्ञप्तिको पहिचाननेके कारण ज्ञाता-द्रष्टा रहनेरूप भावका ही लक्ष्य रखता है। ऐसे लक्ष्य वाले ज्ञानीके सराग अवस्थासे वीतराग अवस्थामे पहुचनेके लिये ज्ञानभावका पुरुषार्थ होता है। उसके सफलताके मार्गमे जैसे वह अधिक राग अवस्थाको छोडकर कुछ कम कुछ कम राग अवस्थाके पदपर पहुंचता है, उन प्रत्येक पदोमे व्यवहार रहता ही है, अपूर्व व्यवहार पदपर पहुचना प्राथमिक व्यवहार छूटनेके

शुभोपयोगमे रहना पडता है तब तक वह अपनेमे पूर्णताकी बात नही समझता परन्तु लक्ष्यभूत पदमे अनुभवी रहनेपर विराम-विश्राम सुखधाम पा लेता है। साराश यह कि उच्चभाव होने पर व्यवहार छूट जाता जानकर व्यवहार छोडा नही जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थोमे भी कहा है—जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए। एकेण विणाछिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च ॥ यदि जिनमतको प्राप्त करना चाहते हो तो निश्चय व व्यवहारको मत छोडो, क्योकि व्यवहारके बिना तो तीर्थ नष्ट हो जावेगा और निश्चयके बिना तत्त्व नष्ट हो जावेगा। जिसको तत्त्वप्राप्ति हो जावेगी उसके भी व्यवहार तो चलता ही रहेगा किन्तु लक्ष्य विशुद्ध तत्त्वरूप होगा। चढने वाला जिस सीढीपर पैर रखता है वह छोडनेके लिये ही रखता है और आगे बढनेके लिये। जब छतपर चढ जाते है तब सीढ़ी तो स्वय ही छूट जाती है। यह तो परवस्तुके लिये परवस्तुका दृष्टान्त है। किन्तु प्रकृतमे तो ज्ञानीके करनेकी बात क्या ? उसकी कुशलता तो यही है कि व्यवहारको छोडना न पडे, किन्तु छूटता जाय।

सरागचारित्रका पारीकरण—प्रकृतमे आचार्य कहते हैं—कषायकण होनेसे ज्ञानी जीव के सराग चारित्र बीचमे आता है, फिर भी उसे दूरसे उल्लघन करके समस्त कषाय विमुक्त होनेसे निर्वाणप्राप्तिके कारणभूत वीतराग चारित्राख्य साम्यभावको प्राप्त होता है। यहा दूरसे उल्लघन करके शब्द लिखा है, छोड करके शब्द नही लिखा है अर्थात् ज्ञानीके आत्म-पर्यायमे सराग चारित्र आता तो है उसे छोडनेकी उस समय चर्चा क्या ? है—को लक्ष्यने उल्लघन कर दिया, उल्लघ्य चीज है तो अवश्य, परन्तु उसपर उपादेयता या उस रूपका श्रद्धान (कुश्रद्धा) न होनेसे वह उल्लघित हो जाता है। बम्बई जाने वालेको बीचमे स्टेशन तो मिलते है किन्तु उन सबको उल्लघता हुआ जाता है। यदि बीचकी किसी स्टेशनपर ही प्रेम करके रह जाय तो बम्बई नही पहुच सकेगा। वस्तुस्वरूपका निर्णय करके अपने भीतर रमना चाहिये। जगतमे मैं समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे भिन्न हू, परिवारसे भिन्न हू, इस शरीरसे भिन्न हू, शरीरके कारणभूत सूक्ष्म शरीर (तैजस कार्माण) से भिन्न हू, सूक्ष्मशरीरके कारण-भूत कर्मसे भिन्न हू, कर्मके विपाकरूप रागादिसे भिन्न हू, मतिज्ञानादिसे विलक्षण हू, केवलज्ञान पर्यायरूप मात्र नही हू, मैं अनादि अनन्त स्वसवेद्य चैतन्य तत्त्वरूप हू अर्थात् जो अनादिसे सब पर्यायोमे अनुगत रहा केवलज्ञान पर्यायमे भी अनुगत होगा वह मैं हू। कैवल्य पर्याय द्रव्य स्वभावके अनुकूल है वहा द्रव्यका पर्यायका इतरेतरविलीनभाव है तब भी वह सामान्यविशेषात्मक है। वह एक तत्त्व है तथापि इस सकल्प-विकल्पसे भी रहित शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप जब हू तब मैं वह हू। इस लक्ष्य वालेके मार्गमे सरागचारित्र आता है तव भी उसको उल्लघन करके वीतरागचारित्रपर ही दृष्टि रहती है। यदि यह सरागचारित्रमे ही रुक जाय तो उसका मार्ग भी रुक जायगा।

आत्मोपयोगका विश्रामभवन—निश्चयचारित्र तो आत्मोपयोग रूप छत है। व्यवहारचारित्ररूप सीढियोपर चढने वालेके अपूर्व व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है और प्रथम व्यवहार की निवृत्ति होती है, फिर भी स्वरूपसे लक्ष्य भ्रष्ट नही होता है। अहो ज्ञानीका विलक्षण विलास है, अलौकिक ढङ्ग है। उक्त पचपरमेष्ठियोमे से जिनके आश्रयसे ज्ञानीका व्यवहार विशुद्ध होता है उनमे से अरहन्त और सिद्ध ये दो देव है तथा आचार्य उपाध्याय साधु ये तीन गुरु है और अरहन्तदेवकी दिव्यध्वनिके निमित्तसे गणधरदेव द्वारा ग्रथित व परम्परागत उपदेशक शास्त्र शास्त्र है। देव शास्त्र गुरुके आश्रय बिना धर्ममार्गकी प्रगति नही होती। देखिये—सगीत सीखने वालोकी वृत्तियाँ—उनके उपयोगमे कोई एक ऐसा सगीतका पूर्णज्ञ अपनी बुद्धिके अनुसार रहता है जिसे वह जानता है कि दुनियामे यह पूर्ण सगीतज्ञ है और मुझे इस प्रकार बनना चाहिए। वह विशेषज्ञ तो हुआ सगीत विषयका देव। अब वह देव तो दुष्प्राप्य है तब अपने ही नगरमे जो सगीत सिखाने वाला मिले उस ही के पास सीखता है वह है उसका गुरु, और जो पुस्तके सरगम आदि विधिपूर्वक शिक्षाके निमित्त है वे सगीतके शास्त्र है। तब देखिये भैया! सगीत सीखनेमे सगीतके देव शास्त्र गुरु आ गए। प्रत्येक विद्या की ऐसी ही बात है। तभी तो आत्मविद्यार्थियोके द्वारा आत्मविद्याके आप्तदेव, आत्मविद्याके गुरु, आत्मविद्याके शास्त्र अपेक्षणीय हैं। इसीलिए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुवोके द्वैतनमस्कार द्वारा अद्वैतनमस्कार करके उनके आश्रमको (भावाश्रमको) प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हूं, मोक्षमार्गको प्राप्त होता हू, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकाग्रताको प्राप्त होता हू। यह स्थिति वह है "जहा ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्पवच भेद न जहा। चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहा॥ तीनो अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा" रूप स्थिति है।

व्यवहारका अविरोध व निश्चयका आलम्बन—यहाँ यह प्रयोजनकी बात है कि भाई व्यवहारनयका विरोध न करके उसमे तटस्थ रहकर निश्चयनयके अवलम्बनसे मोहको दूर कर फिर सर्वपक्षोको दूर करके निर्विकल्प आत्मचारित्रमे रहे यही सुखमार्ग है, सुख है। क्योकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, द्रव्य निश्चयनयका विषय है, पर्याय व्यवहारनयका विषय है तब वस्तु भी निश्चयव्यवहारात्मक समझिये। व्यवहारसे छूटकर केवल निश्चयमात्र कौन वस्तु है? ऐसा कौन रह सकता है? सिद्ध भगवान भी जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे सर्वथा रहित हैं, हमारे व्यवहारसे परे हैं। वे भगवान भी व्यवहारपर्यायसे रहित नही हैं जो उनका द्रव्य है वह निश्चयका विषय है और जो द्रव्यका परिणमन है, गुणोकी तरंगें हैं शुद्ध भी है तब भी व्यवहारका विषय है, व्यवहार है। मुमुक्षु ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्यपर है तब भी वह पर्याय व्यवहारसे शून्य नही है। इस प्रकार ४ गाथावोंमे अभीष्ट पथप्रदर्शक उत्कृष्ट आत्मावोको

नमस्कार करके उसके फलस्वरूप मैं समताभावको प्राप्त होता हू ।

आशयकी स्वच्छतासे धर्मका प्रारम्भ—भैया ! वीतरागके नमस्कारवा उपासन-आराधनका ध्येय वीतरागता प्राप्त करना होना चाहिये । देखो जो जैसा होता है उससे उस बातकी आशा तो की जा सकती है, जो नही उसकी आशा क्या ? धनीके पास जाकर कोई गूढ ज्ञानकी बात पूछे या चाहे तो क्या मिल सकती है और ज्ञानीके पास जाकर कोई हजार रुपया या व्यापारकी बात चाहे तो क्या मिल सकता है ? इसी तरह वीतरागके पास आकर कोई पुत्र धन मुकद्दमा जय आदिकी बात चाहे तो मिलना तो दूर और पापबध कमा लेते हैं । और कोई सरागके सगमे रहकर वीतरागताकी बात चाहे तब क्या आशा हमे अपना ध्येय निर्मल ही रखना चाहिये । वस्तुका यथार्थस्वरूप समझकर अपने अतरगके कपाट खोलना चाहिये । निःकांक्षित अगका लक्ष्य-कर्मपरवश शान्त दुःखोकरि व्याप्त पापबीज सुखमे अनाकाक्षा होना है, उसमे भी विशेषकर "धारि वृष भवसुखवाञ्छा भाने" धर्म धारणकर ससार के सुखकी चाह न करना तो कमसे कम जरूरी है ही । भाई धर्मकी ओटमे सासारिक सुख की चाह तो अनतानुबधी लोभ है । धर्मके समय तो अपनी स्वच्छता तो पूरी ही रखो । अपनी उपयोग-भूमिको स्वच्छ बनाओ । अघेरे तो अघेरे ही हैं । धर्मके मार्गमे निर्विघ्न बढना हो तो पहिले अपने उपयोगको भेदविज्ञानसे घोटकर साफ कर निर्मल बनाओ । दो चित्रकार थे । दोनोने राजा से चित्र बनवानेके लिये कहा । राजाने एक भवनकी दोनो अन्दरकी भीतोपर चित्र करानेकी आज्ञा दी और दोनोके चित्रका परीक्षण करनेकी व्यवस्था की । बीचमे परदा डाल दिया गया । एक चितेरेने तो कई तरहके रगोसे विचित्र चित्र बनाना प्रारभ कर दिया । दूसरे चित्रकारने भीतको मसालेसे घोटना ही घोटना प्रारभ कर दिया । दोनो अपने काममे ६ मास तक लगे रहे । ६ मास बाद परदा खोलकर चित्र देखे गये तो घुटी चिकनी भीतपर वे सामनेकी भीतके चित्रित सारे चित्र झलक गये । वे बडी शोभा दे रहे थे । किन्तु दूसरी भीत पर वे सब चित्र रूखे रूखे ही दीखते थे । सो भैया ! भेदविज्ञानके उपयोगसे अपने आपको सम्यग्ज्ञानी और निर्मल बनावो । स्वामी अमृतचन्द्रजी सूरिने कहा "विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकं । हृदयसरसि पुस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि ॥" आत्मन् ! व्यर्थके कोलाहलोसे विराम ले उनसे तुझे कोई लाभ न होगा । एक ६ माह स्वय अपने आपके अभिमुख होकर तो देख ! फिर तेरे उपयोगमे पुद्गलसे भिन्न स्वरूपवाले निज आत्माकी प्राप्ति होती है या नही । होगी ही, उस निज चैतन्य भगवान्को देखकर उसीमे रत होकर अपने अनन्त सुखके मार्गमे लगो, यही भगवानका उपदेश है ।

हेय उपादेयके विवेचनका आरम्भ—यहा तक ४ गाथाओमे नमस्कार और पाचवी

गाथामें उद्देश्यपरक सकल्प कहा । अब आगे जिससे निर्वाणप्राप्ति होती है ऐसे समताभाव की प्रतिज्ञा की थी, उस ही निर्वाणकारणका सविशेष वर्णन करते हुए यह अब बताते है कि उक्त वीतरागचारित्र और सरागचारित्रमे कौन तो इष्ट फल वाला है और कौन अनिष्ट फल वाला है, इसकी विवेचना करते है, भेद करते है—अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्ट-फलत्वेनोपादेयहेयत्व विवेचयति । अब ये कुन्दकुन्द देव ही वीतरागचारित्रके इष्ट और अनिष्ट फलको दिखाकर उनके उपादेय और हेयपनेका विवेचन करते है.—यहाँ अय शब्दसे कितनी उच्चभक्ति ही टीकाकारने प्रदर्शित की है ? जब तक कोई भक्त अपने आदरणीय आराध्यसे अपनेको भिन्न समझता है, तब तक वह उन्हे आप कहता है, सम्मानप्रदर्शनार्थ बहुवचनका प्रयोग करता है । किन्तु जब भक्त अपने आराध्यसे अपनेको अभिन्न समझने लगता है, तब वह आपके स्थानपर 'तू' शब्दका और बहुवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग करने लगता है । यही बात प्रकृतमे अमृतचन्द्राचार्य चरितार्थ कर रहे है और 'अय' इस पदके द्वारा कुन्द-कुन्दाचार्यके साथ अपना अभिन्नपना प्रगट कर अनुपम भक्तिका प्रदर्शन कर रहे है । विवेच-यति—'विच्लृ द्वैधीकरणे' धातुके लट् लकारके प्रथम पुरुषका एकवचन 'विवेचवति' यह रूप है । इसका अर्थ मिली हुई वस्तुओको पृथक्-पृथक् करना होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि ग्रन्थकार सरागचारित्र और वीतरागचारित्रका फल बताकर उनके हेय उपादेयताका विश्लेषण करते है·—

गाथा— सपज्जदि णिव्वाण देवासुर मणुयरायविहवेहि ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

धर्मघटनाओमें हेय उपादेयका सकेत—जीवके दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्येन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके विभवपूर्वक निर्वाण प्राप्त होता है । उपर्युक्त कथन का विश्लेषण यह है कि वीतरागचारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है और सरागचारित्रसे देवेन्द्रादि की विभूतियाँ प्राप्त होती है । अतः सरागचारित्र हेय है और वीतरागचारित्र उपादेय है । यहा सरागचारित्रमे जो राग लग रहा है, वही हेय है, चारित्र हेय नही है । राग और चारित्र दोनो एक ही गुणकी पर्याय है । आत्मामे कदाचित् राग और चारित्र एक साथ रहता है । लोग सरागचारित्रको चारित्रका घातक मानते है, यह उनकी भूल है । एक ही चारित्र गुण का परिणमन राग है और उसीका परिणमन चारित्र है । राग विद्यमानचारित्रका घातक नही है । फिर वह किसका घातक है ? यहा वध्यघातक भावका सम्बन्ध ही नही जुडता है, क्योकि दो वस्तुएँ (पर्यायें) एक साथ नही रह सकती । एक समयमे एक ही पर्याय होती है, उसके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं, उनमेसे जिनमे रागपना है वह राग अश है और जितनोमे यह नही है, वही चारित्र कहलाता है, रागके अनुभवनका नाम चारित्रका घात है । किन्तु

ऐसा नही है कि चारित्र है और उसका घात रागने किया, इसी बातको अमृतचन्द्राचार्यने अपने दूसरे ग्रंथ पुरुषार्थ सिद्धुपायमे इस प्रकार कहा है.—येनाशेन सुवृत्त तेनांशेनास्य बधन नास्ति। येनाशेन तु रागस्तेनाशेनास्य वन्धन भवति ।। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके जितने अंशसे चारित्र प्रगट है, उतने अंशसे उसके कर्मबधन नही है, और जितने अशसे राग प्रकट है, उतने अशसे उसके कर्मबन्धन होता है।

सरागचारित्रका फल—मुनिकी वन्दनादि शुभप्रवृत्ति रूप क्रियाओका नाम ही सराग चारित्र है और आत्मरूपमे लीन रहना वीतरागचारित्र कहलाता है। मुनियोंके दोनो चलते हैं, इसका अर्थ यह है कि आशिक दृष्टिसे दोनो साथ रहते है, पर बोलनेमे दोनो क्रमवार वोले जाते है। अथवा जिस गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है, वहा तक सरागचारित्र है और उससे ऊपर वीतरागचारित्र होता है। इनमे वीतरागचारित्र उपादेय है और सरागचारित्र हेय है। इसका अर्थ यही है कि सरागचारित्रमे चारित्रके साथ जो राग लग रहा है, वही हेय है, क्योकि चारित्रके साथ रहने वाले रागका फल देवेन्द्रादिके पदोका पाना है। भगवान कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलक, विद्यानन्दी आदि आचार्योंने जैनशासनकी कितनी बड़ी प्रभावना की? हमारे उपकारके लिए अनेक ग्रन्थोकी रचना की, यही उनका सरागचारित्र था, इसके फलसे वे मरकर कहाँ गये? स्वर्गमे। स्वर्गमे भी वे पदधारी देव ही हुए होंगे। वहाँपर देवियाँ चारो ओरसे उन्हे घेरकर बैठी होगी, सगीत, नृत्य, नाटक आदि चल रहा होगा, रासलीला हो रही होगी, और वे भी सबके साथ सिर हिला-हिलाकर कदाचित् तन्मय हो रहे होंगे। वहाँ जाकर यदि कोई उनसे पूछे कि यह क्या हो रहा है? तो वे यही कहेंगे—भैया, क्या करे, यह सराग चारित्रका फल है, जो इच्छा न रहते हुए भी हमे भोगना ही पडेगा।

ज्ञानीका लक्ष्य साम्यभाव—ज्ञानीकी दृष्टि सरागचारित्रपर नहीं रहती, किन्तु वीतरागचारित्ररूप समताभावपर रहती है। ज्ञानी विचारता है कि यदि मुझे स्वर्गादिकी सपदाए भी मिल गईं, तो क्या हुआ? ये तो आकुलताकी जननी ही हैं। जब तक ये सपदाए रहेंगी, नित्य नई आकुलता ही उत्पन्न करती रहेंगी, और जब उनका विनाश होगा, तब महान् सक्लेश उत्पन्न होगा। ज्ञानी जन तो यही विचारा करते है कि हमारे उपयोगमे परपदार्थ मे परपदार्थ आवें ही नही। चक्रवर्तीकी सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग। काकवीट सम गिनत है वीतरागिया लोग ।। ज्ञानी जन कर्मोके विपाकवश पदोचित सर्व कार्य करते हुए भी अपने स्वभावमे जागरूक रहते हैं। उनकी दृष्टि सदा अपने ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व स्वभावपर ही रहती है। सभीकी दृष्टि किसी न किसी प्रोग्रामपर रहती है। मकान बनाने वालेकी दृष्टि उसीपर रहती है और वह चौबीसो घटे ही उसके साधन जुटानेमे व्यस्त रहता है। इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा अपने स्वरूपकी प्राप्तिपर रहती है और वह उसके पानेके साधन जुटानेमे लगा

रहता है। ज्ञानीका विचार वस्तुस्वरूपके अनुकूल रहता है, उसे दृढ श्रद्धा रहती है कि सर्व द्रव्य स्वतंत्र हैं। जगतमे सर्व तत्त्वोकी स्वतत्र व्यवस्था है। यह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बध की विशेषता है कि हमे अपने साथ परद्रव्योका सम्बध हुआसा लगता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बध होनेपर भी मेरा किसीसे कुछ सम्बध नही है। परवस्तुमे मेरा कुछ भी नही है और मुझमे परवस्तुका कुछ भी नही है। देखो, ये सारा जगत मुझसे कैसा अत्यन्त पृथक् है ? यदि मुझसे सारा जगत रूठा हुआ है, तो रूठने दो, मैं जगतसे रूठता हूं। वस्तुतः न यह मेरे परिणामनसे परिणमता है, और न वह अपने परिणामनसे मुझे परिणमाता है।

परका अन्यमें अनधिकार—चेष्टन्ते स्वकषायेण प्राणिनो मे न वाञ्छकाः। केषु मोदै च खिन्दानि, स्या स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ (सहजानन्दगीता) जगतके सर्वप्राणी अपनी-अपनी कषायोके अनुसार चेष्टा किया करते हैं, उनमे कोई मेरा बाधक नही है, कोई मेरा चाहने वाला नही है, और न कोई मेरेसे द्वेष करने वाला है। फिर मैं किसमे मोहभाव रखूँ और किसमे खेदभाव रखूं ? मुझे तो स्वय अपने लिए अपने आपमे ही सुखी होना चाहिए। परकी चाह परमे रहेगी, उसका मोह मुझमे नही आ सकता। अमुक व्यक्तिका मुझमे बडा प्रेम है, यह कहना बहानामात्र है। हम कहते हैं कि मुझे अमुकने सुख दिया, दुःख दिया, आदि यह सब बहानामात्र है। परपदार्थ तो केवल आश्रयके ही काम आया करते है। एक चुटकला है कि राजसभामें बैठे हुए किसी राजाके जोरसे अपानवायु दे निकली। धडाके की आवाज सुनकर लोग हस पडे। राजा झेप गया। तुरन्त अपनी झेप मिटानेके लिए पासमें बैठे हुए किसी बच्चेको लक्ष्य करके बोला—अरे, किसका बच्चा है ? वह राजाका भाव ताड़ गया, बोला—किसीका होऊ, आज आपके काम तो आ गया। बच्चेके कहनेका भाव यह है कि मेरे आश्रयसे आपने अपनी झेंप तो दूर कर ली। इसी प्रकार जगतके पदार्थ मेरे आश्रय मात्र है और मेरे विभावपरिणामोमे कर्मोदय निमित्तमात्र है। ससारके दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ आश्रयमात्र है। ससारकी कोई वस्तु रागका कारण नही, कर्मोदय ही रागका कारण है। कामी पुरुषके लिए सुन्दरी युवती, स्त्रियोके चित्र, वेश्या आदि उसके राग पैदा करनेमे कारण पडते हैं, क्योकि उसका उपादान ऐसा ही है। जिसके उपादानमे विशेष जागृति है। उसके सामने वेश्या आदिके आनेपर भी राग जागृत नही होता। यह तो दो मल्लोकी लडाई है, एक के बलवान होनेपर दूसरा दबा दिया जाता है। एक मल्ल चेतन आत्मा है और दूसरा मल्ल जडकर्म है। जब कर्ममल्ल बलवान होता है, तो चेतन आत्मामल्ल दबा दिया जाता है और जब आत्मा-मल्ल बलवान होता है, तब कर्ममल्ल दबा दिया जाता है। यह भाव निमित्तनैमित्तिकका है।

बहाना मात्र है। मैं स्वय उन्हे पकडे हुए हू, उनमे राग कर रहा हू। पर मैं जिनमें राग कर रहा हू, वे मेरे किसी हितमे आने वाले नही है। ससार ही दुःखमय है, रागभाव मिटे बिना दुःख मिट नही सकता। इसीके मिटानेके लिए तो चारित्र धारण किया जाता है। समन्तभद्र स्वामीने कहा है—मोह तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु॰॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचारे) अर्थात् जब दर्शन मोहरूप अन्धकार दूर हो जाता है, तब सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। तभी वह ज्ञानी साधु पुरुष अपने रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये चारित्रको प्राप्त होता है। इस श्लोकका अभिप्राय यही है कि चारित्र धारण करनेका उद्देश्य रागभावकी निवृत्ति करना ही है। इसी बातको भगवान कुन्दकुन्दने इस 'सपज्जदि णिव्वाण' गाथा द्वारा बताया है कि दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। राग, द्वेष, मोह आदिका नाम ही बाण है। जैसे शरीरमे लगा हुआ बाण सदा शूलसा चुभता रहता है, इसी प्रकार जब तक राग, द्वेष मोहादिक बने रहेंगे, तब तक सदा दुःखका अनुभव होता रहेगा। किन्तु जब वह उक्त बाणोसे रहित हो जाता है या यो कहिए कि जब उसके भीतरसे वे बाण निकल जाते हैं, तभी उसे निर्वाणकी सप्राप्ति हो जाती है। यह गाथा पहली गाथाके उद्देश्यका सम्बध लेकर अवतरित हुई है। पहले कहा था—आश्रमको प्राप्त करके, पचपरमेष्ठीको प्राप्त करके अर्थात् उनके गुणोकी भावनारूप भावाश्रम को प्राप्त करके सरागचारित्रके अनन्तर वीतरागचारित्रको प्राप्त होता हू, तब इसमे बताया कि निर्वाणकी सम्प्राप्ति किस साधनसे होती है? निर्वाणकी सम्प्राप्ति दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे होती है।

ज्ञानसे निर्वाणप्राप्तिकी ध्वनि—यहाँ प्रधान दृष्टिसे देखो तो ज्ञानमात्रसे निर्वाणप्राप्ति ध्वनित है। आत्मख्यातिमे कहा है—'जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सम्यग्दर्शनम्। जीवादि ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सम्यग्ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सम्यक्चारित्रम्।' इससे सिद्ध है कि रत्नत्रय ज्ञानस्वभावरूप ही है।

अध्यात्मदृष्टिसे एक गुणमे सर्वगुणके कार्य आते है। आधारकी अपेक्षा नही, किन्तु विभुताकी दृष्टिसे। जैसे सूक्ष्म गुण होनेसे सर्वगुण सूक्ष्म हैं, आदि। इसी प्रकार आत्माका ज्ञानगुण जब श्रद्धानस्वभावसे देखा जाता है, तब वही दर्शनगुण, ज्ञानस्वभावसे देखनेपर वही ज्ञानगुण और रागादिके परिहरण स्वभावसे देखनेपर वही चारित्रगुण है। यहा चारित्र का प्रकरण है। देखो, ज्ञान ज्ञानस्वभावरूप ही है, उसके स्वरूपमे रागका लेश नही। राग के परिहारपूर्वक रहता ही है, तब ज्ञानका ऐसा ही बना रहना चरित्र है। देखो भैया,

निमित्त-नैमित्तिक भावकी विशेषता—जिसकी शुद्ध स्वभावपर दृष्टि हो गई, उसके अवशिष्ट रागके कारण पुण्य बन्ध होता ही है, और उसके विपाकमे वैभव प्राप्त होते ही हैं। इस

लिए निर्वाण प्राप्त करने वालेके पहले महान् पुण्योके उदय आया करते है, अत: वे भारी वैभव पानेके अनन्तर मुक्तिलाभ करते हैं। कोई जगत्के वैभवको पाकर निर्वाण पाता है, कोई विपदाओंको पाकर भी निर्वाण पाता है, परन्तु प्रायः क्रम यही है कि पुण्य-प्रेरित वैभव आते है, उन्हे वह त्यागता है, ज्ञानमात्रमे रत होता है और निर्वाणको प्राप्त हो जाता है।

समृद्धिपूर्वक निर्वाण प्राप्ति—देखो भैया ! यहाँ जब हम किसी प्रेमीको कुछ दिनोके लिए कही विदा करते है, तो उसकी कैसी तैयारी करते है, सर्व प्रकारके मागलिक आयोजन करते है, तब जो हमारे ससारकी कमेटीसे निर्मलतापूर्वक सदाके लिए विदा हो रहा है, तब क्या वह रूखा-सूखा ही विदा होगा ? वह तो बडे-बडे वैभवोके साथ ही विदा होगा, ठाट-बाट से ही निर्वाण जायगा। वैभवका तो यह स्वभाव ही है कि ज्यो-ज्यो इसकी कामना करते हैं, त्यो-त्यो यह दूर भागता है। ज्ञानी जन इसकी चाह नही करते, तो यह ज्ञानियोंके पीछे-पीछे चलता है। तीर्थंकर भगवान गर्भमे आये, तो लक्ष्मी बरसने लगी, किन्तु भगवान अपने स्वरूपाचरणसे ही प्रभावित रहे। यही जन्म कल्याणकके समय हुआ। बचपनमे भी यही बात रही। इन्द्रादिक मन लुभानेको सदा तत्पर रहते, पर आप रहते थे अपनी ही धुनमे। तप-कल्याणक में इद्रोने पालकी रची, आभूषण पहिनाये, पर भगवानने उन सबको तृणकी भाँति फेक दिया। ज्ञानकल्याणके समय लक्ष्मी समवशरण बनकर आई, किन्तु वे उससे ऊपर ही रहे। वह गन्धकुटीके बहाने चरण स्पर्श करने चली, तब भी वह असफल रही। कमल भी रचा गया, सिंहासन भी रखा गया, पर वे सबसे ऊपर ही रहे, अपनेको किसीका सस्पर्श नही होने दिया। लक्ष्मीने सोचा—चलो इनके ऊपर छत्र बनकर छू लूँ, तो छत्र भी उनसे ऊपर ही रहे। इससे हमे यही शिक्षा मिलती है कि इस धन वैभवरूप लक्ष्मीसे और उसकी मूर्च्छासे मुख मोड़ो।

व्रत और अव्रतका अन्तर—लोग इस कहनेमे कि पुण्य पाप दोनो हेय है, सो पुण्य तो झट छोड बैठते है, पर पाप छोड़ना कठिन पडता है। किन्तु प्राक्‌पदवीमे इन पुण्य-पापके प्रभावोके अन्तरको तो देखो, इष्टोपदेशमे कहा है—वर व्रतैः पद दैवमव्रतैर्वत नारकम्। छायाऽऽतपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान्॥ देखो, एक तो छायामे बैठा हुआ किसी आने वालेकी प्रतीक्षा कर रहा है और एक धूपमे बैठा हुआ किसीकी प्रतीक्षा कर रहा है। क्या इन दोनो मे अन्तर नही है ? बस यही बात पुण्यवान और पापियोकी है। एक तो देव सुखमे रहकर उत्तमार्थकी प्रतीक्षा कर रहा है और एक नरक दुःख भोगता हुआ उत्तमार्थकी प्रतीक्षा करता है। जिनकी दृष्टि विशुद्ध है उनके पापका उदय रहे, तब भी भले, पुण्यका उदय रहे, तब भी भले। किन्तु वे तो अतिनिकृष्ट है, जिनके पापसे विरक्ति नही, और पुण्य तो पहलेसे ही छूटा हुआ है। पापको छोड़नेके पश्चात् पुण्य छूटे, तो भलाई है ज्ञानीके पुण्यफलमे उपादेय बुद्धि

नही होती, उनके राग चलते हुए भी रागमे राग नही रहता । राग होना अनन्तानुबन्धी नही है, किन्तु रागमे राग होना अनन्तानुबन्धी है, क्योकि रागका राग पर्यायबुद्धिके बिना नही होता । वैभव तो निर्वाण पाने वालेके अधिकसे अधिक आया करते है । यदि आप पूछें, कि जिसने सारा वैभव छोड दिया, नग्न दिगम्बर हो गया, उसके पास वैभव क्या रहा ? तो इसका उत्तर यह है कि जिसे भूलोकका स्वामी चक्रवर्ती, पाताललोकका स्वामी असुरेन्द्र और स्वर्गलोकका स्वामी देवेन्द्र नमस्कार कर रहे है, उसके तीनो लोकोका वैभव स्वतः ही आ गया है । कोई मल्ल किसी जिलेके मल्लोको जीतकर प्रदेशके मल्लोमे विजय पाकर राष्ट्रके मल्लोमे विजय पाता है । पुनः वह सर्व राष्ट्रोके मल्लोमे विजय पाकर विश्वविजयी कहलाता है । यदि उस एक विश्वविजयी मल्लको यदि कोई नवीन मल्ल जीत ले तब वह नवीन मल्ल विश्वविजयी कहलाने लगेगा । देखो उस नवीन मल्लने एकको ही जीता, सारे ससारके सर्व मल्लोंसे मुठभेड नही करना पडी । फिर भी वह विश्वविजयी कहलाता है । बस ऐसा ही अनायास वैभव विरक्तोंके स्वत हो जाता । चक्री व इन्द्रादि चरणोंमे आये तब उनका वैभव भी चरणोमे आ गया ।

निश्चल स्वभावकी दृष्टिका प्रसाद—यह निर्वाण जो उत्तम वैभवोंसे भी उत्कृष्ट है, निश्चयचारित्रसे होता है । स्वाधीन ज्ञान सुख स्वभाव वाले शुद्ध आत्मद्रव्यमे निश्चल, निर्विकार अनुभव रूप अवस्थान होना यही निश्चयचारित्र है । इससे ही स्वाधीन, अतीन्द्रिय परम ज्ञान सुखमय निर्वाण होता है । सुख शरीरके निमित्तसे नही होता । सुखगुणकी परिणतिसे ही सुख होता है । सुख दु.ख बाह्यपदार्थोंपर अवलम्बित नही है, निज सुख परिणतिपर अवलम्बित है । स्वाधीन सुखकी दशा ही चारित्र है । यहाँ 'निर्वाण' शब्दसे अरहन्त और सिद्ध अवस्था ध्वनित है । अरहन्तको ससारी तो कह नही सकते क्योकि वे पच प्रकारके परिवर्तनसे छूट चुके है, और मुक्त भी नही कह सकते है, क्योकि अभी चार अघातीया कर्मोसे बधे हुए है, पारिशेषन्यायसे उन्हे जीवन्मुक्त कहा जाता है तथा सिद्ध सर्वकर्मोंसे विमुक्त हैं, अत अरहत और सिद्ध दोनोका 'निर्वाण' पदसे ग्रहण करना चाहिए ।

प्रश्न—सम्यक्त्वी पुरुष तो असुरोमे उत्पन्न नही होता, फिर उसे असुरेन्द्रके वैभव प्राप्तिकी बात कैसे कही ? उत्तर—हा, यह ठीक है कि सम्यक्त्वी असुरेन्द्रोमे उत्पन्न नही होता, किन्तु जो पहले सम्यक्त्वकी अवस्थामे देवायुका बन्ध कर चुका है, और पीछे वह सम्यक्त्वकी विराधना कर दे, तो वह घातायुष्क कहलाता है और वह मिथ्यात्व दशामे मरकर असुरेन्द्रोमे उत्पन्न हो सकता है और वहाँ फिर सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है । अथवा कोई असुरेन्द्र होकर वही सम्यक्त्व पैदा कर ले । सम्यग्दृष्टि किसी झझटमे हो, परम्परया वीतराग चारित्रसे मुक्ति पावेगा ही । अपनी दृष्टि निश्चल स्वभावपर रखना चाहिए ।

वीतरागचारित्रकी उपादेयता—अतो मुमुक्षुणा इष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम-निष्टफलत्त्वात्सरागचारित्र हेयम् ।' मोक्षकी इच्छा और प्रयत्न करने वालोको वीतरागचारित्र उपादेय है, क्योकि वीतरागचारित्रसे निर्वाण (अभीष्ट) प्राप्त होता है । सरागचारित्र हेय है, क्योकि उसका फल वैभवोंके क्लेश ही है । सरागचारित्र हेयकी बात विशेषतया उन्हे शोभा देती, जो उन्नत पथमे चलकर सरागचारित्र पर्यायपर आ गए है । श्रद्धा यथार्थ करना तो ठीक ही है । कहाँ पर क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका रहस्य या अन्तस्तत्त्व ठीक समझने का प्रयत्न करना चाहिए, श्रद्धामे तो पर्यायमात्र हेय होना चाहिए । सरागचारित्रमे चारित्र तो मोक्षमार्ग है, किन्तु उस समय लगा हुआ राग हेय है । 'हमे क्या करना,' इसका उत्तर एक उत्तम लक्ष्य ही होना चाहिए । वह है एक ध्रुव चैतन्यस्वभाव ।

ज्ञानियोका परसे अलगाव—एक नगरका राजा मर गया, मन्त्रियोने सलाह की, सवेरे नगरके मुख्य द्वारको खोलते समय जो व्यक्ति वहाँ मिले, उसे ही राजा बनाया जाय । प्रातः काल मन्त्रिगण मुख्य द्वारपर आ गए और दरवाजा खोला गया, तो वहाँपर एक लगोटी लगाए साधुको बैठा पाया । मंत्रियोने प्रार्थना की कि महाराज, आजसे आप हमारे राजा है, हमारे साथ चलकर राजपदको स्वीकार कीजिये । साधु सोचने लगा—मै क्या झझटमे फस गया हूं ? उसने राजपद लेनेसे इन्कार किया । मत्रियोंके बहुत अनुनय विनय करनेपर वह इस शर्तपर राजी हुआ कि मुझसे राज-काज सम्बन्धी कोई बात पूछी न जाय । मत्रियोने इसे स्वीकार कर लिया और साधुको ले जाकर राजगद्दीपर बैठा दिया और राजाके वस्त्राभूषण लाकर उसे पहिननेको दिये । उसने एक पेटी मगाकर अपनी लगोटी उसमे रख दी और सब वस्त्राभूषण पहनकर राजगद्दीपर बैठ गया । कुछ दिनोके बाद किसी वलवान राजाने उस देशपर आक्रमण कर दिया । मत्री घवडा गये और राजासे पूछने लगे—अब हमे क्या करना चाहिये ? राजाने अपनी शर्तको भग होती देख अपनी पेटी मगाई और उसमेसे लगोटी निकाल राजाके वस्त्राभूषण उतार उसे पहन ली और जगलका रास्ता पकडता हुआ बोला—मुझे तो ये करना चाहिए, तुम्हारी तुम जानो । इसी प्रकार ज्ञानी जनोको तो यह राजपाट उस साधुके समान क्लेशदायक दिखता है, पर अज्ञानियोको वह सुखदायक प्रतीत होता है । अज्ञानी परवैभवको देखकर ईर्ष्यासे उद्विग्न एव सन्तप्त रहता है, अतः अपने प्राप्त वैभवका भी उपयोग नही कर पाता । एक ग्रामीण चार पैसे कमाकर उतनेमे ही अपनी गुजर करके सन्तुष्ट चित्त रहता है पर वही जब किसी शहरमे आकर रहने लगता है और वहाँके नाना प्रकारके भोगोपभोगके साधनोको देखता है, तो उन्हे देखकर पानेके लिये लालायित हो उठता है और तृष्णावश दुःखी बन जाता है । पुण्यके उदय प्रायः तृष्णाके ही कारण है । अत तृष्णा पापके कारणका कारण सरागचारित्र हेय है । चारित्र तो चारित्र है, राग हेय है ।

चारित्रके स्वरूपका विभावन—अब सातवी गाथामे चारित्रका स्वरूप कहेगे। ज्ञान और आनन्दमे चरित्रका स्वरूप निहित है, अत यहाँ प्रथम ज्ञानाधिकार रखा है। इसमे ज्ञानतत्त्वका वर्णन किया जायगा। इस प्रसगमे उपाय व फलभूत चारित्रके स्वरूपको प्रगट करते है—अथ चारित्रस्वरूप विभावयति। अब चारित्रके स्वरूपका विभावन करते है। यहाँ पर 'कथयति' आदि अन्य क्रियापद न देकर जो 'विभावयति' क्रियापद दिया है, उसमे एक भारी रहस्य छिपा हुआ है। 'भवन्त प्रेरयति भावयति, विशेषेण भावयति विभावयति' जो होते हुएको विशेष रूपसे प्रेरित करे अर्थात् हुआवे, यह इसका निरुक्त्यर्थ है, आचार्य भी श्रोताओंके हृदयमे चारित्रके स्वरूपको उत्पन्न कराते हैं। जब चारित्रका वर्णन होगा और श्रोता जन सुनेंगे, तब उनकी परिणति कैसी होगी? चारित्रके उपयोगरूप हो जायगी, यह रहस्य निहित है।

आज सभाएं होती हैं और उनमे किसी कार्यके लिए प्रस्ताव पास किया जाता है। फिर कुछ दिनोंके पश्चात् दूसरा प्रस्ताव किया जाता है कि पहले जो प्रस्ताव पास किया जा चुका है, उसे कार्यरूपमे परिणत किया जाय। पुनः आगेके अधिवेशनमे प्रस्ताव पास किया जाता है, कि उसे क्रियात्मक रूपमे अमलमे लाया जाय। इस प्रकार प्रस्तावपर प्रस्ताव पास किये जाते हैं, पर कार्य कुछ भी नही होता। भैया! प्रस्ताव करो या मत करो, केवल कार्य प्रारम्भ करो। आज जितना कहना बढ गया है, उतना ही करना कम हो गया है। इसलिए आचार्य श्रोताओ के सामने चारित्रका स्वरूप कहते नही है, बल्कि उनके हृदयमे उसे उत्पन्न कराते है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रमे क्षोभका अभाव—चारित्र क्या है? धर्म है। धर्म क्या है? समभावका नाम धर्म कहा गया है। समभाव क्या है? मोह और क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम है वह 'समभाव' कहलाता है। साराश—राग, द्वेष, मोहको दूर करके आत्मामे विश्राम करनेको चारित्र कहते है। लोग कहते है कि चारित्रका पालन करना कठिन है, पर इसका विवेचन तो कर लो कि चारित्र पालन करनेमे कष्ट है या पालन नही करनेमे? बताओ—रागद्वेष करनेमे कष्ट है कि उनके नही करनेमे? क्रोध करनेमे कष्ट है कि उसके नही करनेमे? सभी जानते है कि क्रोध करनेमे आत्माको बडा कष्ट होता है पर क्रोध नही करने और शान्तिपूर्वक बैठे रहनेमे कोई भी कष्ट नही होता। इसलिए चारित्रपालन करनेमे कष्ट नही है, बल्कि चारित्रके पालन नही करनेमे कष्ट है, जिसका अनुभव हम आप प्रतिदिन कर रहे हैं। सर्व विदित है, जो भी कष्ट है वह मोह रागद्वेषका ही है।

मोहका क्लेश—एक सेठजी अपनी स्त्री और २-३ वर्षके बच्चेको घरपर छोडकर व्यापारके लिए विदेशको गये। जब १२ वर्ष पूरे हो गये और सेठजी नही लौटे तो उसकी स्त्रीको बडी चिन्ता हुई और उसने लडकेसे कहा—जाओ बेटे, तुम्हारे पिताको परदेश गये १२ वर्ष हो गये, अभी तक लौटकर नही आए है, सो तुम जाकर उनका पता लगाओ। यह कहकर और सेठजीका नाम, धाम बताकर उसे रवाना कर दिया। वह सेठका पुत्र गावोमे उनका पता पूछता हुआ आगे बढता गया। उधर सेठजी भी देशको रवाना हो चुके थे और लौटते हुए मार्गमे जिस धर्मशालामे ठहरे थे, भाग्यवश लडका भी राहमे वही जा पहुचा और धर्मशालामे ठहर गया। आधी रातमे इसे जोरका पेटमे दर्द उठा, वह दर्दके मारे कराहने चिल्लाने लगा। चिल्लाहटसे सेठजीकी नीद खुल गई, तो मैनेजरसे कहते है कि यह रातको कौन शोर गुल मचा रहा है? हम कई रातके जगे है, इसे यहाँसे हटाओ। बेचारा पेटके दर्द से छटपटा रहा है, पर सेठजीके पास उस दर्दकी दवाके होते हुए भी उनका दिल नही पसीजा और रातमें ही उस बेचारेको धर्मशालासे बाहर करवा दिया। दूसरे दिन सेठजीने तो अपने नगरका रास्ता पकडा। जब कुछ दिनोमे सेठजी घर पहुचे तो सेठानीसे बोले, लडका कहा है? उसने बताया—कि वह तो तुम्हें ही ढूँढनेको गया है। क्या मार्गमे उसकी तुमसे भेट नही हुई? उसे आज घरसे गये तो अनेक दिन हो गये है।' सेठजी घबडाकर उसे ढूढनेको चले। मार्गमे धर्मशालाओमे पूछते जावे और पता चलनेपर कि हाँ, वह यहाँ ठहरा था, आगे बढते जावें। आखिर उसी धर्मशालामे जिसमे कि सेठ पहले ठहर चुके थे, मैनेजरको अपने पुत्रका नाम बताकर पूछने लगे कि इस नामका एक लडका क्या कभी आपकी धर्मशालामे ठहरा है? उसने रजिस्टर देखकर बताया कि हाँ सेठजी, जिस रात आप यहाँ ठहरे थे, उसी रात इस नामका एक लडका यहाँ ठहरा था। सेठजी स्थितिको भाँपने लगे, हाथ-पैर काँपने लगे। बोले फिर क्या हुआ? मैनेजर बोला—रातमे उसके पेटमे बड़े जोरसे दर्द उठा, उससे वह कराहने चिल्लाने लगा। आपकी नीद खुली तो आपने गुस्सेमे आकर उसे धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया। दूसरे दिन आप तो देशको रवाना हो गये और वह बेचारा छटपटाता हुआ मर गया। यह सुनना था कि सेठजी बेहोश होकर गिर पडे और जब होशमे आये तो लगे रोने चिल्लाने और सिरको पीटने।

भाइयो, बताओ यहाँ दु.ख सेठजीको किससे हुआ? मोहसे। जब तक उन्हे उस बच्चे से मोह नही था, तो उसे चिल्लाते कराहते देखकर भी आह तक नही भरी, प्रत्युत निर्मम होकर धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया। जब उन्हे उस बच्चेसे मोह हुआ तो उसकी बात सुनते ही मूर्छित हो गए। इससे पता चलता है कि सारा दु.ख मोहमें है। यदि मोह है तो मनुष्य दुःखी है और यदि मोह नही है तो वह सुखी है।

धर्मका अनुपम फल—जिस ज्ञानीके अनन्त पदार्थोंमे यह भाव आ गया कि जगतमे मेरा कोई नही है, उसका बड़ा भारी दु:ख मिट गया। हमे भी जगत्के पदार्थोंसे मोह दूर करना चाहिए, तभी हमारा दु:ख मिट सकेगा और समभाव प्राप्त हो सकेगा। हम मन्दिरमे उसी समभावरूप धर्मको प्राप्त करनेके लिए आते है। धर्मसे धन नही मिला करता। लोग ऐसा समझते है कि धर्मसे धन मिलता है, वे भ्रममे है। धन तो पुण्यसे मिलता है। इसी प्रकार जो लोग समझते है कि धर्मके प्रसादसे ही सीताका अग्निकुड जल हो गया, वे भूलमे हैं। यदि ऐसा माना जाय तो जो पाडव नग्न दिगम्बर थे, परमतपस्वी और रत्नत्रयके धारक थे, जब उन्हे गर्म-गर्म लोहेके गहने पहनाये गये, तो वे ठडे क्यो नही हो गए? क्या उनका धर्म सीताके धर्मसे कम था? गजकुमारके सिरपर मिट्टीकी पाल बाँधकर जो कोयले जलाये गये, वे जल क्यो नही बन गये? क्या उनका धर्म सीताके धर्मसे कम था? सबका उत्तर यही है कि किसीका भी धर्म सीताके धर्मसे कम नही था। पर अग्निको ठडा करना या पानी रूपमे परिणत कर देना यह धर्मका कार्य नही है, किन्तु पुण्यका कार्य है। सीताके ब्रह्मचर्या-णुव्रतरूप शील था, अणुव्रतके साथ जो रागभाव या शुभपरिणाम रहता है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वही पुण्य अग्निपरीक्षाके समय सीताके प्रगट हुआ और अग्निकुड जलरूपमे परिणत हो गया। धर्मका काम कर्मोका नाश करना है, सो पाडवोंके, गजकुमारके या इसी प्रकार दारुण उपसर्ग सहने वाले अन्य अन्त कृत केवलियोके कर्मोका नाश धर्मने किया ही है। इससे सिद्ध हुआ कि धर्मसे धन, वैभवादि नही मिलता है, किन्तु परम अतीन्द्रिय, अनुपम और स्वाधीन आत्मसुख मिला करता है।

स्वरूपाचरण—स्वरूपमे चलना चारित्र है। किससे? ज्ञानसे। अर्थात् ज्ञानका ज्ञान मे रहना ही चारित्र है। स्वसमयमे निजात्मामे प्रवृत्ति करनेको चारित्र कहते है। अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूपमे ठहरना चारित्र है और यही आत्माका स्वभाव होनेसे धर्म कहलाता है। धर्म शब्दका अर्थ 'धरना' है। जो मिथ्यात्व, रागादिरूप भावससारमे पडे हुए प्राणीका उद्धार करके निर्विकार शुद्ध चैतन्यमे धरे, स्थापित करे, उसे धर्म कहते है। वही धर्म स्वात्मभावनो-त्पन्न सुखामृत रूप शीतल जलके द्वारा काम क्रोधादिरूप अग्निजनित ससार-दु ख दाहका उपशामक होनेसे शम कहलाता है। शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वके नाश करने वाले दर्शन मोह की 'मोह' सज्ञा है तथा निर्विकार निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्रके विनाश करने वाले चारित्र मोहको 'क्षोभ' कहते है। इन मोह और क्षोभके अभावको ही सम कहते है और उस सम भावका नाम ही धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश होना धर्म है। यथावस्थित वस्तुका तद्रूप रहना ही साम्य कहलाता है। आत्माके अत्यन्त निर्विकार परिणामको साम्य कहते हैं। परके निमित्तसे विकारी नही होना, निर्विकारी रहना ही सम या शम कहलाता है। इस प्रकार

यह फलितार्थ हुआ कि दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होने वाले मोह और क्षोभ से रहित, अत्यन्त निर्विकार जीवके परिणामको साम्य कहते है । साम्यभाव, धर्म और चारित्र ये तीनो एकार्थवाची नाम जानना चाहिए ।

निर्विकार भावके आदरमें लाभ—यदि निर्विकारी भाव अधिक समय तक स्थायी नही रहते है, धर्मसाधनमे चित्त अधिक काल तक नही लगता है, तो देवपूजा आदि अनेक कार्य भी करनेको बाकी है, उनमे मनको लगाना चाहिए । धर्मके बाह्य साधनोमे रहना पडकर भी अन्तरग साध्यको प्राप्त करनेका लक्ष्य सदा रखना चाहिए । क्षेत्र ससारसे डरनेकी जरूरत नही, उससे डरकर कहा भागोगे ? सिद्ध भी तो ससारके भीतर ही रहते है, भले ही वह लोकका शिखर ही क्यो न हो ? इसलिए हमे ससारमे रहनेका डर नही होना चाहिये । हाँ, इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि हममे ससार न आ जाय । नावके पानीमे रहनेका डर नही होता, पर नावमे पानीके रहनेसे डूबनेका डर रहता है । इसी प्रकार यदि हम मोह क्षोभ रहित होकर ससारमे रहते है, तो डरकी कोई बात नही है, पर यदि हममे ससार रहता है, मोह क्षोभ परिणाम रहता है, तो अवश्य डरनेकी बात है । जब नावमे पानी रहेगा, तो उसके डूबनेका भय बना ही रहेगा । इसलिए नावमे पानी नही आने देनेके समान आत्मामे रागद्वेषका प्रवेश मत होने दो । अपनेको सदा रागद्वेष, मोहसे दूर रक्खो, केवल ज्ञातादृष्टा ही बने रहो ।

काम मोहविकार—विकारोमे प्रधान विकार काम है । काम नाम मैथुनेच्छाका है । पुरुषवेदको तृणकी अग्निके समान, स्त्रीवेदको कारीष (कडा) की अग्निके समान और नपुन्सक-वेदको इष्टपाक (ईंटोके भट्टा) के समान बताया गया है । तृणकी अग्निसे कडेकी अग्नि तेज और अधिक काल तक रहती है तथा कडेकी अग्निसे ईंटोके भट्टेकी अग्नि और भी अधिक तेज और बहुत समय तक रहती है । इसी प्रकार पुरुषवेदीसे स्त्रीवेदीकी और स्त्रीवेदीसे नपुन्सक-वेदीकी कामाग्नि उत्तरोत्तर अधिक होती है । जब तक मनुष्यके हृदयमे यह कामाग्नि धधकती रहेगी, तब तक उसकी परिणति धर्मकी ओर हो ही नही सकती । इसलिए सबसे पहले हमे कामभावपर विजय पानेका प्रयत्न करना चाहिए । कामभावपर विजय पानेके लिए आवश्यक है कि रागवर्द्धक, उत्तेजक आहार, विहारसे दूर रहा जाय, कुशीलियोकी संगतिसे बचा जाय । श्रृङ्गारके साधनोको पासमे न फटकने दिया जाय । स्त्री पुरुष आपसमे एक दूसरेके मनोहर अगोको न देखे, पूर्वमे भोगे गये भोगोका स्मरण न करें, गरिष्ठ और बाजीकरण पदार्थों का सेवन न करे, शरीरको न सजायें, विषयसेवनकी कथाए न करें, तो कामभावपर विजय पाना आसान हो जायगा ।

क्रोधी और निन्दकको चाण्डालकी तुलना—इसी प्रकार क्रोधके लिए भी लोकमे

अग्निकी उपमा दी जाती है । देखा भी जाता है कि क्रोध करनेके समय क्रोधीका चेहरा लाल हो जाता है, आँखे चढ जाती हैं, मुखाकृति भयानक हो जाती है । कही लिखा भी है, यद्यपि यह श्लोक अशुद्ध है, तथापि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है—मुनीना कोपचाण्डाल, पशुचाडाल गर्दभ । पक्षिणा काकचाडालः, सर्वं चाँडाल निन्दक ॥ यदि मुनियोमे कोई चाँडाल है, तो क्रोध ही है, पशुओमे चाण्डाल गदहा है, पक्षियोमे चाण्डाल काक है और निन्दा करने वाला सबसे पतित चाण्डाल है । देखिए क्रोधकी तीव्रतासे द्वीपायनने अपना और द्वारिकाका नाश किया । क्रोधसे अपना पराया दोनोका अहित होता है, पर क्रोधीको क्रोधके समय कुछ सूझता नही है । जिसमे क्रोध हो, उसमे साधुता कैसी ? और सबसे बडा चाण्डाल तो निन्दकको कहा है । निन्दक दूसरेके दोषोको देख देखकर न जाने दोषोका कितना बडा पहाड बना देता है ? निन्दा करनेसे न अपनी ही कोई भलाई है और न परकी ही । उल्टी हानि ही हानि है । यदि किसी के दोषोको दूर करवाकर उसे निर्मल बनानेकी ही इच्छा हुई हो, तो उसे एकान्त मे जाकर समझाओ, आपकी सत्य आत्माका नियमसे उसपर असर पडेगा । चार आदमियोमे निन्दा करके, उसे डाट करके तो आप बालकको भी नही समझा सकते । यदि एकान्तमे शान्तिपूर्वक बालकको समझाया जाय, तो वह भी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर लेता है । समाजमे भी विद्रोहके कारण ये ही निन्दक लोग है । निन्दकसे कही समताभावकी आशा की जा सकती है ? और नही, तो अपनी ही दया करना चाहिए । निन्दासे खुदका कितना महान घात होता है, इसका वर्णन करना अशक्य है । यदि निन्दक लोग अपनी आदत नही छोड सकते हैं, तो निन्दा सुनने वाले भी वस्तुकी स्वतत्रता जानकर उसे सुनकर अपने भीतर क्षोभ उत्पन्न न होने दें, बल्कि उपेक्षाभाव ही रखे । इसी प्रकार काम, क्रोधको ही आप अग्नि न समझे, सभी कषायें अग्नि है । उन कषायाग्नियोसे उत्पन्न होने वाला जो ससार-दु ख-दाह है, उसका उपशमन चारित्र परिणाम करता है, इसका नाम शम है ।

चारित्रकी स्थिरताका आधार सम्यग्ज्ञान—इस चारित्रकी स्थिरता सम्यग्ज्ञान बिना नही हो सकती । ससारके सारे पदार्थ है तो अपनेसे भिन्न, पर जो इन्हे अपने समझता है, उसका तो परलक्ष्य होगा ही, स्थिरता कहाँसे आवेगी ? जो पुण्यको अपने हितरूप समझता है, उसके फलको अपना सारा ऐश्वर्य समझता है, वह आत्माकी अभिमुखता नही पा सकता, वह तो जगत्के ही अभिमुख है । कुछ लोग समझते होंगे कि सापको साप जान लिया, रस्सी को रस्सी जान लिया, तो सम्यग्ज्ञानी हो गए । पर यह तो लौकिक ज्ञान है । वस्तुके विषय मे जब तक भेदाभेदविपर्यय, कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय नही निकलता, तब तक वह सम्यग्ज्ञान कैसा ? जिन्होने स्वका अनुभव ही नही किया और परको स्व मानते है, बाह्य वस्तुओमे भी द्रव्य और पर्यायका जिन्हे अवगम नही, जिसकी दृष्टिमे जो दिखता है, वही तत्त्व

है, उनका ज्ञान तो लौकिक ज्ञान ही है । किसीकी परिणतिसे किसीकी परिणति मानने वालो का ज्ञान वस्तुके स्वरूपको स्पर्श करने वाला भी कैसे माना जा सकता है ? वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपका ज्ञान होना ही वास्तविक ज्ञान है । उस ज्ञानके होते ही क्रोधादिक कषायें निवृत्त होने लगती है । दीखने वाला सारा जगत इन्द्रजालसा प्रतीत होने लगता है, स्वके सिवाय किसी अन्य पदार्थमे हितका विश्वास नही रहता, ऐसे सम्यग्ज्ञानी नियमतः परलक्ष्यसे निवृत्त होकर स्वमे स्थिर हो जाते हैं ।

ज्ञाताका स्वरूपसंचेतन—स्थिर लक्ष्मीको अपने स्वरूपका इस प्रकार सचेतन होने लगता है कि—अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी । णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्त पि ।। (समयसार)

जैसे किसीके हाथपर सोना रखा है, पर उसे जब तक यह भान नही कि यह सोना है, तो वह उसकी कीमत नही करता । किन्तु जिस समय उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह तो शुद्ध सोना है, बहुमूल्य पदार्थ है, तो वह उसी समयसे उसमे आदर और उपादेय बुद्धि करने लगता है, इसी प्रकार जब तक जीव मिथ्यात्वी रहता है और आत्माका उसे भान नही होता, तब तक वह परलक्ष्यी और दिङ्मूढ या किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता है । किन्तु जैसे ही उसे स्वबोध जागृत होता है कि मैं निश्चयसे एक अखड स्वरूप हू, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमयी हू, सदा अरूपी हू, मेरे भीतर परद्रव्यका परमाणुमात्र भी नही है, तब वह स्वलक्ष्यी बन जाता है । उस समय दर्शन मोहके अभाव हो जानेसे उसका अज्ञान मिथ्यात्वरूप अन्धकार दूर हो जाता है, उसका दिग्भ्रम नष्ट हो जाता है और चिन्मय प्रकाश प्रगट हो जाता है । साथ ही चारित्रमोहनीयकी अनन्तानुबन्धी कषायके अभाव हो जानेसे नाना पकारका सकल्प-विकल्परूप जो क्षोभ उत्पन्न होता था, वह भी दूर हो जाता है और परिणामोमे शमभाव या प्रशमगुण प्रगट हो जाता है, उसे अपने कर्तव्य कार्य और गतव्य मार्गका प्रकाश मिल जाता है । इस प्रकार मोह और क्षोभके दूर होनेसे जो प्रकाश, जो प्रशमभाव, जो समताभाव आत्मामे प्रगट होता है, उसे ही धर्म कहते है और उसीका नाम चारित्र है । धर्म डूबा कहने वाले धर्मका स्वरूप ही नही समझते है । सासारिक पदार्थोकी, विषय वासनाओकी चाह ही अधर्म है और परपदार्थोंकी चाहका अभाव होना, विषयाभिलाषाका मिटना ही धर्म है ।

आत्माके चारित्रस्वरूपताका निश्चय—अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—चारित्र आत्मस्वरूप ही है, इसका वर्णन किया जाता है । चारित्र कोई परपदार्थ नही है कि उसे कहीसे उठा लो । बल्कि यह आत्माका ही स्वरूप है, इस बातको बतलाते है । यहाँपर अन्य क्रियापद न देकर 'निश्चिनोति' पद प्रयोग किया है, इसमे भी रहस्य है । निस् उपसर्गपूर्वक

'चि चयने' धातुसे 'निश्चिनोति' पद बना है। तदनुसार इसका अर्थ यह होता है कि नि.शेष रूपसे, सामस्त्य या अविकलरूपसे चारित्रका चयन करते हैं। जैसे व्यवहारमे 'कहते हैं, बोलते है और बकते है,' इन तीनोंके अर्थ भिन्न-भिन्न है, इसी प्रकार संस्कृतमे भी उपसर्ग लगनेसे शब्दोका अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाता है। यहाँ निश्चिनोति शब्दका रहस्य है—नि शेषेण चिनोति अर्थात् सर्व प्रकारसे संग्रह करते है। जहाँ आत्मामे और चारित्रमे भेदकी प्ररूपणा न रहे ऐसा निर्णय या निश्चय करते हे—

प्रश्न—क्या वास्तवमे आत्मासे चारित्र भिन्न है, जो अब आत्माके साथ उसके अभेद का निर्णय करते हैं? उत्तर—हा, गुण-गुणीकी अपेक्षा भेद है। आत्मा गुणी है और चारित्र उसका गुण है ऐसा समझनेके समय वह प्रयोग होता है। परन्तु गुणीको छोडकर गुण अन्यत्र रह नही सकता, अतएव वह तद्रूप ही है अर्थात् चारित्र आत्मस्वरूपमय है, अभिन्न है।

गाथा— परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्त।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

जो द्रव्य जिस कालमे जिस रूपसे परिणमित होता है, वह उस कालमे उस भावमय अर्थात् तन्मय हो जाता है। जैसे उष्णतारूपसे परिणमता लोहपिंड उष्णरूप ही हो जाता है, इसी प्रकार धर्मसे परिणत आत्मा धर्मरूप जानना चाहिए। जिस समय आत्मा कषायरूपसे परिणमता है, उस समय कषायरूप माना जाता है, इसी प्रकार जब वह धर्मरूपसे परिणमता है, तब वह धर्ममय माना जाना चाहिए। क्योकि वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था ही ऐसी है कि जब जो द्रव्य जिस रूपसे परिणमन करता है, तब वह उसी रूपसे माना जाता है। उष्णरूपसे परिणत लोहेके पिंडको सब लोग उष्ण ही कहते है, क्योकि उस समय लोहेके जितने भी शीत परमाणु थे, वे अपनी शीत पर्यायको छोडकर उष्णरूपसे परिणत हो गये हैं।

यदि कोई पूछे कि जैनधर्म कहाँ है, तो हम उसे कहाँ बतावेंगे? यही कहना पडेगा कि ये जो जैनधर्म पालन करने वाले हैं, वे ही सब जैनधर्म हैं, क्योकि धर्म आत्माका स्वभाव है। जो धर्मपालन करने वाले धर्मात्मा जन हैं, उन्हीमे जैनधर्म मिलेगा, उन्हे छोडकर वह अन्यत्र कही नही पाया जा सकता। ये धर्म, सम्यक्त्व आदि देने लेनेकी वस्तु नही है, आत्मा की ही परिणति है। अतएव व्यवहारमे धर्मकी रक्षाका अर्थ धर्मात्माकी रक्षा करना होता है। निज धर्मात्माकी रक्षा करना मुख्य है। अपनी रक्षा सच्चे श्रद्धानमे है। सम्यग्दर्शन ही परम-शान्तिका स्वतः मूल है। वस्तुए जैसी हो, वैसी श्रद्धा करना शान्तिके लिए आवश्यक है।

द्रव्यका स्वरूप—जो अनादि अनन्त हो, स्वसहाय हो और अखंण्ड हो वह द्रव्य है। द्रव्यका उक्त लक्षण सर्व जीवोमे भी पाया जाता है। जीव अनादिकालसे चला आ रहा है और आगे अनतकाल तक चला जावेगा, इसलिए वह अनादि अनत है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य

के आश्रय नही है, किन्तु सर्व अपने आपके आश्रय है, इसलिए जीव भी स्वसहाय है और वह अखण्ड है, उसमे गुणादिकी अपेक्षा भी कही कोई सद्रूपका खण्ड या विभाग नही है। सभी गुण सर्वाङ्गमे अखण्डरूपसे व्याप्त रहते हैं।

प्रश्न—सर्वद्रव्य कितने है, जो अपने-अपने स्वरूपमे परिणमते है? उत्तर—जीवद्रव्य अनन्त है। जीवसे अनन्तगुणित पुद्गल द्रव्य है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असख्यात है। इन सर्वद्रव्योका अपने-अपने स्वरूपमे परिणमन होता है। यदि एकद्रव्य अन्य द्रव्यरूपसे परिणत होने लग जाय, तो किसी द्रव्यकी कोई व्यवस्था ही न रहे, सर्वसाकर्य हो जायगा और सर्वद्रव्य आपसमे मिल जायेंगे तब सभीका अभाव हो जायगा। जहाँ परमाणु-परमाणुका भी बध होता है, वहाँ भी कोई किसीको स्निग्ध या रूक्ष नही करता है। वहाँ रूक्ष परमाणु स्वय ही स्निग्धरूपसे परिणत हो जाता है। अग्निके सम्बधसे ठडा घी स्वय ही उष्ण हो जाता है। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। यह काँचका गोला (पेपरवेट) हाथसे उठाकर इधरसे उधर रखा, तो क्या हो गया? यह वस्तु अपने ही आधार है, केवल इस स्थानसे हटकर उस स्थानपर आ गई, यह स्थान परिवर्तन यद्यपि एक अपेक्षासे निमित्ताधीन है, क्योकि निमित्तकी उपस्थितिके बिना उक्त परिणमन तो नही होता? परन्तु हाथकी क्रिया हाथमे है और गोलेकी क्रिया गोलेमे हुई है।

जीवके त्रिविध परिणाम—जीवोके परिणाम तीन प्रकारके बतलाये गये है—अशुभ, शुभ और शुद्ध। सक्लेशरूप परिणामोको अशुभ, भक्ति दया दानादिरूप परिणामोको शुभ और सकल्प-विकल्प, रागद्वेषादि रहित परिणामोको शुद्ध कहते है। इनमे अशुभ परिणाम अधर्मरूप है और शुद्ध परिणाम धर्मरूप है। मध्यवर्ती जो शुभ परिणाम हैं, वे किस रूप है? धर्मके होनेपर भी जो अधर्मरूप प्रवृत्ति होती है, वस्तुत· उसे शुभ रूप कहते है। कर्ज चुकानेपर भी जो कर्ज शेप रहता है, उसके समस्थानीय शुभ परिणमन है। इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल अधर्मके नाश होनेपर जो सूक्ष्म अधर्म शेष रहता है, बहुतसा कर्ज चुका देनेपर भी जो कर्ज वाकी रह जाता है, वह शुभमे परिगणित होता है। पर मिथ्यादृष्टिके स्थूल अधर्म का नाश है ही नही, अत उसका शुभ परिणाम भी अधर्मरूप ही है और इसलिए उसे भव-बन्धकारक ही माना है।

प्रश्न—धर्म अधर्मकी सीधी सरल परिभापा क्या है? उत्तर—जो आत्माके सहज स्वभावरूप हो, वह धर्म है और जो आत्माके सहज स्वभावसे प्रतिकूल रूप हो वह अधर्म है।

प्रश्न—धर्म और अधर्म किसके होते है? उत्तर—यत धर्म जीवका स्वभाव है अतः वह जीवका है और अधर्म पुद्गलके निमित्त विना होता नही है, अत वह कर्मका है। मयूर का परिणमन मयूरमे रहेगा, और दर्पणमे आने वाला आकार दर्पणमे रहेगा, अतः दर्पणगत

आकार दर्पणका ही समझना चाहिये, फिर भी मयूरकी सन्निधि बिना नही हुआ, अतः मयूर का है। इस तरह अशुभोपयोग पराश्रित भाव है और शुभोपयोग भी पराश्रित भाव है।

ज्ञानीका लक्ष्य शुभोपयोगमे नही रहता। शुभोपयोग रागात्मक है। जब राग है तब चारित्र नही है और जब चारित्र है तब राग नही है। जो द्रव्य जिस कालमे जिस रूपसे परिणत होता है, उस समय वह उसी रूपसे है। जिस समयमे आत्मा सम्यग्दर्शन गुणसे परिणत हो रहा है, उस समय वह उसी रूप है। द्रव्य अपने पर्यायमय ही होता है। किसी द्रव्यका गुण-पर्याय किसी अन्यमे नही पहुचता। वस्तुके सर्वस्वको उसी वस्तुमे देखो, तो स्वातन्त्र्यका जल्दी पता लग जावेगा। निमित्तनैमित्तिकके प्रसारोंने वस्तुके पर्याय, स्वभाव आदिके शीघ्र यथार्थ जाननेमे साधारण लोगोको अडचनें लगा दी हैं। परन्तु तर्क-वितर्कके बाद शीघ्र ही समझमे आ जायगा कि निमित्तनैमित्तिकता तो इतनी है और वस्तुस्थिति यह है।

दृष्टान्तपूर्वक निमित्तनैमित्तिक भावका स्पष्टीकरण—इसी निमित्त-नैमित्तिकताको एक दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है—यह फैला हुआ प्रकाश जो हमे दिखाई दे रहा है और जिसे लोग सूर्यका समझते है, वह सूर्यका नही है। किन्तु जो चीजें हमे दिखाई दे रही है, उनका है। द्रव्यके गुण-पर्याय द्रव्यमे ही रहते हैं, बाहर नही जाते। अत सूर्यका आताप, सूर्यका प्रकाश भी सूर्य बिम्बके भीतर ही रहेगा, बाहर नही जावेगा। सूर्यका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ अपनी अन्धकार पर्यायको छोडकर प्रकाशरूप पर्यायसे परिणत हो रहे हैं, अत यह प्रकाश इन्ही पदार्थोंका जानना चाहिए। इसी प्रकार अगुलीकी पडने वाली यह छाया अगुलीकी नही है, वृक्षकी पृथ्वी पर दिखने वाली यह छाया वृक्षकी नही है। अगुलीकी छाया अगुलिमे और वृक्षकी छाया वृक्षमे ही है। पर यह जो छाया दिखाई दे रही है, यह तो अगुली या वृक्षके निमित्तको पाकर इस स्थलवर्ती भूमिके प्रदेश स्वय छायारूपसे परिणत हो रहे हैं। भोजन करते हुए हम जो आम खानेका आनन्द मानते हैं, वह आनन्द आमका नही है। किन्तु आम के निमित्तको पाकर जो हमारे भीतर, कल्पना द्वारा सुख गुण प्रकट हुआ, उसका आनन्द है। इसी प्रकार अच्छे घरमे रहने, स्त्रीका सुख भोगने आदिमे जो यह जीव आनन्द मानता है, तो यह आनन्द मकान या स्त्री आदिका नही है, किन्तु उनके निमित्तको पाकर आत्माका जो सुख गुण किसही रूप सही प्रगट होता है, वह आनन्द उस सुख गुणका है। हर प्राणी प्रति समय सुख हो तो अपना हो सुख भोगता है। पर मिथ्यात्वी कहता है कि मैं अमुक पदार्थका सुख भोग रहा हू।

स्वयंकी स्वयंमे प्रयोजकता—'आत्मा पुत्राय न कामयते, आत्मा आत्मने कामयते। इस वेद वाक्यका अर्थ यही है कि मनुष्य पुत्रके लिए सुखकी कामना नही करता है, अपने लिए ही सुखकी कामना करता है। एक वारकी बात है कि गगाकी बाढ आई, चारो ओर

पानी फैल गया । एक बदरी अपने बच्चेको लेकर एक ऊचे मकानपर चढ गई । जब बाढ वहाँ तक पहुची, तो वह खडी हो गई । जब बाढ उसके गले तक पहुची, तो वह अपनी जान बचानेके लिए अपने बच्चेको नीचे करके उसके ऊपर चढ गई । कहनेका भाव यही है कि जब तक अपनी जान पर नौबत नही आती, तब तक ही वह दूसरोंसे प्रेम करता रहता है । किन्तु जब उसकी जानपर आती है, तो वह सबके प्रेमको भुलाकर अपनी ही चिन्ता करता है । इससे यही अर्थ निकलता है कि सभी लोग अपने-अपने सुखको चाहते है । स्त्री जो पति से प्रेम दिखलाती है, यदि वास्तवमे देखो, तो वह पतिसे नही, अपने आपसे प्रेम करती है । स्त्रीका प्रेम उसमे है, अतः वह उसमे तन्मय होगी, वह मुझमे नही आ सकता । यदि एकका परिणमन दूसरे रूपसे परिणत हो जाय, तो भारी गडबडी हो जाय । मिलमे सब मनुष्य अपने-अपने स्थान पर कार्य कर रहे है, सबकी क्रिया स्वतत्र है । सब अपनी धुनमे है । परन्तु निमित्तके योगसे ऐसा लगता है कि यह परिणमन अमुकके निमित्तसे हो रहा है । निमित्तसे कही परिणति नही होती ।

गाँवोमे अकसर कहा करते है कि यदि तुम मदिर पूजनको नही जा रहे हो, तो बच्चे को भेज दो । मानो बच्चेके पूजन करनेसे उसका फल इन्हे प्राप्त हो जायगा । पर किसीके पूजन करनेका फल किसी औरको नही मिला करता है, जो पूजन करेगा, उसे ही उसका फल मिलेगा । हाँ, जिसने बच्चेको पूजनके लिए भेजा है, उसके जो भाव पूजन करानेके हुए है, कपाय मन्द हुई है, उसका फल उसे मिलेगा । इसी प्रकार लोग जो सिद्धचक्र विधान कराते है, समवशरण मडल या त्रैलोक्यमडलविधान कराते है, वहापर भी यही बात है । वहाँ भी पूजनका फल तो पूजन करने वालोको ही मिलेगा । हाँ, कराने वालोंके जो भाव पूजन कराने के हुए और उनकी जो कषाय मन्द हुई, पूजनके निमित्त द्रव्य लगाया, उसका फल उन्हें मिलेगा, पर पूजा करने वालोका फल उन्हे नही मिल सकता, वह तो पूजा करने वालोको ही उनके भावोके अनुसार उन्हे मिलेगा । इस प्रकार सब जगह निमित्तनैमित्तिक सम्बधको जानकर यथार्थ स्थितिको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए ।

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म—निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा धर्मका वर्णन दो प्रकारसे होता है । निश्चयधर्म तो आत्माकी शुद्ध परिणति रूप है, उसमे परकी कोई अपेक्षा नही रहा करती । वहाँ अभेद दृष्टि ही प्रधान है । पचपरमेष्ठीकी भक्ति करना, उनके गुणोका स्मरण करना, उनके नामका जाप करना इत्यादि सब व्यवहारधर्म है । यह व्यवहारधर्म भी निश्चयधर्मकी भावना विना नही आता, इसलिए पचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि करनेको व्यवहारसे व्यवहार धर्म कहा जाता है । इन दोनो प्रकारके धर्मोंमे से आत्मा जब जिस रूपसे परिणत होता है, तब वह उस रूपसे कहा जाता है । उपादान कारणके सदृश ही कार्य होता

है, ऐसी लोकमे व्यवस्था है। वह उपादान कारण शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका होता है। आगमकी भाषामे जिसे शुक्लध्यान कहते है और अध्यात्मकी भाषामे जिसे रागादि-विकल्परहित स्वसवेदन ज्ञान कहते हैं, वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिमे शुद्ध उपादान कारण है। इस वीतराग परिणतिका नाम ही कार्य निश्चयधर्म है। जो धर्म या जो कार्य परम्परासे इस वीतराग परिणतिके प्राप्त करनेमे कारण पडते है, उन्हे व्यवहारधर्म कहा जाता है। श्रावकके जो देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये ६ आवश्यक बतलाये गये है, उनके उद्देश्यपर यदि दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा, कि वे भी परम्परा निश्चयधर्मके ही पोषक है। देखो, देवपूजा और दान सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमे कारण है, स्वाध्यायसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। गुरूपास्ति, सयम और तपसे सम्यक्चारित्रकी सिद्धि होती है। इस प्रकार श्रावकके ये षट्कर्तव्य रत्नत्रयके ही कारण होते है, इसलिए उन्हे व्यवहारधर्म कहा गया है।

चारित्रपना आत्माके ही है, अथवा अभेद दृष्टिसे चारित्र आत्मा ही है, धर्म आत्मा ही है। इस प्रकार चारित्रका आत्माके साथ अभेद सन्धिपूर्वक वर्णन हुआ। अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्व निश्चिनोति—अब जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध भावोका निर्णय करते हैं—

गाथा— जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो ॥९॥

जीवकी शुभ अशुभ शुद्धरूपता—जब जीव शुभ परिणामसे परिणमता है, तब वह शुभ कहलाता है, जब अशुभ परिणामसे परिणमता है तब वह अशुभ कहलाता है और जब शुद्धभावसे परिणमता है तब शुद्ध कहलाता है। इस प्रकार विभिन्न परिणामोंके योगसे जीव के तीन रूप हो जाते है।

वस्तुके यथार्थस्वरूपको समझनेके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे श्लाघ्य शुभोपयोग कहते हैं। गृहस्थकी अपेक्षा सरागसम्यक्त्वपूर्वक दान देना, पूजा करना, गुरुसेवा करना, बारह व्रतोका पालना आदि कार्य शुभोपयोगरूप हैं। साधुकी अपेक्षा अट्ठाइस मूल गुणो और चौरासी लाख उत्तर गुणोका पालन करना, उनके बढानेमे उद्यत रहना सो शुभोपयोग है। चौथे गुण-स्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तकके ज्ञानियोंके यह शुभोपयोग पुछल्लाके समान लटका ही रहेगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि रूप अशुभ परिणतिको अशुभोपयोग कहते हैं। आर्त-रौद्रध्यान रूप जो अशुभ क्रिया होती है, उसे ही अशुभोपयोग जानना चाहिए। हिंसादि पाच पाप रूप प्रवृत्ति अशुभोपयोग है और अहिंसादि पांच व्रतरूप प्रवृत्ति शुभोपयोग है। पुण्य और पापरूप दोनो प्रकारकी प्रवृत्तियोसे रहित शुद्ध आत्माभिमुखी प्रवृत्ति या परद्रव्यके सम्पर्क से रहित निवृत्तिरूप परिणतिको शुद्धोपयोग कहते है। यह शुद्धोपयोग तारतम्य क्रमसे सातवें गुणस्थानसे लेकर ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोमे क्रमशः वृद्धिगत होता जाता है।

व्यवहारधर्मका निभाव—आज लोग दूसरोकी निन्दा करते है, त्यागी, ब्रती और साधुवोकी भी निन्दा करते है और कहते है कि उसमे 'यह कमी है, वह कमी है,' इत्यादि। पर क्या आप लोगोने अपनी ओर भी कभी देखा है ? व्यवहारधर्मके आधार श्रावक है। जिन भगवानका प्रतिदिन पूजन करना और ब्रती, त्यागियोको भक्तिपूर्वक दान देना श्रावकोका प्रधान कर्तव्य कहा गया है। जो गृहस्थाश्रममे रहकर भी उक्त दोनो कार्य नही करता है, पद्मनन्दि आचार्य कहते है कि उसे तो गहरे जलमे प्रवेश करके गृहस्थाश्रमके लिए जलाजलि दे देना चाहिए—पूजा न चेज्जिनपतेः पदपकजेषुदान न सयतजनाय च भक्तिपूर्वम्। नो दीयते किमु ततः सदवस्थतायाः शीघ्र जलाजलिरगाधजले प्रविश्य ॥

सदाचारी, विचारवान् और व्रती श्रावकोसे ही श्रावक और मुनि दोनोका मार्ग चलता है। पहले दातार शुद्धभोजी थे, तो मुनियोको भी शुद्ध भोजन सहजमे प्राप हो जाता था। साधु जन गृहस्थोंके यहाँ जैसा खाते है, तदनुसार उनकी मनोवृत्ति हुआ करती है। ऐसी प्राय लोकोक्ति है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी।' लोग शुद्धोपयोगकी चर्चा करके भी शुभोपयोग तकमे भी कदम ही नही रखना चाहते, तो बताओ वे लाभमे रहेगे या हानिमे ? शुष्कचर्चासे मोक्षमार्ग नहीं चलेगा। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिका दृढ प्रक्रियासे मोक्षमार्ग होगा। श्रद्धाकी बात श्रद्धाकी जगह है, पर करनेकी बात करनेकी जगह है। हम लोग बढते भी है तो अफसोस करके ही रह जाते है। सहारनपुरकी बात है, उस समय मेरे नवमी प्रतिमा थी। मै आहार करनेके लिए गया। भक्त दातारने ताजे गुलावजामुन बनाए थे। मैंने एक उठाकर जैसे ही मुखमे डाला कि मेरी आँखोसे आँसू निकल पडे। दातार देखकर घवडा गया कि कही मेरे गुलावजामुन कडुवे तो नही हो गए है ? आहारके अनन्तर उसने आँसू आनेका कारण पूछा ? मैने कहा—गुलावजामुन तो मीठे ही थे। पर जब मै भोजनके पूर्व सिद्धभक्ति कर रहा था, तब मेरे भाव हुए कि देखो, जीवको खाते-खाते अनन्त-काल व्यतीत हो गया, असख्य वार इस उत्तमसे भी उत्तम भोग्य पदार्थोको इसने भोग-भोग-कर छोड दिया, फिर भी यह उन उच्छिष्ट पदार्थोंको खानेके लिए उत्सुक रहता है। इन विचारोमे डूवा हुआ मैं जब भोजन करने वैठा, तो गुलावजामुनको मुखमे रखते ही मेरे आँखो से आँसू निकल पडे।

धर्मप्रवृत्तियोका प्रयोजन—भोजनके पहले और पोछे जो सिद्धभक्ति की जाती है, उसका क्या रहस्य है ? पहले की जाने वाली सिद्धभक्तिका तो यह रहस्य है कि जिस भोजन को करने जा रहे हो, मानो तुम भोजनसे मोर्चा लेने जा रहे हो, उसमे कही तुम्हारी आसक्ति न हो जाय और तुम मोर्चेमें असफल हो जाओ। अन्तमे जो सिद्धभक्ति की जाती है, उसका यह अभिप्राय है कि भोजन करते हुए यदि कही मै आसक्त हो गया होऊ, कोई भूल हो गई

हो, तो उसकी आलोचना तुरन्त कर ली जाय, सम्हाल कर ली जाय। यह सिद्धभक्ति क्या है? निज रूपकी सम्हाल ही तो है। गृहस्थीका प्रत्येक कार्य रहस्यसे भरा हुआ है, अत जिस कामको भी करो, उसके रहस्य जाननेका प्रयास करो। जब तक रहस्य समझमे न आवे तब तक उसके जाननेका प्रयत्न जारी रखो। अरहन्त भक्तिका क्या रहस्य है? मित्रता और, सही भक्ति बराबर वालोमे ही हुआ करती है। मुमुक्षुओको मोक्षमार्गपर चलते हुए बार-बार किसका ख्याल आयगा? मोक्षमार्गियोका ही आयगा। यही अरहन्त भक्तिका रहस्य है। हम भी मोक्षमार्गी है, अतः उसपर चलते हुए हमे भी अरहतोका ध्यान आना ही चाहिए। यदि प्रात काल मन्दिरमे अधिक भीड-भाड होनेसे हमारा ध्यान पूजनमे नही लगता है, तो हमे दोपहरमे आकर भगवानका पूजन करना चाहिए। पूजन करते समय हमारी दृष्टि भगवानपर, उनके गुणस्मरणपर ही रहनी चाहिए। दूसरे किसी पदार्थपर हमारी दृष्टि नही जानी चाहिए।

सबको प्रसन्न करनेकी अशक्यता—प्रायः लोग औरोको खुश करनेके लिए देवपूजा आदि कार्य किया करते है, पर यह उनकी भूल है। सबको तो खुश कोई रख ही नही सकता। इसलिए औरोको खुश करनेकी दृष्टि छोडकर अपने कर्तव्य पालनकी दृष्टि रखना चाहिए। एक कथा है कि किसी सेठजीके चार लडके थे और उनके पास पाच लाख रुपया था। उन्होंने एक-एक लाख रुपया लडकोको देकर न्यारा कर दिया और एक लाख रुपया अपने लिए रख लिया। सेठजीने छोटे लडकेको बुलाकर कहा—देखो बेटे, जाति-बिरादरीमे अपनी पोजीशन मानप्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए जाति वालोको खिलाते-पिलाते रहना चाहिए। छोटे लडकेने पिताकी बात मानकर बिरादरी वालोका निमत्रण किया, सात प्रकारकी मिठाई बनवाई और हर्षपूर्वक सबको खूब खिलाई। लोग आपसमे बाते करने लगे, इस बदमाशने अधिक धन मार लिया है, तभी यह खुशीमे लोगोको लड्डू खिला रहा है। कुछ दिनोके पश्चात् दूसरे भाईने जातिवालोका निमत्रण किया, पर उसने सातकी जगह पाच प्रकारकी ही मिठाई बनवाई। लोग खाकर बोले—यह और भी बदमाश मालूम पडता है, इसने माल तो अधिक रख लिया और पंचोको पचवन्नीमे ही टिरकाता है। कुछ दिनोंके बाद तीसरे भाईने जाति वालोका जीमनवार किया और दो-एक किस्मकी मिठाई और पूडी शाक खिलाई। लोग बोले, यह उससे भी अधिक बदमाश मालूम पडता है। कुछ दिनोंके बाद सबसे बडे भाईने जाति वालोकी जीमनवार की, और केवल पूडी शाक ही बनवाई। लोग खाकर बोले—यह सबसे अधिक बदमाश मालूम पडता है, सबसे बडा लडका है चाबी इसके पास थी, धन तो सब रख लिया होगा अपने पास और हम सबको पूडी शाकमे ही टिरका दिया। कहनेका सारांश यह है कि सबको खुश रखनेका कोई उपाय नही है, और न कोई सबको खुश रख ही सकता है। इसलिए हमे कोई भी काम व विशेषतः धर्मसाधन दूसरोको खुश रखनेके लिए

नही, बल्कि अपने ही कर्तव्यपालनकी दृष्टिसे करना चाहिए। दुनियाको प्रसन्न कौन रख सकता है ? अतएव सबको अपनी मान मर्यादा सामने रखकर कर्तव्यपालन करना चाहिए। दूसरोके खुश करनेकी चिन्ता व्यर्थ है।

मोक्षमार्गीको पहले अरहत सिद्धका स्वरूप समझना चाहिए। जैसा अरहत सिद्धका स्वरूप है, यदि यह न समझ पाया तो करोगे क्या ? अपने स्वभावकी और उनके आश्रयसे वैसे पर्यायस्वभावकी एकत्वसन्धि लगाना ही मोक्षमार्ग है।

शुभोपयोगकी निष्पत्तिकी पद्धतिपर विचार—प्रश्न—जीवमे जो शुभ परिणाम होता है, वह स्वभावसे होता है, या निमित्तकी उपस्थितिसे ? उत्तर—जीवमे शुभ परिणाम निमित्त की उपस्थितिसे होता है। शुभोपयोगमे कर्म तो निमित्त है और मूर्ति आदिक आश्रय है परन्तु उपादानदृष्टिसे वस्तुत्वदृष्टि देखो तो जीवकी परिणतिसे जीवका परिणमन होता है। यदि बाह्य और अन्तरङ्ग कारणोंके योगसे मेरे शुभोपयोग होता है, तो होने दो, पर ज्ञानी अपने आत्म-स्वभावमे शुभोपयोगकी प्रतिष्ठा नही होने देता। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही कर्म-प्रेरित है, पर भेद तीव्र मन्दताका है। जब कषायोका उदय तीव्र होता है तो अशुभोपयोग होता है और जब कषायोका मन्द उदय होता है, तब शुभोपयोग होता है। स्फटिकमणिमे जो जपा आदिके योगसे रग दिखता है, वह क्या स्फटिकका है ? नही। वह तो परके सम्बधसे दिख रहा है और उसका सम्बध दूर होते ही मिट जायगा। मैं भीतर घुसके कह रहा हू, हमे सिद्धोका लक्ष्य रखकर कार्य करना चाहिए। जिन्होने सिद्धोको रखकर निज शुद्ध परमात्माके लक्ष्यसे अपनी दृष्टि निर्मल की, वे ही शुद्धोपयोगमें पहुचे। मेरा उद्यम शुद्धोपयोगके लिए है, पर जो उद्यम है, वह शुभोपयोग है। शुभोपयोगके विना काम नही चलता, और उसे पकड़े रहनेसे भी काम नही चलता। जब यह जीव अशुभोपयोगसे परिणत होता है, तब अशुभ कहलाता है। जब यह शुभोपयोगसे परिणत होता है, तब वह शुभ कहलाता है और जब यह शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रूपसे परिणत होता है तब वह शुद्ध कहलाता है।

अपराध और मुक्तिमें जीवका प्रवर्तन—भैया ! यही जीव तो अपराध करता है और यही उससे मुक्त होता है। जैसा करेगा, सो वैसा भरेगा। कोई तो क्या भगवान भी किसीक सुख दुख नही देते। निमित्त होनेकी बात दूसरी है। विपापहार स्तोत्रमें कहा है—उपैति भक्त्या सुमुख सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुखम्। सदावदातद्युतिरेकरूप स्तयोस्त्वो मादर्श इवावभासि ॥

हे भगवन ! हे ज्ञानमय तत्त्व, जो रुचि श्रद्धापूर्वक तुममे अभिमुख होता है, वह स्वभावसे ही सुखको प्राप्त करता है और जो तुमसे विमुख रहता है वह स्वत ही विभावके परिणमनसे दुखको प्राप्त करता है। पर हे प्रकाशमान चैतन्य ! तुम तो उन दोनो ही दशाओमे

सदा एक आदर्श (दर्पण) के समान शोभायमान होते हो।

इससे भी यही अर्थ निकलता है कि भगवान किसीको कुछ देते नही है। भक्त ही अपनी भक्ति और भावनाके अनुसार भला या बुरा फल पाया करता है। भगवान न किसी को सुख देते है और न किसीको दु ख ही। जिसकी भावना सदा अच्छी रहेगी, वह सुख पायगा, और जिसकी भावना बुरी रहेगी वह दु ख पायगा। भगवान तो केवल आश्रय विषय मात्र है और सुख दु खमे हमारे भाव निमित्त है। यदि आपका लक्ष्य निरन्तर शुद्ध तत्त्वके लक्ष्य वाला शुभोपयोग रूप रहेगा, तो आप परीक्षामे अवश्य उत्तीर्ण होगे। शुद्धोपयोगमे चलने का मार्ग शुभोपयोग है। किन्तु यदि उसके लक्ष्यमे शुभोपयोग आ जाय, तो उसका मार्ग ही बन्द हो जायगा।

लक्ष्यका सहारा—इस समय शुभोपयोग तो पर्यायमे है और शुद्धोपयोग लक्ष्यमे है। क्या कहाँ कैसा है, यह बात यथार्थ समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान यही है कि जो जैसा है, उसे वैसा ही समझें, हीनाधिक नही। समन्तभद्राचार्यने सम्यग्ज्ञानका यही स्वरूप कहा है—अन्यून-मतिरिक्त याथातथ्य बिना च विपरीतात्। नि सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥

वस्तुके स्वरूपको न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और सन्देहरहित यथार्थ जाननेको आगमके जानकारोंने सम्यग्ज्ञान कहा है। प्रश्न—क्या किसी खास कामका नाम शुभोपयोग है ? उत्तर—किसी खास कामका नाम शुभोपयोग नही है, किन्तु जो काम शुभ परिणामोसे सम्पन्न होते है, शुभ भावसे युक्त हैं, जिनके करनेसे किसी जीवको भी किसी प्रकारका कोई कष्ट नही पहुचता उन कामोका नाम शुभोपयोग है। मन, वचन, कायकी क्रिया, विनयरूप होना, जीवरक्षारूप होना, दान देने रूप होना—ये सब शुभोपयोग ही है। जब तक जीव अपनी परिणतिको शुभसे शुभतर नही बनाता, तब तक वह शुद्धोपयोगी भी नही बन सकता। मोक्षमार्गकी पटरीपर चलनेके लिए पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है।

अन्तरगमे भावना जागृत करो, जिसकी भावनामे शुद्धोपयोग है, वह भावना तो शुभो-पयोगरूप पर्याय है, परन्तु उसका जो लक्ष्य है, वह शुद्ध है। शुभोपयोग हमारा खड ज्ञान है। परन्तु जो शुद्ध निज वस्तुका लक्ष्य करके बना है, वह अखड तत्त्व शुभोपयोगमे विद्यमान है अर्थात् अखडका खड ज्ञान है। खडमे अखड विराज रहा है। बताओ जिसमे अखण्ड विराज रहा है वह खण्डरूप कब तक रहेगा ? एक दिन वह भी अखण्ड हो जायगा। आप स्वय कल्पवृक्ष हैं, किससे क्या याचना कर रहे हो ? जैसी भावना होती है, वह आत्माको अवश्य मिलता है। एक-एक वस्तुकी बात तो नही कहते, परन्तु जिस जातिकी आप भावना करेंगे, उसकी सिद्धि अवश्य होती है। यदि शरीर अच्छा है, शरीर ही मिलता रहो, ऐसी भावना बनी रहे, तो शरीरोंके टोटे नही, मिलते ही रहेगे, अर्थात् मरे और नया शरीर मिला, इस

प्रकारका तांता लगा ही रहेगा। यदि ऐसी भावना करें कि मैं शरीररहित हूं, ज्ञानमात्र हूं, सबसे भिन्न हू, निर्विकार हू, तो इस भावनाके फलस्वरूप चाहे एकाध भवकी देरी लगे, परन्तु ऐसा हो करके ही रहेगा। तब बताओ—जैसी भावना की, तैसी ही इसे सिद्धि हुई या नही ? इससे अपने फलाफलके लिए अपनी ही जिम्मेदारी समझें, अपनी दशाके लिए हम स्वयं जिम्मेदार है।

आत्मविजयकी आत्मतन्त्रता—देखो भैया, मागने वाले बहुतसे लोग कहा करते है कि भगवती तुम्हारी फतेह करे। क्या जैसे पडितकी पंडितानी, सेठकी सेठानी, बाबूकी बाबूयानी होती है, वैसे ही क्या भगवानकी भी कोई भगवती स्त्री है ? नही है। तब क्या उनका यह कहना झूठ है ? हा, उनकी दृष्टिसे तो झूठ है, परन्तु तत्त्वदृष्टि लगाओ तो झूठ नही है। भगवतीका अर्थ है—भगवतः अभिन्ना इय परिणतिः—भगवती अर्थात् भगवानकी निज सहज अभिन्न परिणति ही भगवती है। सो यह भगवती फतेह ही करती है। शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें अनाकुल सुखरूप विजय ही विजय है। विजय स्वके तन्त्र है।

सर्व कार्य अपनी-अपनी द्रव्यकी परिणतिसे ही होते है। आप कहोगे कि वाह, इसमे तो ईश्वरको भी उडा दिया, परन्तु भाई, वह द्रव्य क्या है, वह मैं क्या हू ? जिसके परिणमन पर्याय कहलाते हैं उसे जो समझे, समझो उसने ही ईश्वरकी असली भक्ति की। ईश्वर तो हमारा आदर्श है, उसके स्वरूपके लक्ष्यरूप निज द्रव्यदृष्टिसे पर्यायमे निर्मलता आती है। उस ज्ञानीको पूर्ण निश्चय है, अपने स्वभावको देखकर उसे पूर्ण निर्णय हुआ कि जो सिद्धमे है, वह मुझमे है और जो मुझमे नही, वह सिद्धमे नही। द्रव्य और गुणोकी कैसी अपूर्व सन्धि है ? सचमुचमे ज्ञानीके ही अनन्त चतुष्टयमय प्रभुकी भक्ति होती है।

सर्वज्ञदेवका तो हमे यह उपदेश है कि हे मुमुक्षो, तुम मुझमे भी अनुराग मत करो। यह अनुराग भी चन्दन वनमे लगी हुई अग्निके समान स्वर्गसुखके क्लेशरूप दाहको ही पैदा करेगा। तुम्हारा शुद्धस्वरूप ज्ञानदर्शनकी विशुद्ध परिणति है आदि निष्पक्ष उपदेश है। इस उपदेशको सुनकर सरागपर्यायमे रहने वाला भक्त क्या उनकी भक्ति छोड देता है ? नही, उल्टी उसकी तो भक्ति और बढ जाती है। हा, श्रद्धा अवश्य सूक्ष्मसे सूक्ष्म भी विकारोंसे रहित, भेद कल्पनासे रहित, शुद्ध तत्त्वकी है और वही लक्ष्यमे रहता है।

सम्यग्दृष्टिकी लीला—सम्यग्दृष्टिकी लीला विचित्र है। देखो—जिस कल्पनासे सम्यग्दृष्टिको अरहत और सिद्धस्वरूप मिल गया, वह कल्पना भूखी रह-रहकर स्वय मर जाती है। कल्पनाकी खुराक कल्पनाका राग है। ज्ञानीका जो शुभोपयोग है, उसे रागकी खुराक नही मिलती। रागको यदि रागकी खुराक नही मिले, तो वह खत्म हो जायगा। भक्तकी भक्ति भी उसे उच्च पद प्राप्त करनेमे बाधक है। भक्त इस बातको जानता हुआ भी भक्ति करता है,

उससे बाज नही आता। इसे शास्त्रोंमे उसका प्रशस्त राग ही माना है, और राग तो चाहे प्रशस्त हो या अप्रशस्त, सभीको हेय बताया गया है। प्रश्न—जब रागको हेय बताया गया है, तो सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता ही क्यो है ? उत्तर—सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता नही है, वह उसके होता है, इसके लिये वह क्या करे ? वह अन्तरगमे उसे उपादेय नहीं मानता, इसलिये उसे पकडता नही है। सम्यग्दृष्टि श्रद्धासे पूर्ण अकर्ता है।

परिणामोका उपसंहार—जीवोंके परिणाम तीन प्रकारके बताये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमे मिथ्यादृष्टिके शुभ और अशुभ परिणाम कर्मबन्धके ही कारण होते है। सम्यग्दृष्टि अशुभका तो त्याग करता ही है, पर शुभको भी उपादेय नही मानता, अत उसका शुभोपयोग विशेपतया कर्मबन्धका कारण नही होता, प्रत्युत शुद्धोपयोगका पूर्व कारण होता है। शुद्धोपयोग साक्षात् वीतरागपरिणति है, वही कर्मोका विनाश करता है और केवलज्ञानको उत्पन्न करता है। ज्ञानीकी दृष्टि सदा शुद्धोपयोग प्राप्त करनेपर रहती है परन्तु श्रद्धाका लक्ष्य शुद्ध पर्याय भी न रहकर द्रव्य व अर्थ रहता है। हमे भी सदा यही लक्ष्य रखना चाहिए, और जब तक शुद्धोपयोग दशा प्रगट न हो, तब तक उदासीन भावसे शुभ क्रियाए होते रहना चाहिये। कही ऐसा न हो कि हम अशुभके समान शुभ क्रियाओको भी छोड बैठें और शुद्ध तो हमसे छूटा हुआ ही है। ऐसी दशामे हम कहीके न रहेगे। यह व्यवहारकी बात है।

ये अशुभादि तीन परिणाम आत्माके ही हैं, पर इनमे जो सामान्य परिणमन है, वह आत्मस्वरूप है। आत्मामे जो विभावगुण है, वही क्रोधादिरूप परिणमता है। प्रश्न—क्या रागादि भी आत्माके स्वभावसे परिणमता है ? उत्तर—निमित्तकी उपस्थितिमे अशुद्ध आत्मा अपने विभावस्वभावकी परिणतिसे रागरूप परिणमता है। अथ परिणाम वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—अब परिणाम वस्तुका स्वभाव है, इस बातका निश्चय करते हैं—

णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्थ विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

पदार्थकी द्रव्यगुणपर्यायस्थता—परिणामके बिना अर्थ नही, इसका अभिप्राय यह है कि पर्यायके बिना द्रव्यका अस्तित्व नहीं। यदि कोई कहे कि ऐसा मनुष्य लाओ जो न बालक हो, न जवान हो और न बूढा हो, तो बताओ किसी अवस्था विशेषके बिना केवल मनुष्य कैसे लाया जा सकता है ? जब भी और जहाँ कही भी मनुष्य मिलेगा, वह किसी न किसी बाल-वृद्धादि अवस्थासे युक्त ही मिलेगा। इसी प्रकार कोई भी पदार्थ पर्यायशून्य नहीं मिल सकता। जब भी और जहा कही भी पदार्थ मिलेगा, वह पर्याय-संयुक्त ही मिलेगा। जिसकी कोई पर्याय उपलब्ध नही, उसकी सत्ता क्या ? बच्चे अक्सर खेल खेलमे किसी बालकको बीमार मानकर उसके चिकित्सक बन जाते है और उसके अच्छा होनेके लिए दवा बतलाने

लगते है कि इसे आकाशकी छाल, धुआकी कोपल और अमरबेलकी जड लेकर गधेके सीगसे पीसकर पिला दो; जल्दी अच्छा हो जायगा। पर जब उक्त कोई चीज अपना अस्तित्व ही नही रखती, तो उनका समुदाय कैसा ?

पर्यायकी प्रतिक्षण अवश्यंभाविता—द्रव्यके बिना पर्याय नही, पर्यायके बिना द्रव्य नही। जो वस्तु जिस क्षण जिस रूपसे रहेगी, उसीका नाम पर्याय है। पर्याय प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होती रहती है, पर वह प्रतिक्षणका परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे जान नही सकते। कुछ कालके बाद ही हमे उसका ज्ञान होता है। कोई बालक एक वर्ष पूर्व ३॥ फुटका था और उसका वजन १ मन था। आज वर्षभरके उपरान्त वह ४ फुटका हो गया और वजन भी १ मन ५ सेर हो गया, तो यह परिवर्तन एक साथ एक दिनमे ही नही हो गया। वह बराबर गत वर्षसे ही प्रतिक्षण बढता हुआ चला आ रहा है, पर प्रतिक्षणका परिवर्तन इतना सूक्ष्म था कि हमे उसका भान नही होता था। आज वर्षभरमे वह स्थूलरूप मे सामने आया, तब हमे उसका ज्ञान हो सका।

वस्तुका परिणमन तो अवश्यम्भावी है। कहीपर उस परिणमनके बाह्य निमित्त दिखाई देते है और कहीपर नही। एक लडका दूर खडा हुआ किसी दूसरे बालकको अपनी मुखाकृति बिगाडकर चिढा रहा है और दूसरा चिढ रहा है। बताओ, वह किसकी परिणतिसे चिढ रहा है ? चिढ तो उसमे निज परिणतिसे है, परन्तु निमित्त वह चिढ़ाने वाला बालक हो रहा है। यहाँपर बाह्य निमित्त दिखाई दे रहा है। पर कही बाह्य निमित्त दिखाई दे रहा है। पर कही बाह्य निमित्त नही होनेपर भी वस्तुका परिणमन बराबर होता रहता है। एक आम हरासे पीला हो गया। यहाँपर जाहिरमे कोई बाह्य निमित्त नही है, फिर भी आमके रूपमे परिवर्तन तो हुआ ही है। मुखकी उपस्थितिमे दर्पणमे जो रूप बनता है, वह प्रतिबिम्ब कहलाता है। यहाँ जो दर्पणमे परिणमन हुआ, वह दर्पणका ही है, हाँ मुख उसमे निमित्त कारण अवश्य हुआ। इसी प्रकार जीवमे जो क्रोधादिरूप परिणमन होता है, उसमे कर्मका उदय निमित्त पडा करता है। पर सिद्धोमे जो परिणमन प्रतिक्षण हो रहा है, उसमे बाह्य निमित्त नही है।

वस्तुविज्ञानका फल विकारका अभाव—प्रश्न—"हम जीवद्रव्य है, हमारा परिणमन हममे हमारे ही निमित्तसे हो रहा है। दूसरे किसीके निमित्तसे मेरे भीतर परिणमन नही होता।" ऐसा जाननेसे हमे क्या लाभ हुआ ? उत्तर—यह लाभ हुआ कि वैसा जाननेसे हमारे भीतर वैसी ही श्रद्धा प्रगट होती है, उससे परमे राग, द्वेष या मोह नही होता। दूसरे मे इष्ट-अनिष्टकी कल्पना नही जगती और इस प्रकार हम एक बडी आकुलतासे मुक्ति पा जाते है।

वस्तुविज्ञानका फल राग, द्वेष, मोह, लिप्सा आदिको दूर करना है। हमे कर्मके क्षयोपशमसे जो कुछ भी ज्ञान मिला है उसका उपयोग हमे परसे ममत्व हटानेमे ही करना चाहिये। जो दुनियादारीकी बातोंमें ही अपने ज्ञानका उपयोग करते है वे मानो हाथी पा करके उसपर ईंधन ढो रहे हैं, अथवा राखके लिये चन्दनको जला रहे हैं, अथवा अमृत पा करके उससे पैर धो रहे हैं, अथवा चिन्तामणि रत्नको कौआ उडानेके लिये फेंक रहे हैं। कुछ लोग इतने कजूस देखे जाते है कि केला खा करके उसके छिलकेको भी चाट जाते है। पर हमे उन जैसी कंजूसी ज्ञानके पक्षमे लगाना चाहिये। हमे जितना भी ज्ञान प्राप्त है, उसे निरन्तर आत्महितमे, स्वकल्याणमे ही व्यय करना चाहिये। सर्व ज्ञेयाकार वहाँ स्वयं प्रकट होंगे।

उपदेशका विशुद्ध प्रयोजन— प्रश्न—यदि ऐसा है, तो फिर आपको भी आपका ज्ञान अपने ही कल्याणमे लगाना चाहिए। हमारे लिए उपदेशादि क्यो देते हैं? उत्तर—आपका कहना ठीक है, हमे अपने ज्ञानका उपयोग स्वकल्याणमे ही करना चाहिए। फिर भी हम जो उपदेशादि देते हैं, वह अपने ज्ञानकी रक्षाके लिए ही देते है। ज्ञानकी ऐसी विलक्षण बात है कि ज्यो-ज्यो इसे हम खर्च करते हैं, त्यो-त्यो यह बढता है और जब हम इसका खर्च बन्द कर देते हैं अर्थात् दूसरोको नही देते है, तब इसकी वृद्धि रुक जाती है और ज्ञानको जग लगना शुरू हो जाता है। कहा भी है—

सरस्वतिके भडारकी, बडी अपूरब बात।
खर्चेते यह बढत है, बिन खर्चे घट जात॥

लोग ज्ञान पा करके दूसरोंके साथ शास्त्रार्थ करते है, वाद-विवाद करते है और दूसरोको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते हैं। पर यह ज्ञानका, विद्या पानेका दुरुपयोग है। इसी प्रकार धन पा करके लोग मदान्ध हो जाते है, उन्हे फिर दूसरेके सुख दुखका कुछ ख्याल नही रहता। रात दिन विषयोंके सेवनमे ही उलझे रहते हैं। उनकी यह दशा यहा तक बढ जाती है कि यदि कोई सुगुरु उनके भलेकी बात कहे, तो उन्हे वह विषसी लगती है। किसी आचार्यने उनकी यह दशा देखकर कहा है—

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम्।
प्रयान्तोऽपि न कार्यान्ति धनान्धा इति चिन्त्यताम्॥

अर्थात् धनके मदसे अन्धे हुए पुरुष प्रथम तो अपने कल्याणकी बात सुनते ही नही है। यदि लोकलाजवश सुन भी लेवें, तो उसे समझते नही हैं। यदि समझ भी लें, तो उस सुमार्गपर चलते नही हैं। यदि चार जनोंके कहने-सुननेसे चलें भी, तो कार्यके अन्त तक नही पहुचते, बीचमे ही अटक जाते है, धनान्धोकी यह दशा विचारणीय है। इसी प्रकार लोग शक्तिबलको पाकर उसका उपयोग दूसरोको पीडा पहुचानेमे करते हैं। वे शिकार खेलकर,

गरीबोको सताकर और निहत्थोपर वार करके अपनेको शक्तिशाली होनेका गौरव अनुभव करते हैं। पर समझदारोकी बाते इनसे विपरीत ही हुआ करती है। किसीने कितना सुन्दर कहा है—

विद्या विवादाय धन मदाय, शक्तिः परेषा परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥१॥ अर्थात् यदि दुर्जन मनुष्यको विद्या मिलती है, तो वह दूसरो से विवाद करता है, धन मिलता है, तो वह गर्व करता है और शक्ति मिलती है तो वह दूसरोको पीडा देता है। पर जो सज्जन होते है, साधु होते है, उनकी विद्या दूसरोके ज्ञान बढानेके काम आती है, उनका धन दानके काम आता है और उनकी शक्ति दूसरोकी रक्षाके काम आती है।

वस्तुकी सामान्यविशेषात्मकतामे द्रव्य गुण पर्यायकी सिद्धि—कोई भी वस्तु परिणमनके बिना नही रहती। द्रव्य, गुण, पर्यायमे रहनेसे ही उसका अस्तित्व है। वस्तु पर्यायके बिना सत्ताको प्राप्त नही हो सकता। मनुष्यपर्यायमे रहनेपर जो हालतें उस पर्यायके स्वभाव से है, यदि उन्हे न माना जाय, तो मनुष्यत्व क्या रहेगा? यदि किसीसे कहा जाय कि मनुष्य को देखो, पर उसके बालपन, जवानी और वृद्धपनको मत देखो, तो बताओ—क्या देखा जा सकता है? हाँ, उन सब पर्यायोमे अन्वयरूपसे रहने वाला जो कुछ है, वह मनुष्य ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है। वस्तु एक है, वह कोई न कोई हालतमे रहती ही है। जो हालत है, पर्याय है और जो प्रत्येक हालतमे अन्तर एक स्वरूप है, वही द्रव्य है। यह हालत द्रव्यसे पृथक् नही है। परन्तु अवस्था क्षणभरको रहती है और द्रव्य अनेक अवस्थाओको पार करता हुआ त्रिकाल रहता है, इसलिए पर्यायसे द्रव्यका पृथक् स्वरूप हुआ। वर्तमानमे तो द्रव्य उस पर्यायमय है। वस्तुकी उपलब्धि परिणमनसे पृथक् ज्ञानगम्य तो है, परन्तु वस्तुमे पृथक् नही मिलेगी, क्योकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक ही होता है। जब हम ज्ञाननयके द्वारा उस वस्तुके सामान्य भावका बोध कर रहे है, तब हमारे ज्ञानमे सामान्य भाव तो पृथक् स्वरूपसे ज्ञात हुआ, फिर भी ऐसा जानने वाला मै भी सामान्यविशेषात्मक रहा तथा जिस वस्तुका वह अश ज्ञात हुआ वह भी सामान्यविशेषात्मक है।

अविष्वग्भावकी दृष्टिसे सिद्धि—अनादिकालसे इस जीवने पर्यायमात्रको तो समझा, अपनी क्षणिक विकार अवस्थाओको आत्मपदार्थरूपसे माना, परन्तु प्रतिपर्यायमे नित्य प्रकाशमान, अनाद्यनन्त, अखड ध्रुवस्वभावी निज ज्ञायकभावको नही पहिचाना। उसका लक्ष्य द्रव्यदृष्टिसे होता है। वह द्रव्य पर्यायके बिना नही है, फिर भी पर्यायके भेदको गौण करके नित्य अखड स्वभावसे जो बर्तता है उसके लक्ष्यसे पर्यायका विकल्प मिटता है और पश्चात् परमार्थ का अनुभव होता है। इसी उपायसे पर्यायकी निर्मलता प्रगट होती जाती है।

आत्माकी पर्यायें जाति-अपेक्षा संक्षेपसे तीन प्रकारकी है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। हम इन्ही पर्यायोके करनेमे समर्थ है, किन्तु जगत्के किसी परमाणुमात्रका परिवर्तन करनेमे हम समर्थ नही हैं। जैसे हम अशुभ विचार कर लें या शुभ विचार करें, या शुभ अशुभ दोनोसे रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहे, हममे क्या पर्याय होती है, वह मुझमे उस काल अभेदरूप से वर्तती है, इसी तरह जिन-जिन द्रव्योमे जब जो पर्याय होती है, तब वह वहा अभेदरूपसे वर्तती है। इस प्रकार निजसे ही द्रव्य और पर्यायकी अपृथक्ता जानने समझने वाला मोही अज्ञानी नही हो सकता, उसमे कर्तृत्वबुद्धि नही जग सकती। द्रव्यके यथार्थस्वरूपका बोध मोहभावके नाशका कारण है। जो कार्य जिस उपायसे होता है, उसकी सिद्धि उसी उपायसे होती है।

परिणमनशून्य वस्तुका अभाव—यदि वस्तु परिणमनशून्य हो, तो वह वस्तु तो गधे के सीगकी तरह शून्य होगी। जब परिणमन नही तब चर्चा किसकी ? परिणमनशून्य वह वस्तु तो गप्प नही, महागप्प है। गप्पमे भी द्रव्य, गुण, पर्याय मिलेगा, उसका आश्रय मिलेगा, परन्तु परिणमनशून्य उस हौवाकी हम क्या चर्चा करें। इसलिए द्रव्य, गुण और पर्याय पृथक् सत्ताक नही मिलेंगे, और न किसीकी पर्याय किसी अन्यकी सत्तारूप ही मिलेगी। सर्व पदार्थ स्व-स्वमे ही स्थित है। यदि परिणमनशून्य वस्तु मानी जाय, तो हमे लोकमे बताओ कि दूध, दही, घी, छाछके अतिरिक्त गोरस क्या है ? यद्यपि यहा गोरस भी द्रव्य नही, पर्याय है, तो भी दृष्टान्तको प्रगट करनेके लिए यह समर्थ दृष्टान्त है। देखो—दूध गोरस है और दही भी वही गोरस है, छाछ, घी भी वही गोरस है। फिर भी जो इन पर्यायोमे से किसी एक पर्याय रूप ही न रहकर सबमे अनुगत है, वह गोरस आपको कभी दिख भी सकता है ? नही दिख सकता, किन्तु ज्ञानगम्य अवश्य है। यही कारण है कि गोरसका त्यागी सर्वत्यागी कहलाता है। परन्तु दूध या दहीका त्यागी गोरसका त्यागी नही कहलाता। इसी बातको आप्तमीमासा मे समन्तभद्राचार्यने कहा है—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत·।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥

जो पयोव्रती है अर्थात् जिसने केवल दूध खानेका ही नियम ले रखा है, वह दही नही खाता। जो दही खानेका नियम वाला है, वह दूध नही खाता और जो अगोरसव्रती है अर्थात् जिसने गोरस खानेका ही त्याग कर रखा है, वह न दूध ही खाता है और न दही ही खाता है। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्व त्रयात्मक है अर्थात् वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। दूध, दही आदिमे जो रहता है, वही गोरस है, पर उसे दूध आदिसे पृथक् नही कर सकते और न उसे पृथक्रूपसे बताया ही जा सकता है। जो कुछ भी कहा जायगा, वह दूध दही आदि रूप

ही होगा। पर्याय तो समझमे आ जायगी, पर द्रव्य समझमे आनेपर भी बताया नही जा सकता। गोरसके बिना दूध दही आदि नही और दूध-दहीके बिना गोरस नही, द्रव्यके बिना पर्याय नही और पर्यायके बिना द्रव्य नही।

केवलीके और सामान्य जनोंके ज्ञानमें अन्तर—प्रश्न—केवलीके और सामान्यजनोके जाननेमे क्या अन्तर है? उत्तर—सामान्य जन तो कुछ अशको जानते है, क्रमसे जानते है, अस्पष्ट जानते है, परन्तु केवली भगवान तीन लोक, तीन कालके सर्व पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। जब हम अनेक विघ्न बाधाओंके रहते हुए भी, आवरण कर्म और इन्द्रियकी प्रतिबन्धता होते हुए भी इतना जानते है, तो जहाँ सर्व आवरण और सर्व प्रतिबन्ध नष्ट हो गये, उनका ज्ञान इतनी सीमाको ही जाने, ऐसी नियामक व्यवस्था करने वाला कौन है? कोई नही। तब उनका ज्ञान नियमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी अपेक्षाओसे असीम है, सबको स्पष्ट जानता है। अर्थात् सब जैसे निज ज्ञेयाकारको जानता है।

यथार्थ ज्ञानके बिना दुर्दशाकी भाजनता—वस्तुके बिना पर्याय नही रह सकती। यह दीखने वाली पर्याय है, पर ज्ञानसे त्रैकालिक अनुगत द्रव्यको जान सकते है। यह जो सामने खडा खम्भा दिखाई देता है, वह भी पर्यायरूप है। यह इसी रूपमे सदा स्थायी नही रहेगा, किन्तु उसकी विभिन्न पर्यायोमे पुद्गलद्रव्य बराबर अनुगत रहेगा। यही बात सर्व चेतन-अचेतन द्रव्योमे समझना चाहिए। इस प्रकार यदि तत्त्व समझमे आ गया, तो बेडा पार है, अन्यथा सब बेकार है। जैसे मोही जीव स्त्री पति आदिके साथ विषय भोगकर अपनी शारीरिक शक्तिको खोकर सुख मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव बाहरी पदार्थोंके जानने देखनेमे ही अपनी ज्ञानशक्तिको खोकर अपनेको ज्ञानी और विद्वान् मानता है। जो ज्ञान आत्मज्ञान पैदा न करे, वह अज्ञान या कुज्ञान ही है। इसलिए हमे बाह्यपदार्थोंकी ओरसे उपयोग हटाकर उन्ही तत्त्वोको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए जो कि आत्माके लिए हितकारी हो। उन्ही लोगोकी सगति करना चाहिए, जिनसे हमारे ज्ञान, ध्यान और चारित्रकी वृद्धिमे सहायता मिले। उन लोगोकी सगति कदाचित् भी नही करना चाहिए, जिनसे हमारा चारित्र बिगडे, हमारे विचार-बुरे हो और सयममे बाधा आवे। हमे अपने दिन रातके २४ घटोका हिसाब रखना चाहिए कि हमारा कितना समय भले कार्योमे लगता है, या बेकार जाता है। मनुष्यजीवन अनमोल है, इसकी एक-एक घडी रुपया व्यय करनेपर भी नही मिल सकती है। आज हमे इसके बहुमूल्यपनेका ज्ञान नही होता परन्तु जब हम दुर्गतियोमे पहुचते है यदि कुछ विवेक जगे तब वहा इसकी कीमतका पता लगता है। जरा बैलगाडीमे जुते और बोझा ढोने वाले इन बैलोकी ओर तो देखो, जो बेचारे आँसू बहा-बहाकर गाडीको खीच रहे हैं और मानो अव्यक्त रूपसे हाँकने वाले और देखने वालोंसे कहते है कि हे मनुष्यो, हमने

उस जन्ममे मायाचार किया, भली बात कहने वालोंसे लड़नेके लिए तैयार रहे और लेकर किसीका देना नही समझा, उसका फल आज बैल बनकर भोग रहे है। तुम लोगोंने यह मानव देह पाया है, तो हमारे समान व्यर्थ मत खो देना, अन्यथा हम जैसे बनकर दिन रात कष्टसेवनमे ही समय बिताना पडेगा, दिनभर कठिन परिश्रम करनेपर भी वक्तपर घास पानी भी नसीब नही होगा। ये पूछ हिलाकर पीछे-पीछे भागने वाला कुत्ता भी मानो हमसे कह रहा है कि हे मानव देहधारी, तू मायाचारी करके किसीकी खुशामद मत करते फिरना। यदि दूसरेकी खुशामद करते फिरे और अपने भाई बन्धुओंको काटनेके लिए दौडते फिरे, तो मेरे समान तुम्हे भी कुत्तेका देह धारण करते और इधर-उधर पूछ हिलाते फिरना पडेगा। इस प्रकार जिस किसी भी देहधारीकी ओर हम देखें, वह अपनी मूकभाषामे कोई सकेत करके सावधान कर ही रहा है।

निराश्रय परिणमनका अभाव—जो पर्यायका आश्रयभूत है, वही पदार्थ है, तत्त्व है, द्रव्य है। यदि पर्यायका कोई आश्रय नही माना जायेगा, तो वह निराश्रय कहां ठहरेगा? जो निराश्रय परिणाम होता है, वह तो शून्यके समान कोई वस्तु नही है। एक सज्जनने अपने मित्रको पत्र लिखा कि तुम्हे मेरे पुत्रकी शादीमे अवश्य शामिल होना चाहिये और नियत समय पर मेरे घर आ ही जाना चाहिये। मित्रने लिखा, आपकी आज्ञा जरूर पालन करूगा और सिरके बल दौडा आऊगा। जब शादी हुई और मित्र शामिल नही हुए, तो उसने मित्रको पत्र लिखकर उलाहना दिया। उसने उत्तर दिया कि मैंने लिखे मुताबिक आपके यहाँ सिरके बल चलनेकी बहुत कोशिश की, मगर कामयाब न हो सका। बढके बाते करना पोलखातेकी हुआ करती हैं। पर्यायशून्यके वस्तुकी बात भी पोल ही है, जिसका कोई आश्रय नही, जड-मूलका पता नही, वह अवस्तु ही समझना चाहिए। प्रतिसमय वस्तुमे एक एक परिणमन होता है।

एक बुढियाके चर्खेका तकुआ टेढा हो गया, वह लुहारके पास गई और बोली, इसका टेढापन निकाल दे। वह बोला दो टका लूगा। उसने हा भरदी। जब लुहारने उसका तकुआ सीधा कर दिया और पैसे मागे तो वह बुढिया बोली—हमारे तकुएका टेढापन हमे दो और अपनी मजदूरीके टका हमसे ले लो। लुहार बेचारा यह उत्तर सुनकर बहुत चकराया। वह तकुवेका टेढापन कहासे दे? वह टेढापन तो एक पर्याय थी जो उसे सीधा करते समय उसी मे विलीन हो गई। अब वह उसमे न सद्भावरूप ही है और न अन्तर्गुप्तरूप ही है। प्रत्येक द्रव्यमे प्रतिक्षणभावी पर्याय नष्ट होती हुई नवीन पर्यायको उत्पन्न करती रहती है, यही अनादिकालीन परम्परा है, जो आगे भी अनन्त काल तक चलती रहेगी। तकुवेके टेढेपनकी विलीनताने ही उसके सीधेपनका रूप धारण किया है। जब किसी वक्त जवान थे और आज

बूढे हो गये, तो बताओ–हमारी जवानी कहाँ चली गई ? क्या शरीरके भीतर छिप गई ? शरीरको चीरकर भी देखे, तो उसका कही पता नही चलेगा । मानना पडेगा कि वह जवानी क्रम-क्रमसे बुढापेरूपमे परिरणत हो गई ।

चर्चासे शिक्षाका लाभ—देखो भैया ! हमने इस प्रकार आपसे चर्चा एक घटे भर की, पर इसमे धर्म क्या और कितना हुआ ? इसका निष्कर्ष यही है कि हमे आजकी चर्चासे यह श्रद्धान् दृढ हो जाना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है । मै भी स्वतन्त्र द्रव्य हू और मेरी गुरण पर्याय भी स्वतत्र है । चर्चा धर्मदृष्टिके लिये होती है । सिद्धान्तमे बाह्य द्रव्यकी भी चर्चाये है, जैसे—महामत्स्य इतना लम्बा चौडा है, चौइन्द्री भौरा एक योजनका होता है, इत्यादि बतावो इस चर्चासे क्या लाभ है ? यही कि हमारी दृष्टि उन विकारी परिरणामोपर जाये कि जिनके काररण उन पर्यायोमे उत्पन्न होना पडता है परन्तु जावे उन परिणामोके निषेधका लक्ष्य रहते हुए । त्रिलोक और त्रिकालकी चर्चाका भी यही उद्देश्य है कि हमारी दृष्टि उस ओर जाय, जिसके कारण हमे सर्वत्र परिभ्रमण करना पडता है । कहनेका सार यही है कि तत्त्वको स्वतन्त्र समभकर स्वरूपमे लीन रहो ।

अर्थकी द्रव्यगुरणपर्यायस्थताका विश्लेषरण—इस गाथाकी उत्तर पक्ति बहुत माननीय है "दव्वगुरणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तरिणव्वत्तो" जो द्रव्यगुरण पर्यायमे स्थित है द्रव्यगुणपर्याय-सूचक उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्व करके रचा हुआ व रच रहा है यह अर्थ अनुभवनीय होता है । यहाँ चर्चनीय पद चार है—१–पर्याय, २–गुरण, ३–द्रव्य, ४–अर्थ । पर्याय तो प्रतिक्षरण वर्तनारूप है, विनाशीक है, एक वस्तुमे अनेक सहभावी परिरणमन पाये जाते है उनकी शक्तियोका नाम गुरण है । ये गुण ध्रुव होते है त्रैकालिक सर्व अवस्थावोमे एकरूप गुरणरूप रहते है इसीसे यह सामान्य कहलाते है, इन सर्व गुरणोका अभेद एक पिण्ड जो सामान्य रूप रहता है वह द्रव्य है । इसमे पर्याये अन्तर्लीन है अत गुरणपर्ययवद्द्रव्य भी इसका लक्षण है । द्रव्यदृष्टि करते हुए सामान्य अभेदरूप दृष्टि इसी हेतु हो जाती है । अब अर्थ क्या है ? द्रव्य गुरण पर्यायमे व्यवस्थित परन्तु किसी एक दृष्टिसे रहित समग्र अनुभवनीय जो वस्तु है वह अर्थ है यही परम भूतार्थ है । इसके अतिरिक्त जो भी दृष्टि है वह सब अश है । यहाँ अर्थके समक्ष द्रव्य विशेष है, द्रव्यके समक्ष गुण विशेष है, गुरणके समक्ष पर्याय विशेष है । अर्थ कभी विशेषरूप नही बना, अर्थकी ये विशेषता है । देखो भैया ! द्रव्य तो अभेदसामान्य है वह भी अनुभवके समक्ष विशेष है, आखिर अभेदरूपसे तो भेद किया गया । यहाँ वस्तुका स्वरूप चल रहा है । प्रत्येक वस्तुकी पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती है और नवीन उत्पन्न होती रहती है । उन प्रतिसमय-भावी पर्यायोमे जो अन्वयरूपसे चलता रहता है, उसे ध्रौव्य कहते है जो नवीन पर्यायें पैदा होती है उसे उत्पाद कहते है और जो पूर्व पर्याय नष्ट होती है उसे व्यय कहते है । इस

प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त वस्तु है। यही सूत्रकार श्री उमास्वामीने कहा है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। (तत्त्वार्थ० अ० ५) देखो भैया! सर्वत्र पर्यायोका प्रवाह चल रहा है। उनमें जो अन्वयरूपसे चल रहा है, वह सामान्य कहलाता है। जो पर्यायोका प्रवाह है, वह विशेष है। जो सामान्यमे विशेषोमे और उन सब व्यक्तियोमें रहे वह द्रव्य है। एक मनुष्य मरकर देव हो गया। यहा मनुष्यपर्यायका तो व्यय हुआ और देवपर्यायका उत्पाद हुआ। इन दोनोके बीच क्या केवल सामान्य तत्त्व है? नही। क्या केवल विशेष तत्त्व है? नही। तो क्या अर्थ हुआ? तीनोका समुदायरूप जो तत्त्व है, वही सत्य है।

सामान्य विशेषकी द्विविधताका भाव—सामान्यके दो भेद है—ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य। एक ही वस्तुकी आगे-आगे होने वाली अनेक पर्यायोमे रहने वाले सामान्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है। एक समयमे भिन्न-भिन्न स्थानोमे पाये जाने वाले पदार्थोमे जो समता होती है, वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है। द्रव्य सामान्यरूप है, पर्याय विशेषरूप है। सामान्यके दो भेद हैं, उनमे द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्यरूप है। मेरी जितनी पर्यायें हैं, उनमे चलने वाला जो ऊर्ध्वतासामान्य है, उसीमे द्रव्य है, वही द्रव्यका सूचक है, एकत्वका सकेतक है। विशेप भी दो प्रकारके होते है—सहभावी विशेष और क्रमभावी विशेष। जो एक साथ रहे, उन्हे सहभावी विशेष कहते है। जो क्रमसे होने वाले विशेष हैं, उन्हे क्रमभावी विशेष कहते हैं। आत्मामे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि एक साथ रहते है, अत: उन्हे सहभावी विशेष कहते हैं। इन्हीका दूसरा नाम गुण है। क्रमभावी विशेष क्रमसे होते हैं और उन्हे ही पर्याय कहते हैं। वस्तुकी अखडता जाननेके लिए उक्त तत्त्वोका जानना आवश्यक है। क्या प्रतिसमय होने वाली पर्यायें ही वस्तु है? नही। तो क्या सामान्यभाव ही वस्तु है? नही, तब क्या शक्तिमात्र वस्तु है? नही। वस्तु तो द्रव्य, गुण, पर्यायमे व्यवस्थित है। वस्तुको समझनेके लिए व्यापक दृष्टि बनानी पडती है। सहभावी विशेपरूप गुणोंमे और क्रमभावी विशेपरूप पर्यायोमे जो रहता है, वह द्रव्य है।

परिणमनकी निरन्तरभाविता—पूर्व पर्यायका व्यय और नवीन पर्यायका उत्पाद होते हुए भी जो दोनोमे अन्वयीरूपसे विद्यमान है, वही सत् है। जो उक्त तीनोसे रचा गया और रचा जा रहा है, वह द्रव्य है, वस्तु है। द्रव्यमे ऐसा नही होता कि एक बार तीनोसे रच दी गई, अब उसे आगे कुछ नही करना है। प्रतिसमय वह तीनोसे रचा जा रहा है और आगे भी प्रतिसमय तीनोसे रचा जाता रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु परिणमनस्वभावी है। दर्पण का स्वभाव वस्तुओको झलकाना है। उसे कही भी रखो, वस्तुका प्रतिबिम्ब उसमे पडेगा ही। यदि उसे सन्दूकमे बन्द करके भी रख देंगे, तो भी उसमे सन्दूकका ही प्रतिबिम्ब पडेगा। यदि उसे कपडेसे लपेटकर रखेंगे तो उसमे उसका ही प्रतिबिम्ब पडेगा। बिना प्रतिबिम्ब पडे दर्पण

रह नही सकता। इसी प्रकार वस्तुका स्वभाव भी परिणमनशील है। जहाँ कही भी रहेगा—निरन्तर परिणमन करता ही रहेगा।

रुडकीमे गंगा नदीका पुल है। उसके ऊपरसे नहर निकाली गई है। इस पुलमे ऊपरसे पानी झरता है। इन्जीनियरोका कहना है कि जिस दिन उसका झरना बन्द हो जायगा, उसी दिन वह टूट जायगा। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है, पर यही बात वस्तुमे लागू होती है कि जिस क्षण वस्तुका परिणमन बद हो जायगा उसी वक्त उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। बनना, बिगडना और बनी रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व कैसा? कल्पना करो—यदि कोई बने नही, तो बिगडे क्या? यदि बिगडे नही, तो बने क्या और यदि बने बिगडे नही, तो बना रहे क्या? यदि कोई बना नही रहे, तो बने-बिगडे क्या? जो धनी है, तो वह सदा धनी ही रहेगा, ऐसा नही हो सकता है। परिवर्तन अवश्यम्भावी है। हम भी बनते, बिगडते और बने रहते हैं।

हृदयस्पर्शी भावकी आवश्यकता—भैया! इस पर्यायका भी व्यय होगा, इसकी बात तो हम बहुत करते है और किसीके मरनेपर श्मशानमे वैराग्य भी सबको बहुत पैदा होता है। संसार क्षणभगुर दिखने लगता है और ऐसा लगने लगता है मानो हम अभी ससारका परित्याग कर देंगे। पर बताओ भीतर दिलमे चोट कितनोके लगती है? मृतकको जला करके

जीवित बच गये है, तो समझना चाहिए कि धर्मसेवन करनेके लिए ही बच गये है ? इसलिए हमे अपना समय धर्मसेवनमे ही लगाना चाहिए । यदि किसीसे पूछो कि आप कितने वर्षके है, तो वह उत्तर देता है कि हम ३७ वर्षके हैं परन्तु यह भूठ है । हम अनादिकालसे चले आ रहे है, इसलिए उत्तर यह देना चाहिए कि हम अनन्त वर्षके बूढे हैं और यदि किसी विशेष जिन्दगीसे मतलब है तो देखो धर्मके बिना जिन्दगी कोई जिन्दगी नही । अत यह अनन्तकाल का जीवन तो व्यर्थ हो गया समझना चाहिए । जबसे हमारे भीतर धर्मभाव जागृत हुआ, पर से लक्ष्य छूटा, तभीसे हमारी जिन्दगी प्रारम्भ हुई समझना चाहिए । सुखकी प्राप्ति सुखके उपायसे मिलेगी । सुखकी प्राप्ति धर्मसे होती है, इसलिए सुखकी कामनावालोको धर्मका पालन करना चाहिए । हम गृहस्थीकी लम्बी चौडी शान भले ही बना लेवें, पर उससे क्या ? सप्तम नरकका नारकी एक बार सुखी हो सकता है, यदि उसके श्रद्धा जग जाय और सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय । पर गृहस्थीमे फसे मिथ्यात्वी मनुष्यके सुखकी कल्पना नही की जा सकती । जिसकी तरगोमे सप्त तत्त्वका श्रद्धान है, ज्ञायकभावकी श्रद्धा है ऐसा सम्यक्त्वी नारकी सुखी है, पर भोगासक्त मिथ्यात्वी मनुष्य सुखी नही है । अत अशुद्धोपयोगका सम्बध सुखका बाधक जानकर उसे त्यागें ।

क्रियाफलकी आलोचना—अथ चारित्रपरिणामसपर्कसभववतो शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय् फलमालोचयति—अब चारित्र परिणामके सपर्कके सभववाले या जिनमे चारित्र परिणामका सपर्क व सभवपना है ऐसे शुद्ध और शुभ परिणामके उपादेय हेयपनाको प्रगट करनेके लिए फलका विवेचन करते है—

लोकमे ऐसा व्यवहार है कि जब किसीसे किसी चीजका त्याग कराना हो, तो उसमे फलकी चर्चा करनी पडती है । फल सुन करके मनुष्यके भाव स्वय हेय पदार्थको छोडनेके हो जाते हैं । आज लोगोमे रात्रिभोजनका प्रचार बढ रहा है, तो रात्रिभोजन करना बुरा है इसे छोड दो, ऐसा करनेसे काम नही चलेगा । इसे छुडानेके लिए हमे रात्रिभोजनसे होनेवाली बुराइयोको बताना पडेगा कि देखो रात्रिमे भोजन करनेसे सैकडो कीडे-मकोडोका घात होता है । यदि जीव दिख जाय, इसलिए प्रकाश रखते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो उसके निमित्तसे और भी पतगे वगैरह आकर दीपकपर और भोजनमे गिरते हैं । सो खुद विचार लो यदि भूलसे ठीक तौरपर न दिखाई देनेसे जू पेटमे चला जाय तो जलोदर रोग हो जाता है । यदि मकडी चली जाय तो कोढ निकल आता है । यदि कही जहरीला कोई जीव जन्तु भोजनमे गिर जाय तो खाने वालोके प्राण तक चले जाते हैं । एक बारकी बात है कि एक बरात किसी रात्रिभोजीके घर आई । बरातके लिए खीर पकाई गई । रातमे पकते समय ऊपरसे कही धुवा वगैरह लगनेसे छिपकली खीरकी कढाईमे गिर पडी । बरातियोको खीर परोसी गई

और उन्होने खाई। प्रात काल कितने ही बराती सोतेके सोते रह गये अर्थात् मरे हुए पाये गये। उनके शरीर हरे पीले हो गये थे। जाच करने पर पता चला कि बची हुई खीरमे एक छिपकली पडी हुई है। इस प्रकारके अनेक अनर्थ हम प्रतिदिन देखते और सुनते है। इनसे बचने के लिए हमे रात्रिभोजनका त्याग करना आवश्यक है। इस ही शैलीसे विकल्प दूर हो सकता है। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है, अत उसके बाधक राग विकल्पको दूर करनेका उपदेश है, जिसमे अशुभोपयोगका राग प्राय· सबकी समझमें आता है सो वह तो प्रसिद्ध है, यहाँ शुभोपयोगका वर्णन शेप न्यायसे करते है अर्थात् इसी प्रकार कुन्द-कुन्द स्वामी भी शुभोपयोग का फल बताकर उसकी हेयताको और शुद्धोपयोगका फल बताकर उसकी उपादेयताको बतलाते हैं।

दृष्टिकी उपरिमता—जो शुद्धोपयोग पर चलेगा, उसके बीचमे शुभोपयोग होगा ही। परन्तु उसे उपादेय नही समझना चाहिए। चलते वक्त हमारी दृष्टि चार हाथ आगे रहती है, पर पैर तो दृष्टिके चार हाथ पीछे ही चलते है। यही क्रम है अतः उद्देश्य हमेशा ऊचा रखना चाहिए। खेती अन्न उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे की जाती है, घास फूसको उत्पन्न करनेके लिए नही। यह तो स्वय ही उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई खेती घास-फूसके पैदा करनेके लिए करे, तो वह समझदार नही कहलायगा। इसी प्रकार यदि कोई चारित्रको शुभोपयोगके लिए धारण करे, तो यह भी बुद्धिमान् नही जानना चाहिए। शुद्धोपयोगके मार्ग पर चलनेवालेके शुभोपयोग तो स्वय होता ही है। शुद्धोपयोग शुभोपयोगसे नही होता किन्तु शुभोपयोगके अनन्तर ही होता है, अशुभोपयोगके अनन्तर नही। हम पूजनके अन्तमे जो इष्ट प्रार्थना करते है, उसके शब्दोपर ध्यान दीजिए। शुभोपयोग करते हुए भी शुभोपयोगका निषेध झलक रहा है। तव पादौ मम हृदये, मम हृदय तव पदद्वये लीनम्। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः॥ अर्थात् हे जिनेन्द्र, तुम्हारे दोनो चरणकमल मेरे हृदयमे रहे और मेरा हृदय तुम्हारे दोनो चरणकमलोमे लीन रहे। कब तक ? जब तक कि मुझे निर्वाणकी प्राप्ति न हो। कितना साफ कथन है कि हम तुम्हारे चरणोकी भक्तिरूप शुभोपयोगको तब तक ही उपादेय मानते है, जब तक कि निर्वाणकी प्राप्ति नही होती। इससे शुभोपयोगके हेयपना स्वत सिद्ध हो जाता है। शुभोपयोगकी चिता मत करो, शुद्धतत्त्वके लक्ष्यसे बर्तते रहो।

अन्तःप्रकाश—बडेसे बडा साधु भी अपनेको मैं साधु हू यो साधुपनका अनुभव नही करता। वह यही अनुभव करता है कि मैं ज्ञायक भाव रूप ही हू। पर उसके साधुकी क्रियाए स्वय होती हैं। शुद्ध लक्ष्यवालेके राग हो तो कैसी क्रियायें होती है, कैसे अन्तर्वृत्ति होती है वह शुभोपयोग व शुभ क्रिया है। प्रश्न—क्या वह अपनेको साधु नही मानता ? उत्तर—कदाचित् वह पर्यायको जानता है परन्तु वह पर्यातमे 'ही' नही लगाता, अपने त्रैकालिक स्वरूपको देखता है। साधु पर्याय है, पर्यायको आत्मवस्तु नही मानता। देखो भैया! आचार्य

कुन्दकुन्द सब करते थे, पर उनकी दृष्टि शुद्धोपयोगपर ही थी। चारित्र परिणाम जहाँ अंशरूप से सम्भव है, वहाँ शुभोपयोग है और जहाँ चारित्र परिणामपर ही पूर्णपरिणमन है, वहा शुद्धोपयोग है। ऐसे शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोगमे उपादेयता और हेयता बतलानेके लिए उनके फलोपर विचार करते है। विचार ही नही, किन्तु विवेचना करते है। विवेचनाका अर्थ दोनो का लक्षण, फल आदि पृथक्-पृथक् रखकर स्पष्ट रूपसे अलग-अलग कर देना है। यहा शुभोपयोगको जो हेय कहा है, उसका यह अर्थ है कि जो शुभोपयोग होता है वही हित है, वही मै हू, इस प्रकारकी बुद्धि होना हेय है। शुभोपयोग छोडनेसे नही छूटता, किन्तु अनादि, अनन्त निर्मल चैतन्यस्वभावपर दृढ दृष्टि होनेपर स्वय छूट जाता है। यदि ज्ञानीके शुभोपयोग रखने की ही दृष्टि होती तो आत्माके निर्मल स्वभावपर उपयोग रहनेरूप शुभोपयोग कैसे होता ?

वस्तु निश्चय-व्यवहारात्मक है, वस्तुयें दोनोमे से एक ही रहे, ऐसा नही हो सकता। क्योकि पर्याय बिना द्रव्य नही ठहरती और द्रव्यके बिना पर्याय नहीं ठहरती। आपने गणेश-मूर्ति देखी होगी, वह अभेद और भेदका दृष्टान्त प्रतीत होता है। अभेद तो ऐसा है कि मनुष्य के शरीरमे हाथीका मुख फिट बैठा दिया और भेद बतानेके लिए चूहेके वाहनकी कल्पना की गई है। जैसे चूहा किसी वस्त्रादिको कुतर-कुतरकर खडित कर देता है, यही बात निश्चय-व्यवहारमे है। इतना भेद अवश्य है कि निश्चय-व्यवहारके अभेद और भेद एक ही वस्तुमे दिखाए जाते है। जैसे अनन्त गुणोका अभेद पिण्ड आत्मा निश्चयनयका विषय है, और उसके गुणोका भेद या पर्याय विकार पर्यायनयका विषय है। इस आत्मामे तीन उपयोग होते है जो पर्यायस्वरूप है। उसमे से अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है ही, यहाँ शुद्धोपयोग और शुभोपयोगमे से क्या ग्रहण योग्य है और क्या त्यागने योग्य है, इस प्रयोजनको बतानेके लिए उनके फलोका प्रतिपादन करते है —

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुह सुहोवजुत्तोव सग्गसुह ॥११॥

ज्ञानीके शुद्धोपयोग और शुभोपयोगका फल—धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग सप्रयुक्त होता है, वह निर्वाणके सुखको पाता है, और यदि वह शुभोपयोगसे युक्त होता है, तो स्वर्गके सुखको पाता है। भैया! धर्मका फल तो एक ही है। जब यह आत्मा धर्मस्वभाव से परिणत होकर शुद्धोपयोगकी परिणतिको धारण करता है, तब निष्प्रतिपक्ष शक्तिवाला होकर स्वेष्टसाधनमे समर्थ चारित्रको धारण कर साक्षात् मोक्षको प्राप्त होता है। देखो, जो रामचन्द्र अग्नि परीक्षाके बाद ससारसे विरक्त सीताको मनाते थे, उसे घर चलने और आनन्द से रहनेके लिए आग्रह करते थे, वे ही जब ससारसे विरक्त हो गये और दीक्षा लेकर साधु बन गये, तब सीताका जीव जो सोलहवें स्वर्गमे प्रतीन्द्र हुआ था, वह आता है और उसके

मोह जागृत होता है कि यदि किसी भी प्रकार रामचन्द्रजी सयमसे डिग जाये, तो फिर हम दोनो ससारमे एक साथ कुछ काल और आनन्दसे व्यतीत करेंगे, फिर तपस्या कर साथ साथ मोक्ष जावेंगे। ऐसा सोचकर वह सीताका रूप बनाता है और अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखाकर सयमसे गिरानेका उपाय करता है। जब उसे इस प्रकार सफलता नही मिलती है, तो वह अपनी और भी माया फैलाता है, रावणको अपने केश पकड करके खीचता हुआ दिखलाता है, स्वय चिल्लाता है और कहता है—हे राम, मुझे बचाओ, यह दुष्ट रावण मुझे जबर्दस्ती पकडके ले जा रहा है, आदि नाना प्रकारकी माया दिखा करके रामको डिगानेके सहस्रो प्रयत्न किये, पर धन्य रामकी अडिग शुद्धोपयोग परिणतिको, कि वे रचमात्र भी उससे नही डिगे, बल्कि ज्यो-ज्यो सीताके उपसर्ग बढे, त्यो-त्यो उनके भाव और भी ऊपरको चढे और क्षपकश्रेणी चढ केवलज्ञानको प्राप्त किया। बताओ यदि रामचन्द्रकी डिग जाते, तो सीताके जीवके पास कोई ऐसा उपाय था कि वह उन्हे नरकमे जानेसे रोक लेता ! नही, कोई उपाय नही था, वह मोहसे अन्धा हो रहा था और अपने स्वार्थके लिए अन्यथा आचरण कर रहा था। कहावत है कि घरके कुरवासे ही आँख फूटती है। सीताका जीव ही रामको उपसर्ग करने आया है ?

हमारा आन्तरिक शत्रु—दूसरेसे हमारा विनाश नही होता, हमारा भीतरी शत्रु मोहभावसे ही हमारा विनाश होता है। हम बाहरके शत्रुपर नजर डालते है, पर भीतरी शत्रुओ को नही देखते। एक राजाकी कथा है, उसने सुना कि दूसरा कोई राजा उसपर चढाई करने आ रहा है। वह भी उसका सामना करनेके लिये सेनाको लेकर नगरके बाहर चला। मार्गमे एक जगह एक मुनिराज बैठे ध्यान कर रहे थे, वह उनके पास जाकर और नमस्कार कर चरणोके समीप बैठ गया। इतनेमे उसके शत्रुकी सेनाकी आवाज आती है और उस राजाके कानोमे पडती है, उसके हाथ कधेपर रखे धनुषपर पहुचते हैं और तीर कमान चढा कर निशाना लगानेके लिए उद्यत होता है। इतनेमे साधुका ध्यान खुलता है और वे राजाको सबोधन करते हुए कहते है कि राजन् क्या बात है ? वह बोला महाराज जैसे-जैसे शत्रु मेरे समीप आ रहा है वैसे ही मेरा क्रोध बढता जा रहा है। साधु बोले ठीक ऐसा ही होना चाहिये, परन्तु हे राजन्, तू बाहरी शत्रुको मारनेके लिये इतनी तैयारी कर रहा है, पर तेरे भीतर जो उससे भी बडा क्रोधशत्रु बैठा हुआ है और तेरा प्रतिक्षण भारी नुकसान कर रहा है, हजारो और नये शत्रु बना रहा है, उस पर तेरी दृष्टि ही नही है। पहले उस भीतरी शत्रु को मार, फिर देख, तेरे ये बाहरी शत्रु स्वयं शान्त हुए जाते है। विकल्पमात्र जिसका स्वरूप नही उस निजस्वभावको देख। राजाके हृदयमे साधुके वचन प्रवेश कर गये, उसने सब शस्त्रास्त्र वही फेक दिये और दिगम्बरी दीक्षा धारण करली। थोडी देरमे शत्रु ससैन्य आता

है और देखता है कि हम जिसे जीतनेके लिए जा रहे हैं, वह तो राजपाट छोडकर मुनि बन गया है और मुनिराजके समीप बैठा आत्मध्यान कर रहा है। वह सेनाको आगे जानेसे रोक देता है और उनकी वन्दना करने पहुचता है, चरणोमे गिरता है और उनकी स्तुति करता है। बताओ, जिस शत्रुको कई दिनो तक युद्ध करके, सैकडो मनुष्योका खून बहा करके भी नही जीत सकते थे, उसे एक क्षण भरमे जीत लिया। इससे पता चलता है कि यदि हम अपने भीतरके शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेवें, तो बाहरी शत्रु क्षणभरमे जीते जा सकते हैं।

दृष्टिका प्रभाव—कल्पित सारे दुःखोकी जड पर्यायबुद्धि है। मालिकके सकेतपर कुत्ते भौकते है, पर्यायबुद्धिके इशारेपर सारे दुःख आकर तग करते हैं। द्रव्यदृष्टिमे तो अमृत तत्त्व ही है। प्रश्न—पर्यायबुद्धि किसे कहते है? क्या पर्यायका जानना भी पर्यायबुद्धि है? उत्तर—जो हमारा वर्तमानकालिक परिणमन है, हम इसी रूप है, आगे पीछे कुछ नही, इस प्रकारकी बुद्धिको पर्यायबुद्धि कहते हैं। पर्यायबुद्धिके नष्ट होनेपर भी सस्कारवश जो राग शेष रहता है पहिले उसकी ही तो करामात देख लो। भैया! जब यह धर्मपरिणत आत्मा शुभोपयोगरूप परिणतिसे सयुक्त होता है, तब यह स्वकार्य करनेमे असमर्थ होनेसे विकल शक्ति होकर मोक्ष को नही प्राप्त कर पाता है, और स्वर्ग सुखको प्राप्त करता है। पाचो पाडवोको देखो, वे शत्रु-जयपर तपस्या कर रहे थे, ध्यानमे लीन थे, तब शत्रुओने आकर उनपर उपसर्ग करना प्रारभ किया, उन्हे लोहेके गर्म-गर्म आभूषण पहिनाना प्रारम्भ किया। तीनो भाई तो अपने उपयोग मे अचल रहे, पर नकुल, सहदेवके शुभोपयोग जग गया। वे सोचने लगे, देखो तीनो भाई कितने शान्तमूर्ति बने ध्यान कर रहे है, और ये लोग उपसर्ग कर रहे है, कही ऐसा न हो कि ये ध्यानसे चल जायें और सारी तपस्यापर पानी फिर जाय। उनके देह तो जल ही रहे थे, नकुल और सहदेवके शुभोपयोग हो गया था, इसलिए वे ससारमे ही रह गये—सर्वार्थसिद्धि पहुचे। पर भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर अपने आपमे स्थिर रहे, शुद्धोपयोगी ही बने रहे और उसके फलसे तत्काल मोक्षको प्राप्त किया। पाँचो पाँडवोका उदाहरण इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है कि शुद्धोपयोगसे निर्वाण सुख मिलता है और शुभोपयोगसे स्वर्गसुख मिलता है। परन्तु ज्ञानी कभी भी सुख पुण्य या शुभोपयोगमे हित बुद्धि नही करता। हमे हर काम करते हुए अपनी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावपर रखनी चाहिए। स्वभावदृष्टिरूप धर्म करते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक राग चल रहा है, उसका फल है स्वर्गादि, किन्तु सवर निर्जरा तत्त्व कल्याण ही है। यहा तो चरित्र परिणाम जहा भी सभव है, वहा भी राग रहे, उसके फलका वर्णन किया जा रहा है। ऊँचेसे ऊँचा शुभोपयोग वह है जहाँपर बाह्यमे पचपरमेष्ठीका आश्रय हो और भीतर अपनी ओर लक्ष्य हो अर्थात् पूजन करते समय ऐसे भाव होना चाहिए कि बाहर हम जिन पचपरमेष्ठी भगवानका पूजन कर रहे हैं, वही स्वरूप हमारा लक्ष्य हो, हमे

उसी स्वरूपको प्राप्त करना है। हमारे इष्ट लक्ष्यको प्राप्त करानेके लिए ये पचपरमेष्ठी आश्रय है। इस प्रकार प्रत्येक छद बोलते समय, प्रत्येक पक्तिका उच्चारण करते हुए हमारा ध्यान बाहरसे भीतर और भीतरसे बाहरकी ओर आता-जाता रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु सदा छठे गुणस्थानसे सातवेंमे और सातवेंसे छठेमे आते जाते रहते है, ऐसी क्रियारूप परिणति पूजन करते समय हमारी रहनी चाहिए। हमने रागद्वेषरहित देवका स्वरूप बोला, तदनुसार ही हममे भीतरी श्रद्धा जगनी चाहिए कि हमारे आत्माका भी यही स्वरूप है और हम उसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हैं। पूजाका उद्देश्य तो आश्रयके आधारसे स्वरूप प्राप्त करनेका उद्यम है, स्वरूप तो अनन्याधार है। इसीसे पूज्य श्री आचार्यने पहले भीतरी अशुभ परिणतिके छोडनेका उपदेश दिया है।

आन्तरिक स्वच्छताका अनुरोध—ऊपरसे भले ही हम कितना ही दिखावा करे, यदि भीतरसे रागद्वेषकी परिणति नही मिटी है, तो बाहरमे भी प्रवृत्ति तदनुसार ही होगी। दो भाई थे, आपसमे उनका भारी प्यार था, जो काम करते, एक दूसरेसे पूछे बिना नही करते। एक बार बडा भाई बाजार गया और वहाँसे दो ककडी मोल लाया। उनमे एक छोटी थी, दूसरी बडी। बडी ककडीको उसने दाहिने हाथमे लिया और छोटीको बायें हाथमे ले लिया और घरको चला। रास्तेमे दोनो भाइयोके दोनो लडके मिले और ककडी लेनेके लिए लपके। भाग्यसे उस बडे भाईका लडका बाये हाथकी ओर आया जिसमे कि छोटी ककडी थी, और छोटे भाईका लडका दाहिने हाथको ओर आया, जिसमे कि बडी ककडी थी। वह अपने पुत्रको बडी ककडी देनेका मोह न रोक सका और दाहिना हाथ बाई ओर करके और बाया हाथ दाहिनी ओर करके दोनो बच्चोको दोनो ककडिया पकडा दी। छोटे भाईने बडे भाईका यह कौशल देख लिया और आकर बोला—भाई मुझे अलग कर दो। बडा भाई बोला—क्या बात है, जो तुम अलग होनेकी कह रहे हो। वह बोला—मैने सब कुछ देख लिया। बडे भाईने कहा, न भाई, यह न होगा, तुम मेरे आज्ञाकारी भाई हो, मैं तुम्हे इतना प्यार करता हू कि तुम जितनी चाहो, उतनी सम्पत्ति ले लो, पर मैं तुम्हे न्यारा नही कर सकता। छोटा भाई बोला—अब कुछ भी कहो, मैं शामिल नही रह सकता, मैने सब कुछ देख लिया है। जब भीतरमे भेदभाव होता है, तो उसे कितना ही छिपाया जाय, वह किसी न किसी प्रकार बाहर आ ही जाता है। बडे भाईको चाहिए तो यह था कि छोटे भाईके बच्चेको बडी ककडी देता और अपनेको छोटी। पर वह मोहवश ऐसा न कर सका। घर गृहस्थीमे रहते हुए भाइयो इन छोटी-छोटीसी बातोमे पूरी सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा जरासी गलतीसे बडे-बडे घर बर्बाद हो जाते है। इसी तरह रागका बढ़ावा भी बडा अनर्थ कर रहा है।

रागका परिणाम—काल चक्रका परिणमन तो देखो—हम कितनी ही बातोमे रोज

गिरते चले जा रहे है। पहले लोग अपने माता-पिता या वृद्ध जनोंके सामने अपने बाल-बच्चो को नही लेते थे या उन्हे लाड-प्यार नही दिखलाते थे। बडोंकी कान रखते थे। यदि लड़का ४० वर्षका भी हो जाता, तो भी अपने बुजुर्गोंके सामने वह अपनी सन्तानको गोदमे नही उठाता था। पर आज लोगोंने लोकलाजको तिलांजलि दे दी है। भले ही हम और बातोमे उठ रहे हो, पर असलियतसे बहुत दूर जा रहे है। बात तो छोटीसी है परन्तु संस्कार बुरा हो जाता है। ये बातें तो दूर ही रहो। यहाँ तो शुभोपयोगकी भी बालकी खाल काढी जा रही है। शुभोपयोग रागनिर्मित है, उपयोग तो ज्ञानपर्याय है, शुभ रागके कारण है, इसी कारण जिस समय यह आत्मा धर्मपरिणत होकर भी, शुद्ध तत्त्वमे लीन होनेकी उमग होनेपर भी शुभोपयोगकी परिणतिके साथ चल बैठता है, तब इसकी शक्ति कर्मोंसे रोक दी जाती है, इसलिए वह शुभोपयोग सप्रयुक्त चारित्र मोक्षरूप कार्य करनेको असमर्थ हो जाता है। उस समय वह शुभोपयोगमे ही भटक जाता है। पर शुद्धोपयोगकी दशा इससे विपरीत होती है।

ज्ञानीकी वृत्ति—ज्ञानी भगवद्भक्ति करता हुआ भी उनमे अनुराग तो रखता है, पर उसे वह रागरूप ही समझता है। शुभोपयोगके त्यागकी बात शुद्धोपयोगीके लिए ही शोभा देती है। पर जो स्वय तो अशुभोपयोगसे परिणत हो रहा है और शुभोपयोगके त्यागकी बात कहे, तो उसे कैसे शोभा दे सकती है? यह बात ठीक है, किन्तु भैया अपनेको शुद्धोपयोगके योग्य ही समझो। प्रभु और तेरी जातिमे कोई अन्तर नही, जितना भी विकारभाव है, सम्यक्त्वी उससे दूर होना चाहता है। वह जानता है कि शुभोपयोगकी दृष्टि सम्यक् दृष्टि नही है। नकुल और सहदेवकी बात कल कही थी। उनके शुभोपयोग हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि पहुचे, मोक्ष नही जा सके। पर नकुल और सहदेवके भी शुभोपयोगमे आदर नही था। यदि उनके शुभोपयोगमे आदर होता, तो वे सर्वार्थसिद्धि भी नही जा पाते। सम्यक्त्वी शुभोपयोग मे रहता है, पर उसकी श्रद्धा शुभोपयोगमे नही रहती। दुनियाके सारे काम करते हुए भी उसके अन्तरगमे शुद्ध लक्ष्यकी निर्मलधारा अनवरत बहती ही रहती है।

रागका फल—धर्मका सीधा फल मोक्ष है, पर शुभोपयोगकी परिणतिमे वह उसे प्राप्त करानेमे असमर्थ हो जाता है। उसका वह शुभोपयोग व्यवहार धर्मरूप है, इस कारण वह विरुद्ध कार्यका करने वाला बन जाता है और इसीलिए वह ससारका साधक हो जाता है। कही चारित्र विरुद्ध कार्य नही करता विरोधकर्ता, रागभाव है जो कि अशुद्धोपयोगका साधक है। शुभोपयोगयुक्त चारित्रको अग्नितप्त घृतके समान कहा है। जैसे घी का स्वभाव तो शीतल और दाहको शमन करनेका है, पर जब वह अग्निके सम्पर्कसे उष्ण हो जाता है, तो स्पर्श करने वाले पुरुषको जलाता ही है। इसी प्रकार शुद्ध चारित्रका फल तो जन्म दाह को शान्त करना ही है, पर जब वह शुभोपयोगरूप अग्निसे सतप्त हो जाता है, तो दाहको उत्पन्न करता ही है। देवोके यद्यपि शारीरिक रोग दाह नही है, तथापि मानसिक दाह तो

है ही। जब इन्द्रकी सवारी आ रही हो और किल्विषिक जातिके देवोसे यह कहा जाता है कि दूर हटो, एक तरफ रहो, तब उनके जो मानसिक वेदना होती है, वह अवर्णनीय है। जब इन्द्रकी सवारी कही जानेको तैयार होती है और आभियोग्य जातिके देवोको वाहनका रूप धारण करके आनेका आदेश दिया जाता है, उनकी मनोदशा कैसी होती है, यह करुणाजनक चीज है। जब बाजे बजाने वाले देव बाजे बजा रहे हैं, बजानेमे तन्मय हो रहे है और उन्हे आज्ञा दी जाती है, बाजे मत बजाओ, तब उन्हे राग-रगके भगसे तथा पराधीनतासे जो कष्ट होता है, उसे भुक्तभोगी ही जान सकते है। इस सबके कहनेका अर्थ यही है कि चारित्र के साथ जो शुभोपयोग लग जाता है और उसमे जो उपादेय बुद्धि हो जाती है, वही ऐसी देवदुर्गतिको देता है। यह तो छोटे देवोकी बात कही, बडे देव भी होते तो वे भी झूर-झूर कर रागवश दुखी होते, सुख किसी भी अशुद्धोपयोगसे उपलब्ध नही होता। हाँ अशुभोपयोगके क्लेशसे शुभोपयोगके क्लेशमे मदता है। जब ज्ञानी इस शुभोपयोगसे भी ऊचा उठता है, तभी वह निर्वाणका पात्र होता है। जिसके मनमे सासारिक वस्तुमे राग नही, वही ठीक रास्तेपर है। जिसका मन सासारिक सम्पदामे उलझा हुआ है वह कभी ससारसे पार नही हो सकता। उसके पुत्र तक भी उसकी ऐसी दशाको देखकर हसते है। एक सेठजी की बात है, वे अत्यन्त वृद्ध हो गये, पर तिजोडी की चाबी अपने किसी लडकेको नही दी। उन्हे भय था कि यदि किसीको चाबी दी तो वह सारा धन हडप जायगा, फिर मुझे मारा-मारा फिरना पडेगा। जब सेठजी सख्त बीमार पडे और परलोकको चलनेका ही अवसर आ गया, तो लडकोको बुलाकर बोले, 'यह चाबी लो' लडकोने उत्तर दिया—दादाजी, चाबी साथ लेते जाइये, हमे चाबीकी कोई जरूरत नही। तब उस वृद्धको अपनी भूलपर खेद हुआ।

सविवेक चर्या—हमे अपनी चर्या अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको देखकर बनाना चाहिए। अपनी दिनचर्या बनानेके लिए हमे औरोके वोट (मत) लेनेकी जरूरत नही। यदि दूसरोसे वोट लेकर दिनचर्या बनायेंगे, तो विपरीत मार्गपर चले जावेंगे। क्योकि ससारमे सन्मार्गपर चलने वाले कम हैं और कुमार्गपर चलने वाले अधिक है। इसलिए स्वकल्याणके विषयमे हमे अपनी ही चिन्ता करना चाहिए। हमारे भीतर यह भाव निरन्तर प्रवाहित रहना चाहिए कि हम अकेले है, अकेले ही हमे अपने भले बुरेका फल भोगना पडेगा, इसलिए हमे परवस्तुपर दृष्टि न रखकर स्वपर ही दृष्टि रखना चाहिए। हमे पहले अपनी ही दया करना चाहिए। जिसने स्वदया नही की, वह परदया नही कर सकता। प्रश्न—स्वदया क्या है? उत्तर—आत्माके अहिंसा भावका जागना, स्वमे श्रद्धा होना, स्वका जानना और स्वरूपमे रमना ही स्वदया है। इसके विपरीत सब कषाये स्वहिसा है। जिनकी परनारीमे रुचि या आसक्ति होती है, उन्हे ही पर-स्त्रियोंके हाव भाव अच्छे लगते है, उन्हे ही उनकी कथा सुहाती

है। जुआरीको जुआरियोकी, सटोरियोको सटोरियोकी और शिकारियोको शिकारियोकी बात रुचिकर होती है। पर जिनके भीतर विवेक जागृत हो चुका है, आत्मश्रद्धा प्रगट हो चुकी है उसे वीतरागियोकी ही चर्चा सुहायगी। उसे सुकुमाल, धन्यकुमारकी चर्चा प्रिय लगेगी। आत्मतत्त्वके पानेका उपाय भी सुहावेगा। प्रश्न—शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका क्या उपाय है? उत्तर—अन्तरगमे अन्तरग चरणानुयोगकी रुचिका होना ही शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका उपाय है।

शुद्धात्मतत्त्वके रसिककी प्रवृत्ति—जो शुद्धात्माकी कथा सुनता है, उसे करणानुयोग की बातें भली लगने लगती है, शुद्धात्मासे सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें सुहाने लगती हैं। फिर उसे कोई अनुयोग बेकार नही लगता, सभी अच्छे लगने लगते है। अकलक निकलकका नाटक आप लोगोने देखा है। ये नाटक आदि प्रथमानुयोग ही तो है। जो बात हम प्रथमानुयोगके शास्त्र पढकर जानते है, वही तो नाटक देखकर भी जान लेते है। कथाओंके बाचने और देखनेका असर तो आत्मापर होता ही है। सबको अपनी रुचिके अनुसार चारो अनुयोगो का अभ्यास करना चाहिए, पर लक्ष्य द्रव्यानुयोगपर ही रखना चाहिए, इसीलिए उसे अन्तिम अनुयोग माना गया है। पहले शुद्ध तत्त्वको जान लो, पढ लो, फिर कुछ भी पढो, उसे आत्मतत्त्व ही सुहायगा, उसे यह एक ही सुहावेगा। एक रगरेज था, लोगोकी पगडी रगा करता था, पर उसे केवल एक आसमानी रग ही रगना आता था। जो कोई भी पगडी रगाने को आता, उसको पगडी ले लेता। कोई कहता—मेरी पीली रगना, कोई लाल और कोई किसी रगको कहता। वह सबकी सुनकर एक ही उत्तर देता—पर रग तो इसपर आसमानी ही खिलेगा। यही दशा ज्ञानकी है। वह सबकी सुनता है, पर जब कहता है, तो अपनी ही कहता है। शुद्धात्मवेदीकी दृष्टि शुद्धात्मापर ही रहती है।

तत्त्वकौतूहली—अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्त्ते पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्। पृथगथ विलसन्त स्व समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

हे आत्मन्! किसी भी प्रकार मर करके भी तत्त्वका कौतूहली होता हुआ ससारकी मूर्ति जो शरीर उसका पडौसी बन। यहाँपर 'मर करके' शब्द कहा है, इसका अर्थ मर करके नही, किन्तु सारी शक्ति लगा करके है। लोकमे भी कहा करते है कि इस कार्यको तो मर करके भी पूरा करना है। सब कुछ न्यौछावर करके तत्त्वका कौतूहली बन, कुछ जानता हुआ उसमें कौतूहल भावसे तत्त्वको निकाल। इस शरीरका पडौसी बन। यहाँ पडौसी बननेका उपदेश इसलिए है कि जैसे पडौसीको पडौसीका सर्वज्ञान रहा करता है, परन्तु वह उसे अपना नही मानता, पडौसीके घरमे आग भी लग जाय, तो उसे बुझानेका प्रयत्न करता है किन्तु उसे अपना समझकर नही बुझाता। हा, यह विकल्प हो सकता है कि यदि यह आग बढ

जायगी, तो मेरे घरमे भी लग सकती है। इसी तरह ज्ञानको भी शरीरका ज्ञान रहता है, पर वह उसे अपना नही मानता। हाँ यह विकल्प सभव है कि इस शरीरमे कोई रोगादि बढ़ जायगा, तो मेरा धर्मध्यान छूट सकता है। वहाँ भी उपचारादि करते हुए निज आत्मशुद्धिका ही भाव है। यहाँ शरीरको ससारकी मूर्ति कहा है, इसका भाव यह है कि कोई ससारको जाने, तो किस जरियेसे और कहाँ जाने, तो उसका संकेत है शरीर। मूर्तिसे मूर्तिगत भाव पहिचाना जाता है। सरस्वतीका भाव जाननेके लिए लोग जिनवाणीके अक्षर रूप मूर्तिको देखते। अक्षरके आकारके अनुसार भाव नही मापा जाता, किन्तु अक्षरके वाच्यको हृदयगम किया जाता है। इसी तरह मूर्तिके दर्शनकर यदि मूर्तिमे ही अटके तो अटक गया। उचित यह है कि मूर्तिके आधारपर मूर्तिमानका ध्यान करो, यह शरीर भवकी मूर्ति है, इससे अतरग भाव जो रागद्वेष है, उसे निकालो, कही ऐसा न हो कि हम इसे खिलाते-पिलाते ही लक्ष्यसे च्युत हो जावें। यह शरीर विनश्वर है, जड है, ज्ञान सुखसे रहित है, इसके मोहमे कोई हित नही। और देखो भैया! इस भवमूर्तिसे अपना या दूसरेका कितना ही प्रेम हो, मृत्यु होते ही इन्ही प्रेमियोके द्वारा शीघ्र जलाकर भस्म कर दिया जायगा। इसी तरह जैसे कि हमने बीसोको जला दिया है। अत इसके पडौसी बनकर एक मुहूर्त भी तो इस शरीरसे पृथक् शोभायमान ज्ञानानन्दमूर्तिरूप निज आत्मतत्त्वका अनुभव करो। जिससे कि आत्मा और शरीरके एकत्वका मोह छूट जाय।

दृष्टिभेदसे प्रवृत्तिभेद—बच्चोको जब तक नया खिलौना नही मिलेगा, तब तक वे पुराने खिलौनेको नही छोडेंगे। इसी प्रकार हमे भी बाह्य चीजोसे ममत्व छुडानेके लिए अत-रगमे विराजमान ज्ञायक भावको पकडना पडेगा, तभी बाहरी चीजोसे ममत्व छूटेगा। तत्त्व-दृष्टिसे जायमान वैराग्य दृढ होता है। कितने ही लोग कहते है कि हमने अमुक व्रत, तप धारण कर लिया, अब तो निभाना ही पडेगा, उनका ऐसा कहना ही उस व्रत, तपके विषय मे अनादर का द्योतक है। यदि अन्तरगसे प्रीति हो तो उस प्रकारके वचन निकले ही क्यो? जब मनमे विकार होता है, तो वह किसी न किसी रूपमे बाहर निकल पडता है। एक श्रावक श्राविका कही देवदर्शनको जा रहे थे। आगे-आगे श्रावक चल रहे थे और पीछे-पीछे श्राविका। मार्गमे एक जगह पडी हुई कुछ अशर्फियाँ दिखी, श्रावक धूल उठाकर उनपर डालने लगा कि कही मेरी स्त्रीका मन इन्हे देखकर चल-विचल न हो जाय। पीछेसे स्त्री आ पहुची और बोली—यह क्या कर रहे हो? वह बोला, यहाँ अशर्फियाँ पडी थी, मैंने सोचा कही तुम्हारा मन इन्हे देखकर चल-विचल न हो जाय, इससे इनपर धूल डाल रहा हू। स्त्री बोली—तुम भी अच्छे निकले, जो धूलपर धूल उडानेके लिए खडे हो गये, चलो अपना रास्ता पकडें। यहाँ दोनोंके भावोका अन्तर उनके शब्दोंसे ही स्पष्ट है। पुरुषने उन्हे देखा और

सोना समझा, पर स्त्रीकी दृष्टि इतनी उज्ज्वल थी वह उसे भी धूल ही समझती थी और देखना भी नही चाहती थी, देखकर सोना समझनेकी बात तो बहुत दूर की है। कहनेका भाव यह कि जब मनमे कुछ विकार आता है, तो वह वचनोके द्वारा निकल ही पडता है।

आत्मकामना—भैया! चैतन्य ज्ञानघन आत्माके कौनसे सुखके लिए कौनसा बाह्य पदार्थ काम आ सकता है? बाह्य पदार्थके निमित्तसे जो भी कल्पना होगी, वह आकुलता ही बढायगी। मूर्तिके आश्रयसे हम भक्ति करते है। भक्तिका परिणाम भी विभावरूप है, पर विभाव विभावमे अन्तर है। भक्तिका परिणाम मन्दकषायका विकार है। पर सासारिक पदार्थों का आश्रय हमारा नुक्सान ही करता है। परकी ओर उपयोग झुकना ही पतन है। जो बात हमने कही और आपको सुहाई, तो यह भी शुभोपयोग ही है। जो हो रहा है, उसमे उपादेय बुद्धि मत करो, चलते हुए भी हमारी दृष्टि सामने शुद्धोपयोगपर ही रहना चाहिए। जिसकी शुद्धोपयोगपर दृष्टि है, उसके शुभोपयोग हो ही रहा है। भगवानमे दो गुण प्रधान है—सर्वज्ञता और वीतरागता। भक्तकी दृष्टि भगवानके अन्य गुणोपर न जा करके वीतरागतापर ही रहती है और अपने लिये भी वीतरागता ही चाहता है, इसी विषयमे एक यह पद है—

मुक्ति मिले न मिले हमको प्रभु, चाहू जो कुछ अर्ज सुनायें।
द्वेषकी ज्वालसे पिड छुडायें, रागमे अन्धे न हो पायें ॥टेक॥
ज्ञान अनन्त मिले न मिले प्रभु, केवल निजको जानत जायें।
दर्श अनन्त मिले न मिले प्रभु, केवल आतमको लखि जायें ॥१॥
सौख्य अनन्त मिले न मिले प्रभु, आकुलताका ताप मिटायें।
शक्ति अनन्त मिले न मिले प्रभु, खुद ही मे खुद पैठत जायें ॥२॥
सुर नर पूज मिले न मिले प्रभु, हम ही निजको पूजत जायें।
आदर मान मिले न मिले प्रभु, हम अपना आदर कर जायें ॥३॥
और विभूति मिले न मिले प्रभु, उनमे 'मनोहर' का हित पायें।
परकी प्रीति तज समता सार सुधारस पीवत जायें ॥४॥

भक्तकी सदा यही इच्छा रहती है कि मुझे अनन्त ज्ञानादि गुण मिलें या न मिलें, पर हे प्रभो, मेरा रागद्वेष अवश्य छूट जाये। जो यह सोच रहा है कि मेरे तृष्णा न रहे, वह लोभरहित मार्गसे गुजर ही रहा है। प्रश्न—'मेरे तृष्णा न रहे, इच्छा तो यह भी है? उत्तर—नही, क्योकि यह तृष्णा छोडनेकी बात इच्छा नही, भावना है। वीतरागताकी भावना तो भवनाशिनी ही होती है।

विवेकीका सर्वत्र विवेक—विवेकी पुरुष घरमे क्या और मन्दिरमे क्या, सर्वत्र वीतरागताके ही साधन जुटाते है। पूजन करते हुये भी वीतरागता बढ़ाने वाली सामग्री रखेंगे,

वीतरागतापोषक वेशभूषा रखेंगे और वचन भी वीतरागतापूर्ण ही निकलेंगे। इसी प्रकार सामायिक, स्वाध्याय आदि जो भी उनकी क्रिया होगी, सब जगह उनके कार्यमे वीतरागता टपकेगी। तत्त्वद्रष्टाके सवर निर्जरा होनेमे अतर नही पडता। 'तत्त्वकौतूहली बनो' इसका भाव यही है कि हम जिस किसी भी कार्यको करें, पर दृष्टि हमारी हमारे लक्ष्यपर ही रहना चाहिए। भैया ! एक जैनीका बच्चा जो जिनदेवके सिवाय और किसीको नमस्कार नही करता था, एक बार अपने अजैन गुरुके साथ लक्ष्मीनारायणके मन्दिर गया। गुरुने लक्ष्मीनारायणको नमस्कार किया तो इसने भी कर लिया। गुरु आश्चर्यचकित होकर बोले—भाई तुम तो जैन हो, यहाँ क्या देखकर तुमने नमस्कार किया ? बच्चा बोला—देखो, हम अपने वीतराग भगवानको तो इसलिए नमस्कार करते है कि उनकी मूर्ति हमे यह सदेश देती है कि यदि संसारसे पार होना चाहते हो, तो हम सरीखे एकाकी बैठकर आत्मध्यान करो, और लक्ष्मीनारायणकी मूर्तिने हमे यह संदेश दिया कि यदि तुम ससारमे भटकना चाहते हो, तो स्त्रीको हमारे समान सदा साथमे रखा करो और उससे प्रेम करो। उनके इस मूक सदेशको मैंने सुन लिया और इसलिए गुरु मानकर मैंने भी नमस्कार कर लिया। स्त्रीको देखकर अज्ञानीके भाव रागमय होते है, पर ज्ञानी सर्वत्र तत्त्वकी बात सोचेगा।

मोहमे मोहफलकी यथार्थता—एक मुल्ला जी वही व्याख्यान देते हुये बलिका समर्थन कर रहे थे और हिसामें धर्म बतला रहे थे। एक जैन श्रोता भी वहा खडे थे, सुनकर बोले—वाह क्या अच्छा व्याख्यान दिया। तब लोगोने पूछा—भाई उसने तो हिसाका पोषण किया है और तुम उसके व्याख्यानको अच्छा बता रहे हो। वह बोला—भाई मिथ्यात्वके तीव्र उदयमे ऐसा ही तो उपदेश होता है कि हिंसामे धर्म है। मिथ्यात्वका पर्दा हटाओ, आखोंसे नीला चश्मा उतारो, सब वस्तुओका यथार्थस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगेगा।

निजकी ओर देखो—धर्म आत्मस्वरूपमे है, आत्मस्वरूपमे स्थिर होनेपर ही धर्म प्राप्त होगा। मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ आदिक तो उस धर्मको प्राप्त करनेके लिए आश्रयमात्र हैं, इनसे धर्म प्रगट नही होगा। जब भी धर्म प्रगट होगा भीतरसे ही होगा। किसीने कैसा अच्छा कहा है—

> लाल बिना कोई नही, सबके पल्ले लाल।
> गाठ खोल देखो नही, यातें भयो कगाल ॥

आत्माराम रूपी लाल माणिक हर एकके पल्लेमे बँधा हुआ है, पर इसने कभी गाठ खोलकर नही देखा, इसलिए कंगाल बना डोल रहा है। भैया, हियेकी गाठ खोलो, लाल चमक रहा है।

अथ चारित्रपरिणामसपर्कासभवादत्यन्तहेयस्य शुभपरिणामस्य फलमालोचयति—जहां

चारित्रपरिणामका सम्पर्क संभव ही नही, ऐसा अशुभ परिणाम तो अत्यन्त हेय है, आचार्य अब इस बातकी आलोचना करते है। यहाँ अन्य क्रिया पदका प्रयोग न करके 'आलोचयति' पद का प्रयोग किया है। 'आ समन्तात् लोचयति = आलोचयति' अर्थात् सर्व ओरसे परीक्षा कर, निर्णय करते हैं कि अशुभ परिणामका फल किस गतिमे कैसा है ?

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय ग़ेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमइ अच्चत ॥१२॥

अशुभोपयोगका फल कुमानुषता—अशुभोपयोगके निमित्तसे जो यह पाप कर्म उपार्जन करता है, उसके उदयसे यह जीव यदि मनुष्योमे उत्पन्न हो तो उच्च कुलीनोमे नही, नीच कुलोमे ही उत्पन्न होगा। नीच कुलोमे भी परिपूर्ण वैभव वालोमे नही, किन्तु महा दरिद्रियोमे पैदा होगा। दरिद्रियोमे भी परिपूर्ण अग वालोमे नही, किन्तु विकलागियोमे पैदा होगा। विकलागियोमे भी कुटुम्बवालोमे नही कुटुम्बहीनोमे पैदा होगा, जहाँ कि कोई उसे पानी पिलाने वाला भी न मिले। वहाँ जन्म लेकर भी सदा रोगी, शोकी और कोढी बना हुआ जीवन भर दुःख उठाता रहेगा, रातदिन रोगकी वेदना और भूख-प्यासकी ज्वालासे ही जलता रहेगा। 'जैसी करणी वैसी भरणी' का नियम अकाट्य है, वह भोगना पडेगा। प्रश्न—वह अशुभोपयोग क्या है जिसका कि फल दुर्गति है ? उत्तर—मिथ्यात्वरूप परिणाम होना, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवना और परिग्रहके उपार्जन, सरक्षण करनेमे ही लगे रहना, दयाका अभाव होना आदि कार्य करनेमे उपयोग लगाना सो अशुभोपयोग है।

अशुभोपयोगका फल तिर्यग्गति व नारकभव—इस अशुभोपयोगके फलसे ही यह कदाचित् मनुष्योमे उत्पन्न हो जाय, तो ऊपर जैसा बताया गया है, वैसा कुमनुष्य होता है। और इसीके फलसे यह तिर्यंचोमे पैदा होता है। तिर्यंचगतिके दु ख सबके प्रत्यक्ष ही है। लोग जिन पशुओको पालते हैं, उन्हे भी रात-दिन बोझा लादकर, गाडीमे जोतकर उन्हे जर्जरित कर देते हैं, वक्त पर खाने-पीनेका कोई ठिकाना नही। जिन पशुओ का दूध पीते है, उनको ही दूध देना बन्द करनेपर कसाइयोंके यहाँ बेंच आते हैं। आज अन्नकी कमीका बहाना लेकर लोग अगणित पशु-पक्षियो, अडे-मुर्गों और मच्छियोको मार-मार कर खा रहे है, उन्हे जीवित ही अग्निमे भून डालते है। कितने ही शिकारी बेचारे निरपराध शाकाहारी हरिणो आदिको अपनी गोलीका निशाना बनाते है, कितने ही कोमल चमडा प्राप्त करनेके लिए गर्भिणी भेडो आदिको दौडा-दौडा कर उनके गर्भ गिरा देते हैं, कसाईखानोमे प्रतिदिन असख्य पशु काटे जाते हैं। पशुगतिके दुःखोको कहाँ तक कहा जाय, जहाँ स्वय माता ही अपने बच्चोको खा जाती है। कहते है कि सर्पिणी अनेक बच्चोको एक साथ जन्म देती है

और उन्हें एक घेरेमे घेरकर रखती है और क्रम क्रमसे उन्हे खा जाती है। जो एकाध भाग निकला, वही बच पाता है। भूखी कुतिया अपने नवजात बच्चोंको खाती हुई देखी जाती है, इससे बढकर और क्या दु ख हो सकता है ? अशुभ कर्मके उदयसे ही ये सब तिर्यंचगतिके दुःख प्राप्त होते है। विकलत्रयकी असख्य पर्यायोमें एकेन्द्रियोकी असंख्य जातियोमें यह जीव अशुभोपयोगका ही फल भोगा करता है, और देखो, नरकगतिके जो महादु ख हैं, जिनके वर्णनोसे अनेक शास्त्र भरे पडे है, और जिनका वर्णन सुनकर हृदय दहल उठता है उन सहस्रो जाति के मार काटके महादु खोके यह जीव नरकमे असख्य वर्षों तक जो भोगता है, वह भी इस अशुभोपयोगका ही फल है। कहनेका सारांश यह है कि ससारमे जितने भी दु ख है, वे सब अशुभोपयोगके ही फल है, ऐसा जानकर हमे अशुभोपयोगको दूरसे ही छोडना चाहिये।

व्यवहारचारित्रका प्रयोजन—अशुभ कार्योसे निवृत्त होने और शुभ कार्यमें प्रवृत्त होने को आचार्योने व्यवहारचारित्र कहा है। हम शुभ कार्योकी बाते तो बहुत करते है, पर करते-धरते कुछ नही, तो इससे कुछ नही होगा। कितने ही लोग दान देनेकी बात करते हैं और कोई बहाना लेकर छल पगट करते है कि हमे यह अडचन नही होती, तो हम भी दान देते। पर भैया, जिसके दान देनेके भाव हो, वह कोई न कोई मार्ग दान देनेका निकाल ही लेता है। कुछ लोग कहते है कि हमारे तो दान देनेकी अनुमोदना हैं। पर उन्हे यह पता नही कि केवल अनुमोदनके अधिकारी कौन है ? जो बेचारे पशु पक्षी दान देनेके भाव रखते हुए भी दान देनें मे असमर्थ हैं, जिनमे अगोपांगोकी रचना ही ऐसी है कि उनके दान देना सभव ही नही, वे यदि किसीको दान देते हुए देखें और अपनी विवशताका अनुभव करते हुए दानकी करे अनुमोदना तो उन्हे दानका अनुमोदक कहा गया है। पुराणोमे ऐसे ही नकुल, सिह आदिको दान की अनुमोदना करने वाला माना है और उन्होने ही उस अनुमोदनाका फल पाया है। पर जो मनुष्य शक्ति होते हुए भी दान न करे और अनुमोदनाकी बातें बनावें तो उन्हे क्या कहा जाय ?

अपना नक्शा—शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीनो ही भाव आत्मासे है। इनमे शुद्धोपयोग ही उपादेय है और उसके मुकाबलेमे शुभोपयोग हेय है। पर उसके प्राप्त होने तक शुभोपयोग करनेमे आता माना गया है। शुभोपयोगके मुकाबलेमे अशुभोपयोगको हेय ही नही, अत्यन्त हेय माना है। वस्तुत दोनो ही अशुद्धोपयोग है, हेय है। मकान बनानेके पूर्व उसका नक्शा तैयार कराके म्युनिसिपिल कमेटीसे मजूर कराना पडता है। दिमागमे मकानका नक्शा पहले होना चाहिए। बिना नक्शेके मकान नही बनता। हमे भी आत्माका मकान बनानेके लिए उसका नक्शा तैयार करना चाहिये। उसका नक्शा यही है कि मैं कौन हू, कहांसे आया हू, कहा जाना है, और क्या प्राप्त करना है, इन बातोको भली-भाति पहले समझ लिया

जाय । इस तत्त्वको समझे बिना ही कितने तो निश्चयनयकी कथनीमात्रसे निश्चयाभासी बन जाते है और कितने ही व्यवहाराभासी बन जाते हैं । हमे यथार्थ दृष्टि पकडना चाहिए । यदि वह हमे प्राप्त हो गई, तो फिर हम उन्मार्गपर नही जा सकते । हमसे अशुभोपयोग स्वयं ही छूट जायेगा । पर जब तक भीतर विवेक जागृत नही होगा, तब तक वर्षों शास्त्र सुनते रहने पर भी हम इष्ट सिद्धि प्राप्त नही कर पाते ।

आत्मप्रभावनाका एक दृष्टान्त—एक लकडहारा था । उसने किसी दिन साधुके मुखसे धर्मोपदेश सुना और अपनी शक्तिके अनुसार पाँच अणुव्रत ले लिए कि मैं गीली लकडी नही काटूगा, भाव एक ही बोलूंगा, घट-बढकर नही बोलूंगा, चुगीकी चोरी करता था, वह अब नही करूगा, परस्त्री तो सेवन करता ही नही था, अब आगेसे अपनी स्त्रीके सेवनका भी त्याग करता हू । परिग्रह परिणाम भी कर लिया कि जो प्रतिदिनकी कमाई होगी, उसका एक चौथाई अपने भरण-पोपणमे, एक चौथाई कुटुम्बके भरण-पोपणमे, एक चौथाई धर्ममे और एक चौथाई आपत्तिके लिए बचानेमे लगाऊगा । वह रोज अपने नियमके अनुसार लकडीका एक गट्ठा लाता और बेच जाता । एक दिन एक सेठ जीके रसोइयेने उसे पुकारा और लकडी के दाम पूछे । उसने कहा आठ आने लूंगा । वह बोला छ आने लोगे । लकडहारेने इन्कार किया और आगे चल दिया । वह फिर बोला—अच्छा साढे छः आने ले लो । जब वह इन्कार कर और आगे बढा तो वह बोला— अच्छा, सात आने ले लो, साढे सात आने ले लो । उसकी ऐसी बात सुनकर लकडहारेको भी गुस्सा आ गया और बोला—अरे, किस बेईमानका नौकर है, जो इस प्रकार मोल-तोल करता है ? मैं एक बात कहता हू, आठ आनेसे कम नही लूगा । सेठ जी उसकी बाते सुनकर चौंके और बोले—भाई लकडहारे, मेरी तेरी तो बात ही नही है, तेरी और रसोइयाकी बातें हो रही है, वही भाव कर रहा है, फिर तू मुझे बेईमान कैसे बना रहा है ? वह बोला—सेठ जी, मैंने तो आपके साधुकी एक दिनकी ही सगति की, सो एक बात कहना सीख गया, इतना कहकर पाँच अणुव्रतोका पालन जैसा करता था बताया और उपदेश का उपकार मानकर बोला—सेठ जी, यह जैसेकी सगति करता है, सो इसने वैसा ही सीखा है, यदि आपमे ऐसा भाव-ताव करनेकी आदत न होती, तो यह भी इतना भाव-ताव न करता । सेठजी सुनकर चुप हो गये । यह एक कथा है, हमे अपने व्यवहार द्वारा अपने आचरणकी सफाईको प्रमाणित करना चाहिए ।

आत्मोपकारकी दृष्टि—लोग धर्मके उद्धारकी बढ-बढ करके बातें करते है, पर-उपकारकी भी डींगें हाँका करते हैं । पर यह सब बेकार है, जब तक तुम अपना उद्धार नही कर लेते, तब तक धर्मके उद्धार या परोपकारकी बात कोरी गप ही है । धर्मसे अपना उपकार ही सभव है, और हमे पहले अपना ही उपकार करना चाहिए । कहे सभी और करे कोई

नही, तो उपकार कैसे संभव है ? यदि कहना छोड एक जैनीने भी अपना उद्धार कर लिया तो समझिये—एक अंशका तो उद्धार हो गया । ३४३ राजूप्रमाण इस घनाकर लोकमे कोई भी जीव दुःखी न रहे, सब सुखी हो जाये, ऐसी भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है । मैं तीन लोकका उपकार करू, ऐसी कर्तृत्वबुद्धिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बध नही होता है ।

हम लोग पुण्यसे मिली धन सपदापर गर्व करते है, पर भैया ! माग करके पहने गहने पर गर्व कैसा ? ये सब वैभव पुण्यरूप साहूकारसे उधार मागकर लाये हैं, जिस दिन वह माँग बैठगा देना पडेगा, फिर उसपर इतना गर्व क्यो ? एक चक्रवर्तीके वैभवको उसके हजारो पुत्र भी नही सम्हाल पाते । यह लक्ष्मी सदा किसीके पास नही रही, न रहेगी । फिर उसपर क्यो रीझ रहे हो ? पुण्यके मैलको दूर हटाकर अपने शुद्ध तत्त्वपर दृष्टि रखो । लक्ष्मी आत्माकी करामात नही वह तो पुण्य पापके अनुकूल आती जाती है ।

वैभवकी अविश्वास्यतापर एक दृष्टान्त—एक सेठजी थे, भाग्यवश वे दरिद्र हो गये । जब घरमे कुछ नही रहा तो किसी राजाके न्यायालयमे बैठकर अर्जीनवीसी करने लगे, जो कुछ मिल जाता, उससे अपनी गुजर करने लगे । कुछ दिन बाद जब घर आते तो जीनेसे चढते समय आवाज आती—मैं आऊ । वे प्रतिदिन उसे सुनते और कहते कुछ नही थे । रोज उस आवाजको सुनते-सुनते एक दिन उसकी स्त्रीने कहा कि आनेके लिए हाँ तो भर दो । उसके दूसरे दिन जब आवाज आई तो कहा, यदि आओ तो इस शर्तपर आओ कि मैं लौटकर नही जाऊगी । उसने कहा— मैं इस वायदेको नही कर सकती हू, पर इतना अवश्य कहती हू कि जब जाऊगी तब कहकर जाऊगी । इस बीच राजा कही बाहर गया हुआ था । रानीने इस अर्जीनवीसको बुलाकर राजाको बुलानेके लिए इस ढगसे पत्र लिखनेको कहा कि राजाको बुरा भी न मालूम पडे और बाचकर तुरन्त घर चले आवें । इसने बडी कुशलताके साथ कलापूर्ण पत्र लिखा, राजा उसे पढकर चला आया । घर आकर रानीसे बोला, अभी काम तो बहुत बाकी पडा था, मैं नही आ सकता था, पर प्रिये, तुम्हारे पत्रने आनेको विवश कर दिया । किस कुशल व्यक्तिने यह पत्र लिखाया था ? रानीने अर्जीनवीसका नाम बता दिया और राजाने खुश होकर उसे दीवान बना दिया । अब क्या था, अर्जीनवीसके दिन फिर गये । दिनपर दिन लक्ष्मी आने लगी और वह मालामाल हो गया । एक दिन उसने सोचा कि कही लक्ष्मी चली न जाय, इसलिए ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि कभी वह जा न सके । ऐसा सोचकर उसने एक बडा पक्का मकान बनवाया, तहखाने बडे-बडे धन रखनेके लिए चावने (भंडार) बनवाये । पीतल तांबेके हंडोंमें धन भर-भरकर और मुंहोंको अच्छी तरह बन्द करा करके तहखानेमें बन्द करा दिये और सोचने लगा कि देखें, अब लक्ष्मी कैसे जाती है ? एक दिनकी बात है, राजाने उसे अपने साथ शिकार खेलनेको साथमें चलनेके लिए कहा । वह साथ गया ।

शिकारके लिये भागते-भागते खेलते-खेलते राजा थक गया, और वही जगलमें विश्राम करनेके लिए लेट गया। दीवानने भक्तिवश राजाका सिर अपनी जाघपर रख लिया। लेटते ही राजा को नीद आ गई। इतनेमे लक्ष्मी आई और दीवानसे बोली—लो सावधान, मैं अब जाती हू। दीवान चौका और बोला—मैं भी देखता हू कि तू कैसे जाती है? उसे तो यह विश्वास था कि मैंने लक्ष्मीको जमीनके भीतर गाड करके रक्खा है, यह कैसे जा सकती है? इस प्रकार लक्ष्मी और दीवानकी बातचीत बढ चली। तब दीवान कमरमे बधी तलवार निकाल करके बोला—लो मैं देखता हू, तू किस प्रकार जाती है? इतनेमे राजाकी आँख खुली तो वह अपने ऊपर तलवार देखकर विचारने लगा कि यह मेरा ही दीवान यहाँ मेरी हत्या करना चाहता था, अब इसको यहाँ कुछ कहना उचित नही, क्योकि रार बढनेपर यह मुझे यही मार डालेगा। दीवान यह सोचकर कि मै यदि सत्य बात कहू तो राजाको क्या किसीको भी विश्वास नही हो सकता, तो दोनो चुपचाप चले। जब राजा दरबारमे आ गया, आते ही हुक्म दे दिया कि दीवानको देशसे निकाल दो और उसका घर लूट लो ऐसा ही किया गया।

स्वात्मदयाकी भावना—भाइयो! परपदार्थका क्या विश्वास? अपने स्वातन्त्र्यको देखो और प्रसन्न रहो। यदि बाह्य अर्थका आश्चय (बहाना) करके अशुभोपयोग परिणति ही रही तो उसका फल कुमानुष व तिर्यञ्च नरकोमे भ्रमण करना ही है। तिर्यञ्चोके क्लेश तो आपके सामने प्रकट ही है। सर्पिणी अपने बच्चोको कुण्डलीमे रखकर स्वयं खाती जाती है। जहाँ माता ही स्वय अपने बच्चेको खा जाय उस गतिमे और दु खोका तो कहना ही क्या? यह अशुभोपयोग निर्दयताकी नीवपर खड़े रहते है। इसीलिये तो दयाका बड़ा महत्त्व कहा गया है। अनगारधर्मामृतमे लिखा है—"दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गति स्याददुर्गति'। व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गति स्याददुर्गति'। दयालु अव्रती भी हो तो भी उसे स्वर्गप्राप्ति सरल है। दयारहित व्रती भी हो तो भी उसे दुर्गतिप्राप्ति सरल है। लौकिक सुखका मूल जो व्यवहार धर्म है वह "दयामूलो धम्मो" है और आत्मीय अविनाशी सुखका मूल जो धर्म है वह "दसणमूलो धम्मो" है।

भैया! यह ससार है यहाँ किसीको कोई कितना भी चाहो, सहाय हो ही नही सकता, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा स्वतत्र है। हमारी सुख दु खकी जिम्मेदारी हम ही पर है। हम मनुष्य हैं ससारके प्रत्येक प्राणियोंसे हमारा स्थान ऊँचा है, हितकर है। यदि हमने ऐसे अमूल्य अवसरको ही खो दिया तो बताओ इससे बढकर और कोई मूर्खता है? नही। मनुष्यकी कीमत नैतिकतासे है। ससारमे कौनसा पदार्थ मेरा है जिसके आश्रय हिंसा झूठ चोरी विश्वास घात कुशील तृष्णा आदि अशुभोपयोगमे व्यासक्ति आवश्यक समझी जावे। अपने जीवनकी चर्या देखो, दुर्गुणसे माफी माँगलो—हे दोषराजो अब तक अज्ञानके प्रसादसे आपकी जीहजूरी

मे यह अनाथ रहा। अब अपने नाथको पहिचाना। आप कृपा करके बिदा हूजिये। मेरा जगत मे कुछ भी नही, मैं तो अकेला हू, शुद्ध हू, दर्शन ज्ञानमय हू, अरूपी हू, मेरा परमाणुमात्र भी कुछ नही है। ज्ञान प्रकट होनेके बाद दोषोकी दाल नही गलेगी। ज्ञान प्रकट होनेका एक चिन्ह है—ज्ञानीके व्यवहारमे सर्व सुखद नीति आ ही जाती है।

पारमार्थिक ईमानदारीकी आवश्यकता—हमारा व्यवहार सरल, सुखद, विश्वासपूर्ण होना ही चाहिये तब ही हम (पर्यायमे) मानव कहलानेके अधिकारी है, अन्यथा पशुवोंसे भी गये बीते है क्योकि पशुवोमे भी विश्वासमय जीवन देखा जाता है। एक मनुष्य जगलमे जा रहा था। इतनेमे सिंह दिखा, मनुष्य एक ऊचे पेडपर चढ गया सिंह नीचे आ गया। उस पेडपर एक रीछ बैठा था। अब तो मनुष्य बडा घबडाया कि नीचे शेर और पेडपर रीछ। तब रीछने सकेत किया कि हे मनुष्य! मत घबडावो, तुम शरणमे आये हो मैं तुम्हारी रक्षा ही करूगा। मनुष्यको सतोष हुआ। बहुत देर बाद मनुष्यको नीद आने लगी। रीछने कहा भाई इसी चौडी शाखापर निश्चिन्त होकर सोओ। मनुष्यके सो जाने पर सिंह रीछसे बोला—रे बेवकूफ तू जानता नही है कि यह मनुष्य वह जानवर है जो सभी जानवरोको मौतके घाट उतार देता अभी मै नीचे बैठा हू इसी लिये तेरी कुशल है। जब मैं चला जाऊगा तब तेरी भी हत्या कर डालेगा। अभी मौका है तू इसे ढकेल दे मैं इसका काम तमाम कर दूँगा। रीछ बोला—हे वनराज! मैंने इसे शरणका विश्वास दिया है इससे मैं इसे हानि नही पहुचा सकता। कुछ देर बाद मनुष्य जगा और रीछ सोने लगा तब सिह मनुष्यसे बोला—रे मूर्ख क्या देखता है यह रीछ है तेरा खून चाटकर तुझे मार डालेगा, इसे तू पटकदे मैं इसे मार डालूगा, फिर तू निर्विघ्न अपने घर चले जाना। सिहके बहुत समझानेपर उसके मनमे दुर्भाव आ गया और वह रीछको ढकेलने लगा परन्तु रीछ जगा और सभल गया। तब सिह बोला—देख रीछ इस मनुष्यकी करतूतको। अब भी तू इसे पटकदे। तब रीछ बोला हे—मृगराज यदि मनुष्य अपना विश्वास खो दे तो खो दे परन्तु मैं तो पशु हू जो एक बार अभय दे दिया सो मैं विश्वासघात नही कर सकता। साराश यह है कि हम पशुवोसे बहुत ऊचे चढे हुए स्थानपर है हमे अपना हृदय साफ निर्मल बनाना है, अशुभोपयोगसे अत्यन्त दूर रहना है। नही तो अशुभोपयोगका फल इन्ही कुमानुष तिर्यञ्च नारकियोमे पैदा होकर भ्रमण करना ही है। यह भ्रमण स्वय ही महान् दु ख है, जन्मना मरना ही सबसे बडा दुःख है। पूजनमे भी सबसे पहले इसी जन्ममरणके विनाश करनेके लिए जल चढया जाता है। जन्म सभी बुरे हैं व धर्मके अयोग्य जन्म अत्यन्त बुरे है। कुमानुष कहा कहा उत्पन्न होते है? लब्ध्यपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम मनुष्योमे, म्लेच्छखण्डके मनुष्योमे, कुभोगभूमिके मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं। जहा न कोई धर्म है, न आचार-विचार है, यह सब अशुभोपयोगका फल जानना चाहिए।

नरकचर्चा—ऊपर बताया जा चुका है कि अशुभोपयोगके फलसे नरकोमे उत्पन्न होता है। नरकोकी कुछ विशेष जानकारीके लिए यहां उसकी विशेप चर्चा आवश्यक है। लोग कहने लगते है—क्या पता कि नरक हैं ? इसका उत्तर यह है कि जैनशास्त्रोमे सर्वत्र कथन एकसा पूर्वापर सबद्ध मिलता है। कही भी ऐसा देखनेमे नही आया कि एक स्थलपर कथन किसी अन्य प्रकारका है और दूसरे स्थलपर दूसरे प्रकारका। इससे अविरुद्ध वर्णन द्वारा नरक होनेकी प्रमाणिकता प्रगट होती है। दूसरे भगवान्‌की कही हुई १०० बातोमेसे जब हमे ६६ बातोमे वैज्ञानिक सत्यता दिख रही है, तब एक उस बातमे जो कि परोक्ष है अनुमानसे प्रमाणता स्वीकार करनी पडती है। जो वीतरागका उपदेश लौकिक बातोंमे खरा है, इन्द्रिय-गोचर बातोमे सत्य है, सूक्ष्म आत्मपरिणामोंके कथन करनेमे सत्य है, वह केवल पुण्य पापका फल बतलानेके लिए ही क्यो असत्य होगा ? इस तरह आगमकी प्रमाणतासे हमे नरकोंके कथनको भी प्रमाण मानना ही चाहिए।

नरकोकी रचना—जैनशास्त्रोंके अनुसार तीनलोकका चित्र कमरपर हाथ रखकर और पैर फैलाकर खडे हुए पुरुषके आकार माना गया है। कमरके मध्यभागमे एक लाख योजनका सुमेरु पर्वत है। सुमेरुसे ऊपरके लोकको ऊर्ध्वलोक कहते है, जहा कि स्वर्गादिककी रचना है। सुमेरुकी जडके नीचे वाले भागको अधोलोक कहते हैं। सुमेरुकी ऊचाई जितने मध्यवर्ती एक राजूप्रमाण लम्बे चौडे भागको मध्यलोक कहते हैं। अधोलोककी ऊचाई सात राजू है। इनमे छ राजूके भीतर सात पृथिविया हैं और सबसे नीचेके एक राजूप्रमाण लोकमे केवल निगोद ही भरी पडी है। उन सात पृथिवियोके नाम ये है—१ रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३ बालुकाप्रभा, ४. पकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६. तम प्रभा और ७ महातमःप्रभा। रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग है—खरभाग, पकभाग और अब्बहुल भाग। खर भाग १६ हजार योजन मोटा है, पकभाग ८४ हजार योजन मोटा है और अब्बहुल भाग ८० हजार योजन मोटा है। इनमेसे खरभागमे और पक भागमे तो भवनवासी देवोंके भवन है और तीसरे अब्बहुल भागमे धर्मा नामक नरक हैं। दूसरी शर्करा पृथिवीमे दूसरा वशा नामक नरक है। तीसरी पृथिवीमे मेघा नामक नरक है। चौथी पृथिवीमे अजना नामक, पाचवीमे अरिष्टा नामक, छठीमे मघवी नामक और सातवीमे माधवी नामक नरक हैं। पहली पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। दूसरी आदि पृथिवियोकी मोटाई क्रमसे बत्तीस हजार, अट्ठाइस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन है। इनकी लम्बाई लोकके अन्त तक फैली हुई है। नरकमे नारकियोंके रहनेके स्थानोको बिल कहते है, क्योकि इनके मुख मकान या कमरेके समान व्यवस्थित और किसी एक दिशाकी ओर नियत नही होते। चूहे आदिके बिलोंके समान अव्यवस्थित, टेढे-मेढे और अनेक आकार-प्रकार वाले होते है। फिर भी मूषक-

बिलके मुख ऊपर निःसृत है परन्तु नरकबिलका किसी ओर भी मुख नही है। सातो नरकोमे बिलोकी संख्या क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पॉच कम १ लाख और ५ है। इन सबका जोड ८४ लाख होता है। इनमे प्रथम नरकसे लेकर पाँचवें नरकके तीन चौथाई भाग तक अत्यन्त उष्णवेदनाका दु ख है और पाँचवे नरकके एक चौथाई मे, तथा छठे और सातवें नरकमे केवल शीतवेदनाका महादु ख है। सातो नरकोंके ४९ पटल है। इनमे से पहलेमे १३, दूसरेमे ११, तीसरेमे ९, चौथेमे ७, पॉचवेंमे ५, छठेमे ३ और सातवे नरकमे १ पटल है। इन पटलोको मकानकी मजिलके समान जानना चाहिए।

नरकमे पटल और बिलोका विवरण—प्रत्येक नरकके पटल एकके नीचे एकके रूपसे अवस्थित हैं। प्रत्येक पटलमे तीन प्रकारके नरक बिले है। बीचमे जो नरक बिल है, उसे इन्द्रक बिल कहते है। उसके चारो दिशाओमे और चारो विदिशाओमे जो पंक्तिबद्ध बिले हैं, उन्हे श्रेणीबद्ध बिल कहते है। इन श्रेणीबद्ध बिलोंके मध्यवर्ती अन्तरालमे जो फुटकर बिल होते है उन्हे प्रकीर्णक बिल कहते है। पहले नरकके इन्द्रक बिलका नाम सीमन्तक है। इसके चारो दिशाओमे ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल होते है और विदिशाओ मे ४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल होते है। दूसरे पटलमे भी ठीक इसी प्रकारकी रचना होती है। भेद केवल इतना हो जाता है कि दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्धोमे एक एक सख्या कम हो जाती है। इस प्रकार नीचे-नीचेके पटलोमे श्रेणीबद्ध नरकबिलोकी एक-एक संख्या कम होती जाती है। इस प्रकार घटते-घटते सातवें नरकका जो उनचासवां पटल है उसमे बीचमे एक इन्द्रकबिल और चारो दिशाओमे एक-एक श्रेणीबद्ध बिल रह जाता है। विदिशामे श्रेणीबद्ध बिल नही रहता। पहले नरकके जो १३ पटल हैं उनके नाम इस प्रकार है—१ सीमन्तक, २ निरय, ३ रौरव, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ सम्भ्रान्त, ७ असंभ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस्त, १० त्रसित, ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त और १३ विक्रान्त। दूसरे नरकके ११ पटलोंके नाम इस प्रकार है—१ ततक, २ स्तनक, ३ वनक, ४ मनक, ५ खड, ६ खडिक, ७ जिह्व, ८ जिह्विक, ९ लोलिक, १० लोलवत्स और ११ स्तन लोल। तीसरे नरकके ९ पटलोंके नाम इस प्रकार हैं—१ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ उज्ज्वलित, ७ प्रज्वलित ८ सज्वलित और ९ सप्रज्वलित। चौथे नरकके ७ पटलोंके नाम—१ आर, २ मार, ३ तार, ४ चर्च, ५ तमक, ६ घाट और ७ घट। पाँचवें नरकके ५ पटलोंके नाम— १ तमक, २ भ्रमक, ३ झषक, ४ अन्धेन्द्र और तिमिश्र। छठे नरकके ३ पटलोंके नाम—१ हिमदत्, २ वार्दलि और ३ लल्लक। सातवें नरकमें एक अप्रतिष्ठान नामका ही पटल है। ४९ पटलोंमें पहले पटलमें जो सीमन्तक नामक इन्द्रक

बिल है उसका विस्तार ४५ लाख योजन है और अन्तिम ४९वा जो अवधिस्थान नामका इन्द्रकबिल है उसका विस्तार १ लाख योजन है। मध्यवर्ती इन्द्रकोका विस्तार क्रम-क्रमसे कम होता गया है। इस प्रकार इन्द्रकबिलोका विस्तार सख्यात योजन प्रमाण ही कहा गया है। दिशा और विदिशामे जो श्रेणीबद्ध बिल है, उनका विस्तार असख्यात योजन प्रमाण है। इन श्रेणीबद्धोंके बीचमे जो फुटकर प्रकीर्णक बिल है उनमे कितने ही सख्यात योजन विस्तार वाले है और कितने ही असख्यात योजन विस्तारवाले है। इन बिलोकी चारो ओरकी दीवाले वज्रमयी होती हैं। उन बिलोंके आकार अनेक प्रकारके हैं। कितने ही गोल, कितने ही त्रिकोण, कितने ही चतुष्कोण, पचकोण आदि विविध आकार वाले है।

नरकोमे उत्पत्ति—जो जीव बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमे आसक्तचित्त होते हैं, निरन्तर अशुभोपयोगी सक्लिष्ट चित्त रहते है, रौद्रध्यानी होते हैं, जिन्हे मारने-काटनेमे ही आनन्द आता है, वे जीव नरकायुका बन्धकर नरकोमे उत्पन्न होते हैं। नारकियोका उपपाद जन्म होता है अर्थात् वे माता-पिता आदिसे उत्पन्न नही होते। किन्तु ऊट, व्याघ्र, मगर आदि बीभत्स आकारवाली उपपाद शय्याए होती हैं, उनमे उत्पन्न होकर और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही शरीरको प्राप्त कर पूरा जवान नारकी बन जाता है। शरीरके पूर्ण तैयार होते ही वह उपपाद शय्याओसे, जो कि बिलोंके ऊपरी भागमे होती हैं और जिनके मुख नीचे होते हैं, नीचे औंधा मुख होकर जमीनपर गिरता है। वहाँकी भूमि इतनी जहरीली होती है कि उसका स्पर्श करते ही नारकीको हजारो लाखो बिच्छुओके एक साथ काटनेसे भी अधिक उग्र वेदना होती है और वह चिल्लाकर ऊपरको उछलता है। सातवें नरकका नारकी जमीनका स्पर्श कर उसके दुःखसे अति सतप्त होकर ५०० योजन ऊपरको उछलता है। छठे नरकमे २५० योजन ऊपर उछलता है। पाँचवें नरकमे १२५ योजन ऊपर उछलता है। चौथे नरकमे ६२॥ योजन ऊपर, तीसरेमे ३१। योजन, दूसरेमे १५ सही १० बटा १६ योजन और पहलेमे ७ सही १३ बटा १६ योजन ऊपर उछलता है। ये नारकी उपर उछल करके तुरन्त ही फुटबालके समान नीचे गिरते हैं और फिर ऊपर उछलते है। इस क्रमसे सैकडो बार ऊपर और नीचे उछलनेके बाद बेहोशसा या अधमरा होकर जब नारकी जमीनपर पड जाता है, तो पुराने नारकी उसे देखते ही शिकारी कुत्ते जैसे शिकारके ऊपर टूटते हैं, उसी प्रकार उसपर टूट पडते हैं।

नरकोमे वेदना—नारकी जीव अत्यन्त निष्ठुर कठोर वचन बोलते हुए उसे मारते हैं, और उसके घावोपर खारा गर्म पानी सीचते है। उस पानीके सीचनेसे जो महावेदना उसे होती है, उससे वह चिल्लाकर भागता है और नारकी शिकारीके समान उसका पीछा करते हैं। यदि वह पहाडमे शरण पानेके लिए जाता है, तो ऊपरसे बडी-बडी शिलाए उसके सिर

पर गिरती है, जिससे उसका मस्तक चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। वहासे भागकर यदि वनमे प्रवेश करता है, तो वहाँके वृक्षोके पत्ते-जो कि तलवारकी धारके समान तेज होते है, उसके ऊपर तडातड करके गिरते है, जिससे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसी समय नारकी लोग भेडिया, व्याघ्र, गिद्ध, काक आदि पशु पक्षियोका रूप धारण कर उसे खानेके लिए दौडते है, तब वह अपनी जान बचानेके लिए चारो ओर मारा-मारा फिरता है। जब कही कुछ शरण नही दिखता, तो वह वैतरणी नदीमे जा गिरता है कि चलो यही कुछ शान्ति मिलेगी। पर उसमे प्रवेश करते ही वह और भी अधिक दु खका अनुभव करता है, उसके खारे और गर्म जलसे उसका शरीर जलने लगता है, मगर-मच्छादि वेषी चारो ओरसे खानेके लिए दौडते है। वह वहाँ भी महादु.खका अनुभव कर उससे बाहर निकलता है, तो दूसरे नारकी पकडकर उसे तेलकी तपती हुई कढाइयोमे डाल देते है और उसे त्रिशूलोसे छेदते और पूडी-कचौडीके समान उसमे उलट-पुलटते है। ये नारकी परस्पर बुरी तरह लडते रहते है। इस प्रकार कहाँ तक कहा जाय ? वह जीव जहाँ भी जाता है, वहांपर उसे नाना प्रकार के महाकष्ट भोगने पडते है। इन नरकोकी पृथ्वी इतनी दुर्गन्धित होती है कि यदि पहले नरक की मिट्टीका कुछ हिस्सा लाकर यहाँ मध्यलोकमे डाल दिया जाय, तो आधे कोश तकके जीव उसकी गधसे मर जावे। आगे-आगेके नरकोकी पृथ्वोकी गन्धसे १ कोश, १॥ कोश, २ कोश, २॥ कोश, ३ कोश और ३॥ साढे तीन कोश तकके जीव मर जाते है। इस प्रकार वे नारकी नरकोमे क्षेत्रजनित, शारीरिक, मानसिक दुःखोको असख्य काल तक सहन करते है। तीसरे नरक तक असुरकुमार देव भी जाकर उन्हे आपसमे पूर्वभवका बैर याद दिलाकर लडाते है। वहाँ भूख इतनी है कि तीनो लोकोका सर्व अन्न खा जावे तो भी भूख न मिटे, पर खानेको एक दाना भी नही मिलता, प्यास इतनी अधिक लगती है कि सर्व समुद्रोका पानी पी जाये तो भी प्यास न बुझे किन्तु एक बूंद भी पानी पीनेको नही मिलता। इस प्रकारके ये दु ख पहले नरकमे १ सागर तक, दूसरेमे ३ सागर तक, तीसरेमे ७ सागर तक, चौथेमे ४० सागर तक, पाँचवेमे १७ सागर तक, छठेमे २२ सागर तक और सातवे नरकमे ३३ सागर तक निरन्तर सहता रहता है। इनका अकालमें मरण नहीं होता है। शरीरके टुकडे-टुकडे कर दिये जानेपर भी पारेके समान उनके शरीरके परमाणु तुरन्त परस्परमे मिल जाते है। नारकियोको मारनेके लिए उन्हे हथियारोकी आवश्यकता नही पडती, उनके हाथ ही तलवार, भाला, बरछी आदि विविध रूपोमे परिणत हो जाते है, सो यह बात नारकियोको और भी अधिक कष्टदायक होती है। क्योकि यदि हथियारोको उठानेका काम पड़े, तो कुछ क्षणके लिए तो दूसरा नारकी उसके प्रहारसे बच जायगा। पर नारकियोके वैक्रियक शरीर होता है, जिस क्षण जैसा सोचते है, तत्काल उनके शरीरका उसी रूपसे परिणमन हो जाता है, अत इससे

नारकियोके दुख और भी अधिक वढ जाते है। मगरमच्छादि भी वे ही वनते है।

नरकस्वरूपका चिन्तवन भी धर्मध्यानका एक अङ्ग—यह नरकका वर्णन भी धर्मध्यानके लिये सहायक है। तत्वार्थसूत्रके तीसरे अध्यायमे नरकका वर्णन है। जबलपुर चतुर्मास की वात है, जब मैं श्री १०५ पातःस्मरणीय गुरु गणेशप्रसादजी के साथ था और मेरे सप्तम प्रतिमा थी—पर्यूषण पर्वमे १० दिनके तत्वार्थ सूत्रके अध्यायोका अर्थ करनेके लिये भिन्न-भिन्न विद्वान् नियुक्त कर दिये गये। सबने अपनी मनपसदगीके अनुसार अध्याय ले लिये। एक पडित ब्रह्मचारी जी के हिस्सेमे तीसरा अध्याय आया। कुछ लोकोंके मजाकसे उन्हे यह कुछ अच्छा न लगा। शायद नरकोके वर्णनसे उन्हे कुछ ग्लानि या उद्वेगसा हुआ और उन्होंने उस अध्याय को मेरे सुपुर्द कर दिया। तीसरे दिन जब मैं शास्त्रकी गद्दीपर वैठा, तो मैंने कहा—लोग तत्वार्थसूत्रको समुच्चय अर्घ चढाते है और प्रत्येक अध्यायको भी पृथक्-पृथक् अर्घ चढाते है। जब प्रत्येक अध्यायको अर्घ चढाया गया, तो उसके प्रत्येक सूत्रको अर्घका चढना स्वत सिद्ध हो गया अथवा जैसे सहस्र नामके एक-एक नामको अर्घ चढाया जाता है उसी प्रकार यदि कोई विस्तारके साथ तत्वार्थसूत्रका पूजन, विधान करे तो एक-एक सूत्रको भी अर्घ चढाया जायगा। उस समय इस प्रकारका पाठ होगा—'परस्परोदीरित दुःखा' अर्घं, 'सक्लिष्टासुरोदीरितदुखाश्च प्राक् चतुर्थ्या.' अर्घं, तो क्या इस प्रकार अर्घ चढानेसे क्या उन नारकियोको अर्घ चढाया गया? नही। इसका अर्थ यह होगा कि जो आगम सूत्र इस बातको वतला रहा है, उस सूत्रको अर्घ चढा रहा हू। इसमे डरनेकी क्या वात है? और फिर शायद हम आप सभी इन नरकोमे अनेक वार उत्पन्न होकर वहाके दुखोका अनुभव कर चुके हैं। यह दूसरी वात है कि आज हमे वे दुख याद न हो। पर आगमके सहारेसे उन नरकोका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और सोचना चाहिए कि तीन लोकमे कहाँ कैसी रचना है, यह सस्थानविचय धर्मध्यान है, यद्यपि सस्थानविचय ध्यान ५ गुणस्थान तक नही होता तथापि उसका स्थूल रूप तो आता जाता और जब हम नरकोके दुखोका चिन्तवन कर उनसे बचनेका उपाय सोचते हैं, तो वह उपायविचय धर्मध्यान हो जाता है। इस सर्व कथनका साराश यही है कि हमे उस अशुभोपयोगका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए, जिसके फलसे कि हमे नरकोमे उत्पन्न होना पडता है।

नरकोमे उत्पन्न होनेके कारणोसे दूर रहनेके यत्नका पालन—नरकोमे उत्पन्न होनेका कारण बहुत आरभ और बहुत परिग्रह है तथा नरकोमे उत्पन्न होनेको जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका होना कारण बतलाया गया है, वहाँ रात्रिभोजनको भी एक कारण बताया गया है। रात्रिभोजन महाहिंसाका कारण है। जिस प्रकार अन्न खाने वालेकी अपेक्षा माँस खाने वालेके अधिक गृद्धि देखी जाती है, उसी प्रकार दिनमे भोजन करने वालोकी अपेक्षा रात्रिमे

भोजन करने वालोके भी अधिक गृद्धि और लोलुपता स्वय सिद्ध है। दूसरे रात्रिमे प्रकाशकी कमीसे भोजनमें गिर पडने वाले जीव दृष्टिगोचर नही होते। यदि बिजली आदिका तेज प्रकाश किया जाता है तो उसके निमित्तसे और भी अधिक जीव आकर एकत्रित होते हैं और मरते है, उनकी इस महाहिंसाके कारण भी हम ही बनते है। फिर रात्रिमे आने-जाने भोजन पकाने या पके हुएको परोसने आदिमे अगणित जीवोकी हिसा होती है। रात्रिमे जूठन यदि वही फेंकते है, तो भी जीवहिंसा होती है और यदि उसे यो ही पडी रहने देते है, तो भी उसमे अगणित त्रस जीव आकर मरते है। आप लोगोने अवसर देखा होगा कि जो दूधके गिलास वगैरह रातको यो ही बिना मजे रखे रह जाते है, सवेरे उसमे अगणित चीटी आदि मरी चिपकी हुई पाई जाती है। इस प्रकार महाहिंसाका कारण जान करके हमे रात्रिभोजनका परित्याग करना चाहिए। जो लोग सरकारी आफिसोमे काम करते है, उन्हे चाहिए कि वे अपनी ड्यूटीके कार्य यथासम्भव शीघ्र करें, अपने अधिकारीको उस योग्यता और कुशलतासे परिचित करा दे और शामके ५ बजते ही घर आनेका अवकाश प्राप्त कर लेवें। यदि कदाचित् यह सभव न हो, तो वही शामका भोजन मगा लें या साथमे लेते जावे। यदि ये दोनो बाते भी सभव न हो तो फिर एक बार ही खानेकी आदत डाले। अनेक मनुष्य एक बार खा करके भी नीरोग, स्वस्थ एव कमेठ बने रहते है। यदि विचार हो, रात्रिभोजनके पापसे घृणा हो, तो कोई न कोई उपाय निकाल ही सकते है। कितने ही लोग रातको अन्न तो नही खाते है पर मेवा मिठाई आदि अनेक दूसरी चीजोको खाते है सो यह भी ठीक नही, क्योकि उनके खानेपर भी जीवघातमे कोई फर्क नही पडता, जीवहिसा उतनी ही होती है। पाक्षिक गृहस्थको सबसे छोटा त्याग यह बताया कि वह जल औषधिके सिवाय कुछ भी न लें अर्थात् रात्रिमें सिर्फ जल और औषधि लेनेकी ही छूट पाक्षिकको है, और चाहिये भी क्या ? यदि प्यास सतावे, तो पानी पी ले और रोगपीड़ा हो तो औषधि ले लेवे। बाकी सर्व प्रकारके खाद्य, स्वाद्य, लेह्य आदि पदार्थोंके रात्रिमे खाने का त्याग करना ही चाहिए। वस्तुत रात्रिमे जल औषधि ले तो कहीं वह दोषसे नही बच जाता, किन्तु उसका अभी त्याग नही। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनत्यागियोको कितनी ही बीमारियाँ नही होती, उसका स्वास्थ्य उत्तम रहता है, पठन-पाठन धर्मसाधन कार्योके लिए अवकाश मिलता है। रात्रिभोजियोको अनेक बीमारियाँ होती हैं। प्राय सक्रामक बीमारियोंके कीटाणु रात्रिमे अधिक सचार करते हैं और वे भोजनके साथ मिलकर रात्रिभोजीके पेटमें चले जाते हैं। प्राय. देखा गया है कि प्लेग, हैजा आदि उन लोगोमे अधिक फैलता है, जो रात्रिभोजी है। ऐसा समझकर सबको रात्रिभोजनका त्याग करना ही चाहिये।

जिसके रात्रिभोजनत्याग करनेका जितना भी विवेक नही जगा उसके भेदविज्ञान क्या प्रगट हो सकेगा ? रात्रिमें भोजनको मांसके सदृश कहा गया है क्योकि त्रस जीवोके गिरने-मर

जानेसे वह मास ही हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो मद्य, मास, मधु रात्रि-भोजन और त्रसजीव वाले फलोके खानेका त्याग कर देता है समझना चाहिए कि उसने रसनाविषयक अत्यन्त हेय अशुभोपयोगका परित्याग कर दिया और अधम भूमिकासे वह ऊपर उठा है। खान पानकी शुद्धिके विना परिणामोमे शुद्धि आ नही सकती। अथवा परिणामोमे शुद्धि हो तो खान-पानकी शुद्धि होती ही है। मनुष्य यदि मासभक्षी है तो क्रोधादि कषाय शीघ्र जागृत होगी। यदि वह मद्यपायी भी है, तो कामादि विकार अवश्य जगेंगे और काम-क्रोधादि विकारो का जागृत होना-ही अशुभोपयोग है। अशुभोपयोगोका परित्याग ही व्यवहारधर्म है। प्रत्येक गृहस्थको व्यवहारधर्मका पालन करना आवश्यक है। एक बार आप लोग कमसे कम ६ मास तक इस व्यवहारधर्मका पालन कीजिए, प्रतिदिन स्वाध्याय और सामायिक कीजिए, फिर देखिए कि आपके परिणामोमे कितनी निर्मलता आती है और चित्त की चचलता तो स्वय ही नष्ट हो जायगी। ६ महीने दीवालको साफ करो, चित्र स्वय प्रतिबिम्बित हो जायगा। धर्मके लिये पहिले चित्तको निर्मल करो। जो इस प्रकार अत्यन्त हेय अशुभोपयोगको छोडकर सदा शुद्धोपयोगपर दृष्टि रखता है, उसका जो शुभोपयोग बीचमे आता है वह भी धीरे-धीरे स्वय ही छूट जाता है।

समझके लिये तैयारी—अब आगे शुद्धोपयोगाधिकार प्रारम्भ होगा। इस शुद्धोपयोगाधिकारको कहनेके लिए आचार्यको कितनी भारी तैयारी करनी पडी है, अत यदि समझमे आया है, तो फिर बताओ हमे भी उसके समझनेके लिए कितनी तैयारीकी आवश्यकता है? कोई किसीको परिणमाता नही है, सब द्रव्योकी सत्ता स्वतत्र है, फिर पात्रता पानेके लिए तैयारी तो करनी ही पडती है। लोग कहने लगते है देशके बडे नेता लोग भी रात्रिको खाते है, मद्य पीते है, फिर भी वे राज्यशासन सभालते और ऊचे पदोपर कार्य कर रहे है, पर भैया हम तो देशके नेता होनेकी बात नही कह रहे हैं, हम तो यह कह रहे है कि यदि धर्मका नेता होना चाहते हो तो हेयको त्यागकर आत्मतत्त्वकी सभाल करलो और अनन्त काल तक उसका सुख भोगो। भैया! शुभोपयोगका फल विपदा है और अशुभोपयोग फल तो विपदा है ही, जिसने इस आत्मतत्त्वको पहिचाना, उसे ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदिके तथा इन्द्र-अहमिन्द्र आदिके सुखोमे अन्तरगसे विरक्ति होती है। जीव किसी न किसी वस्तुमे लीन रहना चाहता है, चारित्रगुणका यही काम है। यदि इसे स्वबोध नही है, आत्मज्ञान प्रगट नही हुआ, तो जो चीज सामने आयगी, वह उसीमे लीन हो जायगा। चारित्रका काम लीन होनेका है। वह चारित्र मिथ्यात्वदशामे विषय-कषायोमे लीन रहता है और सम्यक्त्व हो जाने पर वह निजात्मरूपमे लीन रहने लगता है।

शुद्धोपयोगके अधिकारका प्रारम्भ—पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने शुद्धोपयोगका फल

कहनेके पूर्व स्वय आत्मशुद्धि की। उन्होने पहले अशुभोपयोगको हटाया, फिर वे शुभोपयोग को हटाकर शुद्धोपयोगको स्वीकार करते हुए इस शुद्धोपयोग अधिकारका आरभ करते हैं। प्रारभ कब करते है ? अधिकारको प्राप्त करके। जब तक कोई किसी तत्त्वके कहनेका अधिकार नही प्राप्त कर लेता, तब तक वह उस तत्त्वको कहनेका अधिकारी नही। फिर आचार्य प्रारभ कहा करते है ? अन्तरगमे प्रारभ करते है। इसका अभिप्राय यह कि वस्तुतत्त्व जैसा मनमे है, वैसा ही ग्रन्थमे आये, अर्थात् शब्दरूपसे रचा जाये। और जैसा ग्रन्थमे आवे, वैसा ही मनमे हो।

इन कागजोपर जो ये अक्षर लिखे है, क्या यही ज्ञान है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य सूरि जी समयसारमे कहते है:—"न श्रुत ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेक" अर्थात् शास्त्र कागजोपर लिखे गये अक्षर श्रुतज्ञान नहीं है, क्योकि वे अचेतन है, इसलिए शास्त्र और वस्तु है व ज्ञान और वस्तु है। जब आत्मामे ज्ञान जगा, तो ये शब्द पकडे गये, या ये शब्द पत्र निबद्ध शब्द पढे, तो यह ज्ञान भीतर आया। यहाँ कोई यह न समझ ले कि शब्दोमे से अर्थ निकलकर भीतर आत्मामे पैदा करते है। नही, शब्दोमे से अर्थ निकलकर ज्ञान नही पैदा होता, पर वह स्वय भीतरसे निकला करता है। यदि शब्दोको पढ़नेसे ही ज्ञान पैदा होता, तो फिर किसी कठिन पक्तिको पढनेके साथ ही उसका भी अर्थ तत्काल ज्ञात हो जाना चाहिये। पर ऐसा नही होता, तो क्या उस पक्तिका अर्थ समझनेके लिए उस पक्तिके अक्षरोको कागजपर घिसता है, अक्षरोको साफ करता है कि इनमेसे अर्थ निकल आवे ? नही तो फिर क्या करता है ? यह करता है कि उस पक्तिको बाचकर और आँख बन्द कर अपनी बुद्धिपर जोर देता है और उसके भावको समझनेका प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न ही उसके भीतर पक्तिके अर्थका ज्ञान प्रगट करता है। साधु सदा छठे प्रमत्त गुणस्थानसे सातवें अप्रमत्तगुणस्थानमे और सातवेसे छठेमे आता जाता रहता है। जब आचार्य कुन्दकुन्द यह ग्रन्थ बना रहे होंगे, तब भी उनके उपयोगकी प्रमत्तदशा और अप्रमत्तदशा बराबर परिवर्तित होती रही होगी। अप्रमत्तदशामे शुद्धोपयोगके विचार मनमे उठते और प्रमत्तदशामे वे शब्दरूपसे निर्मित होकर कागजपर अकित होते। इस क्रमके साथ ही प्रकृतग्रन्थकी रचना हुई है।

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मन· प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति।

अब ग्रन्थकार अपनी आत्माके और अपने समान सभी आत्माओंके प्रोत्साहनके लिए शुद्धोपयोगका फल प्रकाशित करते हैं। यहाँ 'उच्यते प्रकाशयति' आदि क्रियापदोका प्रयोग न करके आचार्यने 'अभिष्टौति' पदका प्रयोग किया है। यह पद 'अभि उपसर्गपूर्वक ष्टुञ् प्रशसायां' धातुसे बना है, जिसका अर्थ होता है कि भले प्रकार सर्व ओरसे गद्गद् होकर प्रशंसा

करते हैं। प्रश्न—पहले शुद्धोपयोगके कारण आदि क्यों नही कहे, फल ही क्यो कहा ? उत्तर—पहले फल कहनेका कारण यह है कि श्रोता जन फल सुनकर उसके पानेके लिए उत्साहित हो जावे।

शुद्धोपयोगका फल भेदविवक्षासे अनाकुल सुख है। परन्तु अभेदविवक्षासे अनाकुल सुखस्वरूप शुद्धोपयोग ही है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज इसी बातको गाथा द्वारा प्रगट करते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

शुद्धोपयोगियोका आनन्द—शुद्धोपयोगियोका सुख अतिशयवान् है। ससारके जितने बडेसे बडे देवेन्द्र अहमिन्द्रादिके सुख हैं, उनसे भी अपूर्व है, अद्भुत है, परम आल्हादरूप है। जिसकी कि ससारी जीव कल्पना ही नही कर सकता। एक तीन दिनके भूखे भिखारीको कहीसे माँगनेपर सूखे, रूखे रोटीके दो चार टुकडे मिल जायें, फिर उससे कोई कहे कि हे बाबा! इन बासे, गदे टुकडोको फेंक दे और मेरे साथ चल, मैं तुझे बढिया ताजा भोजन कराऊगा, तो उसे विश्वास ही नही आता, कि कही इन टुकडोसे भी बढिया भोजन हो सकता है अथवा प्राप्त हो सकता है ? जन्मसे लेकर आज तक जिसने उन रूखे-सूखे टुकडोंके सिवाय बढिया भोजन देखा ही नही, वह उसकी कल्पना ही नही कर सकता है। इसी प्रकार जिस ससारी जीवने अनादिकालसे आत्मीय सुख देखा ही नही है और जो इन पचेन्द्रियोंके क्षणिक सुखाभासोको ही सुख मानता आ रहा है, उसे यदि श्रीगुरु कहते हैं कि वत्स, इन इन्द्रियसुख रूप टुकडोको फेंको, हमारे साथ चलो, हम तुम्हे उत्तम सुख प्राप्त करावेंगे। तो उसे गुरुवचनो पर विश्वास ही नही होता कि इन इन्द्रियोंके सुखोसे भी बढकर कोई और भी सुख हो सकता है ? उसके मनमे यह बात जम ही नही सकती, क्योकि दिमागमे तो वह अनादिकालीन कुसस्कार घर किये हुए हैं। पर जिसने आत्मस्वरूपको पहिचान लिया है, वही विषय-कषायोको छोड सकता है। इसी बातको समन्तभद्राचार्यने कहा है कि—मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्तसज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥ अर्थात्—जब आत्माके ऊपरसे अनादिकालका लगा हुआ मोहरूप अन्धकार दूर हो जाता है और सम्यग्दर्शन के लाभके साथ-साथ सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह साधु रागद्वेष की निवृत्तिके लिए चारित्रको प्राप्त होता है, निजस्वभावकी स्थिरताको प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व और वैराग्य—इसका अर्थ यही निकलता है कि यह जीव पहले सम्यक्त्वी बन जाय, तभी रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रका उदय होता है। हमे एक बार सबसे मोह छोड़ना होगा, अपनेको सबसे भिन्न और असहाय समझना होगा, तभी आत्मस्वरूपके दर्शन

होंगे और तभी उस अतिशयवान सुखके दर्शन होंगे जो कि सुख परम अद्भुत है, आल्हादस्वरूप है। जिसे एक बार उसकी झाकी हो जाती है, वह राजपाट सभी पुत्र और धन वैभवको जीर्ण तृणके समान छोडकर साधु बन जाता है। सुकौशलके पिता राजा कीर्तिधरको जब आत्मबोध हुआ और वैराग्य प्रगट हुआ, तो वह छोटेसे राजकुमार और रानीको छोडकर साधु बन गया। उसे साधुओसे बडी घृणा हो गई और उनका मुह देखना पाप समझने लगी। एक वारकी बात है कि रानी अपने पुत्रके साथ राजमहलके ऊपर वाली बारहदरीमे बैठी थी कि उसने राजमार्गसे राजमहलकी ओर आते उन्ही कीर्तिधर साधुको जो कि उसके पति थे देखा तो फौरन दासियोको हुक्म दिया कि जाओ इस नगेको भीतर मत घुसने दो, धक्का मारकर बाहर निकाल आओ, ये नगे यहा आकर राजभवनको भी गन्दा कर देंगे। रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर समीपमे खडी हुई धायके आँसू आ गये और सोचने लगी—देखो, जिसका यह राजसुख भोग रही है, उसी अपने पतिके साथ इसका ऐसा व्यवहार। उसकी आँखोमे आँसू देखकर बालक सुकौशल पूछने लगा—मा, तू क्यो रो रही है? उसने कहा, कुमार! आज तेरे पिता, जो साधु बन गये थे, आहारके लिए राजमहलमे पधार रहे थे, उन्हे देखकर क्रोधित हो तुम्हारी माताने उन्हे धक्के देकर निकलवा दिये और अपशब्द कहे। मुझे यह देखकर भारी दुःख होता है, और इसी कारण मेरी आँखोसे आँसू निकल रहे है। सुकौशल धायके इन वचनोको सुनकर बडा दुःखी हुआ, उसे संसारसे वैराग्य हो गया कि जहाँ स्त्री ही अपने पतिके साथ ऐसा व्यवहार कर सकती है, वहाँ औरोकी क्या कथा है? ऐसा सोचकर और विरक्त होकर उसने भी जगलका रास्ता पकड़ लिया। माँ ने बहुतेरा रोका, मत्रियोने समझाया, राज्यके उत्तराधिकारकी बात कही। स्त्रीने रोका कि जो बालक मेरे गर्भमे है, उसके उत्पन्न होने तक तो घरमे रहो, पर वह नही माने, और यह कहकर वनको चल दिये कि जो बालक मेरी स्त्रीके गर्भमे है, वही राज्यका अधिकारी माना जाय, मैं उसे ही राजतिलक करता हू।

जिसे सच्चा वैराग्य प्रगट हो जाता है, भीतर भेदविज्ञान जग जाता है, जिसके दिलपर ससारके दुःखोकी अमिट चोट अंकित हो जाती है, वह फिर ससारमे रह नही सकता। फिर उसे न स्त्री, पुत्र रोक सकते है और न ससारके अन्य वैभव ही। मोहियोको निर्मोहियो पर आश्चर्य होता है और निर्मोहियोको मोहियोपर आश्चर्य होता है। मिथ्यात्वीको सम्यक्त्वी जीव पागलसे दिखते हैं। श्रद्धाका माहात्म्य बडा अपूर्व है।

शुद्धोपयोगियोके आनन्दके वर्णनका प्रयत्न—कैसा है शुद्धोपयोगियोका सुख? आत्माको ही आश्रय करके उत्पन्न होता है। जो सुख पराधीन है, वे सुख नही, दुःख ही है। पराधीन सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसाम्। तस्मादेतत्समालोच्य स्वात्माधीनं सुखं कुरु॥ महातेजस्वी राजाओंके भी पराधीन सुख कष्टरूप ही है, इसलिए हमे स्वाधीन सुखके लिए प्रयत्न

करना चाहिए। स्वाधीन सुख निजस्वभावके अनुभव विना नही होता।

बढिया भोजन करने वाला लोगोंको सुखी दिखता है। पर स्वय उस खाने वालेके कितनी आकुलता उस समय है, यह वही अनुभव करता है। हम भी उसकी कमसे कम ऊपरी आकुलताको तो निरीक्षण कर ही सकते है कि जिस समय वह लड्डू खा रहा है, उसी समय उसके सेव या कचौडी खानेकी आकुलता उत्पन्न हो रही है, जो उसे मुखमे रखे हुए लड्डूका भी स्वाद सुख नही अनुभव करने देती, खाने वाला एक वस्तुको खाते हुए उसका आनन्द नही ले पाता कि नई वस्तुके खानेकी आकुलता व्याकुलता उसे पीडित कर देती है और खाते हुए भी जो क्षणिक जिह्वाइन्द्रियका सुख है, वह भी सुख निजसुख गुणके विकाररूप ही है। यही बात पाँचो इन्द्रियोके सुखोमे समझना चाहिए। सुख किसी भी अन्य बाह्य पदार्थसे नही निकलता वह तो आत्माका स्वभाव है और वहीसे प्रगट होता है। यदि गन्नेके रससे ही मिठास का सुख मिलता होता, तो मलेरिया ज्वर आने वाले व्यक्तिको भी वह मीठा लगना चाहिए था, पर उसे गन्नेका रस कडुवा लगता है। यह क्यो ? बात यह है कि जिसके भीतर विकार है, उसे वही कडुवा लगता है और जिसके भीतर विकार नही, उसे वही मीठा लगता है। यह विकार ही दु:खका जनक है। हमारे भीतर जो सुखका विकार भरा है, वह सब मोहका प्रसार ही तो है। यदि यह मोहका प्रसार दूर हो जाय और हमारी आँखें किसी प्रकार खुल जायें तो हमारा स्नेह, ममत्व सब क्षणभरमे दूर हो जाय।

पर्यायबुद्धि और स्वार्थ—एक देहाती आदमी की बात है, उसका लडका एक शहरमे किसी कालेजमे अग्रेजी पढने गया। लडकेका पत्र आया कि मैं खर्चेसे तग हू, रुपया भेजो। बापने सोचा, मनीआर्डर करेंगे, कितने दिनोमे पहुचेगा, बहुत दिनसे मैंने भी लडकेको देखा नही है और यह सामने अमुक त्यौहार है, चलो—जाकर हम ही रुपया दे आवें और कुछ मिठाई वगैरह भी दे आयेंगे। ऐसा सोचकर वह रुपया और मिठाई लेकर शहरको चला। बेचारा देहाती तो था ही, उसकी वेशभूषा भी देहातियो जैसी थी, ऊची मैली धोती, फटासा अगरखा, मटमैला साफा और टूटी जूतिया पहने वह कालेजमे पहुचा, लडकेसे भेंट हुई, उस समय वह अपने साथियोके साथ सज-धजकर बाबू बन कालेजमे पढनेके लिए जा रहा था। बापको आता देखकर स्तम्भित होकर खडा रह गया, उसकी कोई भी विनय नही की। बापने रुपया और मिठाई उसके हाथमे दे दी। साथी पूछने लगे, यह तुम्हारा कौन है ? उसने धीरेसे कहा—यह हमारा सर्वेन्ट (नौकर) है। बापने जो यह सुना, तो उसके पैरोंके नीचेसे जमीन खिसक गई और बिना कुछ कहे सुने वापिस लौट आया। इस चोटसे उसका पुत्रगत मोह सदाको धुल गया और फिर उसने जीवनभर पुत्रका मुह नही देखा, पुत्रके ससार से उदासीन हो गया। आजकी अग्रेजी पढाईका यह प्रभाव है कि पढने वाले अपने बापको

भी दूसरोंके सामने बाप कहनेसे झिझकते है। सब स्वार्थके सगे हैं।

भोगोकी असारता—दुनियाको छान डालो, कही भी किसी बाहरी पदार्थमे कोई सार नही मिलेगा। सार पदार्थ तो अपने आत्माके भीतर है, वह सुमतिसे प्राप्त होता है। सुमतिसे बढकर कोई सम्पत्ति नही है और कुमतिसे बढकर कोई दुःख नही है। कहा भी है—जहाँ सुमति तह सम्पति नाना। जहाँ कुमति तह विपति निधाना॥ जहाँ सुमति है वहाँ सपत्ति है, जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति है। जब भी यह सुमति जग जाती है, तभी भीतर प्रकाश हो जाता है। सुमति जगनेके लिए उम्रकी कोई कैद नही। वह किसीको बूढ़ा होने तक भी न जगे और किसीको बचपनमे हो जग जाती है। एक जगह तीन व्यक्ति एक साथ शास्त्र स्वाध्याय किया करते थे। उनमे एक वृद्ध थे, एक जवान और एक बालक। वे आपसमे कहा करें कि हममेसे जो भी पहले विरक्त हो जाय, वह शेष दोनो जनोको सबोधित करके ससार छुडावे। कुछ दिनोके बाद वृद्धने सोचा कि जीवनका कोई भरोसा नही है, चलो घर-गृहस्थी लडकेको सभलाकर साधु बने। ऐसा सोचकर उसने लड़केको बुलाया और सब घर-बार सभलवाकर बोला—देखो इन-इन लोगोसे रुपया लेना है, इतने काम अधूरे पडे है, उन्हे पूरा करना है, तुम पहले यह करना, फिर यह करना इत्यादि जाने कितने दिनो तक लडकेको पट्टी पढाता रहा और फिर कही जाकर ससारसे विरक्त होकर घरसे चला। चलते चलते भी बहुत-सी शिक्षाए पुत्रको देते गया। रास्तेमे जाते-जाते उसे यह साथमे शास्त्रस्वाध्याय करने वाला जवान आदमी मिला। उससे वह वृद्ध बोला लो भाई, हम तो ससारसे विरक्त होकर चले, तुम्हारी क्या राय है ? वह बोला तो लो हम भी साथ ही चलते हैं, ऐसा कहकर और तिजोरीकी चाबिया लडकेके सामने फेंककर बोला—हम संसार छोड़कर जा रहे हैं, ऐसा कहकर वृद्धके साथ हो लिया। वृद्ध बोला—भाई इतनी जल्दी क्या है, लडकेको सब काम-काज सभलवा कर कुछ दिन पीछे आ जाना। वह बोला—क्या जरूरत है, वह खुद संभाल लेगा। जब हमने छोड ही दिया तब उसका विकल्प क्या करना ? ऐसा कह उसके साथ हो लिया। दोनो चलते-चलते उस बालकके घर पहुचे। वह मकानके बाहर ही खडा मिल गया। वृद्ध बोला—लो भाई हम दोनो तो ससारसे विरक्त हो गये है, अतः जा रहे है। वह बालक बोला—तो हम भी साथ चलते हैं, ऐसा कहकर उनके साथ हो लिया। वृद्ध बोला—भाई, इतनी जल्दी क्या पडी है, अभी तुम्हारी सगाई हुए थोड़े ही दिन हुए है, कुछ दिनो घर-गृहस्थीका सुख भोगो, पीछे उदासीन हो जाना। वह बोला—पहले कीचड़ लगाना और फिर धोना यह कहांकी बुद्धिमानी है, इससे यही अच्छा है कि कीचड़मे पैर न रखा जाय, ऐसा कहकर किसीसे बिना कुछ कहे सुने ही वह उनके साथ हो लिया। इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि सुमति जगनेके लिए किसी अवस्थाविशेषकी दरकार नही हुआ करती। हमे

भी किसी अवस्थाविशेषकी प्रतीक्षा न करके समयसारका स्वरूप पहिचानकर, श्रद्धान कर उसमे लीन होनेका प्रयत्न होना चाहिए, यही अनुपम कार्य है ।

समयसारकी ख्याति—समयसारकी प्राप्तिके लिए स्वसमय परसमयका ज्ञान आवश्यक है । स्वसमय क्या है ? उसका उत्तर समयसारमे इस प्रकार है—यो हि नाम नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशदहृशिज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्व क्रमाक्रमप्रवृत्तिविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सगितगुणपर्याय स्वपराकाराव भासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तना निमित्तत्वरूपत्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समय । अथ खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादक विवेकज्योतिरुद्गमनान्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्ति स्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छश्चस्वसमय इति ।

सम् उपसर्गपूर्वक अय् गतौ धातुसे 'समय' शब्द बना है । जो एक कालमे ही जाने और परिणमन करे उसे समय कहते है । यह जीव नामक पदार्थ एक कालमे जानता भी है और परिणमन भी करता है । इसलिए यही समय है, यह समय—सज्ञा वाला जीव नित्य ही परिणमनस्वभावमे रहनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकतारूप अनुभूति लक्षण वाली सत्ताकर सहित है, चैतन्यस्वरूपपनेसे नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानरूप ज्योतिस्वरूप है, अनन्त धर्मों मे रहने वाले एकधर्मित्वसे जिसका द्रव्यत्व प्रकट है, क्रमसे प्रवृत्ति करने वाले पदार्थ और अक्रमसे प्रवृत्ति करने वाले गुणरूप विविध स्वभावपनेसे जो गुणपर्यायस्वरूप है, स्व और पर आकारके प्रकाशन करनेमे समर्थ होनेसे जिसने समस्त विश्वरूपको भलकाने वाला होकर भी एकरूप प्राप्त किया है, जो अवगाहनस्वभावी आकाशद्रव्यसे, गतिमे निमित्तरूप धर्मद्रव्यसे, स्थितिमे निमित्तरूप अधर्मद्रव्यसे, वर्तनामे निमित्तभूत कालद्रव्यसे और रूपीस्वभावी पुद्गल द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न स्वभावी है, जिसका असाधारण चिद्रूपस्वभाव है, अनन्त अन्य द्रव्योंके साथ सकर होनेपर भी अर्थात् एकक्षेत्रावगाही होनेपर भी जो अपने स्वरूपको नही छोडनेके कारण टकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है । जब यह समय नामक जीव सकल पदार्थोंके स्वभाव प्रकाशनमे समर्थ केवलज्ञानरूप विद्याकी उत्पन्न करने वाली विवेकज्योतिके उदय होनेसे समस्त परद्रव्योसे छूटकर दर्शन ज्ञानमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे एकत्वगत होकर अर्थात् तन्मय होकर प्रवर्तता है, तब वह दर्शन ज्ञान चारित्रमे ठहरनेसे अपने स्वरूपको एकतारूप कर एक कालमे जानता और परिणमता हुआ स्वसमय कहलाता है । इस प्रकार यह जीव नामक पदार्थ स्वसमय है और निज आत्मस्वरूपको छोड़कर परपदार्थमे लगना सो परसमय है । ये

शुद्ध अशुद्ध अवस्थायें जिस आत्मवस्तुकी है वह समय है।

आत्माका अस्तित्व—देखो भैया ! यहाँ पहिले तो यह बताया है कि आत्मा जैसा कोई पदार्थ है भी या नही ? वह है, क्योकि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, वह है अनेकान्तात्मक, गुणपर्यायवान, एकानेकरूप अन्य सर्व द्रव्योसे भिन्न चैतन्यमय। यदि कोई कहे भ्रम ही भ्रम है तो जिसमे भ्रम है वही आत्मा है। रस्सीमे साँपका भ्रम भले ही हो, परन्तु किसी अर्थके बिना तो भ्रम नही। कोई कहे आत्मा नही तो जिसमे नकार हो रहा वही आत्मा है। अनुभवसे भी देखो जो जानता देखता वही आत्मा है। आत्माका ज्ञान दर्शनस्वभाव है। निगोदमे भी जो है उसका भी ज्ञान दर्शन नष्ट नही होता। यह आत्मा स्वय ज्ञान और आनन्द स्वभाव को लिए हुए है। जिनके सम्यक्त्व हो जाता है वे झट अपने आँख कान आदिका सयमन करके अन्तरको देखकर ज्ञानानन्दस्वभावको अनुभव कर सुखी हो जाते है।

शुद्धोपयोगीका विषयातीत आनन्द—शुद्धोपयोगियोका सुख आत्माधीन ही है। सुख निज चैतन्य देवके प्रसादमे ही है। "आपकी तस्वीर है दिलके आयनेमे जिन ! जब जरा गर्दन झुकाई देख लें।" शुद्धोपयोगियोका सुख स्वाधीन है तभी सर्वथा उपादेय है। पराधीन सुख तो साक्षात् कष्ट ही है। लोकमे भी पराधीन सुखको कोई नही चाहता। कहते है ना, हमारा सो हमारा, पराया सो पराया, परायेका विश्वास ही क्या ? जो स्वभाव है वह विश्वास के योग्य है, विभावका विश्वास नही विभाव सहित है, क्षणिक है, क्लेशकारक है। पराश्रयज सुखमे क्या रुचि करना ? वास्तवमे तो परसे कोई सुख होता ही नही है। दूसरोके सुखसे कोई सुख नही है। परकी पर्याय, दूसरोका सुख उन्हीमे व्यापक रहता है। गन्नेके रसको चूसकर कोई कहे कि इसमे बडी मिठासका आनद है तो वह समझ गलत है। उस निमित्तको पाकर जो कल्पना बनाई उसके अनुरूप निज सुखके विकारका वह भाव है। नही तो मलेरिया ज्वर वालेको गन्नेका रस कडुवा क्यो लगता ? गन्ना तो मिठासका आनन्द देता है, सो सबको समानतया देवे। बात यह है कि सुखरूप कार्य अपने उपादानसे अनुकूल निमित्त पाकर व्यक्त होता है। सभी सुख आत्मीय परिणति है। विषय, धन वैभव, भोजन परिवार आदि सर्व वस्तुयें मेरे किसी गुणपर्यायरूप नही परिणम सकते। इन्द्रिय भोगके कालमे भी अपनी कल्पनासे ही सुख है। सध्याकालमे कोई द्वारपर शान्तचित्त बैठा हुआ हो और कोई मित्र आकर पूछे कि भाई ! आनन्द तो है तब वह बोलता है कि खूब आनन्द है। यहाँ बतावो कि वह न स्पर्शनका विषय कर रहा न खा रहा, न सूघ रहा, न देख रहा, न राग ही कोई सुन रहा और न हवाई पुल ही बाँध रहा, फिर आनन्द काहेका बता रहा ? भैया ! जो वह विश्रामसे रागद्वेषकी मदतापूर्वक बैठा है उसका वह सुख पा रहा। अपने आपको देखो अपना वह सुखभण्डार समग्र अपने आप पा लोगे। यह सुख विषयातीत है। विषयी लोग अपने

भुक्त विषयसुखसे तुलना करने जायें और सत्य शुद्ध आनन्दकी भाँप भी कर सकें, यह हो ही नही सकता। भील चक्रीके सुखको भाँपना चाहे तो क्या भाँप भी सकता है? अधिकसे अधिक उसका दिमाग बढेगा तो यह सोच लेगा कि वे तो गुड ही गुड खाते होंगे। भैया! चक्रीका तो दृष्टान्त मात्र दिया है। कही चक्रीके सुखको सुख नही समझ लेना। चक्री भी जब भेदविज्ञानकी अतिशयितभावनासे सर्व परिग्रह त्यागि सर्वविकल्पोसे मुक्त होकर केवल आत्मस्वरूपमे रत रहते है तब उन आत्माओको भी सत्य आनद प्राप्त होता है। यह सब शुद्धोपयोगका प्रसाद है। शुद्धोपयोगका फल वह सुख है जो अतिशयवान है, आत्म-समुत्पन्न है, विषयातीत है, अनत है, अव्युच्छिन्न है। शुभोपयोगका फल दु ख है और अशुभोपयोगका फल महादु ख है। शुद्धोपयोगका फल निर्मल ज्ञान, दर्शन आदिका प्राप्त करना भी है। फिर भी यहाँ सुखको ही एकमात्र उसका फल क्यो बतलाया? इसका उत्तर यह है कि यह जीव अनादिकालसे ही सुख पानेके लिए छटपटाता चला आ रहा है, पर इसे वह आज तक मिला नही है। इसलिए आचार्य ने इसी दुखी जीवको शाति पहुचानेके लिए आत्मीय सुखको ही शुद्धोपयोगके फल रूपसे वर्णन किया तथा सभीका उद्देश्य सुख ही रहता है। सारे यत्न सुख के लिए ही है। देखो वह आत्मीय सुख विषयातीत है, अर्थात् ससारी जीवोने पाँच इन्द्रियोके विषयोमे जो सुखकी कल्पना कर रखी है, उससे अतीत है, रहित है।

विषयप्रिय जीवोके आत्मीय आनन्दके परिचयकी अशक्यता—जो जीव अनादिकालसे इन्द्रियविषयोके सेवनको ही सुख समझते आ रहे है, वे आत्मीय सुखकी कल्पना ही नही कर सकते है कि वह कैसा होगा? जिनके दिमागोमे विषयोकी दुर्गन्धि भरी हुई है उन्हे आत्मा की सुगन्धि कैसे रुचिकर हो सकती है? दो सहेलियो की कथा है। एक धीमरकी लडकीमे और एक मालिनकी मे बडी मित्रता थी। समय पाकर दोनो विवाहित होकर अपनी-अपनी ससुराल चली गई। एक बार धीमरकी वह लडकी बाजार करके अपने गाँवको लौट रही थी, रास्तेमे मालिनकी लडकीसे भेंट हो गई, वे आपसमे बहुत दिनोमे मिली थी, इसलिए मालिनकी लडकी ने उसे रोक लिया और कहा कि रात यही बिताओ, प्रात काल अपने घर चले जाना। वह धीमरकन्या रुक गई। मालिनकी लडकीने उसका खूब आतिथ्य किया, बढिया भोजन कराये, फिर अच्छी चारपाई पर अच्छे बिछौने बिछाकर उसपर बेला, चमेली, जूहू, गुलाब आदिके फूलोकी पखुडिया फैलाकर उस पर उस धीमरकन्याको सोनेके लिए कहा। वह उस शय्यापर सोई, परन्तु उसे नीद नही आई, करवट ही बदलती रही। अन्तमे मालिन की लडकीसे बोली—बहिन तुमने यह गीला-गीलासा क्या बिछा दिया है, इसकी बदबूसे ही मेरा मस्तक फटा जा रहा है, इसे हटाओ। फूल अलग कर दिये गये, फिर भी उसे नीद नही आई और बोली इन कपडोमे जो फूलोकी गन्ध भर गई है, उससे मुझे शिर दर्द हो रहा है,

इन्हे भी हटाओ। उन्हे भी हटा दिया गया। फिर भी उसे नीद न आई, तो सहेलीसे बोली—बहिन, मेरी जो टोकनी रखी हुई है, उसपर जरा पानी छिडककर लाओ। जब वैसा किया गया, उस टोकनीमे पानी छिडकनेसे मछलियोकी गन्ध आई, तब उसे नीद आई। यह मत्स्य-गन्धाकी कथा हमे यह शिक्षा देती है कि जिनके दिमागोमें विषयकषायरूप मत्स्योकी दुर्गन्ध भरी हुई है, उन्हे आत्मारूप पुष्पोकी सुगन्ध नही सुहाती है। जब उनके दिमागोमे से वह विषयोकी बदबू निकल जायेगी, तभी वे आत्मिक सुखकी सुगन्धका अनुभव कर सकेंगे।

आत्मीय आनन्दकी अनुपमता—यह आत्मसुख विषयातीत है, विषय विकल्प शून्य आत्माके सहज है और वह आत्मीय सुख अनुपम है। लौकिक सुखके लिए उपमा मिल सकती है, पर अलौकिक सुखके लिए कोई उपमा नही मिल सकती है, इसी कारण आत्मीय सुखको अनुपम अर्थात् उपमारहित बताया है। गरीब लोग या जगली भील लोग जिन्होने कि कभी राजा रईसोके भोजनको देखा-सुना ही नही, वे राजाके भोजनकी क्या कल्पना कर सकते है? कुछ भी नही। एक बार कुछ जगली लोगोमे चर्चा चल पडी कि राजा क्या खाता होगा? किसीने कुछ बताया, किसीने कुछ। तब एक बोला—अरे, राजाके क्या कमी है। वह चाहे तो गुड ही गुड खा सकता है। जिन लोगोने गुडसे बडी कोई मीठी या बढिया वस्तु देखी-सुनी ही नही और जिसे गुडका एक टुकडा ही बडे भाग्यसे जब कभी नसीब होता है, वह गुडसे उत्तम वस्तुकी कल्पना ही क्या कर सकता है। इसी प्रकार विषयलोलुपी जीव भी सिद्धोंके सुखकी कल्पना ही क्या कर सकते है। सिद्धोका या शुद्धोपयोगियोका सुख अत्यन्त विलक्षण है, जगत्के पदार्थोंसे बिल्कुल निराला है। निर्मल ज्ञान होनेपर परपदार्थोंसे जो लक्ष्य हटता है, और स्वमे श्रद्धा होनेसे जो अनाकुलता आती है, उसके लिए ससारमे कोई उपमा नही है।

सम्यक्त्वमे ही शुद्ध आनन्दकी समझ—जिनके कमसे कम चौथा गुणस्थान है, जिन्हे आत्मतत्त्वकी श्रद्धा प्रकट हुई है और अनाकुलताका आभास पाया है, उन्हे तो श्रद्धा आ सकती है, वे तो शुद्धोपयोगियोंके सुखकी कल्पना कर सकते है, पर अन्यके न श्रद्धा ही आ सकती है कि है और न वे उसकी कल्पना ही कर सकते है। उस आत्मीय सुखके यहाँ दिखने वालोंके समान कोई लक्षण नही मिलते इसलिए तथा वह विशिष्ट अलौकिक लक्षण वाला है, इसलिए विलक्षण कहलाता है। शुद्धोपयोगियोका सुख अथवा शुद्धोपयोगसे निष्पन्न परमेष्ठी अरहन्त व सिद्ध देवका सुख कैसा है, उस सुख जैसी बात यहाँ अन्यत्र कही पाई नही जाती तब क्या कहा जावे? उनका सुख तो उनके सुख ही की तरह है। शुद्धोपयोगका आंशिक विकास और अनुभव पाने वाले भी अनुभवके कालमे तो चर्चा नही करते और चर्चाके कालमे अनुभवदशा नही, सो कैसे बताया जावे? जिनके निरन्तर अनुभव है उन महाराजोने हमसे

बोलचाल बन्द कर दी। अब क्या उपाय है? अब तो स्वयं उनके प्रदर्शित मार्गसे चलो और उस सुखका माहात्म्य अनुभव करके समझो। शुद्धोपयोगके आंशिक विकासमें सम्यग्दर्शनके अनुरूप अनुभवकालमें शुद्धोपयोग निष्पन्न परमेष्ठियोंके सुखकी जाति जैसा ही सुख समझ लिया जाता है। हाँ अल्प-बहुत्वता, स्थिरता अस्थिरताका अन्तर अवश्य है। जैसे किसीने एक पैसे का कलाकंद लेकर खाया और किसीने वही आधा सेर लेकर खाया, स्वादसे दोनोको एक ही जातिका सुख हुआ। इसी तरह जिसने क्षणभर शुद्ध लक्ष्यसे आत्मसुख देखा उसने स्थायी शुद्धिपरिणत देवके सुखकी जातिकी प्रतीति कर ही ली। शुद्धात्मावोंके सुखकी जातिका अनुभव तो किया जा सकता है, परन्तु उपमा नही मिलती। ऐसा वह स्वाधीन सुख अनुपम है, जगतके सब उपमानोंसे उत्तम है। उस सुखका माप बतानेके लिए अधिकसे अधिक यहाँ कहा जा सकता है कि तीनो लोकोके अपार वैभवके स्वामी समस्त देवेन्द्र, नागेन्द्र, भवनेन्द्र, नरेन्द्र आदि सभीका जो सुख है सबको भी मिला लिया जाय, उससे भी अनन्त गुण सुख शुद्धोपयोगियोका है। परन्तु जहाँ सुखकी जाति ही विलक्षण है, वहाँ यह त्रैराशिक या हिसाब वस्तुके स्वरूपको परमार्थसुखको छू भी नही सकता। इनका सुख तो इनकी ही तरह है अन्य कोई उपमा नही। लोकमे जब किसी विशिष्ट महापुरुषकी बडी तारीफ करना हो तब यही कहते बनता है कि यह तो यह ही है। राम रावणका युद्ध उन्हीके समान था। उसकी कोई मिसाल नही है। आत्मसुख तो आत्मसुखकी ही तरह है।

आत्मीय सुखकी निरन्तरता—वह सुख समन्तायतिनिरपायित्वादनतम—वह सुख समस्त कालकलासे रहित है, निरन्तर प्रवाहित रहता है, अतः अनन्त है अर्थात् उसका कभी अन्त नही आता। यदि शुद्धोपयोगीका सुख अपूर्व है, अतिशयवान है, अति विलक्षण है, और अनन्त है, तो ऐन्द्रियक सुख इससे विपरीत है, वह पराधीन है, सान्त है। हम स्त्री पुत्रादि अनेक पारिवारिक जनोंके परतंत्र होकर भी सुखका अनुभव करते हैं और यदि कभी हमें उन सबसे अलग होकर अकेले रहनेका अवसर आता है, तो बहुत दुःखका अनुभव करते हैं। पर यह भूल है। उन्हे अकेले रहनेसे घबडाना नही चाहिए, बल्कि अकेले रहनेके लाभोपर दृष्टि देनी चाहिए और सोचना चाहिए कि यह उन्हे आत्मकल्याण करनेका अवसर मिला है। विषयसुखसे ऊपर उठनेका अवसर बडे सौभाग्यसे मिलता है। एक अपनी ही सम्हालमे जब हमे इतने अधिक दु:खोका सामना करना पडता है, तो जिनके आधीन अनेक कुटुम्बी हैं, और जिनपर उनकी सारसम्हाल और देखभालका भार है, वे कितने दु:खी नही होंगे, उन्हे कितने अधिक दु:खोका सामना नही करना पडेगा। ऐसा समझकर एकाकी रहनेका दु:ख न मानकर उसके लाभोको देखकर आत्मकल्याणमे लगना चाहिए।

लोकैषणामे आत्मसुखका हनन—हमारा सुख हमारे ही पास है, परन्तु बहुकुटुम्बीको

कुटुम्ब परिवारादिके प्रसन्न करनेके लिए जो नाना उपाय करने पडते है, उससे वह दुःखी बना रहता है। वह सदा यह प्रयत्न करनेमे लगा रहता है कि सब लोग मुझे अच्छा समझें पर कोई सबको न खुश रख सकता है, न कोई सबकी दृष्टिमे अच्छा बन सकता है। एक कथा है कि कोई बाप बेटे एक घोडा लेकर कही जा रहे थे। बाप घोडेपर सवार था और लडका पैदल चल रहा था। किसी गाँवमें होकर निकले, तो लोगोने कहा—देखो यह कैसा बुरा आदमी है जो स्वय तो घोडेपर सवार है और बेचारे लडकेको पैदल चला रहा है। यह सुनकर बाप घोडेसे उतर पडा और लडकेको घोडेपर बैठा दिया। जब वे दूसरे गाँवमे होकर निकले तो लोग कहने लगे—देखो यह लडका कितना बुरा है कि स्वय तो घोडेपर चढा है और बेचारा बूढा बाप पैदल चल रहा है। लोगोकी बात सुनकर उन्होने सोचा कि एक-एक बैठनेपर लोग भला बुरा कहते हैं, अत· दोनो ही जने क्यो न घोडेपर बैठ जावे। ऐसा सोच-कर वे दोनो उसपर सवार हो गये। जब वे तीसरे गाँवके भीतरसे निकले तो लोग बोले—देखो ये लोग कितने निर्दय है कि दोनो बेचारे घोडेपर सवार है। मालूम होता है कि यह घोडा माँगेका है। बाप बेटे लोगोको यह बात सुनकर घोडेपरसे उतर पडे, और घोडेकी लगाम हाथमे पकडकर पैदल चलने लगे। जब वे आगे चौथे गाँवमे से होकर निकले तो लोग उन्हे देखकर बोले—देखो ये लोग कितने मूर्ख है कि घोडा साथमें है और आप दोनो पैदल चल रहे है। वे लोगोकी बाते सुनकर बडे दु खी हुए और कहने लगे—देखो एक गाँव वालो के कहनेको किया, तो उसे दूसरे गाँव वालोने बुरा बताया, दूसरे गाँव वालोंके अनुसार किया, तो उसे तीसरे गाँव वालोने बुरा बतलाया, और जब उनके कहे अनुसार किया, तो उसे चौथे गाँव वालोंने बुरा बतलाया। दुनियामे सबको राजी रखनेका कोई उपाय नही है। जिन्हे जितना बडा परिवार मिलता है, जितनी अधिक देवागनाये मिलती है, उन्हे सबको प्रसन्न रखने की उतनी ही अधिक आकुलता रहती है।

वैषयिक सुखोकी सान्तता—यह वैषयिक सुख सान्त है और हमारा क्षायोपशमिक ज्ञान भी सान्त है। यही कारण है कि मन्दिरमे इतनी वीतराग चर्चा सुननेके बाद भी जहाँ लोग मन्दिरसे घर जाते है और घरमे प्रवेश करते है कि यहाँकी सभी चर्चा दिलसे उड जाती हैं और घरकी बातें दिमागमे भर जाती है। परिवारकी गन्दगी और बुराईको दूर करनेके लिए दो बातोकी आवश्यकता है, सत्सगतिकी और शिक्षाकी। यदि आपका कुटुम्ब कुसगसे दूर है और शिक्षित है, तो घरका वातावरण भी पवित्र बना रहता है और वहाँ धार्मिक सस्कार फलते-फूलते है। इसलिए कुटुम्बको धार्मिक बनानेके लिए उक्त दोनो बातोपर पूरा ध्यान देना चाहिए। अन्यथा धर्म चर्चाके बिना वैषयिक चर्चासे आत्माकी हानि ही हानि है। वैषयिक सुख, सुख नही, दु ख ही है, क्योकि वह उत्तरोत्तर तृष्णा और आकुलताका ही कारण

है। जरा एक स्त्रीसुखका ही विचार कर लें—जब मनुष्यके पुंपवेदका तीव्र उदय या उदीरणा होती है, तब वह स्त्रीसेवनके लिए विवश होता है, तो पहला दुःख तो यही हुआ। फिर स्त्रीके साथ सम्भोग कर अपनी शारीरिक शक्तिको नष्ट कर जिन्दा ही मुर्दा जैसा शिथिल हो जाता है, यह दूसरा दुःख है और यदि इससे कोई रोगादि लग गया तो दुःखोका फिर कोई पारावार ही नही है। फिर यदि गर्भ रह गया तो स्त्रीका रूप बिगड जाता, जब गर्भ बढा तो अनेक शोच चिन्तायें घेर लेती हैं, उसके तो यही जाप बन जाता है कि सुखसे प्रसव हो जावे। क्योंकि इस समय तो कितनी ही मातायें व शिशु प्राणान्त हो जाते हैं। बालक हुआ तो मल मूत्र ढोनेका दुःख सहते हैं, बडा हुआ तो हठपूर्तिका दुःख सहते हैं, पुत्रविवाह होनेपर उसकी माता-पितासे दृष्टि कम हो जाती है और उसने धन कब्जेमें किया तो निर्धनताजन्य दुःख सहने पडते हैं। देखो भैया! एक स्त्रीपरिग्रहके स्वीकार करनेमे ही कितनी दुःखमय अवस्था आती है और ये तो स्थूलरूपसे कुछ दुःख कहे। दुःख तो निरन्तर बना रहता है जिसके मूलमे दुःख, मध्यमे दुःख और अन्तमे दुःख है वह भला सुख कैसे माना जा सकता है? आकुलता उत्पन्न हुए बिना विषयोमे प्रवृत्ति नही होती। इसलिए विषयसुख केवल दुःखके प्रतीकाररूप ही हैं, उन्हे सुख नही माना जा सकता।

शुद्धोपयोगजनित सुखकी अनन्तता—शुद्धोपयोगजनित सुख स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, अनैमित्तिक है अतएव अविनाशी है। जो वस्तु किसी निमित्तसे प्राप्त होती है, उसका संयोग सदा नही रहता। आत्माकी जो पर्यायें कर्मके क्षयोपशमादिसे उत्पन्न होती है, वे भी विनाशीक होती है। पर कर्मक्षयजनित दशाए स्थायी होती हैं। कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान और सुख अनैमित्तिक ही है, इसलिए वे स्थायी रहते हैं, अनन्तकाल तक बने रहते हैं। प्रश्न—केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनेमे ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय तो निमित्त है, फिर उन्हे अनैमित्तिक कैसे कहा? उत्तर—हाँ केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनेके क्षणमे तो ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयका निमित्त है, पर आगे उनसे स्थायी अनन्तकाल तक रहनेमें कोई निमित्त कारण नही है, इसलिए उन्हे अनैमित्तिक कहा है। कालद्रव्य तो साधारण निमित्त है, सर्वत्र है, उसकी विवक्षा नही, शुद्धोपयोगियोका सुख अनैमित्तिक होनेसे ही अनन्तकाल तक रहता है। शुद्धोपयोग होनेपर अनन्त दुःखोका अभाव होकर सहज सुख प्रकट होता है अत वह भी अनत है।

शुद्धोपयोगियोके सुखकी अव्युच्छिन्नता—शुद्धोपयोगियोका वह सुख अव्युच्छिन्न है, उसका कभी विच्छेद नही होता। नैरन्तर्यरूपसे प्रवर्तमान रहता है। क्योंकि उसका कारणभूत शुद्धभावका उपयोग है। प्रश्न—अनन्त और अव्युच्छिन्नमे क्या अन्तर है? उत्तर—जो आगामी कालमे सदा बना रहे, जिसका कभी अन्त न आवे, उसे अनन्त कहते हैं और जिसका प्रवाह निरन्तर एकसा प्रवाहित रहे, बीच-बीचमे हीनाधिक न हो, असाताका उदय न आवे,

प्रवाहमे विच्छेद न पडे, उसे अव्युच्छिन्न कहते है, यह दोनोंमे अन्तर है। दोनोका सम्मिलित अर्थ है कि वह आत्मसुख निरतर सदा बना रहता है। शुद्धोपयोगियोका सुख अव्युच्छिन्न भी है और अनन्त भी है। सम्यक्त्वका द्रव्यदृष्टिरूप पाथेय मार्गमे सदा सहायक बना रहता है। यदि हम बाहर कही जावें और मार्गमे खानेके लिए कलेवा (मार्गका भोजन) साथ है, तो कही कोई आकुलता पैदा नही होती। इसी प्रकार यदि सम्यक्त्व साथमे है, तो उसके कभी कही कोई आकुलता उत्पन्न नही होती। पर निजमे लीन हुए बिना 'स्व' का ज्ञान कैसे होगा? जलके छुए बिना तैरना नही आ सकता। कोई चाहे कि मुझे पानीमे तो घुसना ही न पडे और कोई बाहर खडे-खडे ही तैरना सिखा दे तो क्या यह सम्भव है? नही। तैरनेकी शिक्षा देने वाला बाहर रहकर कितना ही पढ़ा दे कि देखो पानीमे घुसकर ऐसे हाथ चलाना चाहिए ऐसे पैर चलाना चाहिए फिर भी उसे तैरना नही आ सकता। मास्टरसे तैरनेकी कोरी विद्या कितनी ही सीख ले, पर यदि जब कही नदी तालाबसे गहरे पानीमे कूदेगा तो नियमसे डूब जायगा। तैरना सीखनेके लिए पानीमे घुसना पडेगा, बिना जलमे प्रवेश किये तैरना नही आ सकता। इसी प्रकार कोरे आत्मज्ञानसे उपकार नही हो सकता। कोई भी ससारसे तब तक पार नही हो सकता जब तक कि ज्ञानको अमलमे न लाये, अर्थात् चारित्रको धारण न करे। निराकुल सुखकी प्राप्ति केवल सुखका मार्ग जान लेनेसे ही नही हो सकती, उसका अभ्यास करना ही पडेगा, तभी बेडा पार होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट सुख शुद्धोपयोगियोके ही होता है। उस शुद्धोपयोगके प्राप्त होनेके पूर्व जितने भी सुख है, वे सब पराधीन है, वैषयिक हैं, सान्त है, विच्छेद और बाधासहित हैं, ऐसा जानकर हमे अपने परिणाम सदा स्वगुण-परिणमनमे ही लगाना चाहिए। हमारे कोई इच्छा न रहे, केवल इसी बातकी ही इच्छा हो और किसी बातकी इच्छा न हो, तभी वीतराग परिणति जागृत होती है और तभी आत्मामें शुद्धोपयोग प्रकट होता है। शुद्धोपयोगियोका वह सुख इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखसे भी बहुत ऊपर है, तीनो लोकोके त्रिकालवर्ती सुखसे अत्युच्च है, अपूर्व है, अद्भुत है और परम आल्हाद स्वरूप होनेसे अतिशयवान है।

आत्मसमुत्थ सुख—वह सुख आत्मसमुत्थ है, अर्थात् रागादि विकल्पोसे रहित जो निज शुद्धात्मा है, उसके अनुभवसे उत्पन्न होता है। हमें उसे प्राप्त करनेके लिए वैसी चेष्टा आवश्यकता है। खौलते हुए गर्म पानीके भीतर तो ठडेपनका विश्वास है और इसलिए उसे ठडा करनेको पखा हिलाते है पर अशुद्ध पर्यायके भीतर शुद्धात्माका क्यो विश्वास नही है? जिन्होने उन शुद्धोपयोगियोके जैसा शुद्धोपयोगका विश्वास किया, अपनी पर्यायको निर्मल बनाया, वे ही उस सुखको प्राप्त हुए। किसी बाहरी वस्तुके भीतर खोज करनेसे सम्यक्त्व नही

मिलेगा, उसके लिए भीतर ही खोज करनी पडेगी। अपने मुखके सौन्दर्यको देखनेके लिए दर्पण देखते है, दर्पण देखनेके लिए दर्पण नही उठाया जाता। इसी प्रकार हम अपने रूपको देखनेके लिए अरहन्तोका आधार खोजते है और वहाँ उसके आधारसे ही हम आत्मस्वरूपको प्राप्त कर पाते है। यह व्यवहारसे है, वस्तुत स्वभावदृष्टिसे हम अपने आपको प्राप्त कर लेते हैं। हम जो पूजन करते हैं, वह या तो पिता आदि गुरु जनोकी प्रेरणासे करते है या मेढकके समान हमे भी स्वर्ग मिल जाय, इस भावनासे करते हैं। परन्तु ज्ञानी जीव आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए पूजन करता है। जिस मूलसे, जिसकी प्रेरणासे देव मिला उस ज्ञायकभावकी प्रेरणासे जो अन्तरङ्गमे विशुद्धिके प्रकर्षसे पूजा होती है, वह भावपूजा कहलाती है।

शुद्धोपयोगियोंके सुखकी अव्युच्छिन्नताका कारण—शुद्धोपयोगियोका वह सुख विषयातीत है, अर्थात् निर्विषयक परमात्मतत्त्वके प्रत्यक्षीभूत जो पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द स्वरूप विषय है, उनसे रहित हैं। पचेन्द्रियज विषयसुख परद्रव्यमे रति मानने वालोको ही प्रिय लगता है, पर जो आत्मतत्त्वमे निरत हैं, उन्हे वह दिव्य सुख प्रगट होता है, जिसके सामने ससारके सब सुख फीके पड जाते हैं और तुच्छ प्रतीत होने लगते है तथा वह शुद्धोपयोगियोका सुख अनुपम है, क्योकि उस निरुपम परमानन्दैकलक्षण सुखको जिसकी उपमा दी जाय, ऐसा एक भी पदार्थ ससारमे नही है, वह ससारसे ऊँचेसे ऊँचे सुखसे भी अनन्त गुणित विशुद्ध परम आल्हाद स्वरूप है, अतएव उसे अनुपम कहा गया है। तथा वह शुद्धोपयोगियोका सुख अनन्त है, क्योकि वह प्रतिपक्षी चारित्र मोहकर्मके अभावसे सर्वथा क्षयसे उत्पन्न हुआ है, अतएव अब आगे कभी भी उसका विनाश नही होगा, अत वह अनन्त है अथवा किसी भी ज्ञानसे उसको पाया नही जा सकता, अपरिमेय है, इसलिए भी उसे अनन्त कहते है तथा वह सुख अव्युच्छिन्न है। बीच-बीचमे विच्छेद या अन्तराल पडनेको विच्छिन्न या व्युच्छिन्न कहते है। जब तक ससारावस्था रहती है, तब तक उनका सुख बीच-बीचमे असाता कर्मका उदय आ जानेसे व्युच्छिन्न होता रहता है। परन्तु जिनके शुद्धोपयोग प्रगट हो जाता है, उनके वेदनीय कर्मके निमित्तसे साता असाता कर्मके उदयसे होने वाला सान्तर या सविच्छेद सुख दूर हो जाता है और धाराप्रवाह प्रवाहित अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, अत उसे अव्युच्छिन्न कहा है। इस प्रकार वीतराग परम सामायिक शब्द वाच्य शुद्धोपयोगका फल बताया गया।

शुद्धोपयोगी आत्माकी विशेषता—अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूप निरूपयति—अब शुद्धोपयोगमे परिणत आत्माके स्वरूपको भले प्रकारसे देखते है, अर्थात् कहते हैं। सस्कृत भाषामे जितनी भी धातुए हैं और उनका साधारणत जो अर्थ होता है, वह उपसर्गोंके योगसे विभिन्न एव विशिष्ट हो जाता है। रूप धातुका अर्थ देखना है, निःशेषेण रूपयति निरूपयति,

इस निरुक्तिके अनुसार अर्थ होता है कि निःशेषरूपसे देखते है, अर्थात् चारो ओरके उसे ठोक बजाकर, उसकी परीक्षा कर उसके स्वरूपका प्रतिपादन करते है। साधारणतः 'निरूपयति, प्ररूपयति, कथयति, अभिष्टौति' आदि क्रियापदोका अर्थ 'कहते हैं' इतना ही होता है, तथापि विभिन्न उपसर्गोके योगसे उस कहनेमे कुछ विशिष्टता होती है, या क्या कहना अभीष्ट है, ऐसा ग्रन्थकारका भाव भी उसमे सन्निहित रहता है। जिस शुद्धोपयोगका फल अत्यन्त सुखमय है, उस शुद्धोपयोगमे परिणत आत्माको देखूँ तो कैसे है इस उत्सुकतासे उसे देखते है ऐसा जो आचार्यने कहा, सो यह स्वभावोक्ति है। लोकव्यवहारमे भी ऐसा ही कहा जाता है कि कौन मधुर गायन कर रहा है उसे हम देखते है। लोग जिन राष्ट्रीय नेताओके बडे-बडे काम देखते सुनते हैं, उनके भी देखनेकी इच्छा होती है, चलो देखें तो सही कि अमुक कैसे है ? इसी प्रकार ग्रन्थकार भी कहते है कि ऊपर जिन अनेक विशेषण विशिष्ट शुद्धोपयोगियोके सुखका वर्णन किया गया, उन शुद्धोपयोगियोको तो देखे कि वे कैसे है ? इस प्रकार कितना हो रहस्य हृदयमे रख करके आचार्य आगेके गाथासूत्रको कहते हैं:—

सुविदिदपन्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

शुद्धोपयोगी श्रमण—जिसने जीवादि पदार्थोको और उनके प्रतिपादक आगम सूत्रको 'सु' कहिए अच्छी तरह सशय, विपर्यासादिसे रहित भले प्रकार जान लिया है, जो सयम और तप सयुक्त है, विगतराग है और सुख दु खमे समान है, ऐसा श्रमण शुद्धोपयोग कहा गया है। यहाँ शुद्धोपयोगी श्रमणके जितने विशेषण दिये गये है उनमे परस्पर कार्य कारण भाव है अर्थात् पूर्व-पूर्व विशेषण कारणरूप है और उत्तर-उत्तर विशेषण उसका कार्यरूप है। जो जीवादि पदार्थोंकी और आगम सूत्रको भले प्रकार जान लेगा वही सयम और तपसे सयुक्त हो सकता है, अन्य नही। जो वास्तविक सयम और तपसे सयुक्त होगा, वही विगतराग हो सकता है, अर्थात् रागद्वेषसे रहित वीतरागी बन सकता है। जो विगतराग हो जायगा, वही श्रमण सुख दु.खमे समान रह सकता है और जो सुख दु खमे समान रहे वही समण-श्रमण या समस्वभावी साधु शुद्धोपयोगको प्राप्त करता है, अथवा इसे इस प्रकारसे भी कह सकते हैं कि जो उक्त विशेषणयुक्त श्रमण है, उसकी जो आत्मपरिणति है, वही शुद्धोपयोग कहलाता है।

शुद्धोपयोगीकी सुविदितपदार्थसूत्रता—शुद्धोपयोगी श्रमणका प्रथम विशेषण 'सुविदित-पदार्थसूत्रः' है। आगम सूत्रके अर्थके ज्ञानके बलसे स्वपरद्रव्यका भेदज्ञानी बनता है। जब तक वह सूत्रार्थका ज्ञाता नही बनेगा, तब तक साधु बनना बेकार है। सुकौशलके पिता कीर्तिधर राजाको देखो, यदि उन्होने तत्त्वार्थको नही जाना होता, तो क्या ससारसे विरक्त हो सकते थे

और नवजात शिशु और जवान पत्नीको छोडकर साधु बन सकते थे ? कभी नही। यदि उन्हे स्वपरविवेक जागृत न होता तो क्या वे राजमहलसे धक्के देकर निकाले जानेपर भी सयम और तपमे स्थिर रह सकते थे ? कभी नही। यदि अजनाको यह विवेक हृदयमे प्रगट न होता, तो घरसे निकाली जानेपर वनमे जब उसे मुनिराजके दर्शन हुए और उसके जैसी भक्ति उमडी वह क्या कभी सभव थी ? नही। अनेक साधु कोल्हूमे पेल दिये गये, अनेक जीवित जला दिये गये, उन्हे यदि स्व-परका विवेक न होता, तो क्या वे अपने सयम तपमे स्थिर रह सकते थे ? कभी नही। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सयम और तपको धारण करनेके पूर्व स्व-परका विवेक प्रगट होना आवश्यक है और उसकी प्राप्ति जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको और आगम सूत्रको भले प्रकार जाने बिना हो नही सकती, इसलिए सर्वप्रथम साधु बनने वालेके लिए पदार्थोका और आगमका अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। साधु बननेकी यही पहली सीढी है। ज्ञान वही ठीक माना गया है, जो स्व-पर द्रव्य का भेद ज्ञान कराये। डूबते पुरुषको पानीमे जो चीज दिखती है, वह उसीको पकड लेता है, उसीको सहारा मानता है। इसी प्रकार ससारसागरमे डूबने वाले मनुष्यको स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा आदि जो भी प्राप्त होता है, उसीको पकडकर आर्त रौद्र ध्यान करके ससारमे डूब जाता है, परन्तु ससारसागरसे तिरनेकी कला जानने वाला व स्वभावरूपी निस्तरग किनारा देख चुकने वाला जानता है कि भेदज्ञानका पाना ही सबसे बडा सहारा है, उस सहारेके बिना मोही ससारसागरमे गोता ही लगाता रहेगा।

ज्ञानीकी परिणति अपने बाह्य वेशपर नही रहती, उसकी दृष्टि सदा ज्ञायकभावपर ही रहती है, तथापि वह ब्रह्मचारी आदि है, तो उसके बाह्य आचरणमे कोई कमी नही होगी, फिर भी दृष्टि पर्यायपर नही होगी। यदि वह क्षुल्लक या साधु है, तो भी उसकी दृष्टि अपने क्षुल्लक या साधुपनपर नही होगी, फिर भी उसके क्षुल्लक या साधु सम्बन्धी किसी भी आच-रणमे कोई कमी नही आयगी। बाह्य आचरण अन्तरङ्ग शुद्ध परिणतिके अनुसार स्वय शुद्ध होता हुआ चला जाता है। इसका कारण यह है कि उसका लक्ष्य बहुत ऊचा है। जिसका जितना ऊचा लक्ष्य रहेगा, उसकी बाहरी परिणति उतनी ही अच्छी होगी। स्व-परद्रव्यके जाननेमे यही तो विशेषता है, खासियत है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी वृत्ति जाननेका एक दृष्टान्त—एक सेठजी बहुत धनी थे। जब मरने लगे तो उनके लडकेकी उम्र तीन वर्षकी थी और कोई आदमी घरको सम्हालने वाला था नही, अतएव वे पाँच पचोको ट्रस्टी बनाकर उन्हे बच्चेको सौपकर स्वर्गवासी हो गये। ट्रस्टी लोग सेठजी के कारोबारको सम्हालने लगे और वह बच्चा अपनी माँके पास रहने लगा। एक दिन वह अपने मकानके आगे खेल रहा था कि एक नटनी उधरसे निकले, उनके कोई

सन्तान नही थी, इस सुन्दर बालकको देखकर मुग्ध हो गये, और उसे उठाकर अपने साथ ले गये। वे उसे बडे प्यारसे पोषण करने लगे। बच्चा कुछ दिनोमें अपने घर-बारको बिल्कुल भूल गया और नट-नटनीको ही अपने मां बाप समझने लगा। उनकी जायदादको ही अपनी जायदाद समझने लगा और नटोंके कार्योको सीखने लगा। एक दिन वह अपनी नटकला दिखानेके लिए सयोगवश अपने ही नगरमे गया। एक ट्रस्टीने जो उसे देखा तो पहिचान लिया कि यह तो सेठका लडका है, जो कि कुछ वर्ष पूर्व एकाएक गायब हो गया था। उसके पास जाकर कहा, भाई तुम तो इसी नगरके अमुक सेठके लडके हो, तुम्हारी यहा बडी भारी जायदाद है, तुम कहा नटोके खेल दिखाते फिर रहे हो ? वह सुनकर कहता है, यह बिल्कुल झूठ है, मुझे बहकाना चाहते हो। ऐसा कहकर अपने खेल दिखाता हुआ आगे चलता है, तो वहा दूसरा ट्रस्टी मिलता है और पहले ट्रस्टीकी बातको दुहराता है। उसे विश्वास नही आता और पहले जैसा ही उत्तर देकर आगे चल देता है। वहा तीसरा ट्रस्टी मिलता है, और उसे देखकर दूसरे ट्रस्टी वाली बात दुहराता है। उसे भी वही उत्तर देकर आगे बढ़ता है, फिर चौथे ट्रस्टीसे वही बात होती है, वहासे भी आगे बढनेपर पाचवे ट्रस्टीसे भेट होती है और वह भी वही बात कहता है। लगातार पाच व्यक्तियोसे विभिन्न स्थलोपर सुनी बातपर वह विचार करता है कि ये लोग यदि बहका ही रहे होगे तो भी देनेकी ही बात कहते है, लेनेकी नही, अत एक बार तो इनकी बात मान ही लूँ, ये क्या कहते है ? जाकर उस सरपचसे कहा आपका कहना ठीक है, मैं अबकी बार आऊगा और अपनी जायदाद सम्हाल लूगा, अभी तो मुझे जाने दीजिए। लौटकर जब वह घर पहुचा, तो मा के पैरोसे चिपटकर और रोकर पूछने लगा कि मा बताओ मेरे असली मा बाप कौन है ? नटनीको दया आ गई और यह सोचकर कि अब तो यह हमारे पाससे जा ही नही सकता है, सब घटना सच्ची-सच्ची कह दी। यथार्थ बातको जानकर, अपनेको करोडपति मानकर और सेठका पुत्र भी समझकर वह यद्यपि अन्तरगमे आनन्दविभोर हो रहा है, तथापि जब तक नट-नटनीके पास रह रहा है, तब तक उन्हे पूर्ववत् ही माता-पिता मानता है, खेत वगैरहकी उसी तरह रखवाली करता है और बाहरी व्यवहारमे कोई फर्क नही आने देता है, फिर भी अतरङ्गमे वह उनसे उदासीन ही हो रहा है और वह उदासीनता दिनपर दिन बढ़ती जाती है। जिस दिन उसकी वह उदासीनता पूर्णरूपसे परिपक्व हो जायगी, उसी दिन वह उन्हे छोडकर अपने करोडोंके वैभवको जाकर सम्हाल लेगा और अपने घरमे रहने लगेगा।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी अन्तर्वृत्ति—ठीक यही बात सम्यग्दृष्टिकी है। उसे भी जब यह बोध हो जाता है कि ये स्त्री पुत्रादि मेरे सच्चे सम्बन्धी नही है, मार्ग चलते मुसाफिर है, तो वह अन्तरगसे उदासीन तो अवश्य हो जाता है, मगर उसके बाह्य व्यवहारमे कोई फर्क नही

दिख पाता। वह आत्मज्ञानी गृहस्थ सम्यग्दर्शन होने के पूर्व जिस स्त्रीको वह बहुत प्यार करता था, उसे सम्यक्त्व होनेके पश्चात् वह विषकी बेल कहकर नही पुकारने लगता है, या स्वपूतको यमदूत नही कहने लगता है। घरबार को पर समझकर भी उनमे आग नही लगा देता है। सारीकी सारी व्यवस्था पूर्ववत् ही जारी रहती है, भेद केवल दृष्टिमे हो जाता है। जहाँ पहले उन सबमे ममत्वबुद्धि थी, रागभाव था, वह अब दूर हो जाता है और वह उन सबसे बाह्यमे पूर्ववत् व्यवहार करते हुए भी अन्तरगमे विरक्त रहने लगता है। और उस दिनकी प्रतीक्षा करता है कि कब वह समुचित अवसर आवे और गृह-जजाल छोडकर अपने असली घरमे जाकर रहने लग जाऊँ। जब तक वह घरबार छोडनेमे असमर्थ रहता है, तब तक घरके सब कुछ कार्य करते हुए भी उसकी दृष्टि निज वैभवपर ही रहती है। उसकी श्रद्धा शुद्ध रहती है, उसमे कोई कमी नही आने पाती। इसलिए पहले अपने आपको ठीक-ठीक समझ लो, पीछे घरबार छोडनेका फैसला करो। मामलेको ठीक-ठीक समझे बिना फैसला करना ठीक नही। इस सर्व कथनीका सार यह है कि पहले अपने और परायेके भेदको अच्छी तरह जान लो, पीछे व्रत, तप, सयम धारण करो, यही निरापद, सनातन राजमार्ग है।

स्वपरविवेकपद्धति—प्रश्न—स्वपर द्रव्यके विभागका ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—मेरा आत्म स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही है। मेरा परिणमन मेरे आधीन है और परका परिणाम परके आधीन है। कोई द्रव्य मेरे आश्रित नही, और मैं किसीके आश्रित नही। मैं तो अखड ज्ञानानन्द चैतन्यपिंड हू, इस प्रकारके बोध प्रगट होनेसे स्व—पर द्रव्यका भेदविज्ञान प्रगट होता है। कौआके कोसनेसे गाय नही मरा करती। माँके चाहनेसे कोई बच्चा अमर नही रहता। किसीके भला बुरा सोचनेसे किसीका भला—बुरा नही होता। तुम्हारे सभले—बुरे परिणमनसे तुम्हारा भला—बुरा होगा और दूसरोंके भले—बुरे परिणमनसे दूसरोका भला—बुरा, होगा, इस प्रकारकी बात तो लोकमे देखी ही जाती है। समस्त सत् अखड व स्वतन्त्र है ऐसी जब श्रद्धा जग जावे, तब समझना चाहिए कि भेदविज्ञान प्रगट हो चुका है। स्वरूपास्तित्वकी दृष्टि शान्तिकी ओर ले जावेगी। दुर्लभ श्रेष्ठ मन पाकर निज हितका कार्य करो।

आत्मस्वभावका प्रकाश—प्रश्न—स्वद्रव्य क्या है ? और उसका निरपेक्ष स्वभाव भी क्या है ? इसे समयसारके एक कलशमे सुनिये—आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त-विमुक्तमेकम् विलीनसकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति। उपास्य साधु परमेष्ठी श्री अमृतचद्रजी सूरिके इस कलशमे उक्त प्रश्नका उत्तम उत्तर है। स्वद्रव्यरूप आत्मस्वभाव परद्रव्योसे भिन्न है, परद्रव्योंके भावोसे भिन्न है और परद्रव्योंके निमित्तसे होने वाले विकारो

से भी भिन्न है। यहा तक कि कर्मोके क्षयोपशमसे जनित मतिज्ञानादि भी मेरे स्वभाव नही है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान भी मेरा स्वभाव नही है। स्वभाव सदा साथ रहता है, कभी उत्पन्न नही होता। केवलज्ञान तो किसी दिन उत्पन्न होता है और जो उत्पन्न होता है, वह पर्याय है, अत केवलज्ञान भी पर्याय ही है, पर्याय मेरा स्वरूप कैसे हो सकती है ? फिर मेरा क्या स्वभाव है ? जो ज्ञायकभाव सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवोमे था और जो क्रमश विकसित होने वाली विविध पर्यायोमे भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा, वही सर्वपर्यायोमे अनुगत रूपसे रहने वाला ज्ञायक भाव मेरा स्वभाव है। उसपर दृष्टि दृढ होनेसे पर्यायमे भी समता, एकता, निर्मलता आती है। उस निर्मलताके साथ उत्पन्न होने वाला वह केवलज्ञान भी उसीमे घुल-मिल जाता है तब वह आदि-अन्तसे विमुक्त एक आ + समन्तात् परिपूर्ण रूपको धारण कर लेता है, वह दशा सर्व स कल्प-विकल्पोके जालसे विमुक्त होती है, वह दशा जिसके अनुरूप हुई तथा अनादि अनन्त जो एक मत है वही स्वद्रव्य है, जो कि वचनोके अगोचर है। यह मेरा मेरे लिये स्वद्रव्य है व परके लिये यह मैं परद्रव्य हू, मेरे लिये पर परद्रव्य है। प्रश्न—सकल्प-विकल्प किसे कहते है जिससे मुक्त होनेपर आत्मस्वभावका अनुभव होता है ? उत्तर—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योमे अपनी कल्पना करने को सकल्प कहते है और ज्ञेय पदार्थोके भेदसे ज्ञानमे भेद मालूम करनेको विकल्प कहते है व हर्ष विषादादि परिणामोको विकल्प कहते है। ऐसे उक्त सकल्प-विकल्पोसे मुक्त दशाओको प्राप्त करनेके लिए हमे पहले प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देने वाले महल-मकान, धन-धान्य, स्त्री पुत्रादिसे ममत्व छोडना पडेगा, फिर रागादि भावोसे भी जो कि अतरग स्वभावगत जैसे हो रहे है—ममत्व बुद्धि हटाना पडेगी। जिनके वैराग्यभाव होता है, उनके भाव क्या ऐसे होते है कि स्त्री नरककी खान है, पुत्र पिता पातालमे ले जाने वाले है ? नही, ऐसे भाव नही होते ? किन्तु यही भाव होते है कि मेरा रागभाव ही मेरा घातक है, उसे छोडना चाहिये। ससारमे कौन अमर रहा है, सभी आकर और अपनी करामात दिखाकर चले गये है, फिर हे आत्मन्, तू किससे राग करके अपनेको अमर समझ रहा है ? और अपनेको बडी करामात वाला मान रहा है। दुनियामे देखो, सैकडो आये चले गये सब अपनी करामात दिखाये चले गये।

निजबोधसे ही निष्कलङ्कताका आविर्भाव—यदि ससारकी ऐसी विषम स्थितिको देखकर भी तुम्हारा घर-बारमे राग बन रहा है, तो अपना दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। भाग्यमात्र ही अहित है। लोग हसने वालोको भाग्यशाली पुण्यात्मा समझते है और रोने वालोको पापी समझते है। पर यह भारी भूल है, जिनके उदयसे मनुष्य हसते और रोते है, वे हास्य और शोक—ये दोनो प्रकृतिया मोहकर्मकी है, जो कि पाप प्रकृतियोमे परिगणित हैं।

फिर रोने वाला ही पापी क्यो और हसने वाला पापी क्यो नही ? बल्कि अधिक सभव यह है कि रोने वाला कम पापी हो और हसने वाला अधिक पापी हो। रोने वालेके आर्तध्यान होता है और हसने वालेके रौद्रध्यान होता है, जो ऊचे गुणस्थान तक होता है, वह कम पाप है और जो नीचे स्थान तक होता है, वह बडा पाप है। इसलिए रोने वालेको ही पापी मत समझो, हसने वाले उससे बढकर पापी हो सकते है। निष्कलकता तो केवल स्वभावमे है, जिसके यह विवेक हो जाता है, वही स्वमे लीन हो सकता है, वही उस विवान करनेमे समर्थ होता है। शुद्धोपयोग चाहने वालोंके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम ज्ञानाभ्यास करे, ज्ञान कहिये निजस्वभाव उसका मनन करे। प्रश्न—शिवभूति मुनिको तो कुछ ज्ञान नही था, फिर वे मुनि कैसे बन गये ? इस गाथामे तो यह कहा जा रहा है कि पहिले सुविदित पदार्थ सूत्र होना चाहिये। उत्तर—उन्हे तुप मापके भिन्न देखनेसे भेदज्ञान हो ही गया था, और फिर उनकी चारो कषाय बिल्कुल शान्त थी, जो कि भेदविज्ञानके हुए बिना सम्भव नही, इसलिए यह मानना चाहिए कि उन्हे साधु बनने योग्य ज्ञान तो था ही।

आत्मज्ञानसे सन्मार्गकी स्वयं समझ—कुछ लोग कहते देखे जाते है कि हमारा गुस्सा तो ऊपरी है, पर यह उनका कथन झूठ है। यदि मनमे कषाय न होती, तो ऊपर गुस्सा आता ही क्यो ? सस्कारके बिना कोई बात नही होती। जिसके भेदविज्ञान होता है उसके चारो कषायें एक साथ बन्द हो जाती हैं। जो यह समझते है कि इनके तो केवल एक क्रोध कषाय ही है, शेष तीन नही हैं, उनका कथन असत्य है। केवल नवे गुणस्थानको छोडकर उसके पूर्व ऐसा कोई समय नही, जब कि चारो कषायोका अस्तित्व न रहता हो और उस ही जातिका। हाँ, यह बात दूसरी है कि उदय एक समय एकका ही होता है और उसके भ्रमसे ही लोग उक्त बात कह देते हो। कुछ लोगोकी क्रोधमुखी प्रवृत्ति होती है, तो कुछकी मनमुखी, कुछकी मायामुखी प्रवृत्ति होती है तो कुछकी लोभभरी। पर उनका यह समझना भूल है कि मेरे तो एक ही कषाय है, शेष नही। जब जिस जातिकी कषायें मन्द होती है तो चारो कषायें मन्द होती हैं। कषायोकी वास्तविक ढगकी मदता भेदविज्ञानके कारणसे होगी। स्वपरका भेदज्ञान कल्याणमन्दिरका प्रथम सोपान है। कोई सोचे कि मैं तो व्रतादि कुछ नही जानता, सो इससे घबडानेकी कोई जरूरत नही है। मोहको जीत लेनेपर सारी समझ खुद आ जाती है कि मुझे क्या और कैसे करना है ? व्रत तप आदिके आचरणका ज्ञान स्वय हो जाता है और उसपर वह स्वय चलने भी लगता है। मोहको निकालो, भीतरके मिथ्यात्वको छोडे बिना कोई काम नही होगा, कितने ही भाई कहते है कि क्या करें सामायिकमे बैठते हैं तो बीसो ध्यान सताने लगते है। भैया ! तुम्हारा घर-गृहस्थीके जिस पदार्थमे राग हो, उसे सामने रखकर सामायिक करो, उसके विषयमे जितने विचार हो, उनपर ऊहापोह करते जाओ। घबरानेकी कोई जरूरत

नही है 'जिस चाहेको सोचो, किन्तु सच्चे स्वरूपसे सोचो। अकेलेका मन बिना आलम्बनके लगता नही है, यदि यह शिकायत है तो सत्सगमे अधिक समय बितावो और देखो गृहस्थीको तो तत्त्वचितनके लिए घरमे ही स्त्री पुत्रादि अनेक आलम्बन मौजूद है, जिनके आधारसे सत्य-स्वरूप सोच सोच भेदज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि एक बार भी भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया तो २-३ भवमे ही बेडा पार हो जायेगा। मोटर रोकनेके यत्रको न पकडकर उसके पहियेको पकडनेसे मोटर नही रुकेगी. इसी प्रकार मोह दूर करनेका उपाय भेदविज्ञान प्राप्त करना है तो उसे न पकडकर व्रत, तपादिक रूप पहियेको पकडनेसे मोहचक्रका परिभ्रमण न रुक सकेगा। अत उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। उसकी दृष्टि ही प्राप्तिका उपाय है।

शुद्धोपयोगी श्रमणकी संयमतपोयुक्तता—शुद्धात्माओंका स्वरूप देखते हुए शुद्धोपयोग का निरूपण किया जा रहा है। यह निरूपण ही नही, बल्कि धार्मिक आदेश है। जो बडे आदमी होते है, वे बडे कोमल और प्रिय शब्दोमे आदेश देते है कि किसीका जीव दु:ख न पावे। पर हम इसे समझते नही हैं। शुद्धोपयोगी श्रमणको जो विशेषण दिये गये हैं उनमे प्रथम विशेषण 'सुविदितपदार्थसूत्र' का अर्थ कहा जा चुका है, अब दूसरे विशेषणका अर्थ किया जाता है। वह शुद्धोपयोगी श्रमण सयम और तपसे संयुक्त होता है। सम् अर्थात् सम्यक् प्रकारसे शुभ स्वरूपमे यम माने जमना, स्थिर होना सो सयम कहलाता है। सयमके दो भेद है—प्राणिसयम और इन्द्रियसयम। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक—इन छह कायिक जीवोकी हिंसाके विकल्पसे दूर होकर शुद्ध रूपमे अवस्थित होनेको प्राणिसयम कहते है। प्राणिसयमका यह कितना सुन्दर अर्थ है कि छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सर्व गुणस्थानोमे घटित होता है। यदि कोई ध्यानस्थ है, उप-शम श्रेणी या क्षपक श्रेणीपर उपस्थित है, तो उनमे भी उक्त लक्षण घटित हो जाता है, क्योकि वे सभी जीव हिंसाके विकल्पोसे रहित है। पचेन्द्रियोके विषयोकी अभिलाषाके विकल्प से दूर होकर शुद्ध स्वरूपमे जम जानेको इन्द्रियसयम कहते है। इन्द्रियसयमका यह लक्षण भी सभी सयमियोके भीतर घटित होता है। साधारणतः लोग छह कायके जीवोकी रक्षा करनेको प्राणिसयम कहते हैं। पर यह लक्षण केवल छठे गुणस्थानवर्ती साधुके ही घटित होगा, ध्यानस्थ साधुओके लिये नही, क्योकि उस समय तो वे किसी जीवकी रक्षा नही कर रहे है। व्यवहारमे किसीके द्वारा पीडित प्राणीकी जान बचानेको जीवरक्षा कहा जाता है। सो यह लक्षण ध्यानस्थ शुद्धोपयोगियोके नही घटित होता है। अतएव अध्यात्मशास्त्रमे किया गया उक्त लक्षण निर्दोष एव सम्पूर्ण समझना चाहिये। यही बात इन्द्रियसयमके बारेमे है। लोग समझते हैं कि मैं अमुक चीज नही खाऊगा, यह इन्द्रियसयम है, पर उनका यह कथन भी अममूलक है, क्योकि वह सबमे घटित नही होता। ऊपर जो लक्षण किये गये है वे ही

यथार्थ लक्षण है, क्योकि वे सर्व सयमियोमे घटित होते है। सयम वह चीज है कि जिसकी प्राप्ति होते ही, जिसमे सयम होते ही विकल्प स्वय दूर हो जाते हैं और जो वस्तु हमे प्राप्त करना चाहिए, वह स्वय प्राप्त हो जाती है। जव तक उपर्युक्त शुद्ध दशा प्रकट नही होती, जब तक आचार्योंने निम्नदशामे 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त' यह चारित्रका लक्षण कहा है अर्थात् अशुभ कार्योसे विनिवृत्त होना और शुभ कार्योमे प्रवृत्ति करना चारित्र कहलाता है। यहाँ अशुभ निवृत्तिका तथ्य मतलव हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाप कार्योसे निवृत्त होनेका है।

षट्कायके परिचयमे पृथ्वी जल अग्नि वायुका वर्णन—छह कायके जीवोके घात करनेके परिणाम उत्पन्न होनेको हिंसा कहते है। त्रैलोक्यके सर्व प्राणी छह कायमे आ जाते हैं। पृथ्वी ही जिनका शरीर हो, ऐसे जीवोको पृथ्वीकायिक कहते है। जमीन, पाषाण, हीरा, पन्ना, माणिक आदि तथा खानिसे निकलने वाली गेरू हिरमजी मुलतानी मिट्टी आदि पदार्थ जब तक खानके भीतर रहते है, या अपने उत्पत्तिस्थानसे अलग नही होते हैं, तब तक उनमे जीव रहता है और वे पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोके ३६ भेद बताये गये है, जो कि इस प्रकार हैं—मिट्टी, वालु, रेती, पत्थर, शिला, नमक, लोहा, ताबा, जस्त, सीसा, सोना, चाँदी, हीरा, हरताल, हिंगुल, मनसिल, अजन, सुरमा, मूगा, अभ्रक, किरोलक गोमेद, रुचकाङ्क, स्फटिक, लोहिताक्ष, वैडूर्य, चन्द्रकान्तमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, [illegible] आदि। ये सब यत पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हे पृथ्वीकायिक माना है। ये जब तक खानमे या अपने उत्पत्ति स्थानमे रहते हैं, तब तक वे बढते रहते हैं जीव है और जब ये वाहर निकाल लिये जाते है तब वे जीवरहित हो जाते हैं, जल ही जिनका शरीर हो ऐसे जीवोको जलकायिक जीव कहते हैं। नदी, कुआ वगैरहके पानीको जल कहते हैं। ओस बिन्दु, हिमबिन्दु, बर्फ, ओला, काकडा आदि अनेक जातिके जलकायिक जीव होते हैं। आग ही जिनका शरीर हो, उन्हे अग्निकायिक जीव कहते हैं। ज्वाला लकडीकी अग्नि, अगार कडेकी अग्नि, बिजलीकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, उल्का, गाज आदिके रूपसे अग्निकायिक जीवोके भी अनेक भेद होते है। रात्रिमे जो हम तारे टूटते हुए देखते है, वह भी एक जातिकी अग्नि ही है, किसी तारा, नक्षत्र आदिका कोई टूटा हुआ अश नही है। वर्षा ऋतुमे जो रातमे बिजली चमकती है, वह भी एक जातिकी अग्नि है। हवा, पवन ही जिसका शरीर है, ऐसे जीवोको वायुकायिक जीव कहते है। उसके घनवात, घनोदधिवात, तनुवात, गुञ्जावात (गूजने वाली या जोरसे चलने वाली हवा) मण्डलिवात (मंडलाकार घूमने वाली हवा) उत्कलिकावात (नीचेसे ऊपरको उडने वाली हवा) आदि अनेक भेद हैं।

वनस्पतिकायका वर्णन—बनस्पति ही जिनका शरीर हो, ऐसे जीवोको वनस्पति-

कायिक जीव कहते है । वनस्पतिके दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येकवनस्पति । जिन एकेन्द्रिय अनत जीवोका एक साथ जन्म हो, एक साथ मरण हो, एक साथ श्वासोच्छ्वास ले और एक साथ आहार ग्रहण करें, ऐसे निगोदिया जीवोको साधारणवनस्पति कहते है । साधारणवनस्पतिके दो भेद है—सूक्ष्मनिगोद और वादरनिगोद । वादरनिगोद तो किसीके आधारसे रहती है, पर सूक्ष्मनिगोद किसी भी आधारसे नही रहती है, वह त्रैलोक्यमे सर्वत्र ठसाठस भरी हुई है । जिस एक वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो, उसे प्रत्येकवनस्पति कहते हैं । उसके भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक । जिस प्रत्येकवनस्पतिके आधार अनेक साधारणवादर वनस्पतिकायिक (वादरनिगोद) जीव रहे, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते है । जैसे जमीकन्द, आलू, रतालू, लहसन, प्याज, अरवी, अदरक हल्दी कच्ची समभग टूटने वाली तोरई, ककडी पालग आदि । जिस वनस्पतिके आश्रय वादरनिगोदिया साधारण वनस्पतिकायिक जीव न रहे, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते है, जैसे आम, इमली, नीम, बबूल आदिके वृक्ष । इन वृक्षोके भी जड, छाल, कोपल आदि जिस अगका सम भग हो जाय, उसके भी आश्रित वादर निगोद रहती है । पर उसकी विवक्षा न करके बहुभागके वादरनिगोदविहीन रहनेसे नीम, बबूल आदिके वृक्षोको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कह दिया जाता है । वस्तुतः जो अश निगोदसहित है वह सप्रतिष्ठित है । आम आदि फल भी अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति हैं ।

त्रसकायका वर्णन—त्रस जीव साधारणत चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रियादि जीवोको कहते है । त्रसजीव चार प्रकारके होते है–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव । जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ पाई जायें उन्हे द्वीन्द्रिय जीव कहते है । जैसे लट, केंचुआ, जोक, शङ्ख, कौडी आदि । जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पाई जायें, उन्हे त्रीन्द्रिय जीव कहते है । जैसे चीटी, चीटा, खटमल, बिच्छू, जूँ वगैरह । स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु— ये चार इन्द्रियाँ जिनके पाई जायें उन्हे चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं । जैसे भौरा, बर्र, मक्खी, मच्छर, टिड्डी वगैरह । जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियां पाई जावें, उन्हे पचेन्द्रिय जीव कहते हैं । जैसे देव, मनुष्य नारकी और गाय, बैल वगैरह । पचेन्द्रियोमे देव, मनुष्य और नरक गतिके जीव तो सज्ञी अर्थात् मनसहित ही होते हैं, किन्तु तिर्यंचगतिके जीव सज्ञी और असज्ञी अर्थात् मनसहित व मन-रहित दोनो प्रकारके होते है । साँप सैनी होते है, पर जलमे रहने वालोमे से कोई कोई असैनी होते है । मछलियो और मेढकोमे भी कोई-कोई असैनी होते है । तोतोमे भी कोई कोई असैनी होता है । मनुष्य, देव, नारकी भी त्रसजीव है, ये सब सैनी ही होते हैं ।

भोले अजानकार श्रोता—हम लोग वर्षोसे शास्त्र सुनते आ रहे है और अनेक बार

उक्त पाँचो इन्द्रियोके जीवोकी चर्चा भी सुनी, मगर अनेकोको अभी तक भी इन जीवोका भेद ज्ञात नही है। एक किवदन्ती की बात है कि एक साधु शास्त्र पढ रहे थे और पाँचो जातिके जीवोका वर्णन कर रहे थे। जब वे शास्त्र पढ़ चुके, तब उन्होने एक श्रोतासे पूछा कि पचेन्द्रिय जीव कौन है ? तो उसने झट उत्तर दिया कि हाथी, क्योकि उसके चार पाव और एक सूड ये पांच इन्द्रियाँ होती है। जब फिर उससे पूछा गया कि चौइन्द्री जीव कौन है, तो बोला कि बैल, घोडा आदि, क्योकि उनके चार पैर होते है। जब तीन इन्द्री जीवको पूछा गया, तो तीन पाये वाली तिपाईको बताया। दोइन्द्री जीवके बाबत पूछने पर बोला कि हम दोइन्द्रिय जीव है, क्योकि एक इन्द्रिय हमारी हम हैं और एक इन्द्रिय हमारी स्त्री है। हम घरमे दो ही आदमी है इसलिये हम दोइन्द्रिय है। जब एकेन्द्रीके बाबत पूछा गया तो बोला महाराज आप एकेन्द्री जीव है, क्योकि आपके स्त्री नही है, अकेले ही हैं। उसके इन उत्तरो को सुनकर अनेक श्रोता हस पडे। यह किस्सा तो अन्यत्रका है, पर यदि हम यहाँ भी ऐसा ही कोई प्रश्न कर बैठें—तो सभव है कुछ अनेकोको उत्तर देना कठिन हो जायगा।

हितार्थ दुर्लभ अवसरके सदुपयोगका अनुरोध—भाइयो ! यह पर्याय अन्य पर्यायोकी अपेक्षा बहुत दुर्लभ है, इस बातका भी ज्ञान यदि हमे नही हुआ, तो इससे बढकर और दु ख की क्या बात हो सकती है ? हम लोग निगोदसे निकलकर पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पच स्थावरो मे पैदा हुए, फिर विकास करते हुए द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियोंमे उत्पन्न होकर पचेन्द्रियोमे उत्पन्न हुए, उत्तम मन भी पाया, मनुष्य भी हुए, उच्च कुल नीरोगता जैनधर्म आदि उत्तरोत्तर अति दुर्लभ भी चीजें पाईं, फिर भी हमे यदि स्वका बोध नही हुआ, अब भी नही चेते, तो फिर क्या होगा ? मनुष्यभव पानेका अवसर बार-बार नही आता। इसलिए हमे इसके एक-एक क्षणकी कीमत करना चाहिए और जितने जल्दी हो अपने हितमे लगना चाहिए। निज चैतन्य भगवानके आशीर्वादसे हम नीचेसे उठकर ऊपर चढे हैं। अब यदि हम इसपर जिसकी कृपासे इतने ऊचे पदको प्राप्त किया है, हमला कर बैठें, तो फिर यह निगोद जानेका आशीर्वाद दे देगा। जहाँसे आये वही पहुचा देगा।

आत्मप्रभुपर अन्यायके परिणामपर दृष्टान्त—एक साधुकी कथा है कि एक चूहा उनकी लगोटीको काट जाया करे, उन्होंने तग आकर उसे एक पिंजरेमे पाल लिया और रोटी खानेको देने लगे। धीरे-धीरे वह पालतू हो गया और कपडा काटना छोड दिया। वह साधुके आस-पास खेलने लगा। एक दिन एक बिल्ली उस चूहेको खानेके लिये झपटी, तो वह साधुकी ओर भागा, साधुने उसे बचानेके लिए आशीर्वाद दिया कि 'बिडालो भव' अर्थात् बिल्ली हो जा। वह बिल्ली बन गया, उसे बिल्लीका भय नही रहा। एक दिन एक कुत्ता कहीसे आ निकला और उस बिल्लीपर झपटा, उसके बचानेके लिए साधुने आशीर्वाद दिया कि 'श्वा भव'

अर्थात् कुत्ता हो जा, और वह कुत्ता हो गया, दूसरे कुत्तेका डर जाता रहा। एक दिन वह कही जगलमे जा रहा था कि एक व्याघ्र उसपर झपटा और वह भागा हुआ साधुके पास आया। उसने उसको आशीर्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' व्याघ्र हो जा, वह नाहर हो गया और नाहरका भय जाता रहा। एक दिन वह जंगलमे घूम रहा था कि एक सिह उधर आ निकला और उसपर झपटा। वह साधुके पास भागा आया। साधुने उसे आशीर्वाद दिया कि 'सिहो भव' वह सिंह बन गया और निर्भय विचरने लगा। एक दिन उसकी नीयत साधुको खानेकी हो गई क्योकि भूख बडे जोरसे लग रही थी। वह ज्यो ही साधुको खानेके लिए झपटा कि साधु उसका भाव ताड गये और फौरन आशीर्वाद दिया कि 'पुनर्मूषको भव' अर्थात् फिर चूहा हो जा। साधुका आशीर्वाद पाते ही वह फौरन चूहाका चूहा हो गया और सारी आशाओ पर पानी फिर गया। भैया! जिस चेतन भावकी कृपासे इस उच्च पर्यायको पाया है, उसे पाकर और रागादि विकारोमे पडकर चेतन भगवानके ही घातका विचार मत करो, अन्यथा फिर हमे निगोदमे जाना पडेगा। निज चैतन्य गुरुपर हमलाका भाव रखनेपर इसका यही आशीर्वाद हो पडेगा कि पुनर्निगोदो भव अर्थात् फिर निगोद बन जा।

मिथ्या अध्यवसाय—मै प्राणीको मारू, या मार सकता हू यह विकल्प, जैसे मिथ्यात्व है, उसी प्रकार मैं इसकी रक्षा करू, या रक्षा कर सकता हू यह विकल्प भी मिथ्यात्व है। इसीलिए आचार्यने 'प्राणीकी रक्षा करना सयम है' ऐसा लक्षण न करके मारने या रक्षा करने आदिके सर्व विकल्पोसे दूर होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमे ठहरनेको संयम कहा है। शुद्धोपयोगीकी आत्मा कैसी है, इस प्रकरणमे उक्त बात कही है। बार-बार शुद्धोपयोगकी चर्चा करनेसे हमारे भीतर भी शुद्धोपयोगकी परिणति जागृत होनेको होती है। जैसे निरन्तर सगीत सुनने वाले श्रोताओके भीतर सगीतका रहस्य अवित हो जाता है और वे सगीतके समय अपने अगोपाग मटकाने लगते है, उसी प्रकार गुणी जनोकी निरन्तर कथा सुनते रहनेसे हममे गुण भी पैदा होने लगते है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगीके स्वरूपके ध्यानसे अनुपम प्रमोद होता है, ऐसे ही शुद्ध लक्षी वितर्क शुभोपयोग है। आत्मा किसी भी परिस्थितिमे, बाह्य साधनोमे रहे, वह योग-उपयोगका ही कर्ता रह सकता है। उनमे योगसे तो आत्माको सुख-दुखादिका अनुभव होता नही, इसलिए उससे आत्माका कोई सुधार बिगाड नही है। सुधार-बिगाडके अन्तरङ्ग कारणका योग सहकारीमात्र होता है, इसीलिए आचार्योने विकल्पकी अपेक्षासे ही आत्मा को कर्ता कहा है। समयसारमे कहा है:—विकल्पकः परं कर्ता, विकल्पः कर्म केवलम्। न जातु कर्तृ-कर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति ॥ अर्थात् केवल विकल्प करने वालेको कर्ता कहा गया है और विकल्प केवल उसका कर्म है। जब तक यह विकल्प करता रहेगा, तब तक कर्तृत्व और कर्मत्वकी बुद्धि नष्ट नही हो सकती, और जब तक यह बुद्धि है, तभी तक ससार है और

महान् क्लेश है ।

देखो भैया ! यहाँ द्रव्यहिंसा या बाह्य जीव घातादिको पाप नही कहा है, किन्तु उस का मूलभूत जो अन्तरगका कलुषित विकल्प है, जिसकी प्रेरणासे द्रव्यहिंसा हुई, वह विकल्प पाप कहा गया है । इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि यदि अन्तरगमे हिंसा है, या हिंसा के भाव है, तो बाह्य हिंसा हिंसा है वह अन्तरगघात अपने ही दोषसे हो रहा है और उसकी निवृत्ति भी अपने ही गुणसे होगी । समयसारमे कहा है—मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि तचेव भाहि त चेव । तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥ आससारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्य-मेवास्थापय निश्चलमात्मानम् । अर्थात् अनादि कालसे अपनी बुद्धिके दोषसे ही परद्रव्य राग-द्वेषादिमे ठहरे हुए अपने आपको जो कि स्वरूपसे निश्चल है अपनी बुद्धिके गुणसे ही दोषोसे निकालकर दर्शन, ज्ञान, चरित्रमे निश्चलरूपसे ठहराओ । प्रश्न—यदि हम लोग इसी ज्ञान-चारित्रमे ही ठहरे रहे तो दुकानदारी या दुनियादारीके काम कैसे चलेंगे ? उत्तर—आपमे स्वय विकल्प होते है, उससे आप दु खी हैं । मैं करने वाला हू, यह बुद्धि ही घातक है, बाह्य कार्यको हम क्या कर सकते हैं ? उसके आश्रयसे केवल विकल्प ही उठते रहेगे । ज्ञान—चारित्र मे स्थिर रहने वालोके यदि कदाचित् गृहस्थी है तो दुनियादारीके कार्य स्वय ही चला करते है, सब निमित्त-नैमित्तिकभावका फल है ।

भावकी संभालमे अहिंसकता—अभी शुद्धोपयोग परिणत आत्माओमे हिंसामात्रसे दूर होनेकी बात कही थी । कोई चाहे कि बाह्य हिंसासे दूर रहकर अहिंसक बन जाऊ, सो सम्भव नही, क्योकि हमारे सारे शरीरमे बादर-निगोद एव अन्य अनेक प्रकारके जर्म्स भरे हुए है, वे हमारे उठते-बैठते, चलते फिरते या सोते आदिके समय अवश्य मरते हैं, फिर हिंसा कहाँ दूर हुई ? फिर बताओ मोक्षमार्ग कैसे चले ? सारा ससार जीवोसे भरा पडा है, हमारे चलने फिरनेसे यहाँ तक कि सास लेने तकसे भी जीवोका घात निरन्तर होता रहता है, भैया ! फिर बताओ हम हिंसासे कैसे बचें ? इस प्रश्नको आगममे इस प्रकार पूछा गया है कि जले जन्तु. स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च । जन्तुमालाकुले लोके क्व चरन् कोप्यमोक्ष्यत ॥ अर्थात् जलमे जीव है, स्थलमे जीव है, आकाशमे जीव भरे हैं, सारा लोक ही जन्तुओकी मालाओ-श्रेणियोंसे सकुलित है, फिर साधु वहाँ चले, कहाँ उठे बैठे और कैसे मोक्ष प्राप्त करे ? इस प्रश्नका उत्तर यही दिया गया है कि विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन्कोऽप्यमोक्ष्यत । भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ अर्थात् बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था यदि एकमात्र भावोपर अवलबित नही होती, तो फिर जीवोंसे खचाखच भरे इस लोकमे रहता हुआ कोई भी मनुष्य कभी मुक्त नही हो सकता था ।

अहिंसामें संयम—इस उपर्युक्त कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जो हिंसा बुद्धिपूर्वक होती है, जहां हमारे भाव जीवघातके होते है, वही हिंसा है और उसीके हम भागी है। जहाँ हमारे भाव किसी भी जीवको स्वयको या अन्यको घातनेके नही हो हम पूर्ण रूपसे अप्रमत्त है, सावधान है, जीव रक्षामे तत्पर या सयमोमे निरत है, वहा अबुद्धिपूर्वक होने वाली हिंसाके हम दोषी नही होते हैं। अबुद्धिपूर्वक और अज्ञानपूर्वक होने वाली हिसामे जमीन आसमानका अन्तर है। जहाँ अबुद्धिपूर्वक होने वाली हिंसाका साधुको रचमात्र भी पाप नही लगता, वहा अज्ञानपूर्वक होने वाली हिंसासे उसे महापापी बतलाया है। यही कारण है कि शास्त्रोमे साधुको एक विशेषण विदितजीवस्थानादि दिया गया है। प्रश्न—क्या हमारे अबुद्धिपूर्वक हिसा नही होती ? उत्तर—प्रमत्तयोगियोके जो अजानकारीमे हिसा होती है, उसे अबुद्धिपूर्वक न कहकर अज्ञानपूर्वक कहा गया है। किन्तु अप्रमत्तयोगियोंके अर्थात् शुद्धोपयोगियोके जो हिंसा होती है उसे ही अबुद्धिपूर्वक माना गया है और उसके पापसे उसे अलिप्त कहा गया है। प्रमत्तयोगियोंके अजानकारीमे होने वाली हिंसाको अज्ञानपूर्वक होने वाली हिंसा माना गया है और उसके महापापसे हम सदा लिप्त होते रहते है। हाँ, ज्ञानी प्रमत्तमे कुछ अन्तर है। वास्तवमे हिंसा तो रागादिभाव स्वप है। ऊपर आचार्यने जो प्राणिसयम और इन्द्रियसयमका निरूपण किया है उसमे भावोके सभालकी—विकल्पोंसे छुडानेकी ही बात कही गई है, वही सच्ची स्वदया है, वही सच्ची अहिसा है और वह सत्यार्थ सयम है।

शुद्धोपयोगपरिणतकी तपः संयुक्तता—बाह्य और अन्तरंग बारह प्रकारके तपके बल से स्वरूपमे विश्राम करना और सर्व प्रकारकी तरगोको दूर कर निस्तरग चैतन्य प्रकाशसे तपना, दैदीप्यमान होना सो तप है। जैसे समुद्रकी तरगें समुद्रमे लीन होती है तथैव आत्मा की तरगें आत्मामे ही विलीन हो जाती है। असयम अवस्थामे विषयरूप जो अन्यथा आचरणकी और नाना प्रकारके तज्जनित विकल्पोकी तरगें उठा करती थी उन तरगोका स्वात्मभावनामे परिणत होकर एकदम विलय कर देना और ज्ञानज्योतिसे तपना, प्रकाशमान रहना ही अध्यात्मभावमे तप माना गया है। बाह्य क्लेशके सहनेको तप नही माना गया है, क्योकि उसे तो ससारके सभी प्राणी सहन करते है, पर उससे इष्ट सिद्धि नही होती। बाह्य तप अतरङ्गमे उठने वाले विकल्पोके ज्ञानमे सहायक वातावरणमात्र होते है, अत उपचारसे उन्हे तप कहा गया है। वस्तुत. चैतन्यवृत्ति ही तप है। प्रश्न—यदि अनशनादि परमार्थसे तप नही है, तो उन्हे क्यो किया जाय ? इस प्रश्नका उत्तर पूज्यपाद आचार्य ने अपने समाधितत्र मे इस प्रकार दिया है—अदुःखभावित ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ। तस्माद्यथाबल दुःखैरात्मान भावयेन्मुनिः ॥ अर्थात् जो ज्ञान अदु खभावित होता है, विना कष्ट सहन किये उत्पन्न होता

है, वह दु खके ग्राने पर तुरन्त नष्ट हो जाता है। किन्तु जो ज्ञान दु:ख-भावित होता है, वह महाकष्टोके ग्राने पर भी क्षीण नही होता, सदा प्रकाशमान रहता है। यदि साधु स्थायी, ग्रविनाशी ग्रौर ग्रक्षय रहने वाले ज्ञानको प्राप्त करना चाहते है, तो उन्हे यथाबल ग्रपनी शक्तिके ग्रनुसार ग्रपनेको दु:खोंसे भावित करना चाहिए ग्रर्थात् ग्रनशनादि तपोको करके ज्ञानपूर्वक ज्ञानाभ्यास ग्रन्तरग तप करना चाहिए, तब जो ज्ञान प्राप्त होगा वह ग्रनन्तकाल तक स्थायी रहेगा ग्रर्थात् पूर्ण बनकर पूर्ण ही रहता रहेगा। शुद्धोपयोगमे परिणत वे ग्रात्मा कैसे है ? तपस्वी है। तपका ग्रर्थ है स्वरूपमे, समाये हुए निस्तरग रागद्वेपादिरहित चैतन्य-भावमे प्रतपन करना विजय पाना। इस प्रयोजनको लेकर जितने भी बाह्य साधन है उन्हे उपचारसे तप कहते हैं। तप बाह्य ग्रौर ग्राभ्यान्तर तपके बलसे काम क्रोध ग्रादि शत्रुवोंसे जिसका प्रताप परिणाम खण्डित नही होता ऐसे उन ग्रात्माका निज शुद्ध ग्रात्मामे—चैतन्य भावमे तपना ग्रलौकिक विजय पाना तप है, उस कर युक्त है तन्मय है।

शुद्धोगयोगीकी विगतरागता—वे शुद्धोपयोगपरिणत ग्रात्मा विगतराग हैं—राग इनसे दूर हो रहा है। यह राग ग्रात्माकी स्वकीय परिणति नही है, सहज परिणति नही है किन्तु वैभाविक परिणति ग्रौपधिक परिणति है। यह परिणति निमित्त बिना नही होती है ग्रौर निमित्तसे भी नही होती है। निमित्तको पाकर ग्रपने द्रव्य क्षेत्र भावके ग्रशुद्ध परिणमनसे होती है। रागादिभावोमे जो निमित्त पडता है उसकी सज्ञा है 'कर्म'। वे कर्म ८ होते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, ग्रायु, नाम, गोत्र ग्रौर ग्रतराय। इनमे सबका प्रधान मोहनीय भाव है सब कर्मोंके बधका कारण मोहनीय कर्मके उदयमे होने वाले भाव है। मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर सभी कर्म यथासमय नष्ट हो जाते हैं, इसलिये मोहनीय कर्मके विपाक जो मोहराग द्वेप है उन ग्रौपाधिक ग्रपवित्र क्षणिक भावोंसे निज ज्ञायक भावको—जो सहज शुचि ग्रौर स्थायी है—भिन्न पहिचाने ग्रौर निज ज्ञायकभावकी भावना स्थिरतापूर्वक करे तो इस ग्रभिन्न प्रक्रियासे यथा निर्विकार ग्रात्माका सहज स्वरूप है तथा प्रकट होता है ग्रौर वह ग्रात्मा विगतराग कहलाता है। यह विरागका विधिरूपसे वर्णन है, विधिरूप तत्त्व समझमे न ग्रानेपर निषेधका कोई महत्त्व नही है। यह विगतराग ग्रवस्था कैसे होती है ? इसका उत्तर इसके पूर्वविशेषणसे मिलता है ग्रर्थात् ग्रन्तरग सयम तपके बलसे यह विराग ग्रवस्था प्रकट होती है। साराश यह है कि वीतराग शुद्धात्माकी भावनाके बलसे समस्त रागादिदोषरहित होने वाला ग्रात्मा विगतराग है। रागरहित होने के लिये उपाय क्या है ? रागरहित पद्धतिसे रागरहितका लक्ष्य होना रागरहित होनेका उपाय है। रागरहित पद्धति ग्रखड निर्मल ग्रनादि ग्रनत ज्ञायक भावको ग्रभेदरूपसे लक्ष्यमे लेना है। इस निज चैतन्य भगवान्के दर्शन प्रथम ही प्रथम होते समय स्वभावविरोधक कर्मराजकी क्या परिस्थिति होती है ? इसका वर्णन ग्रन्य

प्रकरण पाकर करूंगा। पहिले मोह नष्ट होता है पश्चात् राग-द्वेष भी मूलसे नष्ट हो जाते है।

शुद्धोपयोगीकी समसुखदुःखता—विगतराग शुद्धोपयोगसे परिणत आत्मा कैसा है सममुख दुःखः – सुखदु खमे समान है। वास्तवमे तो वह सुख दु खकी कल्पनासे ही दूर है अर्थात् जैसे वह सुख होते हुए भी सुख कल्पनासे रहित है, वैसे असाताके तीव्र उदयमे भी दुःखकी कल्पनासे रहित है। सुख और दुःख पर्याय है, ज्ञानी किसी भी पर्यायमे आत्मबुद्धि नही करता, फिर लौकिक सुख, दुःख जैसे गदे विभावोसे वैसे रुचि प्रतीति लीनता करेगा? ये श्रमण समसुख दु ख कैसे होते है? इस पर विचार करना है। समतापरिणाम विषमताके दूर हुए बिना प्रकट नही होता। समता विषमता भी पर्याय है और है विरोधी पर्याय, विषमताके होने पर समता नही और समताके होने पर विषमता नही। जिसके सुख दु खसे उत्पन्न हुई परिणामोकी विषमता है वह श्रमण नही शुद्धोपयोग मे परिणत नही। ये सुख दुःख आत्माके सहज भाव नही। ये साता असाता वेदनीयके उदय मे मोहनीयकी वासनासे होते है। यह सुखदु खोकी विपमता जब परमकला जो शुद्धज्ञान भावतत्त्व उसके अवलोकनसे अनुभवमे नही आती उस समय वह समसुखदु ख कहलाता है। उन शुद्धोपयोगपरिणत आत्मावोके साता असाता वेदनीयजन्य सुख दुःखके विभाव भले ही हो परन्तु उनकी विषमताका अनुभव ही नही होता, क्योकि विपमताका अनुभव मोहनीयके विपाकसे होता है सो मोहनीय क्षीण हो रहा है। विपमताके अनुभव बिना सुख दु ख सुख दु ख ही नही है, नाम मात्रके है। इस प्रकार निर्विकल्प निर्विकार शुद्धात्मासे उपयोगरूप परमसमाधिसे उत्पन्न हुई परमसुखमे लीन परमकलाके बलसे इष्ट अनिष्ट इद्रिय मनके विपयोमे हर्ष विषाद न रहनेसे स्वय समसुखदु.ख होता हुआ श्रमण शुद्धोपयोग है।

परमार्थ श्रामण्यका निरूपण—यहा श्रमण शुद्धोपयोग है, यह गुण-गुणीके अभेद विवक्षाके वर्णन है। यद्यपि यहाँ श्रमण भी पर्याय है और शुद्धोपयोग भी पर्याय है तथापि शुद्धोपयोग तो गुणपर्याय ही है और श्रमण यहाँ आधार रूपसे विवक्षित है, अतः श्रमणको गुणीरूपसे कल्पित किया है। यहाँ भगवान् कुन्द-कुन्द महाराजने कारण-कार्यभावरूपसे पहिली परिस्थितिसे उठाते हुए उत्कृष्ट परिस्थिति तकका वर्णन करते हुए आचार्यने शुद्धोपयोगमे परिणत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया। वर्णन ही नही किया किन्तु निरूपण ही कर दिया। वर्णन तो विस्तार और स्पष्टरूपसे कहनेका नाम है और निरूपण कहते है नि—समस्तरूपसे रूपण कहिये देखना व दिखाना। जहाँ ऐसा वर्णन हो कि वक्ता और श्रोतावोको वाच्य अर्थ का प्रतिभास होता जावे उस वर्णनको निरूपण कहते हैं। यहाँ तक १४ गाथावोका प्रकाश हुआ।

प्रवचनसारकी समस्त भूमिका—इस प्रवचनसार ग्रन्थमे जो कुछ वर्णनीय है वह उसका दिग्दर्शन इन १४ गाथावोमे हो चुका, अतएव ये १४ गाथायें प्रवचनसारकी पीठिका स्वरूप है। प्रवचनसार तीन महाधिकारोमे है—१—ज्ञानाधिकार, २—दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार, ३ चारित्राधिकार, किन्तु प्रवचनसार समस्त एक अधिकारकी दृष्टिसे देखा जावे तो यह चारित्रका ग्रन्थ है। यद्यपि यह चारित्रका ग्रन्थ है तथापि अन्तरंगदृष्टिसे चारित्रके वर्णनमे ज्ञान और ज्ञेयका यथार्थस्वरूप वर्णित होना आवश्यक ही है, जिसके विना अन्तश्चरणका वर्णन हो ही नही सकता। इस कारण ज्ञान ज्ञेय चारित्र अथवा ज्ञान दर्शन चारित्रके अधिकार आना प्राकृतिक वात है। पीठिकास्वरूप इन १४ गाथावोमे भी ज्ञान ज्ञेय चारित्र का दिग्दर्शन हो चुका है। सर्व प्रथम तो पाँच गाथावोमे मगलाचरण किया गया। इस मगलाचरणमे भी ज्ञान दर्शन चारित्रका प्रतिभास-अवलोकन है और अन्तमे तो स्पष्ट कह ही दिया है कि पचपरमेष्ठिदेवोके दर्शनज्ञान प्रधान भावाश्रमको प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हू। मगलाचरणरूप पाँच गाथावोके अनन्तर तीन गाथावोमे (६-७-८) चारित्रविषयक मुख्य प्रतिपादन किया। तदनन्तर एक गाथामे दर्शन अथवा ज्ञेयविषयके प्रकृतप्रयोजनको लेकर शुभोपयोग अशुभोपयोग शुद्धोपयोगरूपसे सात तत्त्वोका मर्म बताया। पुनः द्रव्य गुण पर्याय अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यके आशयको लेकर जिनका कि ज्ञेय पदार्थके साथ अयुत सम्बन्ध है, दशवी गाथामे विवेचन किया गया। तदनन्तर शुद्ध और शुभ परिणाम इन दोनोमे उपादेय शुद्ध है और शुभ हेय है, इसका वर्णन फलप्रदर्शन की मुख्यतासे किया है और १२ वी गाथा मे अशुभोपयोग तो प्रथमतः ही अत्यन्त हेय है, उसका फल दिखाते हुए कहा है। तदनन्तर तेरहवी गाथामे शुद्धोपयोगके फलस्वरूप सहज ही विकसित होने वाले शाश्वत पूर्ण आह्लादमय निरावाध अनुपम परम सुखको दिखाया है, फिर १४ वी गाथामे तो सर्व प्रक्रियाकी विवेचना है—आत्मा कैसे शुद्धोपयोगका पात्र होता है, कैसे शुद्धोपयोगमे प्रवेश करता है और शुद्धोपयोगका अधिकारी होता है? शुद्धोपयोगका पूर्ण अधिकार होनेपर अथवा शुद्धोपयोगमे परिणत होनेपर उस आदर्श आत्माका क्या स्वरूप बनता है, इसका साक्षात्कार कराया गया।

मुमुक्षु जनोका सौभाग्य—आज हम लोग बडे ही पुण्यस्वरूप हो रहे हैं कि भगवान कुन्दकुन्द द्वारा लिखित सारभूत तत्त्वोका 'मनन और अनुपालन' करनेकी हमे पात्रता प्राप्त हुई है। यह हमारा मनुष्यकाल अनादि-अनतकालके समक्ष क्या है, कितना है? अनन्तकाल परिभ्रमण करते हुए आज मनुष्यभवमे तत्त्वचिन्तना व यथाशक्ति सयम पालनेका अवसर मिला है तो विचारो यह कितना अमूल्य अवसर है? ३४३ घनराजू प्रमाण लोकक्षेत्रमे प्रति प्रदेशमे अनन्त बार जन्म ले लेकर दुःख भोगे और आज इस बुद्धिसहित भगवान महावीर स्वामीके तीर्थकालमे श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पवित्र वाक्योका मनन कर रहे है तो आप सोचिये

कितना अपूर्व अमूल्य अवसर है ? हमे अपने आपकी आत्माका कल्याण कर लेने का अवसर नही चूकना चाहिये। हमपर निरपेक्ष इन साधुसंतोका कितना उपकार है जिसका कुछ वर्णन ही नही हो सकता। हे कुन्ददेव ! हे अमृतचन्द प्रभो ! हे जयसेन महाराज ! हे समन्तभद्र योगिराज ! मै तुम्हारे समयमे तुम्हारे परिचयमे रहा होता तो चरणोमे लोटकर भक्तिके आसुवोसे चरण पखाल देता। धन्य हो देव, भक्तिभाव सहित आपको मेरा नमस्कार हो।

हे आत्मन् ! पथ तो जाना, तव कर्तव्य है कि—व्यवहारनयसे निश्चयनयके विषयभूत अखंड स्वभावके समीप पहुचकर निश्चयनयके अवलम्बनसे ऐसी उपासना करो कि सर्वनय पक्ष छूटकर केवल-समस्त सकल्पविकल्प-जालसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभवन रहे।

इति अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमत्सहजानद महाराज द्वारा
जयपुरमे प्रवचन किये गये प्रवचनसार प्रवचनमे पीठिकाधिकार समाप्त हुआ।

प्रवचनसार प्रवचन द्वितीय भाग

एस सुरासुरमणुसिद्ध वदिद धोयाघाइकम्ममल ।
पणमामि वढमाण तित्थ धम्मस्स कत्तार ।।मगलाचरण ।।

शुद्धात्मस्वरूपका वर्णन—परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित प्रवचनसार ग्रन्थकी पहली १४ गाथावोमे मुख्यतासे शुद्धोपयोग, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफलका वर्णन किया था। शुद्धोपयोग समस्त मोहक्षोभसे रहित निर्विकार चैतन्यके परिणमनको कहते हैं और जो ऐसा शुद्धोपयोग रूपसे परिणम रहा है वह है हमारा व्यवहारमे आराध्य आदर्श उत्कृष्ट आत्मा। ऐसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमनेका फल शाश्वत अविचल सत्य सुख है। आत्माका मुख्य स्वभाव चैतन्य है, चैतन्यके परिणमन २ प्रकारसे है—१ सामान्य प्रतिभास अथवा अन्तर्मुख चित्प्रकाश, २ विशेष प्रतिभास अथवा बहिर्मुख चित्प्रकाश। कोई भी गुण दो पर्यायोंसे नही परिणमता। इसलिये जब परिणमन भेदपर दृष्टि दी जावे तो गुण भेदकी दृष्टि अवश्य हो जावेगी, सो अन्तर्मुख चित्प्रकाशकी शक्तिका नाम तो दर्शन समझिये और बहिर्मुख चित्प्रकाशकी शक्तिका नाम ज्ञान समझिये। इन दोनो को चूकि चेतन कार्य दोनो का है इसलिये चैतन्यमे गर्भित किया है। वस्तुत आत्मा अभेदस्वरूप एक अखड सत् है उसके स्वभावका विचार करने पर उत्तर आता है चैतन्यस्वभाव और उसका परिणमन देखने पर मिलेगा परिणमन प्रतिसमयमे एक एक। अब उस अभेदस्वरूपी आत्माको समझानेका उपक्रम किया जावे तो आत्माके अनेक सामर्थ्य और अनेक परिणमन बो बतानेका आवश्यक उपाय किया जाता है। इस उपायको व्यवहारनयसे पर्यायो और गुणोको विविध प्रकारसे समझ कर पर्यायोको पर्यायोंके स्रोत गुणोंमे अन्तर्लीन कर दें और भेदरूप गुणोको एक अभेद-स्वभावमे लीन करदे और अभेदस्वभावको स्वभावी वस्तुमे लीन कर दें, पुनश्च ऐसा पथिक भव्यात्मा सर्व विकल्प श्रमसे दूर होकर मात्र चित्प्रतिभासमय रहकर परम आनन्दका भोक्ता होता है। प्रारभसे लेकर अन्त तक ज्ञान स्वभाव की परिणतियाँ होती रहती है। इन्हीमे ससार, ससारमार्ग और मोक्षके विभाग है—ये सब परिणतियाँ मुख्यतया तीन भागोमे विभक्त कीजिये—१ अशुभोपयोग, २ शुभोपयोग, ३ शुद्धोपयोग। वस्तुत ससार मोक्षकी व्यवस्था श्रद्धा, चारित्रगुणसे है परन्तु ज्ञान विना किसीका कुछ उपयोग सभव नही है, अतः श्रद्धा चारित्र जिसके अन्तर्गत है ऐसे ज्ञान स्वभावकी मुख्यतासे वर्णन होना पडता है। अशुभोपयोग तो इन्द्रिय विषयकषायके परिणाम हैं, वह अशुभराग व द्वेषका अविनाभावी है। शुभोपयोग

देव-भक्ति, शील, व्रत, दान, सेवा आदि धर्मानुरागके परिणाम है। किन्तु शुद्धोपयोग समस्त रागद्वेषसे रहित समतापूर्ण चैतन्यके विकासरूप शुद्ध परिणाम है। ऐसे निर्लेप शुद्धोपयोगको जिन्होने प्राप्त किया है उन श्रेष्ठ आत्माओके स्वरूपका वर्णन चौदहवी गाथामे हो चुका है।

विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभके अभिनन्दनका उपक्रम—अब शुद्धोपयोगके लाभके अनतर होने वाले विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभका अभिनन्दन करते है। अथ (अब) यह शब्द किसी उत्तम बातके कहनेसे पहले प्रयोगमे आता। जैसे दो भाई विवाद कर रहे हो तो कोई कहे देखो जैसा जो कुछ हुआ सो ठीक है "अब तो"। आप सोचिये इसके बाद क्या कहना अभीष्ट है, क्या यह कि अब तो सिर फुटौवल करो, नही। अब तो विरोध छोडो, सगठन करो, शांति करो, क्षमा करो आदि। इसी प्रकार यहाँ शुद्धोपयोगसे विशुद्ध परमात्माके लाभका अभिनन्दन अथ शब्दसे सूचित कर प्रारम्भ करते है। अथवा किसी विशिष्ट श्रमसाध्य कार्य करते हुए बीचमे "अब तो" शब्दसे नया कदम प्रयत्न करनेको सावधान सोत्साह किया जाता है। जैसे अब यह करो बहुत श्रम बाद अब यह करो कर चुकनेके बाद अब यह करो आदि। इसी प्रकार अब शुद्धोपयोगके फलको देखो, उसके बाद अब शुद्धोपयोग मे परिणत आत्माको देखो, अब शुद्धोपयोगसे विशुद्ध परमात्मा स्वभावके लाभका अभिनन्दन करते है। देखो भैया! यहाँ उस परमात्माकी प्राप्तिका अभिनन्दन है जिसके लाभका अभिनन्दन हो, स्वागत हो, प्रतीक्षा हो, उस वस्तुका तो अभिनन्दन कहने से भी अधिक ढगसे गर्भित हो ही गया। इस प्रकारसे श्री अमृतचन्द्र सूरि जी श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यके इस गाथाके प्रारभिक भावको स्पष्ट करते है। अब शुद्धोपयोगलाभान्तर भावि विशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—अब शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके अनन्तर स्वय होने वाले विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभका अभिनन्दन करते हैं।

उवओगविसुद्धो जो बिगदावरणतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पर णेयभूदाण ॥१५॥

उपयोगविशुद्धिका फल—जो उपयोगसे विशुद्ध होकर या चार घातिया कर्मोसे रहित हो जाता है वह समस्त ज्ञेयभूत पदार्थोके पारको स्वय पा जाता है। वह उपयोग कौनसा है जिसके द्वार विशुद्ध होता है वह चैतन्य परिणाम रूप उपयोग है शुद्धोपयोगरूप है, अनादि अनन्त अखड निर्मल शुद्ध चैतन्यके लक्ष्य अनुभवसे जो यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है। यथाशक्तिसे प्रयोजन स्थिरता एकाग्रता जिसकी जैसी है उस प्रकारसे। इस अखड चैतन्यभाव का अवलोकन चौथे गुणस्थानमे हो जाता है परन्तु अविरति भाव होनेसे उसमे स्थिरता नही हो पाती। पचम गुणस्थानमे अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम होनेसे देश-सयम होता है, कुछ अविरति भाव समाप्त हो जाता है अत कुछ स्थिरता होती है। छठे गुणस्थानमें प्रत्या-

ख्यानावरणकषायका भी क्षयोपशम होता है। वहाँ अविरतिभाव नही रहता, वहाँ कुछ ही विशेष स्थिरता होती। आगे प्रमादरहित गुणस्थानमे करणत्रयवर्तियोमे सूक्ष्मसाम्परायमे उपशान्तमोह क्षीणमोहमे अधिक स्थिरता रहती है क्षपक श्रेणीमे उपशान्त मोहभाव नही होता किन्तु क्षीणमोह होता है। इस प्रकार यथाशक्तिविशुद्ध होकर मोक्षमार्गके सफल योगी शुद्धोपयोगकी चरम सीमा पर पहुचते हैं। यह सब उस अखड चैतन्यभावके लक्ष्यका फल है जो अनादिसे हम ही मे है परन्तु उस ओर पर्यायबुद्धिके संस्कारसे रुचि उत्सुकता नही हुई थी। उस भावके समझने के लिये कुछ अध्यात्मोपयोगी नयोका जानना आवश्यक है।

आध्यात्मिकनय विवरण—अध्यात्मदृष्टिसे नयोको सक्षेपसे चार रूपमे रख लीजिये—१ परमशुद्धनिश्चयनय, २ शुद्धनिश्चयनय, ३ अशुद्धनिश्चयनय, ४ व्यवहारनय। यहाँ निश्चय नय और व्यवहारनयको अपने घरू शब्दोमे ऐसा समझिये कि जो उस ही वस्तुमे दिखावे सो निश्चयनय और अन्य द्रव्यके सम्बन्धकी कथा करते हुए उस सम्बन्धमे जो कहा जावे सो व्यवहारनय। अब उन तीनो निश्चयनयोमे यह अपने आप घटा लेना कि निश्चयनयका स्वरूप घट गया या नही। देखिये व्यवहारनयसे ऐसी बातोका प्रतिपादन है कि—आत्माके क्षेत्रमे कर्मवर्गणाका भी सम्बन्ध है, कर्मके निमित्तसे रागादि होते है आदि। अशुद्ध निश्चयनयका विषय अशुद्ध सत्त्व है। जैसे—आत्मामे राग, रागी, अशुद्ध आत्मा आदि। शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय पर्यायका अवलोकन करते हैं परन्तु शुद्धनिश्चयनय तो शुद्ध अवस्थाको और अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध अवस्थाको देखता है। शुद्धनिश्चयनय अखड वस्तुकी श्रद्धा करके गुण गुणको भेदरूपसे भी देखता है। अशुद्धनिश्चयनयके उदाहरणमे यह बात प्रकट होती है कि राग आत्माके चरित्र गुणका विकार है। वह जीवका स्वतत्त्व है, जीवमे वह अशुद्धता जीवके गुणोकी है। उसी वस्तुकी अशुद्धावस्था उसी वस्तुमे बताना अशुद्धनिश्चय है। शुद्धनिश्चयनयके उदाहरण ये हैं—जीवकी सिद्ध पर्याय, आत्माका अनन्तसुख तथा आत्माके ज्ञान दर्शन गुण आदि। यहाँ जीवकी शुद्धावस्था जीवकी कही गई तथा जीवके गुण जीवमे ही बताये गये। अब परमशुद्धनिश्चयनयको देखिये जिसके विषयकी दृष्टि लक्ष्य पर्यायकी निर्मलताका सपादक है। परमशुद्धनिश्चयनय वस्तुके अनादि अनत सामान्य स्वभावको देखता है। वह पर्यायो व भेद विकल्पोको गौण करके ही देख पाता है, धर्मोंको देखता है अभेद रूपसे। आत्माका अनादि अनत सामान्य स्वभाव है चैतन्यभाव। यह निगोद अवस्थामे भी था और सब अवस्थावोमे भी है, सिद्धपर्यायमे भी है। इसके नाम परमपारिणामिकभाव, कारणसमयसार, सामान्य स्वभाव आदि अनेक हैं। समयसारके लक्ष्यमे रत्नत्रय परिणाममे उत्तरोत्तर निर्मलता होती है और अन्तमे पूर्ण शुद्ध अर्थात् कार्यसमयसार रूप हो जाता है। कार्यसमयसार रूप होनेपर भी सामान्य स्वभाव या कारणसमयसार कही नष्ट नही हो जाता है, रहता

ही है, परन्तु सदृश बात होनेके कारण सामान्य स्वभावमे वह विशेष मिल जाता है। उसे अब कारणसमयसार यह संज्ञा इसलिये नही दी जाती कि वे परमात्मा कार्यसमयसार हो गये है, अब उनको कारण या लक्ष्यकी आवश्यकता नही। कारण शब्द सापेक्ष है अतः उनके लिये कारणसमयसार यह संज्ञा भले ही न रहो, परन्तु वह सामान्यस्वभाव है ही। उस भावका लक्ष्य परमसुख रूप है, अनंत सुखका कारण है।

अनुभवनीय अर्थ—इस तरह ज्ञायकके लक्ष्यके अनतर जो पूर्ण निज अनुभव हुआ वह अर्थ अनुभवनीय है, द्रव्य गुण पर्यायका ज्ञान इसके लिये है। मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यके त्यागसे पवित्र बुद्धिसे अपनी पात्रता बनाकर इस ही निज शुद्ध चैतन्य सामान्य स्वभाव रूप भगवानकी आराधना करो। जगतमे कुछ सार व हित नही है। यह ही सार है, हित है। इसलिये उपयोगसे विशुद्ध होनेका प्रयत्न करो, आत्मा अन्य कर ही क्या सकता? जो कर सकता है उन्हीमे सारतत्त्वको बताया है। उपयोग ३ प्रकारके होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। आत्मा भी इनके सम्बन्धसे ४ प्रकारके हैं—अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफल प्राप्त कर लेने वाले। इनमे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यक्त्वी व सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, इनमे उत्तरोत्तर अशुभोपयोगकी मदता है। शुभोपयोगी अविरतसम्यग्दृष्टि देशसयत व प्रमत्तविरत इन तीन गुण स्थानोमें है, इनमे भी शुभोपयोगकी तरतमता है। करणानुयोगकी अपेक्षासे जहाँसे शुक्लध्यान हो वहासे शुद्धोपयोग मानना चाहिये। अध्यात्मदृष्टिमे प्रमादरहित अवस्था होनेके कारण सप्तम गुणस्थानमे शुद्धोपयोगका लाभ दीखता है। इस ग्रन्थके रचयिता शुभोपयोग व शुद्धोपयोगमे अन्तर्मुहूर्तमे परिवर्तन करते हुए थे तभी इनकी वाणीमे शुद्धोपयोगका यह सत्य सदेश निकला। जो चैतन्यपरिणामी इसी शुद्धोपयोगमे रहते है वे समस्त घातियाकर्मोका नाश करके स्वय सर्वज्ञ हो जाते है। उस परम शुद्ध तत्त्वका दृढ, सक्रातिरहित एक अन्तर्मुहूर्तको उपयोग हो तब घातीशक्ति टिक नही सकती, विशुद्ध आत्मस्वभावका लाभ अवश्यभावी है।

एक काम—हमको काम एक ही करना है, अनेक काम नही करने। वह क्या? निज चैतन्य भगवानकी उपासना करना या शुद्धात्माकी आराधना करना, लेकिन उसके साथ कोई भी विकार नही होना चाहिये। आराधना कहते किसे हैं? भगवानकी आराधना निर्विकाररूपकी साधना करना है। जबकि भगवानकी आराधना की जाय तो आत्मामे कोई भी विकार नही होना चाहिये। बडे बडे ऋषि मुनि ससारमे होते हैं वे यही तो किया करते हैं। लौकिकोको दीखता है कि वो अपने शरीरको कष्ट देते है। गृहस्थोको भी उचित है कि लक्ष्य इसी शुद्ध तत्त्वका रखे, इस ही प्रयोजनके लिये सब कुछ कर इन्द्रियोको अच्छे रास्ते पर लगावें। हम हमारी इन्द्रियोसे ही हमारा बुरा भी कर सकते हैं व कल्याण भी कर सकते है।

यही शरीर है, हाथ है, इनसे दूसरोका वैयावृत्य भी कर सकते हैं, अनेक उपकार कर सकते है, इसीसे मोहीजन विषयसेवन करते है। इसमे प्रथम बात तो यह है कि यह सब दोष इन्द्रियोका नही, भीतरी कषाय है। कषाय तीव्र न रहे तो बुरा काम न करें। इसी तरह यह रसना देखो इससे गुणियोंके गुणगान भी कर सकते, इससे मूर्ख लोग गालियाँ देते। नाक तो कोई खास कामकी चीज नही। बेकार ही इसको मुँहके आगे लगा दिया है। लेकिन इससे बिगाड कितना ? अगर किसीको कह दिया जाय कि तेरा तो नाक कट गया तो उसको कितना गुस्सा आता है और वह तुमसे लडनेको तैयार हो जाता है। तो इस नाकसे मनुष्य का बिगाड भी हो जाता है। इसी तरह आँख मनुष्यको लगी है। हम चाहे तो कइयोका भला कर सकते है और यही आँख बुरा भी कर सकती है। इसी तरह जीभ है। इससे भी हम कइयोका भला कर सकते हैं और बुरा भी कर सकते है। ये ही कान हैं जिनके द्वारा अध्यात्मवाणी व तत्त्वज्ञानकी बातें सुन करके अपने हितमे लग सकते हैं और इन्हीसे मोही रागभरी विकथाये रागनियाँ सुनकर आत्माके अहितमे लग जाते है। इन सब बातोंमे भैया हम सबको अपनी बोलीपर अधिक ध्यान देना चाहिये। बोली ही व्यवहारमे मनुष्यका सर्वस्व है।

वाणीका सदुपयोग न होनेसे हानि—जीभसे याने वाणीसे हम कई तरहके दुर्लभ काम भी बडी आसानीसे कर सकते हैं। इस जीभसे कभी ऐसी वाणी नही निकालनी चाहिये जिससे किसी मनुष्यको दुःख हो। जीभसे हमेशा दूसरोके गुणोका वर्णन करना चाहिये। कभी जीभसे ऐसी वाणी न बोलो जिससे दूसरोका और खुदका अहित हो। खराब वाणीसे कई समय दूसरे मनुष्योका नाश हो जाता है। एक लकडहारा और एक शेर था। शेरके काटा लगा, इसलिये उसने अपना पजा लकडहारेके सामने रख दिया। लकडहारा समझ गया कि शेरके काटा लगा है और उसने शेरके पजेमे से काटा निकाल दिया। शेर उसका कृतज्ञ हो गया और उससे कहा कि तुम जो बोझ लादकर ले जाते हो अब उस बोझके लिये मेरी पीठ तैयार है। दूसरे रोजसे उसकी पीठपर लकडी लाने लगा। वह खुद २५ सेर लाता था तो शेरपर दूसरे रोज १ मन लादी, तीसरे रोज २ मन लादी, चौथे रोज ३ मन लादी। इस तरह उसका लालच बढता गया। १५ दिन बाद वह धनवान बन गया। किसी पडौसीने उसे धनवान बननेका कारण पूछा तो उसने कहा कि एक ऐसा गधा हाथ लगा है जो मेरा बोझ लाद लाता है। शेर यह बात सुन रहा था। जब दूसरे दिन वह उसपर लकडियाँ लादने लगा तो शेरने उससे कहा कि तुम अपनी कुल्हाडीसे मेरी गर्दन काट दो। अगर नही काटोगे तो मैं तुमको मार डालूगा। लकडहारेने सोचा कि नही मारूगा तो मैं मारा जाऊँगा। इसलिये उसने जोरसे कुल्हाडीकी धारसे गर्दन काट दी, मगर वह शेर मरता-मरता बोला कि मैं

तुम्हारी कुल्हाड़ीकी धार सहन कर सकता हूं किन्तु तुम्हारी वाणी या वचन जो कि तुमने मुझे गधा कहा मैं सहन नहीं कर सका । इसलिये वाणी कभी खराब नहीं निकालनी चाहिये । इस वाणीसे हमको दूसरोंके लिये अच्छे शब्द निकालने चाहिये । यह वाणी अच्छे कामोंके लिये प्रयोगमें लानी चाहिये । इस तरह हमको हमारी सब इन्द्रियां अपने वशमें रखनी चाहियें ।

अगर हम मन और इन्द्रियोंको वशमें रखेंगे तो हमारा मोह सब दूर हो जावेगा । मोहकी गांठसे मनुष्यका छूटना बड़ा ही मुश्किल है । स्त्री पुरुषका मोह, पिता पुत्रका मोह, भाई भाईका मोह यह सब मोह मनुष्यको मोक्ष-मार्गमें से हटाकर खराब रास्ते ले जाता है । मनुष्य पांच-२ पीढ़ियों तक अपने पोतों, पड़पोतों, सड़पोतोंमें लिपटा रहता है । संसारी जाल में फंसा रहता है । ऐसे मनुष्यका मोह कैसे छूट सकता है ? बल्कि हमारे यहां जब कि मनुष्य के पड़पोते हो जाते हैं और फिर वह मरता है तो उसकी खुशियां मनाते हैं और समझते हैं कि यह तो स्वर्ग जायगा । बल्कि जब वो मरता है तो उसकी चितापर सोनेकी सीढ़ियां बनाकर रख देते हैं कि यह तो स्वर्गमें चढ़ जायगा । मगर यह मालूम नहीं कि ये सीढ़ियां ऊपर चढ़ाती हैं तो नीचे भी उतारती हैं । जो मनुष्य सारी जिन्दगी भर मोहके जालमें फंसा रहा उसकी कैसे आशा की जाय कि वह मोक्ष प्राप्त करेगा ? यहां तो उत्सव भी प्राय मोहमें फंसनेकी खुशीके हैं । देखो प्रायः जितने भी बाजे बजते हैं वे सब मोहके आगमनके बाजे बजते हैं । सगाई हुई तो बाजे, ये किस बातके बाजे ? अब इसके मोहमें फंसने की बात पक्की हो गई । विवाह हो तो बाजे ये किस बातके ? अब इसके मोहमें फंसनेका साधन जुटा दिया गया । अगर किसीके लड़का हुआ तो उसकी खुशीमें बाजे बजेंगे लेकिन यह ख्याल नहीं कि मोहरूपी इस दुष्ट शत्रुके चंगुलमें फंसानेके लिये और कोई सम्बन्धी आ गया । इसलिये ये जितने भी बाजे बजते हैं सब मोहके आगमनके बजते हैं ।

लोकोमे ३४३ घन राजू है। जिसमे मनुष्य १० या १२ कोसकी जगहके लिये मोहमे फस जाता है और अपना आगेका जीवन नष्ट कर देता है। यह मनुष्य भगवानके सामने बैठकर जाप करता है तो भी मोह उसकी गोदमे बैठा रहता है। जैसे कि एक मनुष्य माला जप रहा है। तो गोदमे अपने बच्चोको बैठा रखा है और हाथमे माला जप रहा है। इस प्रकार मनुष्य मोहको तो भगवानके सामने भी नही छोडता है। यदि मनुष्य मोहकी गाठ अपने मनमेसे खत्म करदे तो उसके अपने आप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय ये तीनो खत्म हो जायेंगे और वह सच्चे स्वरूपसे युक्त अनन्तसुखी हो जायगा। नही तो मोहकी गाठ तो पीडा ही देवेगी।

मोहका शल्य—जिस तरह कि पुष्पडाल मुनि तो हो गये, लेकिन फिर भी उनके मनमे मोहने जगह रखी। उनके मनमे यह ख्याल रहा कि मैं मेरी स्त्री (जो कि कानी थी) को कहकर नही आया। वह बेचारी कैसे रहती होगी? कैसे काम करती होगी? इस तरहका मोह मुनि होनेपर भी उनके मनमे रहा। जब वारिषेण मुनिने यह हाल देखा तो सोचा कि इनके मनमे से मोह नही छूटा है। ये अभी मोहरूपी जालमे बधे है। साधु हो गये है मगर ये मोहके ससारमे भटके हुये है। यह भाव देख करके वारिषेण मुनिको दुख हुआ और वह उनका मोह भाव छुडानेके लिये प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अपनी माताको कहला भेजा कि मैं आ रहा हू। तुम मेरी ३२ रानियोको सजाकर अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण पहनाकर तैयार रखना। मा बहुत दुविधामे पड गई कि बेटा तो मोहको छोडकर मुनि हो गया था अब उसे इस मोहने कैसे पकड लिया? लेकिन माताने फिर सोचा कि ऐसा नही हो सकता है उसने खराब भावना रखकर रानियोको नही सजवाया है। वह मोहमे अब नही फस सकता है और उसने रानियोको खूब अच्छी तरह सजाया। उसने उनके लिये दो सिंहासन लगवा दिये। एक तो सोनेका और दूसरा काठका। जब दोनो मुनि आये तो खुद वारिषेण मुनि तो काठके सिंहासन पर बैठ गये और पुष्पडाल मुनिको सोनेके सिंहासन पर बैठाया। मुनियोको स्वय सोनेके सिंहासन पर बैठनेसे राग होता है मगर कोई बैठाये तो पापके भागी नही होते। इतने पर जब पुष्पडाल मुनिने ३२ रानियोको देखा तो उनको ताज्जुब हुआ कि वारिषेण मुनिके ३२ रानिया हैं और वे है भी बहुत सुन्दर, फिर भी इन्हे जरा भी मोह नही और मैं अपनी कानी स्त्रीपर इतना मोह रखता हू। तो उनको बहुत शर्म आई और उनका उस समयसे मोहकी तरफसे ध्यान हट गया। मोहको खत्म किये बिना हम भगवान की सच्चे स्वरूपमे आराधना नही कर सकते हैं। सुखार्थीको किसी भी रूपमे किसी भी चीज का मोह नही होना चाहिये।

निर्मोहताका यत्न—अब तो भैया! ऐसा करें जैसे और लोग पेन्शनर रिटायर वृद्ध

होनेपर तीर्थक्षेत्रमे भजन भक्तिके लिये चले जाते है वैसे अपनेको भी अधिक अवस्था होनेपर सर्वथा मोह छोडकर सत्सग या उत्तम क्षेत्रो पर भगवदाराधनामे जीवन लगाना चाहिये। शेर, सज्जन पुरुष और हाथी इनको अपनी जगहका मोह नही होता, ये अपनी जगह छोड देते है और कौवा, मोही और हिरण ये अपनी जगह कभी नही छोडते है। ये अपनी जगहसे मोह बहुत रखते है। अपनी जगह ही मरेंगे। जैसे कौवा हमेशा अपने ही गांवमे रहता है। कभी अपने गावको छोड कर दूसरे गावमे नही जायेगा। ये लोग भी मोहमे बँधे रहते है। उत्तम पुरुष वे ही है जो अपने घरमे नही मरे। अपने घरकी लकडी अपने न लगवाये अर्थात् मोहके वातावरणमें न मरे। किसी दूसरी जगह जाकर मरे और किसी साधर्मीकी लकडिया लगवाये अर्थात् सहधर्मियोके वातावरणमे समाधि मरण कर अपना मोह बिल्कुल छोड देवें। जहा मनुष्य वृद्ध अवस्थामे पहुचा कि उसको घरबार छोड देने चाहिएँ और जगलमें या सत्सगमे जाकर भगवानका जप करना चाहिये और अपने मोहसे छुटकारा पा लेना चाहिये।

शुद्धोपयोगसे शुद्धप्रसिद्धि—सबसे पहले आत्माको मोहसे छुटकारा पाना चाहिये, इसके बाद धीरे धीरे अन्य सब खराबिया दूर हो जाती है। मोहसे मुक्त होनेका मूल उपाय विशुद्ध चैतन्य स्वभावका ऐसा ही मै हू—यह विश्वास गर्भित लक्ष्य होना है, इस ही मे विशुद्धता पर्याय निर्मलता स्वयं प्रकट होती है तब यह पर्याय कर्मगत सवर निर्जरा पर्यायका निमित्त होता है, इस प्रकार आत्माकी शुद्ध चैतन्य व्यक्ति अथवा भेद रूपसे ज्ञान, दर्शन व शक्तिका घात करने वाले घातित्रयका अभाव हो जाता है। सम्यक्त्व व सुखका घात करने वाले दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयका पहिले ही अभाव हो जाता है। यहा इस शुद्धात्मा की शक्ति अप्रतीघात प्रवृद्ध हो जाती है, सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। यहीं विशुद्धात्मस्वभाव का लाभ है। विशुद्ध ज्ञान होने पर यह इतना ही जाने, ऐसी सीमाका कोई कारण नही है, अत सर्वज्ञेयके ग्रहण (जानना) रूप निज ज्ञान व्यक्तिको रहता है क्योकि आत्मा तो ज्ञान स्वभाव है, ज्ञानका जानना स्वभाव है—कार्य है, जानन अर्थविषयक होता है सो अर्थ—ज्ञेय जितना है उतना ही ज्ञान कहलाता है। इस कारण शुद्ध वस्तुके श्रद्धा लक्ष्य भावना अनुभवन परिणमनके प्रसादसे यह विशुद्ध आत्मा सर्वज्ञेयोको (उपचारसे) निज सर्वज्ञेयाकारोमे रहने वाले ज्ञानस्वभाव वाले अपने आपको पा लेता है। ऐसे शुद्धात्मस्वभावका लाभ, जिसमे कि अनतज्ञान अनतदर्शन अनतसुख अनतशक्तिका अनत सुविलास है शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध होता है।

अब कहते है कि ऐसा शुद्धोपयोगजन्य शुद्धात्मस्वभावका लाभ किसी भिन्न किसी कारककी अपेक्षा नही रखता है, अर्थात् विकास अपनेमे अपने द्वारा अपने लिये अपनेसे अपने

आप प्रकट होता है अर्थात् वह बिल्कुल निज आत्माधीन है, ऐसी स्वाधीनताको द्योतते हैं प्रकाश करते है जगमगाते है। यह जगमगाहट स्वयको पाने पर ही होता है। तब यही सिद्ध हुआ कि आचार्य महात्मा स्वय अधिक्रान्त होते हैं और व्यवहारसे जगत्को प्रकट करते है, निज परम ज्ञान व सुख रच भी परके आधीन नही है ऐसी द्योतना करते हैं—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

इस प्रकार प्राप्त किया है स्वभाव जिसने, सर्वका ज्ञाता सर्वलोक (त्रिलोक) के अधिपति असुरेन्द्र चक्रवर्ती सुरेन्द्रोके द्वारा सादर भक्ति सहित पूजित परमनिर्मल शुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त आत्मा स्वय होता है, इसीलिये यह भगवान स्वयभू है ऐसा वीतराग उपदेष्टावोंने निर्देश किया है।

प्रदेश व ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मविवेचन—निश्चयसे यह ही आत्मा शुद्धस्वभावकी भावनाके प्रभावसे शुद्ध अनन्तशक्ति चैतन्यस्वभावके पूर्ण विकास वाला होता है। इस आत्मामे समभने योग्य २ मुख्य उपाय हैं—१–प्रदेश, २–ज्ञान अथवा चैतन्य। इनमे समस्त ससारियो, सज्ञियोकी दृष्टि वस्तुनिर्णयके समय प्रादेशिकी होती है। चैतन्यभाव की दृष्टिसे सर्व निर्णय करना विरले समाधि प्राप्त महात्माका कार्य रह गया है। प्रदेश दृष्टि–स्थूल दृष्टि है जिससे विस्तारका अनुमान रहता है। चैतन्य दृष्टि सूक्ष्मदृष्टि है जिसमे इस ज्ञेय तत्त्वकी देशकाल की सीमा नहीं होती अर्थात् देशकालसे परे चैतन्यभाव होता है। आत्माका वर्णन जब प्रदेश सापेक्ष होता है तब वह जगद्व्यापी नहीं रहता और चैतन्यस्वरूपका दर्शन रहता है, वहाँ निर्विकल्प स्थिति होती है और वह चैतन्यस्वरूप सामान्यविशेषात्मक होनेसे सामान्यशक्ति अर्थात् दर्शनके द्वारा सर्वदृष्टा तथा विशेषशक्ति अर्थात् ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञाता रहता है, अत वह चैतन्यात्मक परमात्मा सर्वव्यापी है। फिर भी न व्यापी है, न अव्यापी है ऐसा सर्वव्यापी है। उस ही चैतन्य सामान्यका विशेप अर्थात् प्रकाश यह सर्वपरिचित है। सूक्ष्मदृष्टि द्वारा ज्ञेय सर्वव्यापी चैतन्य भगवान्का यह प्रकाश है, इस वर्णनपरम्परासे वर्णन तो मुख्य रह गया और सूक्ष्यदृष्टिके स्थानको प्रदेशमुखी स्थूलदृष्टिने ग्रहण किया, अतः कितने ही अध्यात्मप्रयत्नशील साधुवोंने, विद्वानोंने इसे इस स्वरूपमे समझ लिया कि लोकमें व्यापी एक निर्विकार परमेश्वर है जिसकी छाया अन्त करणोपर पडनेसे और अन्त करणका जीवात्मासे सबध होनेसे उस जीवको सुख दुःखका भ्रम हो गया। सुख दु ख तो अन्तःकरणको होते है।

मनका विश्लेषण—यहाँ तत्त्व समझनेके लिये विकल्प कीजिये कि क्या जीव और अन्त करण क्या ये २ पदार्थ हैं या वर्तमानमे एकरूप है ? यदि ये २ पदार्थ हैं तब अन्त करण ज्ञानमय है या जडी ? यदि जड है तो उसमे सुख दुःखका वेदन नही हो सकता, यदि ज्ञानमय

है तो उसके सुखदुःखका वेदन उसमें ही रहा, यदि इन प्रक्रियावों देखकर जीवने भ्रमवश सुख दुःख किया तो वह सुख दुःखका परिणमन जीवका जीवमें रहा और ऐसी अवस्थामें दोनों पृथक् स्वरूपास्तित्वमय हुए अर्थात् दोनों चेतन द्रव्य हो गये और फिर उनके स्वयं ज्ञानमय होने से पृथक् परमेशकी छायाकी आवश्यकता क्या रही ? यदि वे स्वयं अचेतन हैं तो चेतन की छायासे भी क्या चेतनका काम निकल सकता ? नहीं। इस प्रकार इस सुख दुःखकी अवस्थामें भी यह वही आत्मा है जो इस अवस्थाके त्यागपूर्वक शुद्ध अवस्था प्रकट करके स्वयं परमात्मा होता है। आत्मा तो ध्रुव पदार्थ है, फिर भी प्रति समय अपनी अवस्था रखता है। क्योंकि पर्याय (अवस्था) के बिना द्रव्य नहीं रहता। ऐसा अनंत ज्ञानशक्तिक यह आत्मा निमित्तनैमित्तिक भावकी प्राकृतिक व्यवस्थाके कारण कर्मोपाधिवश समागत रागद्वेषादि रूप अज्ञानपर्यायमें रहता है। रागद्वेषादिक अचेतन बिना मन वाले जीवोंके संज्ञा शब्दसे कहा गया है और मन वाले जीवोंको मन शब्दसे कहा है जो मूर्तिक द्रव्यमनके आश्रयसे जन्य होता है। इस तरह समस्त आत्माकी एक अवस्थाका नाम मन है।

ऐसा स्वतन्त्र पाया है सूत्र भी यही कहता है स्वतन्त्र: कर्ता। शुद्ध ज्ञायक स्वभावसे परिणमता हुआ आत्मा बिना अन्यकी परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है। यह तो शुद्ध आत्मा की बात है। अशुद्ध अर्थ भी बिना अन्यकी परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है। कोई भी द्रव्य अपनी परिणति करनेके लिये किसी निमित्त आदिकी अपेक्षा प्रतीक्षा नही करता है कि मुझे ऐसा परिणमना है सो इसके अनुकूल कोई निमित्त मिल जावे। जो भी बाह्य अर्थ का सद्भावरूप निमित्त हो या अभावरूप निमित्त हो या केवल काल द्रव्य निमित्त हो, निमित्ताभाव तो कभी रहता ही नही सो जैसा निमित्त हो उसको निमित्त मात्र पाकर वस्तु अपने परिणमन स्वभावके कारण अपनी चतुष्टय परिणतिसे ही परिणमता है। यहा विशुद्ध आत्मा परिणम रहा है वह अपने शुद्ध चित्स्वभावसे स्वतन्त्रतया परिणम रहा है, इसलिये विशुद्ध आत्मस्वभाव लाभका अन्य कोई अर्थ कर्ताकारक नही है। प्रत्येक पदार्थोंमे भी जो कार्य होते हैं वह उसकी ही परिणतिसे होते है। बाह्यसे अन्यका कोई परिणमन नही होता। चित्स्वभावका स्वभाव विकास होना धर्म है यही शातिका स्रोत है। यह निर्विकल्प स्व के लक्ष्यसे आविर्भूत होता है। कोई कहे कि मुझे धर्म करना है अत ये दस हजार रुपये मैं किसी जगह लगाना चाहता हू। उस दस हजारके लगानेसे धर्म हो जायगा यह नही है। रुपया तो जड पौद्गलिक है उसकी किसी परिणतिसे उसका ही परिणमन उसकी ग्रहणत्याग अवस्था (विशिष्टदेशावस्थितता) होने से तुम्हारा धर्म नही प्रकट होगा किन्तु धन परवस्तु है, परका लक्ष्य छूटनेसे निज निर्विकल्प परमानदमे जो अवस्थिति है वह धर्म है। धनका मोह छूटनेपर भी जो यह विकल्प रहता है कि इसे किसी अच्छे स्थानमें लगा दू—यह दया या भक्तिसे भरा शुभ राग है जिसकी वेदना मेटनेका यह भी प्रतीकार है। वस्तुस्वरूप ठीक समझकर जो चेष्टा होती वह व्यवहार धर्म है। अन्यथा दस हजार रुपया देकर अपना नाम या कीर्तिका चाह करनेका लोभ लगा लिया तब तो वह कषायका ही सिञ्चन करने वाला हुआ। धर्म चित्स्वभावकी निर्मल व्यक्ति ही है, वह ज्ञायक आत्माके स्वतत्रतया प्रकट हुई है, अत विशुद्धात्मस्वभाव लाभका यही आत्मा कर्ता है।

स्वभावोपलब्धिकी अभिन्नकारकता—यहा यह बतलाया जा रहा है कि शुद्ध उपयोग के लाभके अनन्तर जो शुद्ध आत्माका स्वभाव है, उसका लाभ कैसे होता है? क्या करनेसे होता है, किसलिये होता है, किसमे होता है, कौन करता है, किसको किया जाता है? इनका उत्तर देते हुए बता रहे व बतावेंगे कि मेरे स्वरूपका लाभ—मेरे स्वरूपकी प्राप्ति अन्य पदार्थसे नही होती, अन्य पदार्थके द्वारा नही होती, अन्य पदार्थरूप नही होती, अन्य पदार्थके लिये नही होती है। जगत्के सभी पदार्थ इसी तरह है, सभी अभिन्न षट्कारकमे परिणमते हैं। इस प्रकारका यह चरित्र-वर्णन जो इस बातका द्योतन करता है, प्रकाश करता है सो

क्या दुनियाको देखता है अथवा अपने आपको ही प्रकाश करता है ? यह लाभ अपने आपकी परिणतिसे होता है, अतः अपने आपमे प्रकाश करता है। यह लाभ अपने आपकी परिणतिसे होता है अत. अपने आप ही प्रकाश करता है। यह आध्यात्मिक सतोके वर्णनके अन्तर्भाव है। इसी प्रकार आत्मा भी जब स्वयको ज्ञानमय प्रतीत करता है और वैसे ही बनने को प्रयत्नशील होता है तब शुद्ध उपयोगके उपयोगसे, भावनासे स्वय शुद्ध हो जाता है और वह आत्मा स्वय ही स्वयभू होता है। इस आत्माका नाम स्वयभू है, अत स्वयमे इसमे विकास होता है।

अन्तस्तत्त्व—आत्मा ही स्वय ज्ञान सुखका भण्डार है। भण्डार क्या ? तन्मय है। ज्ञान स्वय ही स्वरूप है। वह अपने द्वारा अपनेमे ही परिणमित होता है। अन्य पदार्थ व लोगो पर जो हमारी दृष्टि रहती है यही हमारे सुखका घात करने वाली है। हे प्रभो ! जगत्के सर्व प्राणी स्वतन्त्र भगवान् है हम भी वही भगवान् है। ये भी—ये भी आप सब ही चैतन्य भगवान् है। परन्तु वह कहाँ है ? निजमे ही चैतन्य भगवान् है। जैसे दूधमे घी है पर विवेक करना है। इस बातको विचारना आवश्यक है। वह देव शक्तिमे—स्वभावमे है। जैसे दूधको बिलोकर उसमे से घी निकाला जाता है इसी प्रकार इसमें भी भेदविज्ञानके मन्थन से और पश्चात् अभेदमें पहुचनेसे वह प्राप्त होगा। बाहरसे तो न घी दूधमे पतीत होता और न जीवमे परमात्मा ही। कहाँ मालूम पडता ? कहाँ निकलता ? वह तत्त्व स्वभावमे है। उसीपर लक्ष्यकर उसीमे लीन होकर देखें तो अनुभव होगा।

देखो भैया ! सब काम असार है, केवल यह समयसार ही सार है। यदि इसही शुद्ध वस्तु रूप समयसारकी चर्चा करेंगे, इसमे ध्यान रखेंगे, सर्वविकल्प छोडकर उस निर्विकल्प परमअर्थ पर एकाग्र लक्ष्यरूप रहेगे तब वह आत्मा शुद्ध लक्ष्यके प्रतापसे शुद्ध हो जायगा। किन्तु आजकल प्रायः लोकोकी दृष्टि मत्र तत्रपर रहती। हाँ चाहे तो हमारी दृष्टि शुद्ध चैतन्य तत्त्वमे जम सकती है। विवेककी आवश्यकता है। लोकमोहमे ही जन्म गमा रहे है, मलमूत्र के शरीरपर बडी रुचि करते है, स्नान करते है, तो घण्टो लगा देते है, देख देखकर हर्षमे फूलते है, इस प्रकार केवल अपने ही विषयमे नही किन्तु दूसरोके भी अधिष्ठित शरीरोको देखकर खुश होते रहते है। वह रूप है क्या ? स्त्री बीमार हुई, पीलापन आ गया कुछ सफेदी हो गई, सुन्दरता झलकने लग गई ऐसा मान लिया। स्त्रीको पुरुषके विषयमे और पुरुषको स्त्रीके विषयमे ऐसा ही लगता है। आत्मशक्ति भूलकर मोही इस मल मूत्र भरे देह मे ही आत्मदृष्टि लगाये रहते है।

निर्मल चित्तमें प्रभुका वास—भैया ! जिस चैतन्य भगवानकी कथा जो यह कही वह देव ऐसे मोही हृदयमे नही रहते। जिनके हृदय मोहसे कलुषित हैं ऐसे हृदयमे ज्ञानभावकी

प्रेरणा नही हो सकती है । एक मेहमानको बुलाते है तो घरकी कितनी सफाई व सजावट करते है कमरेका क्या शृङ्गार करते है और हम भगवानको बुलाना चाहते हैं अर्थात् हम अपने आपही ज्ञानस्वभावमय निज चैतन्य भगवानको अपने हृदयमे बैठाना चाहते है—अपने उपयोगमे लेना चाहते है उस अद्वैत एकस्वरूप निज चैतन्य भगवानको, तो वह अशुद्ध आसन पर विराजमान नही किये जा सकेंगे । वह मोही हृदयमे नही आवेंगे । भेदविज्ञानसे हृदयको मोहरहित करो भगवान तो स्वय ही आ जाते हैं । यह हमारी भाषा है—भगवान् प्रतीक्षा कर रहा है मानो, क्योकि यह ब्रह्म है—ब्रह्म वह है जो अपने गुणोसे बढे । जो अपने ज्ञानको बढाये वह ज्ञानके विकास रूपको पाता ही है । इसके लिये हमको आवश्यक है अपने चित्तको निर्मल बनानेकी । चित्त जैसे निर्मल बने वैसे ही वह भगवान आ जाता है ।

स्वयंका स्वयं साधकतम—भैया ! किसीकी तो चर्चा ही की जाती, यह तो मेरे स्वरूपमे सुखका भण्डार स्थित है । यह स्वय ही अपनी साधकतमतासे अपने-अपने आपको सुखमय देखता ही है । देखो जैसे साँपने कुण्डली बनाई, अपने शरीरकी बनाई, अपने शरीरसे बनाई, अपने लिये बनाई, अपनेमे ही बनाई, अपने आप बनाई । किसी अन्य और वस्तुसे बनाई ही नही है । इसी तरह आत्मा स्वयज्ञानसुखमय अपनेको बनाता है । वहाँ ऐसा नही है कि जैसे कोई लेखक लिखने बैठे तो स्याहीको लिखा, कुटीमे लिखा, कागज पर लिखा, हाथ से लिखा, किसी पुरुषके लिये लिखा आदि । यह तो भिन्न षट्कारकी बात है । आत्माका ज्ञान व सुख परसे प्रकट करने पर नही होता, बल्कि परसे प्रकट करनेकी दृष्टि ही ज्ञान और सुख का विकास नही होने देती । आत्मामें ज्ञान ज्ञप्ति क्रियासे होता है । ज्ञान जो होता है वह दूसरे पदार्थसे—शास्त्र, गुरु, उपदेशक, वचन, दिव्यध्वनि आदि किसीकी परिणतिसे नही होता है । निमित्तमात्रकी बात अन्य चर्चा है । इसका उत्पादक विकासक यह आत्मा स्वय ही है । उत्पादक भी क्या ? आत्मा अपनी पूर्व अल्पज्ञान परिणतिसे हटकर पूर्ण ज्ञानी होता है वह उसीका विकास है । अर्थात्—ज्ञान, ज्ञानके द्वारा, ज्ञानके लिये ज्ञानमे स्वय प्रकट होता है । शुद्ध आत्माका यहाँ प्रकरण है, इसलिये शुद्धआत्माके विषयपर यह कहा जा रहा है । आत्मा की जितनी अवस्थाएँ हैं वे अवस्थाएँ स्वय स्वरूपमे स्वरूपके लिये प्रकट होती है ।

पतितपावनता—हे भगवान् तुम अनन्त सुखी हो बने रहो, अपने स्वरूपगृहमें बैठे रहो । तुम्हारे सुखके सम्प्रदान तो हम है नही, तुम्हारा सुख तो तुम्हारे ही लिये है, आपका सुख मेरे लिये नही हो सकता, पर आपका स्मरण ध्यान करनेकी पर्यायमे आया हुआ जो मेरा परिणाम है उस अवस्थामे स्वय उत्पन्न होता है । जो उसमे सुख है वह सुख मेरे लिये है, आपका सुख मेरे लिये नही है, आपका विपय करके हुआ जो स्मरण ध्यान उसके प्रतापसे स्वय पैदा हुआ जो मेरा सुख वह मेरे लिये है, वह उसमे ही पैदा हुआ है । इसका कर्ता यह ही है

आप कर्ता नही है। यह मेरा ही काम है आपका काम नही है। तुम तारणतरण हो आप पतितसे पावन पवित्र करने वाले हो, इसका अर्थ यह है महाराज। आपका ध्यान करनेसे हम पतित स्वय अपने ज्ञानको सभाल लेनेसे पवित्र हो जाते है। पतितपावन तो हम है परन्तु हमारे पतितपावन बननेकी चेष्टामे जो आप आश्रय विषय ख्यालके लिये रहते हो इतने कारण से आपकी पतितपावन सज्ञा है। पतितपावन भगवान नही, पतितपावन यह आत्मा है। हमे पतितपावन बननेमे हमारे भगवान निमित्त है। उनका ध्यान करनेसे यह पतित आत्मा स्वय पवित्र हो जाता है, अर्थात् अत्यन्त पतित भी आत्मा आपके स्वरूपके ध्यानमय निज परिणति के प्रतापसे पवित्र हो जाता है।

भावविशुद्धिसे उद्धार—बंगालका एक सच्चा किस्सा है। एक द्रोपदी थी, उसके समुराल वालोने उसकी उपेक्षा करदी, सो पिताके घर रहने लगी। पिताने एक बाग बावडी उसकी आजीविकाके लिये भेंट दे दी। वह दुर्भाग्यसे दुराचारिणी हो गई। बहुत दिनोके बाद उसे अपने कल्याणका बडा ख्याल हुआ। पश्चात्ताप करने लगी। चित्तकी शुद्धि बढ़ी। तीर्थयात्राका निश्चय किया। पिताजीसे अपना विचार कहा। तीर्थयात्राकी तैयारी हुई। पिताके लिहाजके वशसे सब लोग पहुचाने गये। तो मुहपर रुमाल रखकर हँस रहे थे—बिल्ली चूहा खाकर हज्ज करने चली। इसके दुराचारके कारण तो बावडीमे कीडे पड गये, आम कडवे हो गये। यहासे तीर्थका ढोग करती तब द्रोपदी बोली कि मै दुराचारिणी थी परन्तु मेरा अब चित्त अत्यन्त विरक्त है, अब मैं तीर्थ धाम जा रही हू। वहा पर भगवानपर मत्र बोलती हुई जलधारा चढाऊगी। जलधारा देते देते मेरी मृत्यु होगी और जावो देखो उस बावडीका पानी निर्मल है व आम मीठे है। वह तो गई, लोगोने बावडीका जल पिया तो बडा मिष्ट, आम मिष्ट। लोग तीर्थपर गये तो जो कहा था वही हुआ। आत्माका अचिन्त्य प्रभाव है। लोग सोचते मैं पापी हू कैसे उद्धार होगा ? अपने स्वरूपको देखो, स्वतत्रता पहिचानो, उद्धार निश्चित है, नही तो ऐसा कौन बचा जिसने पाप नही किये हो, अनतकाल तो इसीमे गया। पापका मूल मोह ही तो है। मोह पर्याय है यह भी एक अवस्था है जिसने अवस्था बनाई वह आत्मा ध्रुव है उससे ही भेदविज्ञानके बाद निजअभेदमे पहुचकर धर्मपर्याय भी हो सकती है।

विषयसाधनोसे अलाभ—जिसने उस निज त्रैकालिक चैतन्य भावको देखा वही आत्मा धर्म स्वरूप हुआ, दुनिया बहुत देखी, दुनिया बहुत छानी, परिवारमे रह कर बहुत मोह किया = आजका परिवार आजसे ही नही मिला, ऐसा परिवार भव भवमे मिला है कोई नया मुख नही है आप कोई नया रूप नही देख रहे आपके कोई वैभव नही है, बडे-बडे वैभव पाये होगे यह तो न कोई चीज है, वैभव पाकर भी सतोप न हुआ अब थोडेसे वैभवसे इतनी ममता रखकर क्यो उस असारको अपनाये रहते है इसका परिणाम क्या ? इसका परिणाम

बूढे हुए तो सोचते यह धर्म जवानीमे और वालकपनमे करनेका है, बुढापेका नही । तीनो धर्म से त्याग दे सकते है और विवेक करें । तो बच्चो ! सोचो तुम बच्चे नही हो । अनन्त कालकी तुम्हारी स्थिति हो गई, अनन्तकालके बडे हो । यह तो देहकी अवस्था है तुम तो बचपनसे हो धर्ममे लग जावो, ज्ञान मात्र आत्माको पहिचानो । जवानो ! सोचो यही तो सभलनेकी आयु है । यही न सभले तो फिर क्या सभलोगे ? वृद्ध भाइयो ! धर्म शरीरसे नही होता शरीर तो पर है । परसे धर्मभाव नही । धर्म अपना भाव है, अपने ही मे धर्म धारण करना है । विवेकी महात्मा अशक्त शरीरमे रहकर भी आत्मानुभवमे ही लगे रहते है । बुढापा है तो शरीर का ही तो है । आत्मा तो अपनेमे है । अब तो आपको वैराग्य होना ही चाहिये । सब देख लिया, राग किया, सब कुछ किया । सब कुछ करते हुए देख तो लिया है, क्या निकला ? कुछ भी तो नही निकला ।

धर्मकी समुपलब्धि—अपने आपकी निज ज्ञायक भावकी दृष्टि जो स्वाभाविक है उस स्वभावपर दृष्टी रखनेसे धर्म होता है, वह सरल सीधे रूपमे ही तो धर्म होता है । लोगोको यह पता है कि आलसी पडा है पर धर्मकी ज्योति जगती रहती है । धर्म कठिन नही है, धर्म अत्यन्त सरल है । पैसा कमाना कठिन है धर्म कमाना कठिन नही है । पैसा परवस्तु है, परद्रव्य है कैसे आवे ? दुर्लभ है, अपनी चीज कठिन नही, धर्म सुलभ है, धर्म सरल है, हमारे सामान्य स्वरूपकी दृष्टि हुई और धर्म पैदा हो गया । पर भाई ! मोहभावके रहने पर तो कठिन ही नही असम्भव है । अपने दिलका किसे पता नही—किसके दिलमे क्या बसा? यदि परवस्तु ही लक्ष्य है तो यही मलिनता है । खुदके दिलका खुद निर्णय कर सकता कि मोह है अथवा नही । भैया ! अब तो भेदविज्ञानके द्वारा अपने को सबसे भिन्न समझ करके आत्माके स्वरूपका निर्णय करके ज्ञानकी सत्य अवस्थाको स्वरूपमे देखते हुए सम्यग्दर्शनकी दृष्टिसे अखण्ड पूर्ण निर्मल अपनेको देखो, ज्ञान स्वय स्वरूपके अनुरूप पैदा हो जायगा । यह जो आत्मा है जिसके शुद्धोपयोगकी भावनासे घातिनी वासना दूर हो गई है, ऐसे आत्माओके बाह्य चमत्कार तो पैदा होते है परन्तु उनपर ज्ञानीकी दृष्टि नही । ससारमे वैभव चमत्कार बनाना जिनका लक्ष्य है वे इसी चक्रमे सुमति खो बैठते हैं । आत्मदृष्टिके बलसे कठिनसे कठिन जो आत्मसिद्धि है वह भी प्राप्त हो लेती है तो उस सन्मार्गके रहते हुए उस सिद्धिके लक्ष्यके प्रभावसे ६३ ऋद्धि पैदा हो जाती है, इसमे कुछ भी आश्चर्यकी बात नही । जब शुद्धोपयोगकी भावनासे केवलज्ञान ऋद्धि पैदा हो लेती है तब ६३ ऋद्धियाँ या अन्य चमत्कारोका हो जाना क्या बात है, लेकिन जगतके चमत्कार पर ही मोही रीझ जाते है । किसी साधु, किसी गृहस्थी या किसी सन्यासीने यदि चमत्कारका काम ले लिया तत्र मत्र का

यह काम ले लिया तो भाई १० मे से ६ बात तो ठीक निकल ही जाती—साधारण लोग की कही हुई भी आधी बाते तो ठीक निकल ही जाती है, अब इसमे जैसा जो इष्ट निकल तो लोगोकी श्रद्धा बन गई। शुद्ध तत्त्वकी श्रद्धाके बिना, बाह्य व्यामोह नही छूट सकता जिन्होने शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे विभावोको दूर किया उसके शुद्ध ज्ञानानन्द प्रगट होत है। शुद्ध चैतन्य भगवानकी सिद्धिमे यह ऋद्धिया स्वय आईं परन्तु इस योगीके लिये य ऋद्धिया कोई महत्वमय रूप नही, ऐसी ज्ञानीके चित्तमे दृढ श्रद्धा है वह तो ज्ञान भावसे ध्यान करता है, विशुद्ध लक्ष्य वालोंके स्वय अनन्त शक्ति चित्स्वभाव समुपलब्ध हो जाते है

धर्मकी स्वयमे समुपलब्धि—समुपलब्ध शब्दमे ३ शब्द है स-उप-लब्ध। यही सम मे मिले तो कहते हैं उपलब्ध, दूरसे मिल जाय तो लब्ध और फिर सम शब्दसे स्वरूप रूप अपने आप ही अपने आपमे पाया सो समुपलब्ध। जिसे निज स्वरूप मिला वह अनन्त सु है। स्वभाव प्रगट होता है अपने आपके लक्ष्यसे। जब नेक वह बाह्यसे देखता तब तक हमा वैभव नही मिलता। जब हम वैभवको बाह्यमे न देखें तो हमारा वैभव स्वय प्रगट होता है हमारा यह कर्तव्य है कि हम बाह्यका लक्ष्य छोडकर विश्रान्ति ले तो सत्य सुख स्वय प्र हो जायगा। स्वयके ही ज्ञानकार्यसे स्वयकी सिद्धि है। शुद्ध अनन्त चैतन्यस्वभावका प्रस यह है कि आत्मामे उसके प्रभावसे कर्म नही आने पाते और शुद्ध सुख प्रगट हो जाता है यह तो परमात्माकी बात है। यहा भी देखो गुरु शिष्यको क्या ज्ञान देता है ? नही। शि अपनी साधकतासे ज्ञान पाता है। यदि गुरु शिष्यको ज्ञान बाँटने लगे तो १०० शिष्योको ज्ञ देनेके बाद तो गुरु खाली हो जायगा, पर होता यह है कि गुरु जैसे-जैसे ज्ञान बाँटता तैसे तै उनका ज्ञानका विकास बढता जाता है, देखा जाता है उल्टा। गुरु तो शिष्यपर करुणा दृ करके शिष्यके आश्रयसे अपने अनुरागके अनुरूप चेष्टासे अपनी चेष्टा करता है पर उस निमित्त पाकर जिस शिष्यकी योग्यता है वह अपने ज्ञानसे ज्ञानी बन जाता है। इसी त कोई किसीको सुख नही देता, कोई किसीको दुख नही देता, कोई किसीको मूरख न बनाता, सब कुछ स्वय बन जाता है। देखो भैया ! अभी किसी बच्चे को हम ऐसा कहे बडा मूरख है, दस आदमी कहे बडा मूरख है, तो ऐसे मूरखपन का असर आ जाता है बच्चोसे सभी कहते है बडा बुद्धिमान है तो निमित्त पाकर स्वय उस बच्चेमे बुद्धिका विक हो जाता है। कोई कहे इसे मूरख बनाया गया तो झूठ है, कोई कुछ नही बनाता। निमित्त जरूर कोई होता है। आपको तो ऐसा निमित्त बनना चाहिये कि दूसरेका उत्क हो। सबसे श्रेष्ठ तो समाधि है, न समाधि रह सके तो ऐसा व्यवहार हो जिससे दूसरोका हि हो। निमित्त भी कोई बननेसे बनता नही है। हा शुभभावसे पुण्य अवश्य बंधेगा, पाप वास

दूर होगी ।

सर्वत्र स्वयका प्रभाव—यदि किसीका गौरव बढाया जावे तो वह महान् बन जायगा किन्तु बाहर निन्दा शब्दको सुनकर मूरख बन जायगा, यहाँ भी अपनी योग्यतासे सब कुछ बना । यदि आत्मा स्वभावदर्शी है, बलिष्ट है तो वह कभी क्षोभ नही करता । किसी आत्माको विरोधी आत्मासे मिलानेसे क्या असर होता है ? असर उसमे ही उसीसे होता है । इस प्रकार से यदि अपने एक अन्तरमे ज्ञायक भावकी भावना की, उसका अनुभव किया तो अनन्त सुख चैतन्यस्वभाव हमारा सुप्रकट होता है । हाँ ज्ञान खुद अपने आप हुआ और नाम निमित्तका होता है । आप ज्ञानस्वरूप स्वयंसे हुए या आपके बाप दादोने कर दिया ? आपके ज्ञानका कोई क्या कर सकता है ? किसीसे मिल करके आप ज्ञानी नही हुए । मैं दूसरोको समझाता हू ऐसा भाव उन्मत्त चेष्टा है पर स्वयकी समझसे स्वयको समझ प्रगट होती है । होता स्वय जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ? जैसे सुख ज्ञानकी बात है वैसी दु खकी बात है । कोई मुझे दुःख नही देता, स्वय ही कषायी होकर दु खी होता हू ।

ज्ञान और आनन्दका स्वयंसे स्वयमे विकास—यह अनन्त चैतन्य स्वभाव इसमे स्वय प्रगट होता है । इसको अपने आपको यदि सुखके मार्गमे रखनेकी भावना हो तो सच्चा निर्णय करके कदम उठाओ । केवल बात करनेमे ही तो कुछ नही होता । बच्चा अपनेको बच्चा न समझे, जवान अपनेको समझे, करनेके दिन है, वृद्ध सब अवस्थाके स्वरूपको जानकर मोहमे से निकले, इस अज्ञानसे कदम हटाकर अपने अनन्य स्वभावमे लगे । परका कोई कुछ नही करता, मात्र अपने विकल्प ही करता है । धर्म कहो, सुख कहो वह तो अपनी ही अवस्थामे स्वय होता । वस्तुका सत्त्व इसी हेतु व्यवस्थित है कि किसीकी भी द्रव्यके गुण किसी अन्य द्रव्यमे उत्पन्न नही होते । इस निर्मल दृष्टिको बनानेमे ही हमारा नरभव सफल है । नही तो अभीका पता नही क्या होना । आयुक्षय कब हो जाय, आयुक्षय होने पर बस फिर अवसर गया । ज्ञानोपयोगी आत्मा जब वस्तुके ठीक ठीक स्वतत्र स्वरूपको पा लेता है और उस अवस्था स्वरूपके बोधको पाकर अपने स्वरूपके महत्त्वको देखता है, परपदार्थका लक्ष्य छोडता है बाह्य पदार्थका उपयोग दूर हो जाता है, ऐसी हालतमे यह जीव स्वय ज्ञानमय हो जाता है । यदि चाह है कि इसको जान, अमुकको जान, ऐसा जाननेकी भी चाह जब होती है तब तक जानना पूरा नही होता और जाननेकी चाह मिट जाती तब जानना ३ लोकका हो जाता है । जगतके जीव दोनो ही को चाहते—ज्ञान और आनद । बडे बडे लोग जिन्होने सब कुछ छोड भी दिया, उपकारमे लग गये तो भी उनके भी ज्ञानकी सनक है, विज्ञानको चाहते है । प्रथम तो वे भी आनदको चाहते हैं । दूसरे कुछ जीव ऐसे भी है जिनकी ज्ञानकी ओर बुद्धि नही तो वे जिन्हे सुख कहते हैं उनको चाहते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका

ज्ञान और आनद सब चाहते है और उत्तम मनुष्य ज्ञान और आनद दोनो चाहते है, फिर भी अतरग अवस्थाके अनुभवमे कहे तब उसके ज्ञान और आनद दोनोकी चाह छूट जाती है । अनुभवके कालमे कोई प्रकारकी चाह नही होती, इस प्रकारके भावसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है । जिन्होंने शुद्ध तत्त्वकी और लक्ष्यकी भावना की, अपने भावकर्मोका नाश किया है उसने अपने अन्दर चैतन्य शक्तिको पा लिया है तो वह चैतन्य शक्तिका स्वय कर्ता है । इस कारणसे कर्ता भी यही आत्मा है, यहाँ शुद्धोपयोगकी बात स्वय स्वरूपकी बात है, शुद्ध स्वरूपको पाने वाला कर्ता स्वयं स्वरूप है । इसी प्रकारसे कर्ताके द्वारा जो भाव अपने आपका अपनेमे अनुभव होता है वह भी स्वय स्वरूप है, भाव कर्म भी यह आत्मास्वरूप है । शुद्ध आनद शक्ति चित्तस्वभाव रूप मन स्वभावके लिये साधकतम यह ज्ञानभाव ही है । ज्ञानके स्वरूपको देखा प्रतीत होगा कि ज्ञानके निज स्वरूपसे ही परिणमन होता है ।

ज्ञानानन्दस्वरूपकी आलम्ब्यता--ज्ञान पाता कौन है, ज्ञान किसलिये पाया जाता है ? जाननेके लिये । जाननेके सिवाय और कोई मतलब नही । ज्ञानके साथ सुख तो है अविनाभावी ही है अर्थात् उसमे सुखका स्वरूप आ ही जाता है । ज्ञानको अभेद विवक्षासे देखो सुख नया कोई काम नही । ऐसा जानना बना रहना यही सुख है यह स्वय निर्विकार स्वरूप है, इसलिये यह जीव अपने इस आत्माको सुखमय ज्ञानका स्वय कर्ता है और यह स्वय कर्म है । इसी तरह न ज्ञान भाव किसीके द्वारा है । स्वय अनत ज्ञानके विपरिणमन स्वभावसे समाश्रियमाण कौन है ? अर्थात् वह किसके लिये हो रहा है ? वह उसके लिये ही है । किसके बलसे यह ज्ञान प्रगट होता है ? पर्यायके लक्ष्यसे कहो—तो पर्याय विकार है । विकारके लक्ष्य से स्वभाव कैसे प्रकट होगा ? यह निर्मल पर्याय त्रैकालिक ज्ञायक भावके लक्ष्यसे प्रगट होती और उसका सम्प्रदान भी आत्मा है । जहाँ स्वभाविक भी पर्याय है वहाँ भी वह स्वयके द्रव्यसे आश्रित है, किसी अन्य द्रव्यके आश्रयमे कोई अन्य द्रव्य नही परिणमता, इसलिये पर्यायके लक्ष्यसे यह शुद्ध स्वभाव प्रकट नही होता । यह शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है भावस्वरूप आत्माके लक्ष्यसे ।

आत्माकी स्वचतुष्टयरूपता--आत्मामे चार चीजें है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । द्रव्य तो कहलाता है पिंड, क्षेत्र कहलाता है उसकी जगह, काल कहलाता है उसकी पर्याय, भाव कहलाता है उसके प्राणवत् स्वभाव । तो आत्मामे जो हम द्रव्यकी दृष्टिमे देखते है— वह यह है, आत्माको क्षेत्रकी दृष्टिसे देखे तो देह प्रमाण है । जब कालकी दृष्टिसे देखते है तो ससार अवस्थामे रागमय है, क्रोधमय है, अज्ञानमय है, इस प्रकारसे देखते है और शुद्ध अवस्थामे अनन्त ज्ञानमय, दर्शनमय है, अनन्त सुखमय है, शक्तिमय है । शुद्ध पर्यायमे शुद्ध देखा जाता है । भावकी दृष्टिसे भाव—आत्मा—चैतन्य प्रतीत होता है । जब हम चैतन्य भावकी दृष्टिसे

देखते है तो, चैतन्य पिंडरूप नही। इस दृष्टिमे सख्या नही, चैतन्य पिंड रूप नही। इस दृष्टि मे सख्या ही नही। पिंड तो द्रव्य दृष्टिसे है। इसलिये चैतन्य भावकी दृष्टिमें पिंड नही। जब पिंड नही वहाँ एक दो तीन चारकी गिनती ही नही है। वहाँ अनंतकी गिनती नही, वह चैतन्यभाव क्या है ? एक भी नही है, एक भी तो सापेक्ष है। वह चैतन्य चैतन्य है उस चैतन्य भावकी दृष्टिमे सख्या उड गई है। चैतन्यभावकी दृष्टिमे ऐसा नही है कि यह इतनी बात है, इतने आकाशको घेरे हुए है, इतना शरीरप्रमाण है। चैतन्यकी दृष्टिमे आत्मा देह प्रमाण नही है। देखो भैया ! जिस दृष्टिकी बात की जा रही है उसके स्वरूपको देखकर अर्थात् उस ही दृष्टिसे निर्भय होकर उसके वितर्कमे रहना चाहिये। तब पता पडेगा कि चैतन्यभावका स्वरूप कैसा है ? वह क्षेत्ररूप नही, मात्र चैतन्यभावकी दृष्टिमें—अनतज्ञान नही अनन्त दर्शन नही। अशुद्ध तो अपने आप निषिद्ध हो जाता है। अनन्त सुख अनन्तशक्ति भी नही, शुद्ध तरग भी नही उस एक भावमात्रकी दृष्टिमे।

अभेदभावदृष्टिमें व्यवहारातीतता—अखडित चैतन्य भावकी दृष्टिमे इस शुद्ध पर्याय रूप हम नही, अशुद्ध भी नही, रागद्वेष भी नही, शुद्ध अवस्था भी नही, फिर कैसा है वह ? चैतन्यभाव जो द्रव्य क्षेत्र काल व गुण भेदकी कल्पनासे परे है किसी सीमा रूप नही। उसका लक्ष्य होने पर पर्यायमे कैसा परिणमन होता है, जिस लक्ष्यके होनेपर उसके उपयोगमे सख्या न रहे ? वहाँ लक्ष्यमे कुछ द्वैत ही न रहेगा और गुणके प्रतिरूप भी विकल्पमे नही रहते ऐसी अवस्थामे यह पर्याय भी कुछ कालके बाद लक्ष्यके अनुरूप हो जाता है, जिन्हे कहते है वह परमात्मा एक है। वह परमात्मा एक किस ही मे है। वह परमात्मा चैतन्यभावकी दृष्टि मे एक है जिस दृष्टिने पिंडको छोड रक्खा है। यह भाव दृष्टिसे वर्णन हो रहा है, वस्तुमे तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव चतुष्टयका यह स्वभाव गुम्फित है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको गौण करके मात्र चैतन्यभावकी दृष्टिको देखते है तो एक ही एक है। एक है यह विकल्प है, सख्याका मूल है, उसे एक भी नही कह सकते, केवल चैतन्यभाव है उस चैतन्यभावकी अपेक्षा चैतन्य भाव है। परन्तु ज्ञान तो भावको भी जानता, द्रव्य, क्षेत्र, कालकी अपेक्षाको भी जानता, हमे क्या-क्या कमसे कम मानना है ? प्रमाणसे जानना तत्त्वको। प्रमाणसे जाननेके बाद निश्चय का अवलम्बन करे, ऐसा दृढ अवलम्बन करे कि निश्चय पक्षसे भी छूट जाय तो फिर, प्रमाण निश्चय व्यवहार तीनोका ही व्यवहार नही रहता, वह अवस्था शुद्ध स्वरूप रहता है।

नयातीत स्वरूप—यहाँ पर आवश्यक है, परम दृष्टि रखनेकी सर्व नयोंसे जानकर सबको ठीक ठोक प्रमाण दृष्टिसे सबके पूर्ण स्वरूप जाने, ऐसा ज्ञानी बनकर फिर व्यवहारका विरोध न करके, निश्चयका ऐसा अवलम्बन लिया जाय कि व्यवहारकी तो बात क्या निश्चय दृष्टि भी छूट जाय, व्यवहार छोडनेकी चीज नही, निश्चय भी छोडनेकी चीज नही। दोनो ही

छूट जानेकी चीज है और प्रमाण दृष्टि भी छूटनेको चीज है । प्रमाण नहीं छूटता, प्रमाण तो ज्ञानको कहते है । सर्वनय सभूहकी दृष्टि छूट जाती है । परमपदमे पहुचनेपर ये आत्मा किसी भी विकल्पको नही करते है । चाहे आत्मा रागी है ऐसा कहे या रागी नही ऐसा कहे वह सब पक्षपात है, इस निर्विकार आत्माके अनुभवमे आनेपर न व्यवहारनय उदित होता है और न निश्चय नय दोनो ही पक्ष है । जहा न नय है, न प्रमाणका विकल्प है और न निक्षेप है और की बात क्या, जिसके अनुभवमे आनेपर, अनुभव होनेकी दशामे और कुछ नही रहता तब देखो जैसा व्यवहार साधन है निश्चयकी दृष्टि साध्य है । इसी तरह निश्चय दृष्टि साधन है और अनुभव साध्य है । व्यवहारकी दृष्टि साधन है परन्तु व्यवहारकी दृष्टि कभी साध्य नही है । इसी तरह इस ओर भी देखें—निश्चयके विपयमे विचारे—निश्चय दृष्टि भी साधन है साध्य नही । अनुभवमे आनेकी बात उपादेय है, इस दृष्टिमें केवल व्यवहार ही हेय नही रहा किन्तु, निश्चयदृष्टि भी हेय हो गई । फिर भी व्यवहार छोडनेकी चीज नही, न निश्चय छोडनेकी । और दोनो ही छोडनेकी चीज नही, ये सब छूट जानेकी चीज है । केवल अनुभव मात्र वह आत्मा है । जैसा कि कोई विद्यार्थी पढे और उसे बी० ए० पास करना है तो लगता है ऐसा कि एफ० ए० तो छोडनेकी चीज है । छोडता नही, परन्तु पढ चुकनेपर वे भी सभी गौण होनेसे छूट जाते, मात्र अनुभव और काम रहता है । अशुद्ध उपयोग हेय है और शुद्धोपयोग हेय है । निश्चयसे स्वभाव उपादेय है ऐसा जब कहा जाता है वह व्यवहारमे ही लिप्त रहने वालेके ही लिये कहा जाता है । व्यवहार छूटनेके बाद निश्चय दृष्टिके दृढ अवलम्बनके ही द्वारा निश्चयका पक्ष भी छूट जाता है तब केवल अनुभव रहता है, इस दृष्टि वालेको जैसे व्यवहार दृष्टि तैसे निश्चय दृष्टि, यह भी ससार है यह दृष्टि भी जैसे छूट जाय वह अनुभवकी दशा है ।

ॐ के आकारमें अध्यात्मसन्देश—देखो ओ३म् बनता है इस तरह ॐ इसमे जो ३ ऐसी गुडेरी है, यह व्यवहारका प्रतीक है । व्यवहार नयसे उलझन होती, ये नाना रूप है, व्यवहारके विषय बहुत हैं, यह भी ३ जैसा है । ३ का अर्थ बहुत है तो यह ३ का शब्द व्यवहार नय को सूचित करता है और उसके आगेमे डण्डाको छोडकर शून्य है यह निश्चयनय का प्रतीक है, जिसमे न आदिका पता, न मध्यका पता, न अन्तका पता, इसमे ओर नही छोर नही, शून्य है । अब व्यवहार व निश्चयनयको जोडने वाला बीचका डडा है यह प्रमाणका प्रतीक है । प्रमाण दोनो नयोको सापेक्ष बताता है । यह डण्डा दोनोको छुए हुए है । परन्तु वह ऊपर वाली अर्धचन्द्रकी कला, वह खाली अनुभवकी कला अब भी यह कह रही है, तुम चाहे जितना ही मिले रहो हम तुमसे बिना छुए ही है । व्यवहार निश्चयनय व प्रमाण तुम तीनोसे हम ऊपर है, यह अनुभव कला है, और अनुभवकला कैसी है कि मेरे इस कलाके

बीच ही वह शून्य होगा, यह शून्य पूर्ण सुखी निर्दोष परमात्माका प्रतीक है। यह शुद्ध आत्मा ही शुद्ध देव है जिसमे कोई भी राग द्वेष आदि दोष नही है वह शुद्ध हो गया। वह क्रोध, काम आदि सर्व दोषोसे रहित है इसलिये शून्य हो गया। ऐसी अनुभवकलाके अन्दर आत्मा प्राप्त होगा। शुद्धपर किया जाने वाला उपयोग रूप प्रयत्न भी हेय है।

उपादेयता—देखो अशुभोपयोग, शुभोपयोग हेय, शुद्धोपयोग न हेय न उपादेय किन्तु शुद्धोपयोगका फल उपादेय है। अहो उपादेय नही उपादान है, उपादेय कुछ भी नही है। उपादान क्या है, उपादान, अर्थात् ग्रहण वह शुद्ध ही है, तब हेय कुछ नही है, उपादेय कुछ नही है। ज्ञानका जैसा स्वरूप है उसका लक्ष्य रखो जो कोई हेय है वह छूट जायगा और जो उपादेय है वह मिल जायगा। वहाँ कोई न हेय रहता, न उपादेय रहता, किन्तु शुद्ध दशामे यह उपादान रहता है। उपादेयके मायने ग्रहणके योग्य वह व्यवहार ग्रहणके योग्य नही रहता, ऐसा सुनकर जैसा निश्चयावलबी व्यवहारको छोड देते है उसी तरह व्यवहारावलबी निश्चयनयसे छूट जाते हैं। कहा क्या छूट जाता है? इसका निर्णय ठीक करो, जो निश्चय नही जानते है वह व्यवहारको ही उपादेय कहते हैं। उन्हे व्यवहार हेय कहकर निश्चय नयके विषय पर प्रेरणा की है। निश्चितनयमे पहुचनेपर निश्चयनय भी छूट जाता है। इसलिये भैया एक बार इस निज तत्त्वको देखो, देख लेने पर भ्रम नही रहता, उसका मार्ग ठीक आ जाता है। क्या कारण है? अपने आप आ जाता है। हाँ रागके प्रयोगमे दृष्टि उसके निर्विकार विकल्परहित देवकी रहती है। समयसारमे लिखा है जीवके कर्म बद्ध है ऐसा माने वह भी पक्षपातमे पडता है और कर्म नही बधे ऐसा माने वह भी पक्षपातमे पडता है। दोनो ही अनुभव दशाको नही आ पाते। यदि ऐसा विचारा है कि जीवके राग है तो भी पक्षपात रहा और राग नही तो भी पक्ष है। निश्चयका पक्ष छोडा तो व्यवहारपर पक्ष किया, व्यवहार पक्ष छोडा तो निश्चयपक्ष किया। दोनो पक्षपातोसे रहित अवस्था अनुभव ही है। प्रमाणित ज्ञान होनेके बाद भी कोई दृष्टि बनी रहे कोई हानि नही, परन्तु जब अनुभव करो, तब सब प्रकारकी दृष्टिसे अतीत होकर शुद्धता अनुभव हो जाती है। यह शुद्ध स्वरूपकी स्वतन्त्रता है वह शुद्ध स्वरूप उससे पैदा उसने किया या किया क्या? उसके द्वारा हुआ, उसमे हुआ उसकी ही एक अवस्थासे होकर दूसरी अवस्थामे आनेको हुआ, ऐसा स्वरूप अवस्थाकी स्वतत्रतासे हो गया, इस प्रकारकी निश्चयनयकी दृष्टिका अवलम्बन होता है फिर निश्चयनयकी दृष्टि ही हट कर जब अनुभव दशामे गये और उसमे स्थिर रहे तो उसके शुद्ध स्वभावकी अवस्था स्वयमेव हो गई।

आश्रयका उत्तरोत्तर परिहार—भैया! अब जरा अपनी ओर तो देखो सब अवस्थाओ मे कहाँ क्या होता? बच्चा पैदा हुआ अब उसको करनेकी चीज क्या है बडा हुआ तब मदिर

चलो, दर्शन करो, पूजा करो और बडा हुआ ज्ञान हुआ। ज्ञान होनेपर दृष्टि परपदार्थकी ओर रखी और समझा हितस्वरूप यह ही है। उस पदार्थके स्वरूपमे इतना अनुरागी हुआ कि व्यवहारसे गिरकर भी उसका व्यवहार बना रहा कि जैसा करता था कर भी रहा, परन्तु दृष्टिमे तत्त्व न पाया। जैसे वे व्यवहारको करते थे, उसमे उत्तम सशोधन नही हुआ। कुछ ज्ञान होनेपर निश्चयतत्त्वमे स्थिरता होने लगी, वहा भी व्यवहार चल रहा है परन्तु व्यवहार हमारा कारण ही है—यह भी अंतरगमे कल्पनाश्रद्धा नही रही। तत्त्वके स्वाद होनेपर उसके चित्तमे विषयवासना नही रहती गृहस्थ अवस्थामे। ऊपर तो सवाल ही क्या ? इसलिये यह सब झझट छोड देना। मैने अपने स्वरूपको समझा अब घरके रहनेसे क्या प्रयोजन ? परिवार से क्या प्रयोजन ? कुछ भी मेरा आत्मलाभ इसमे नही है, इस झझटसे आत्मामे स्थिर नही रह पाता, इस गृहस्थकी आगसे वह बचता है, उसको त्यागकर साधु हो जाते है वहा भी सूक्ष्म व्यवहार निमित्त आदिके चलते है। वह सब सूक्ष्म व्यवहार रह गया वहा भी ज्ञानी की दृष्टि नही है मात्र ज्ञायकभावपर दृष्टि है। इसलिये शुरूसे अन्त तक ज्ञानी होने वाला यही करता है। जब एक निश्चयनयकी दृष्टिका स्वावलम्बन लेता है तो वहा सुज्ञात किया हुआ वह चैतन्यस्वभाव सम्यग्दर्शनका विषय है, निश्चयनयका विषय सम्यग्दर्शन नही, वह खडित परम आत्मा है, तब देखो भव्य सम्यक्त्वानुभवमे निश्चयनयकी भी दृष्टि छोड देता है—जैसे व्यवहार नही छूटता व्यवहारनयकी दृष्टि छूटती है, इसी तरह निश्चयनयकी दृष्टि छूट जाती है। इस तरह व्यवहार दृष्टि भी छूटी निश्चयदृष्टि भी छूटी तब परमपदका अनुभव हुआ।

निजनिष्पन्नता— यह प्रकरण स्वय सिद्धिका चल रहा है। वस्तु आत्मस्वभाव वाले स्वय ही हैं उनमे जिनमे विकास हुआ है ? वह तत्त्व स्वय हुआ है उसको करने वाला भी स्वय जो हुआ वह भी स्वय, जिसके द्वारा हुआ वह भी स्वय और जिसके लिये वह भी स्वय, जिसमे हुआ वह भी स्वय। वस्तुकी स्वतत्रताका कहाँ तक दर्शन किया जाय ? यह शुद्ध आत्माकी बात है, लो लौकिक दृष्टान्तको भी देखो तो स्वय ही स्वयका मूल है, दर्पण है—दर्पण अपने स्वपके प्रतिबिम्बके लिये किसी वस्तुकी प्रतीक्षा नही करता, जो सामने चीज आजाय वह चीज अपने चतुष्टयसे आई, दर्पण तो अपने ही चतुष्टयसे अमुकरूपमे परिणमित हो गया। इस वस्तु के प्रतिबिम्बरूपमे परिणमन किया यह दर्पण अपनेसे ही परिणमता है। कल्पना करो; यदि वह सामने चीज न हो तो दर्पणको यह घबड़ाहट नही कि अब कैसे परिणमन हो ? वस्तु है द्रव्य है उसका परिणमन करना स्वभाव है, परिणमता ही रहता है। अमुक सामने उपस्थित है तो अमुक रूप परिणम जाय और अमुक रूप है तो और रूप परिणम जाय कुछ न हो तो अपने आपमे ही स्वच्छरूप परिणमता रहेगा। दर्पणका परिणमन कितना स्वतत्र है दर्पणके स्वरूपमे लेकर देखो दर्पणकी पर्याय अत्यन्त स्वतत्र है। इसी तरहसे अशुद्ध अवस्थामे भी य

आत्मा परिणमनमे अत्यन्त स्वतन्त्र है। अनन्तकालसे भावकर्मसे मलीमस यह आत्मा अपने परिणामके व्रतके लिये चल रहा है, परिणमन इसका कभी समाप्त नही होगा। आये हुए कर्म वे ही अपने स्वरूपसे आत्माको लपेटकर रागी नही बनाते। कर्म उदयावस्थाको प्राप्त होता है। इसकी उपस्थितिमात्रसे यह आत्मा अपनी विभावपरिणतिसे परिणम कर खुद रागी बनता है यदि लोभमय अशुद्ध परिणमन है वह। इसी तरह क्रोधादि परिणमनोमे भी ऐसी ही स्वतन्त्रता समझनी चाहिये।

लोकेषणाके परिहारसे साम्यप्राप्तिका अनुरोध—यह सब परिणमन होता है अपने स्वरूपसे। एक वजनदार वस्तु ४ आदमी उठाते हैं, उन चारो आदमियोमे जो शक्तिका परिणमन होता है उन चारोका उनका उनमे ही होता है, हर एकका कार्य हर एकमे, हर एकके सम्बन्धमे भी उसीमे होता है। किसीका कार्य किसी वस्तुमे नही होता और न किसी वस्तुके द्वारा होता है। यह बात अशुद्ध अवस्थामे भी मौजूद है, तब जो शुद्ध अवस्थामे होने वाले केवली है, वे अपने स्वभावसे ही स्वभाववाले हैं व ज्ञानी भी। क्या वे सिद्ध लोकमे पहुचे इसलिये शुद्ध हो गये, उनका स्वरूप क्या देव देवता पूजने आ गये इसलिये शुद्ध हो गया? या नये कोई गुरु आदिके कारण इनका स्वरूप शुद्ध हो गया अपने आप शुद्ध हो गया। यह चैतन्य भगवान जिसमे परिणमन भी हो रहा जिसमे अतरगभाव पर्यायमे आ रहा, इस तरग का आधारभूत जो ध्रुव तत्त्व है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है, इसका ही लक्ष्य किया जाय वही हमारा सब कुछ रह जाय तो इस आत्माको स्वयभू और स्वतन्त्र बननेमे फिर विलम्ब नही होगा।

सहजानन्द गीतामे एक साम्यका प्रकरण हो, उसमे अपनी पर्याय बुद्धि हटनेके लिये प्रथम ही प्रथम यशकी चाह पैदा न हो, इसलिये वर्णन है। कहा कि देखो भाई तू यह चाहता है कि मेरी कीर्ति दुनियामे बहुत फैल जाय परन्तु तुम्हें याद है यह दुनिया कितनी बडी है? ३४३ घनराजू है। तेरी बातके फैलाव कितनी दूरमे हो पाते हैं तू अदाज कर, ३४३ घनराजूके सामने मानी हुई १०००० मीलकी यह दुनिया कितनी बडी चीज है, न कुछके बराबर चीज है। इतनेमे ही मोह रखकर तू अपना बिगाड क्यो करता है? तू यश चाहता है कि मेरा यश रहे, पर बस सदैवका काल कितना बडा है, अनन्तकाल बडा है जिसका कभी अन्त नही आ सकता। यदि तेरा यह अनतकाल रह सकता है तो कर, परन्तु केवल कल्पना किया हुआ यश किसीका ५० वर्ष व १०० वर्ष भी कभी रह जाय, कोई गुण गाय, फिर तो नष्ट हो ही जाता है, सदैव रहने वाली चीज तो नही, तो फिर थोडे समय को ऐसी न टिक सकने वाली चीजसे मोह करके अपने ज्ञान दर्शनको क्यो बिगाडते? लोग यह चाहते हैं कि सारे जीव मेरा यश गायें, ये सारे जीव कितने हैं अनन्तानन्त हैं, १०० ने यश गा दिया, एक

लाखने गा दिया तो उस समस्त अनन्त जीवोके मुकाबिले यह सख्या कितनी है; थोडेसे लोकमे वह मोह रखकर ज्ञान दर्शन स्वरूपका ध्यान क्यो करता है और फिर जो यश यह है वह स्वय अनित्य है और जिस घटनाको पाकर यह होता है वह घटना भी अनित्य है और यश की चाह भी अनित्य है तब यश की चाह क्या हुआ ? अनित्य अनित्यमें अनित्यको नित्य बनाना चाहता; यह पता नही उसका कितना समय शेष है ? जिन लोगोमे यह चाह है वे भी अनित्य; जो चाह करता वह अनित्य है, जो चाह है वह भी अनित्य है। इस चाहकी तरफ वह घटना अनित्य है। अब देखो अनित्यमे अनित्य, अनित्यको नित्य बनानेका प्रयास करना चाहता है जो कि असम्भव है। इस तरहसे विरक्त होकर वस्तुके स्वरूपको अपनी श्रद्धामे उतारकर व्यवहारमे क्या पड रहा, उसका ज्ञाता रह।

निजके लक्ष्यसे स्वयंभुपदलाभ—हे भाई ! अपनी श्रद्धामे अनन्त वस्तु स्वरूपको ठीक समझकर निमित्तको गौण करके खुदको तो देख। अपने पथका अपने आपमे निर्णय करना विवेक है, परपदार्थका लक्ष्य ही हमारी परतत्रता है, जो स्वयभु हुए उन्होने क्या किया—अपनी उपादान शक्तियोके प्रबल होनेसे, अपने ही निज ज्ञानभावका आह्वान किया, अपने आपमे ही लीन होनेका प्रयत्न किया। बाह्य जो कुछ भी है, माता पिता पुत्र सम्पदा मकान आदि जिनके सम्पर्कमे गृहस्थ जिनसे मोह करके, धर्मके ख्यालके लिये अवकाश नही पाता, ऐसे बाह्य पदार्थका लक्ष्य न रखकर केवल निजी ज्ञानभावका लक्ष्य रखें, चैतन्यभावका लक्ष्य रखें जिसमे यह भी पता नही पडे कि क्या किस जगह है ? किस रूपमे है ? कहाँ है ? केवल चैतन्यभावके अनुभवमें उस शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रसादसे घातिया कर्मके नही होने से यह स्वयभू पद पा लिया जाता है।

ज्ञानलाभका सम्प्रदान, अपदान और अधिकरण—कल यह बातचीत चल रही थी कि यह शुद्ध अनन्तशक्तिमान का ज्ञान किसके लिये है ? खुदके लिये। यदि कोई ज्ञानी बनता है तो फल क्या है ? जानना, जाननेका फल जानना है, जो जाननेका फल और कुछ चाहना है—यही ससार है, जाननेका फल जानना ही है यह तो मोक्षमार्ग है। जो जानने का फल, जाननेके अतिरिक्त अन्य कुछ चाहता है, बस इसके मायने मोहका मार्ग है, इसलिये शुद्ध आत्माका जो ज्ञान है उसका फल जानना ही है, सम्प्रदान–प्रयोजन ज्ञान ही है, आप ही अपादान कारक है। जब यह जीव शुद्ध अनन्त शक्तिमान ज्ञानके परिणमनमे था उस समयमे उस की क्या दशा हुई कि पहिले जो विकल्प ज्ञान था, पहिले जो अन्धेर ज्ञान था उस अन्धेर ज्ञान स्वभावका तो विनाश हुआ और सहजज्ञान स्वभाव रूपसे वह रहा, इस लिये अपादान बन गया। वृक्षसे पत्ता गिरता है, यह अपादान कारकका उदाहरण है। अपादान उसे कहते है जो किसीका विनाश या वियोग हुआ और कोई चीज ध्रुव रही तो ध्रुव रहने वाली चीज अपा-

दान कहलाती है। पत्तेका नाश हुआ, वृक्ष ध्रुव रहा, उसी जगहे खडा रहा, इसलिये अपादान कौन कहलाया ? वृक्ष कहलाया। वृक्षसे पत्ता गिरता है, वृक्षसे यह अपादान कारक है तब पचमी विभक्ति है। इसी तरहसे जब ज्ञान शुद्ध होनेको हुआ तो सहज ज्ञानस्वभावसे प्रकट हुआ। चीज हुई क्या ? सिद्ध अवस्थामे उस आत्माके सहज ज्ञानस्वभावमे से पहिले जो विकल्प ज्ञान स्वभावकी तरग निकल रही थी वह अधेर ज्ञान स्वभावकी तरग भाग गई विनष्ट हो गई, विलीन हो गई। तब सहजज्ञान ध्रुवका ध्रुव रह गया, इसलिये शुद्ध आत्म-स्वभाव होनेसे आत्मा ही उपादान है। इसी तरह अधिकरण कारकको कहते हैं। जब शुद्ध अनत सूक्ष्म ज्ञान अपना सहज स्वरूपका, परिणमन कर रहा है उस समयमे उस ज्ञानका आधारभूत क्या है ? आपने उत्तर पा लिया होगा, उस ज्ञानका आधारभूत वही ज्ञान है इस लिये शुद्धज्ञानका अधिकरण (आधार) अन्यत्र कही नही, आत्मा है।

षट्कारकताकी पद्धति—सारांश यह है कि आत्माने आत्माको आत्माके लिये आत्मा के द्वारा, आत्मासे आत्मामे पा लिया। व्यवहारमे तो भिन्नपट्कारकका प्रयोग होता है। जैसे एक कुम्हारने दड चक्र आदिके द्वारा मिट्टीके लोदेसे मनुष्यके उपयोगके लिये अपनी कुटीमे घडे को बनाया। कुम्हारने यह तो कर्ता हुआ, घडेको यह कर्म हुआ। दड चक्रके द्वारा बनाया वह करण हुआ। लोगोके उपयोगके लिये यह सम्प्रदान हुआ और मिट्टीके लौधेसे बनाया, यह अपादान भी भिन्न हुआ और अपनी कुटीमे बनाया तो उसके कामके जैसे कारक जुदा-जुदा हैं वैसे अपने धर्म कर्मकी अवस्थामे कारक जुदा जुदा नही होते। यह आत्मा ही धर्ममय आत्माको धर्ममय रहनेके लिये धर्मस्वभावसे ही, धर्ममय आत्मामे ही पा लेता है। यहा अभिन्नषट्कारक कहनेका प्रयोजन यह है कि अपने धर्मभावको पैदा करने के लिये परपदार्थ को मत ढूढो, वह अपने आपही आपमे मिल जायेगा, इसका प्रयोजन यही है। जिनके अपने धर्मका अपने आपमे श्रद्धान् नही, उनके केवल बाह्य बुद्धि ही रहती है। चलो तीर्थमे धर्म ढूढेंगे मदिरमे धर्म लेंगे, गुरुसे धर्मका मार्ग मिलेगा, पुस्तकसे धर्मका ज्ञान मिलेगा, बाह्य पदार्थमे भीतरके उपयोगमे न रहकर उपयोग रखता है। मोही क्या करते है, बाह्य ही का लक्ष्य रखते है, भीतर रीता रह जाता है सो धर्मस्वभाव पैदा नही होता, परन्तु धर्मके इस रहस्यको जानने वाले उसी तीर्थमे अपने स्वरूपमे बैठकर अपने स्वरूपमें अपने धर्मका विकास कर लेते हैं और देवमूर्तिके समक्ष बैठकर अपने आपमे इस निज धर्मको पैदा कर लेते है। मदिरमे बैठ कर गुरुके समक्ष बैठकर अपने धर्मकी परिणतिसे अपनेमे धर्ममय आत्माको पा लेते हैं। दर्पण मे जो पदार्थका प्रतिबिम्ब हुआ वह दर्पणमे अपने आपसे हुआ या बाह्य पदार्थकी कोई परि-णति मिला-जुलाकर हुआ दर्पणका रूप दर्पणके रूपका प्रतिबिम्ब है। यह स्वयकी चीज चल रही है।

निज कारणका अवलम्बन—जैसे कल कहा था कि शुद्धोपयोग न हेय, न उपादेय, शुद्ध स्वरूप उपादेय भी, किन्तु शुद्धस्वरूप उपादेय भी नही, शुद्धस्वरूप उपादान रह जाता है वह तो उपचार व्यवहार अशुद्ध निश्चय, शुद्ध निश्चय प्रमाण और इन सबसे अतीत परम पद है। इतनी भूमिकाओको आश्रय करके वस्तुको स्वरूपका निर्णय करना। जिस जगह जाकर जिसका निर्णय करें उसी जगहका निर्णय कर उस जगहकी उसकी बात देखो—स्वयभु आत्माके स्वरूपका वर्णन चल रहा है। इस आत्माकी स्वतत्रताको देखो, इस स्वतत्रताको लेकर खूब विचार करो—आत्मामे जो कारण निकाला, जिसने अनतानत पर्यायोको उत्पन्न करके भी अपनी ध्रुवता नही छोडी, उसही स्वभावसे स्वतत्रतया, अन्यकी परिणति न लेकर पर्याय उत्पन्न होती है। भगवान सर्वज्ञदेवके यह केवलज्ञान स्वभावको कारणतया ग्रहण करके स्वय ऐसा ज्ञान हो गया। हमारा भी खुद उस ज्ञानसे ही परिणाम हो गया है। इस जगतमे भी उस विभाव अवस्थाके स्वय स्वरूपको देखकर निर्णय करें तो उस अवस्थाका परिणमन भी उस वस्तुमे ही हुआ, परवस्तुसे हुआ नही।

समवशरणमे भी स्वके आलम्बनसे उद्धार—समवशरणमे भी बैठा हुआ भव्य जीवमे सम्यग्दर्शन हुआ वह भगवानका नही क्या, भगवान सम्यग्दर्शनको निकालकर भव्यजीवमे कर देते है ऐसी बात है ? देखो वस्तुके स्वरूपकी स्वतत्रताका विचार है, होता क्या है, वह भव्य जीव अपना ही प्रयत्न करता है। वहाँ दिव्य ध्वनि सुनता व उसका विचार करता है। उस ध्वनिको सुनकर या गणधरके उपदेशको सुनकर अपने आप उन बातोकी कोशिश करता है, भगवान का उपदेश था—जब तक तुम हमारा भी लक्ष्य रखोगे, सम्यक्दर्शनका अनुभवन पा सकोगे। बतलाया कि जब तक तुम सूक्ष्म भी विकल्प रखोगे तब तक सम्यक्त्वकी अनुभूति न होगी। सर्व कुछ निर्णयके बाद और इसके निर्णयके बाद वह समस्त लक्ष्यसे दूर हो जाता है उसके तब सम्यक्त्वकी अनुभूति होती है। उसमे समवशरण या भगवानकी पर्यायि व गणधरदेवकी पर्याय आदि कोई आश्रय नही, उसके उस परिणामका आश्रय भगवान भी नही, उसके उस परिणामका आश्रय गणधर देव भी नही, उसका और कोई भी आश्रय नही होता है। इससे आपको मालूम हुआ होगा कि प्रत्येक द्रव्यकी कितनी स्वतत्रता है परन्तु इस स्वरूप को न जानकर जगतमे मोही जीव यह कल्पना करता है कि मैने इसको बनाया, मैने इसको पाला, मैने इसको बडा किया और यही कारण है कि यह मनुष्य इस कुमतिमे रहकर जीवन की अतिम सास तक भी दुःख ही दुःख पाता है।

प्रभुकी आज्ञाके पालनकी भक्ति—हम भगवानकी पूजा तो करते हैं, भगवानकी भक्ति करते है पर भगवानकी एक बात माननेके लिये कदम नही उठाते। भगवानकी असली भक्ति उनकी आज्ञा माननेमे [illegible] उनकी यह आज्ञा [illegible] कि जैसा वस्तुका स्वय रूप है वैसी [illegible]

करो, कोई पदार्थ किसी पदार्थके आश्रित नही है । आत्मामे राग भाव होता है पर आत्माका वह राग भाव कर्मके परिणाममे नही होता है । कर्मके परिणाममे कर्मका परिणमन ही है, हा अशुद्ध उपादानके समक्ष कर्मका उदय निमित्तमात्र है जिससे तब वह रागभाव तुरन्त ही अशुद्धोपादानके आश्रयमे विकास पाता है । परन्तु यह जगतकी खासियत है कि वस्तुके अशुद्ध पर्यायका विकास होता है उस कालमे बाह्यमे कोई अन्य वस्तु उपस्थित होती है जिसका निमित्त पाकर उस उपादानमे रागादिकी परिणति आत्माकी सर्वपरिणति आत्माके क्षेत्र काल भावसे ही होती है । यह वस्तुस्वरूपका वर्णन है । फिर एक दृष्टान्त लो, दर्पणमे यदि नीली चीजका प्रतिबिम्ब हुआ तो यह बतलाओ कि दर्पणके अतिरिक्त किसी अन्यकी परिणतिसे है ? दर्पणके जो रूप रस गन्ध स्पर्श है उनमे से रूप गुणका परिणाम वह नील है, दर्पणका परिणाम यह नील है । बाह्य वस्तुको निमित्तमात्र पाकर अर्थात् बाह्य वस्तुसे कुछ न मागकर यह दर्पण अपने ही आप परिणम गया अर्थात् बाह्यवस्तुका निमित्त पाकर बाह्यसे कोई चीज न मागकर यह दर्पण अपने गुणसे अपने आपमे उसरूप परिणम गया । आप कहोगे इस जगह से यहाँ निमित्त हटाकर रख दिया तो अब कैसे परिणमन करेगा ? भाई ! परिणमनके लिये कोई प्रतीक्षा नही करता । जब जैसा योग हो वैसा परिणम जाता है, वह वैसा अपने स्वरूप से अपने आपही इस प्रकारसे निमित्तमात्रको पाकर उस अवस्थामे अपने आप अपने मे षट्-कारकोको लेकर परिणमन होता है, बाह्यवस्तुका कोई अश किसी अन्य पदार्थमे नही जाता, यह वस्तुकी स्वतत्रता है ।

उदाहरणपूर्वक स्वयभुताका विवरण—यह शुद्ध आत्मस्वभावका प्रकरण चल रहा है । शुद्ध अनत शक्तिमय ज्ञानके परिणामके स्वभावका आधार स्वय ही ज्ञानमय आत्मा है इस लिये यही आधार हुआ—स्वय ही षट्कारक रूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पत्तिकी अपेक्षासे द्रव्यकर्म भावकर्म इस प्रकारसे दो प्रकारके जो घातिया कर्म हैं उनको दूर करके स्वय ही आविर्भूत होनेसे वह भाव स्वयभू कहलाता है । इस आत्मस्वभावको टकोत्कीर्णकी उपमा दी है । एक बहुत बडा पत्थर है, पत्थरमे एक बालिस्तकी प्रतिमा निकलती है तब वह कारीगर को कहता है । कारीगरने देखा जैसा कि यह चित्रमे है या अमुक मूर्ति है, इसी तरहकी मूर्ति बनाता है । उसने उस मूर्तिको देखा जो पहिलेसे बनी हुई थी, उसमे मूर्तिको देखकर उस कारीगरके हृदयमे उस मूर्तिका पूरा रूप आ गया, अब उस मूर्तिको छोड दिया, वह आकार हृदयमे ज्ञानमे आ गया उसे यह श्रद्धा हुई कि मुझे यह बनाना है तो उसको उस दो हाथके लम्बे चौडे पत्थरके बीचमे वह प्रतिमा दिख रही है जैसा कि उसे बनाना है । उस पत्थरके बीचमे वह प्रतिमा देख रहा है । यदि न देखे तो वह प्रतिमाको बना नही सकता, सारा पत्थर ही बिगाड़ देगा । टाकीको यहाँ वहाँ अट्टसट्ट क्यो नही लगाता, वहाँका ही पत्थर क्यो निकाल

रहा है ? उसके बीचमें मूर्ति दिख रही है, इसके आवरक पत्थर ही वह टाकीसे उकेरता है। क्या करता है ? मूर्ति बनाता है ? नही बनाता है, पत्थर निकालता है। काम को देखो क्या कर रहा है ? कारीगरके कामको देखो। कारीगर मूर्ति बना रहा है, नही बना रहा है, क्या कर रहा है, पत्थर निकाल रहा। बहुत पत्थर निकाल दिये, मूर्ति निकल आई। मूर्ति बनाई नही उस रूपमे देखकर और पत्थरके जो आवारक थे टाँकीसे दूर कर दिये। उस आकारमे मूर्ति बन गई, अब उस पर जो आवरण है उस सूक्ष्म आवरणको निकाले जा रहा है। क्या कर रहा है ? मूर्ति बना रहा है। नही बना रहा है। वह मूर्ति बनी है तब ही से जबसे उस कारीगरने पत्थरको देखा कि इसमे यह बनाना है। जब इसका पत्थर बडा था तब भी मूर्ति थी, जब सूक्ष्म पत्थर निकला तब भी मूर्ति है, मूर्ति कहाँ बनाई ? मूर्तिके आवरणको निकाला वह मूर्ति स्वय प्रकट हो गई। परन्तु एक बात देखी वह कारीगर पत्थरको निकालता था, पर उसका लक्ष्य रहता था मूर्ति पर। कैसी क्रिया की है, इसी तरह जिसमे यह कार्य परमात्मा होवेगा उस स्वभावके प्रकट करनेको इस कारीगरको सम्यग्दृष्टि कारीगरको उस शब्द परमात्मा गुरुकी आज्ञा हुई—तुम बनाओ। मुझ कारीगरको विश्वास हो गया कि हमको यह बनाना है ऐसी बात प्रमाण करके अशुद्ध पर्यायमे भी सम्यग्दृष्टि कारीगर उस शुद्ध ज्ञायकभावको जिसे कि बनाना है देखता रहता है कि यह बनाना है अब करता क्या है। यह देखो। इस दृष्टान्तमें यहाँ इतना फर्क है कि कारीगरको कार्य करनेके लिये टाकी और हथोडेकी आवश्यकता हुई परन्तु सम्यग्दृष्टिको काम करने के लिये किसी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नही होती है। इस ज्ञायकपदार्थका लक्ष्य ही टाकी है, यह लक्ष्य ही चोट है, तब ही सुदृष्टि द्वारा ज्ञायक भाव दृष्टिसे की गई ज्ञायकभावके हथोडेके ज्ञायकभावकी चोट मिलती है। हमारा काम लक्ष्यका है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तो पत्थर थे वह हटते जाते है तब कभी वह ठीक पाता है, कुछ टाकीका जोर और हुआ। जब बारहवें गुणस्थानमे पहुचा तब और विशिष्ट हुआ जब तेरहवे गुणस्थानमे पहुचा और अच्छा हुआ और १३—१४ वें के ऊपर शुद्ध अवस्थामें जैसे मूर्ति बनानेके बाद पालिस होनेकी कमी रह जाय तो पालिससे अत्यन्त स्वच्छ होता है, इसी तरह उस अयोगके पालिस होनेके बाद वह परमात्मा शुद्धस्वरूप मे हो गया। इस प्रकारसे यह सम्यग्दृष्टि उन घातिया कर्मोंको दूर करके स्वय स्वभावसे शुद्ध प्रकट होता है इसलिये स्वयभू कहलाता है।

स्वभावप्राप्तिमे व्यग्रताका अनवकाश—निश्चयनयकी ओर देखो तो आत्माका वह शुद्धभाव उसके साथ अन्य सद्भाव या अभावरूप किसी भी सम्बन्ध होनेसे नही होता। आत्मा जो कुछ करता है अपने आप अपने द्वारा कर्ता है। बहुत करे, अच्छा करे, कुछ अन्य न करे, जो करता है आत्मा अपने आप अपने द्वारा, अपने लिये अपने मे अपने से करता है तब फिर

शुद्ध आत्माकी बात अत्यन्त स्वतन्त्र है। उसमे उस निमित्त मात्रकी ऐसी आवश्यकता नही पडी इसलिये कहते है कि ज्ञायक भाव रूप शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्राप्तिके लिये अन्य अन्य सामग्रियोकी खोजनेकी व्यग्रता करके क्यो परतत्र हो रहे हो ? अपने आपमे अपने आपको देखो और स्वयभु हो जावो। मोही कहते हैं कि धर्म वडा कठिन है। धर्म अपनेमे है कैसे कठिन है ? हम स्वय स्वभावसे धर्म है। धर्म पाये बिना सुखी नही हो सकते। यहाँ जो व्यवहार की दृष्टिसे देखो तो सब कुछ है परन्तु भाई अपना लक्ष्य भी बनाओ कि हमको तो उस मजिलमे चलना है, ऐसी अवस्थाकी दृष्टि बनाना है। जगत्को अजायबघरकी तरह देखो जैसा उसके देखने वाला उसकी चीजे देखता है पर देखो यह आज्ञा है कि उठाओ मत, छुओ मत। यदि वह किसी चीजको उठाता है तो चपरासी उसे अफसरके पास ले जाता और उसे वहाँ दण्ड मिलता। इस जगतके यह पदार्थ है इनको भी मत मानो कि यह हमारे है, मेरे ही स्वरूप है, ये ऐसा मत मानो। देखो कही भी कैसे ही पडे होओ, परन्तु अपनी श्रद्धाको ऐसा अविचल रखो कि अपने आपमे धर्मको प्राप्त करलो।

शुद्धभावकी स्वयंभुता—कल यह प्रकरण चल रहा था स्वयभु होता कैसे है, इस बात को सिद्ध किया गया था कि आत्माके जो परमपद होता है वह बाहरकी किसी अवस्थासे कुछ पाकरके पद नही होता, किन्तु व्यवहारका अतरग कारण ही इस कार्य रूपमे परिणम जाता है। कल देखा था टाकीसे उकेर कर। क्या है वह ? व्यवहार ही तो हुआ, परन्तु जो प्रगट हुआ वह स्वय हुआ। इस दृष्टिसे कब, कहाँ, क्या परिणाम है ? इसको सोचे बिना पार नही पडेगा। यह सबसे पहले बतलाया था कि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है वह स्वरूप शुद्ध दशामे भी नही छूटता। शुद्ध दशामे भी जो शुद्ध द्रव्य है उसका जो परिणाम है वह कहलाता है व्यवहार और उन पर्यायोका आधारभूत सामान्यस्वभावी है, एक है वह कहलाता है द्रव्य। कल यह चल रहा था कि स्वयभु अपने आप अपने मे अपने द्वारा अपने ही के लिये होता है, यह बात अपनी तरफसे नही कही गई, यह भ० कुन्दकुन्दाचार्यने कही है, स्वयभु वस्तु क्या करता है, स्वय होना, स्वयसे होना, स्वयमे होना, स्वयके लिये होना, स्वयभुमे स्वय शब्द अव्यय है इसमे सब कारकोकी विभक्तियाँ लगती है।

विवक्षानुसार शुद्धभावमे भवाभवस्थितिरूपता—स्वय होने वालेका जो परिणाम है अर्थात् सिद्ध आत्माके स्वभावका जो लाभ है वह लाभ कैसा है, अविनाशी है, जिसका कभी नाश नही हो सकता, ऐसा होकर भी व आत्मलाभ उत्पादव्यय वाला है, नाश न होकर उत्पादव्यय वाला है, ऐसा वह स्वरूपका लाभ है, इस प्रकारकी आलोचना करते हैं—तर्कित करते है, कहते है—विशेष विचार करते है। जैसे कोई विरोधकी बात रख दी जाय तो वहा आलोचना करते हैं ऐसा कहा जाता है। विरोधकी बात तो रख ही दी कि शुद्ध आत्माके

स्वभावका लाभ अविनाशी है और उत्पादव्यय वाला भी है, यह बात सुनकर आलोचना न की जाय तो क्या खाली बैठे रहे, उनकी इस बातकी आलोचना करते है पर शुद्ध स्वभावको ऐसी बात नही कह रहे। यहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभावका लाभ अविनाशी और उत्पाद व्यय वाला भी है, यह कह रहे है।

भंगविहीणो य भवो सभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसभवणाससमवायो ॥१७॥

विवक्षानुसार शुद्धभावमे भवाभवस्थितिरूपता—जो भव है अर्थात् जो उत्पाद है वह भगविहीन है, नाशरहित है। सिद्धोके जो पद हुआ, क्या पद हुआ? शुद्धभाव वह नाशरहित है, शुद्धभावका नाश नही होगा और जो चीज उनके मिट गई वह उत्पादरहित है उनसे क्या मिट गया, १ ससार पर्याय—अशुद्ध अवस्था अब वह पद नही होगा। और दोनो अवस्थाओमे रहने वाला यह आत्मा भावरूपमे चला जाता है। आप ऐसा सोचोगे कि यह जो बात कही गई वह तो कुछ नही जचती, इस तरह तो उत्पादव्यय शुद्धमे अब कहाँ घट रहा, हाँ जिस समय शुद्धपर्यायमे पहुच रहा था उस समय तो ये उत्पाद व्यय ठीक है परन्तु अब जो शुद्ध है उनकी शुद्धिमे क्या उत्पाद व्यय होता है, ऐसा उत्पादव्यय तो नही होगा। ससार तो जब मिटा था वह समय तो बहुत पहिला था, समय समयकी बात तो नही आई। भैया! यहाँ देखो, अभी सिद्ध भगवानके उत्पाद व्ययका वर्णन नही करते, सिद्ध भगवानको जिस चीजका लाभ है उस लाभमे जो मिट्टी है वह उत्पादरहित है। जो हुआ है वह व्ययरहित है। लाभमे उत्पाद व्यय घटाया जा रहा है। शुद्ध आत्मस्वभावका जो लाभ है वह ऐसा है जो हुआ वह मिट नही सकता, जो मिट गया है वह हो नही सकता और उन दोनो वस्तुओंके बीच स्थायी तत्त्व द्रव्य रूप ही है। वस्तुके द्रव्यस्वरूपको जब छुए तब उस समयमे यह सकोच नही करना चाहिये कि और प्रकारकी बात मिटा दी, अमुक स्वरूप भी मिट रहा, अमुक चीज मिट रही, पर्यायमात्र मिटा दी अब रहा क्या? प्रमाण दृष्टिसे आप सबको थाप लें, निश्चय भी है व्यवहार भी है सब कुछ है। सबके स्वरूप निश्चित करनेके बाद एक निश्चय दृष्टि करे। मुख्यता करके वस्तुके स्वरूपमे देखा जा रहा है और यहाँ सामान्य ध्रुव मिल रहा है।

दृष्टिकी आज्ञाका पालन—आज्ञाकारी सैनिक होते है उनसे सेनापति यह कहता है कि अमुक करो। तो कुछ भी हो जब तक हुक्म बंदका न हो तब तक उसीको एक चित्त होकर करता रहता है। एक जगहका जिक्र है कि सेनापतिने कोई आज्ञा दी। सेनापतिकी आज्ञा सुनकर सबने काम शुरू कर दिया। इसमे खुदका बिगाड होनेका था। उस समयमे कुछ बुद्धिमान सैनिकोने इस कार्यको रोक दिया तो सेनापतिने आदेश दिया कि इस कार्यको रोक

दिया भला तो किया, किन्तु जो सेनापतिकी आज्ञा है जो हुक्म दिया वह करो। तुमको किस की आज्ञाने रोका। प्रभुकी आज्ञा है कि जब निश्चय दृष्टिका विचार करो तो निश्चय दृष्टिको ही देखकर सारी बातको सोचो। जब व्यवहारदृष्टिका हुकम मिला, व्यवहारदृष्टिसे इस पदार्थमे होकर उस प्रकारका निर्णय करो याने दूसरे पर दृष्टि डालकर निर्णय करो—और सही क्या है ? ऐसा निर्णय करनेको जब बैठो तब निश्चय व्यवहार दोनोका स्वरूप ठीक करके निर्णय करो तो सही यह चीज है, प्रमाण दृष्टि वस्तुके निरपेक्ष वस्तु स्वभावको और सापेक्षको भी स्वीकार करता है। सम्यक्दृष्टिकी निरपेक्ष स्वभावमे रुचि होती है। सम्यग्दर्शन क्या है—निज आत्मस्वभावमे रुचि जिसके होने पर हो वह है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायका ऐसा वर्णन करते है परन्तु पर्यायमे निज बुद्धि नही होती। सम्यग्दृष्टि जीवसे व्यवहार नही छूटता, पूजा आदि सब होती हैं, पर व्यवहार ही हमारी पहिली मजिल है ऐसा उसका लक्ष्य या ऐसी उसकी श्रद्धा नही होती। वास्तवमे सम्यग्ज्ञान इतना निखारने वाला है, इतना सुलझाने वाला है कि जिसके अदर असत्यकी स्थापना नही हो सकती और सत्य नही मिट सकता। श्रद्धा भूतार्थस्वरूपकी होना चाहिये, गुणोके अभेद रूपसे रहने वाला आत्माका लक्ष्य होना चाहिये।

लक्ष्यानुसार व्यवहार—ऐसे आत्मद्रव्यकी श्रद्धा करने वालेके व्यवहार आता है। परतु जिसे व्यवहार आ गया यदि उस लक्ष्यमे लग जायेगा कि यह व्यवहार ही सर्वस्व है यही रुक जायेगा तो आगे चलनेका कदम समाप्त हो जायेगा। इसलिये किस दृष्टिमे हो वह है व्यवहार, जिसका लक्ष्य हो वह है निश्चय। लक्ष्य बिना सब बेकार और व्यवहार बिना तो जीव रहता ही नही है। शुद्ध लक्ष्य बिना तो रह जाय परन्तु स्थिति बिना रह नही पाता। निश्चय दृष्टिसे शून्य निश्चयकी दृष्टिसे दूर रहने वाले तो रह जायें, पर व्यवहारसे रहित हम नही रह सकते। अब विवेक क्या करना है, निश्चयका विषय है—चैतन्य स्वभाव उसका ही लक्ष्य रहनेका पुरुषार्थ करना है, यदि पद पाना है। जो इस वस्तुपर लक्ष्य पाता है उसको बाह्य व्यवहारमे यदि थोडा बहुत—हीनाधिक हो जाय तो भी सफल हो जाया करता है। जैसे किसीको अपने मित्रपर यह विश्वास है कि यह मेरे हितका लक्ष्य रखता है, उस मनुष्य से यदि कभी कितना कोई कार्य ऐसा हो जाय कि उसकी बातसे उसे कष्ट भी पाना पडे तो उसको वह बुरा नही मानता और दु खी भी नही होता, क्योकि उसे तो यही श्रद्धा है कि यह तो मेरा हितैषी है, इसका लक्ष्य मेरा हित करनेका ही है। कदाचित कही कुछ कह आये भूल से कह दिया है तो इसका उस पर भीतरसे कोई बुरा प्रभाव नही होता, इसी तरहसे ठीक लक्ष्य यदि आ जाय, ठीक वस्तु आ जाय तो फिर कभी वह अतरगमे आकुलताकारक नही होता। इसलिये ठीक लक्ष्य—उद्देश्य अनत विशुद्ध होना चाहिये और जिसका लक्ष्य ठीक होगा

उसका व्यवहार—तरग–पर्याय भी ठीक बनेगा, क्रिया भी ठीक बनेगी, व्यवहार भी ठीक होगा। प्रभुने हमको भी ज्ञायकभावकी प्राप्तिका हुकम दिया है कि तुम निरजन निज ज्ञायक स्वभावका लक्ष्य करते हुए ऐसा निर्विकार बननेका प्रयत्न करो। जो शाश्वत कल्याण चाहने वाला है सदैव उसको अखंड स्वभावका लक्ष्य रखना होगा, ऐसा लक्ष्य रखते हुए जो जो काम बनते हैं वे सभी व्यवहार धर्म हैं।

आशयभेदसे आन्तरिक अन्तर—आपको एक मनोरजक कहानीमे श्रद्धाकी बात बतलायें—देहातमे कोई जाट था। एक मुखिया था, एक पडितजी कहीसे आ रहे थे, इन्होने बगल मे पत्रा पोथी ले रखा था। मुखियाने उन्हे देखा और बोला पडित जी कहाँ जा रहे हो ? उन्होने कहा—राम चरित्तर पढने जा रहा हू। उसने कहा—राम चरित्तर कैसा ? रामचरित्र जिसमे रामका चरित्र बतलाया है। राम पैदा हुए, बडे हुए, सीताका स्वयवर हुआ, वह किसी कारणसे जगलमे गये, सीताको रावण ने हरा, राम रावणको हराकर सीताको लाये यह सब उसमे आता है ऐसा रामचरित्र मै पढ़ने जाता हू। जाट बोला, बहुत अच्छा महाराज ! इससे क्या होता है ? मुखियासे पडित जी बोले उससे बडा पुण्य बधता है। मुखियाने अपने घरमे पढनेको कहा। पडितजीने कहा इतवारको आऊगा। उस उत्सवके लिए हमे क्या करना होगा ? पडित जी ने कहा—आगनमे थोडी सी जगह लिपा लेना, अक्षत गध, धूप आदि सब रख देना व कलशमे एक रुपया रख देना। मुखियाने कहा बहुत ठीक। आठवें दिन इतवारको सब गाँव वालोको बुलाया कि रामचरित्त होगा। सब गाँव वाले भोले थे, मुखिया भी भोला था, बडी श्रद्धासे भरा था, हमारे पुण्य बनेगा! रामचरित्र सुनने सब लोग आ गये। पडितजी बैठ गये। उस रामचरित्रके पढनेके बीचमे मत्र आते थे। इस बातको जानकर पडित बोला, मुखिया भाई जो हम कहे वैसा तुम कहना, जो करें वैसा तुम करना (जब हम मत्र शव्द कहे तो तुम भी शव्द कहना हम जो स्वाहा करें वही तुम भी करना) इसी तरह पूजा होती है। मुखियाने कहा बहुत ठीक महाराज—मैं वैसा ही करूंगा। तो एक बार बहुत बडा पद आया तो पडितजी ने सोचा पहिले जल चमचोंमे लेकर रखू तो बहुत देर तकके लिये रखना होगा इस लिये इसको कह दे कि जल ले, मैं जब मंत्र समाप्त कर लूंगा तब चम्मच उठाकर जल छोड दूगा। इस विचारसे पडित जी कहते है "जल ले"। मुखिया भी कहता है "जल ले"। खुद जब जल नही लेता है तो मुखिया भी नही लेता। पडित जी बोले "लेता क्यो नही बे" मुखिया बुला "लेता क्यो नही बे"। शुद्ध भाव श्रद्धासे रामचन्द्र चरित्रका पाठ मुखिया करवा रहा था। वह भी श्रद्धासे ही ऐसा बोला। "लेता क्यो नही बे" क्योकि उसने सोचा कि कही थोड़ासा भी कम वढ बोल जाऊगा तो रामचरित्रका पाठ विगड जायगा। अब पडितजीको गुस्सा आया। उन्होने उस मुखियाजीके मारनेको हाथ उठाया "मैं तमाचा मारूगा"

मुखिया भी बोला "तमाचा मारूंगा"। पडितजी ने तो तमाचे मार दिये। मुखियाने भी उसी प्रकार पडित जी के तमाचे मारे कि कही रामचरित्रका पाठ न बिगड जाय। सब श्रोता लोग व गाँव वाले भोले थे, उन्होने भी सोचा कि वास्तवमे राम और रावणका जो युद्ध हुआ था उसमे इसी प्रकारसे युद्ध हुआ होगा। अतः चुपचाप बैठ बैठ श्रद्धासे देखते हुए पुण्य कमा रहे थे। इस प्रकार मुक्केबाजीमे वे दोनो २० हाथ दूर पहुच गये। मुखियाकी जो मुखियानी थी वह इस दृश्यको देखकर रो रही थी। लोगोने पूछा तेरे घरमे तो रामचरित्रका पाठ हो रहा है और तू रो रही है। मुखियानी इस मारपीटके दृश्यको देखकर नही रो रही थी। उसने कहा कि मुझे इस बातका दुःख है कि वर्षोमे मेरे घरमे रामचरित्रका पाठ हुआ और मैंने जमीन पूरी नही लीपी। यदि मुझे यह पता होता कि इतनी दूर तक पाठ चलेगा तो मैं पूरी जमीन लीपती। इससे यह पता पडा कि उसको यह डर था कि रामचरित्रका पाठ बिना लिपी जमीन पर बिगड गया। यहा अन्य विकल्पोपर दृष्टि न देकर सिर्फ भावकी बात देखो, श्रद्धाकी बात देखो। सारे लोग पुण्य लूट रहे, मुखिया पुण्य लूट रहा है और मुखियानी भी। यह तो किसी एक दृष्टिका ही दृष्टान्त मात्र है। कैसा कार्य होकर फिर भी श्रद्धा चल रही है। कही ऐसी बाते अपनेमे न घटा लेना (हसी)। सारांश इतना लेना कि बाह्यकी कुछ कमी भी हो तो भी श्रद्धा आगे ठीक करा देगी।

श्रद्धामे स्वच्छताका कर्तव्य—श्रद्धाका विषय इतना साफ और अकप होना चाहिये कि उसमे अपना स्वरूप, सिद्ध प्रभुकी तरह स्वभावमे जचे। यदि कोई पूछे कि तुमको क्या बनना है तो एक लक्ष्य श्रद्धाका आ जाय कि जैसा कि सिद्धका स्वरूप है मुझको तो यह स्वरूप बनना है, उसको और कोई भी बात लक्ष्यमे न आ पावे। वह कैसा स्वरूप है उस सिद्ध भगवानका शुद्ध पर्याय पद जो हुआ उसका नाश नही होगा, अशुद्धपर्याय नष्ट हुई उसका उत्पाद नही होगा और शुद्ध और अशुद्ध दोनो पर्यायोमे वह एक आत्मा रूपमे रह रहा, ऐसा शुद्ध आत्मा इस स्वभावके परिणमन मात्रसे उत्पाद व्यय वाला द्रव्य बतलाया। इस आत्मा के शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्ध आत्मस्वभावमे जो भाव आता है, उत्पाद होता है वह उस रूपमे तब नही हो सकता, यदि वह भाव सर्वथा विनाश रहित है। इसी कारण जो अशुद्ध भावका विनाश हुआ है वह फिर उत्पन्न नही हो सकता। इसी लिये ऐसा वह सहजशुद्ध भाव कभी नष्ट नही हो सकता, वह अविनाशी है। उस कथाको सुनकर किसीके मनमे कोई अन्य विचार नही उठना चाहिये। हमारा आशय तब तो यह था कि श्रद्धा निर्मल होनेसे यदि व्यवहारमे कुछ न्यूनाधिक बात भी हो जाय, पर जिसका लक्ष्य निर्मल होता है वह अपने लक्ष्यका फल अच्छा ही पाता है। इस समय हमारा जितना पद है, हमारी जितनी अवस्था है वह चैनसे रहित है। बिना धर्मके जिन्दगी व्यतीत होती है। विवाह हुआ, बच्चे हुए, अन्तमे जिन्दगी

खतम हो ही जाती है, मरना पड़ता है। जो दिन चले गये सुखके वह स्वप्नकी तरह लगते है, वह ५०—४० वर्ष मुखके स्वप्नकी तरह मालूम पडते है, अथवा जिसकी जितनी आयु है उसकी पहिली अवस्थाकी वात स्वप्नकी तरह मालूम होती है। हाय, वह समय निकल गया मालूम नही पडा। देखो भैया! जो समय वीत गया उसको तो पछताता परन्तु जो समय यह जा रहा है यह भी स्वप्नकी तरह चला जायगा ऐसा ख्याल कर शुद्ध कर्तव्यमे नही लगता। जैसा भूतकाल की बातको स्वप्नकी तरह हो गया ऐसा ख्याल करता वैसा वर्तमान कालकी वातमे यह भी स्वप्नकी तरह होने वाला ही है ध्यानमे नही लाता। इस पर्यायमे हमको कोई अभूतपूर्व कार्य करना चाहिये। विचारो जैसे मेरी इतनी जिन्दगी व्यतीत हुई उसी तरह आने वाली जिन्दी क्षणमात्रमे व्यतीत हो जायगी, इसलिये सावधान हो।

जीवनसाधना—धर्म साधना जीवनकी साधना है। हमे सावधान रहकर अपने पर करुणा करना है। अपनेमें वह बात रहे, परसे लक्ष्य हटाकर ज्ञानभावमे ही मेरी रुचि हो, जगतके किसी पदार्थमे मेरी रुचि न हो। वास्तवमे ज्ञानी कुछ करना नही चाहता, परन्तु इसका तो जगतके और ऐसे जितने कार्य किये जाते है उन सबका प्रयोजन इतना ही है कि मैं साधु नही हो सकता था, इसलिए घरमे रहना पडा। अब जो समागम है उनका मोह करना अपना ही घात है ऐसी श्रद्धा है, फिर भी गृहस्थधर्मको निभानेकी बात तो करनी ही पड रही। गृहस्थधर्म मोक्षका उद्देश्य रखकर धर्म, अर्थ, काम, इन तीनकी समान साधनामे है। उत्तम विवेक जो धर्म अर्थ काम इन तीनका सेवन कहलाया। जो त्रिवर्गका समान साधन करता है वह कहलाता है गृहस्थ धर्म। धनका भी ख्याल रहा, कामकर लोगोके पालनका भी ख्याल रहा, परन्तु धर्म न करे तो कुछ भी नही चलता और धर्म करे पोपण करे और धन न कमावे तो कुछ भी नही चलता और धनका ही पोपण ही रखा और धर्म नही कमाया तो कुछ नही। यदि वह धर्ममे ही रहता और धन तथा पोपणसे विल्कुल बचता है उस अवस्थामें नही रहता तो ठीक है उसको उचित है कि वह साधु हो जाय। जब मुझे किसीमे प्रयोजन नही, मुनि जैसी वृत्तिमे अपने सम्बन्धको करे तो गृहस्थ धर्म नही हो सकता। यदि कोई पुरुष धर्मका पोपण करे, धन भी कमावे, पोपणकी वात न करे तो अपना अनुभव बतलायेंगे कि गृहस्थ प्रशसनीय नही हो सकता। धर्म ही करे, पोपण ही करे—धन न कमावे तो गृहस्थी निभ नही सकती। गृहस्थ अवस्थामे तो जो तीन वर्ग वतलाये, इन तीनोका समान सेवन होना चाहिये, हमारा आशय स्वभावसे च्युत होकर जडमें लगानेका नही। यह चीज प्रवृत्तिमे चल रही है। कोई गृहस्थी यह चाहता है कि धनमे क्या प्रयोजन, वह तो समयपर जो हो सो हो. कुछ भी धन न कमावे तो अन्तमे जाकर, घरमे धन है तब तक तो खाता है फिर आप भी मरती। हा यह बात जरूर है कि ५ मिनट ही बैठ जाय तो पुण्योदयसे हजार

आ जाये ।

अन्तर्धर्मवृत्ति—मन्दिर देवदर्शन आदि भी आवश्यक वृत्ति गृहस्थकी होती है । यह बाह्य धर्मकी बात है । अन्तरग की तो ऐसी बात है कही भी होय धर्म होता है । आप सोचो जिसे धर्म होना है वह कही भी जा रहा है धर्म होता है, धर्म तो अन्तरगका ऐसा परिणाम है । कहो मुनि महाराज शौच को भी जाते हैं यदि निर्मलता हुई वही अपने अप्रमत्त धर्मको पा लेते है । जिसके निरपेक्ष ज्ञायकभावकी दृष्टि होती है जैसी दृष्टि गई वही धर्म हो गया । कही मन्दिरमे ध्यान लगाया और वहाँ भी धर्मभाव न हो और मन्दिरसे निकलकर किसी जगह चला गया, उसका वहाँ अच्छा भाव बन जाय तो धर्म होगा । गृहस्थके अंतरगमे अच्छी चीज है तो इसके माने यह नही है कि व्यवहार धर्मका लोप कर दें । यदि कोई पुरुष जीवन भर व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मके यत्नसे दूर रहा हो और अन्तमे साविपूर्वक सद्गति हो तो इसका अर्थ यह नही है कि सभी इस प्रकार जीवनमे स्वच्छन्द रहे अन्तमे सद्गति हो ही जायगी । यदि किसी अन्धे पुरुषको मार्गमे ठोकर लगे और उस ठेवाको निकलवाने से धन मिल जाये तो क्या और मनुष्य भी अन्धे बनें, गड्ढेको खोदें, ठोकर खायें । क्या इस तरह उन्हे धन मिल जायगा ? धनोपार्जनका उपाय तो व्यापारादि है । इसी तरह धर्मके कार्य-व्यवहार धर्ममे रहकर भी यद्यपि यह बात अविनाभावी नही है कि मैं व्यवहार करू तो निश्चय धर्म प्रगट होता ही हो व किसीके निसर्गसे ही हो जावे तो इसका अर्थ यह नही कि यत्न छोड दें । निश्चय धर्म प्रगट करनेके समय उसके व्यवहार कार्य ऐसे होते हैं यह तो ठीक है, जैसा निश्चय है उसके अनुसार व्यवहार धर्म है यह भाव तो रह सकता है परन्तु प्राक् पदवी मे सत्सग देवदर्शन सभी यत्न रहना चाहिये ।

गृहस्थीमे निश्चयकी दृष्टि होते हुए भी देव पूजन आदि की जाती, परन्तु शुद्धपर निश्चय दृष्टि रहते हुए उसका व्यवहार रहता है । निश्चयदृष्टिके रहते हुए तो वही वस्तु उपयोगमे बनी रहती है, जो यहाँ व्यवहार हुआ उस पर ज्ञानीके उपादेय बुद्धि नही है कि वही व्यवहार बना रहे । इसलिये किसी प्रकरणमे व्यवहार छूटा जा रहा, कही ऐसा भय नहीं करना । उसमे ऐसा सकोच नही होना चाहिये कि व्यवहार निश्चयदृष्टिमे देख जैसे छूटा जा रहा है । निश्चय दृष्टिका लक्ष्य करते हुए पर्यायमे अपने आप क्या पड रहा है, वह व्यवहार ही तो चल रहा है, उसमे उपादेयकी दृष्टि नही ।

संभवनाशस्थितिमयताका समर्थन—देखो—स्थिति, नाश, उत्पादके बिना रहना सिद्ध भगवानको भी निषिद्ध है, वहाँ भी निश्चय व्यवहार है वह भी द्रव्यपर्यायात्मक है । आजका प्रकरण ऐसा लगेगा कि कलका प्रकरण लोग सुनते थे उसमे कुछ प्रकरण तो और बात सुनाता था, यहा और है । उस प्रकरणमे निश्चयदृष्टिकी मुख्यतासे वर्णन था—निश्चयदृष्टिके

वर्णनमे सुनकर उसका ही श्रद्धामे, उपयोगमे स्वरूप देखना होता है। आज वह प्राप्ति स्वयभु हुई है तो क्या व्यवहारनयका कुछ काम ही नही हुआ था ? और अपने आप ऐसा स्वयभु हो गया क्या ? वहा व्यवहार—पर्याय कुछ नही है ? उसका उत्तर इस गाथामे है। एक ही आचार्यने निश्चयदृष्टिसे वर्णन करते हुए उत्पादव्ययरूप व्यवहारमे जो तरग उठती जो सर्वमुखी वर्णन है उसको शब्दोमे इस तरह कहा है। देखो यहाँ शिष्यमे अब भी धैर्य है कि निश्चयके वर्णनको सुन करके व्यवहारके वर्णनमे निश्चयका सकोच नही होता है, व्यवहार का भी विरोध नही करता, व्यवहारके प्रकरणमे निश्चयका विरोध नही करता, किसी प्रकरणमे वस्तुस्वरूप यथार्थ सुनकर जैसा है तैसा बनकर निर्णयका प्रयत्न करता है।

ऋजुसूत्रनयका विषय—देखो—जब निश्चयका वर्णन चलता है तो वह व्यवहारके उच्छेदका भय नही करता। ऋजुसूत्रनयके वर्णनमे आचार्य कहते है कि इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे हम यह नही कह सकते कि कौवा काला है, क्यो नही कहते कि जितना कौवा है उतना काला नही है, जितना काला है उतना मात्र कौवा नही। इस लिये हम ऋजुसूत्रनय की दृष्टिमे यह नही कह सकते कि कौवा काला है। रुई जल रही है हम यह नही कह सकते क्योकि जो रुई है वह जल नही रही है और जो जल रही है वह रुई नही है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टिमे हम यह नही कह सकते कि रुई जल रही है, शिष्य प्रश्न करता है कि महाराज यहाँ तो व्यवहार ही उडा जा रहा है तो आचार्य उत्तर देते है कि व्यवहारके उच्छेदका भय मत कर, उच्छेद होता है तो होने दो। तू तो इस नयके प्रकरणमे इस नयका विषय समझ ले, तो प्रयोजन क्या होगा ? हमारा प्रयोजन इस सम्बन्धमे यह है कि ऋजुसूत्रनयका सूक्ष्म विषय है यह करणानुयोग की बात बतलाई।

दृष्टिकी आज्ञाका दृष्टिमे पालन—इसका प्रकृतसे यह मतलब है कि जब निश्चयदृष्टिसे वस्तुस्वरूपका ध्यान करने बैठे हो तो कोई चिन्ता न करके वस्तुके निरपेक्ष स्वभावको देखो, यह तुम्हारा द्रव्य व्यवहार तो तुम्हारा बनाये रहेगा। वस्तुका ठीक स्वरूप तो जानो, इसका इसमे निजका स्वरूप कैसा है परकी अपेक्षा रहित उसका स्वरूप कैसा ? इसलिये भाई निःसकोच होकर भ्रमरहित होकर जिस समयमे जिस दृष्टिको लेकर देखो हम तो उतना ही कहते है जिस समयमे यहाँ व्यवहारका वर्णन करें तो निश्चयपर पक्ष करने वाले अपने आपको मान लें कि हम तो व्यवहार वाले ही है। इसी तरह जब निश्चयदृष्टिका वर्णन हो तो वहाँपर व्यवहारका पक्ष रखने वाले अपनेको निश्चय वाला माने। निश्चयदृष्टिमे सुनने वाले बनें, निश्चयदृष्टिको लेकर ही देखें कि द्रव्यका क्या स्वरूप है ? इसी प्रकारसे निश्चयके निरपेक्ष स्वरूपमे देखो जिससे ठीक ठीक स्वरूप जिस दृष्टिमे किया जाय उससे वस्तुको पूरा जान सको, फिर निश्चयके विषयपर लक्ष्य बनाकर अपनी पर्यायको निर्मूल बनाओ।

तीर्थंकरप्रकृतिके बधका निमित्त--निश्चय निरश निर्विकल्प की ओर सकेत करता है, परन्तु वस्तु कभी दशारहित नही होती । उत्तम अवस्थामे भी रत्नत्रयकी प्रवृत्ति व्यवहार है तो उसका मूल द्रव्य निश्चय है । उससे पहिले यदि रत्नत्रयका विपरीत परिणमन व्यवहार है तो वहाँ भी उसका मूल वह द्रव्य निश्चय है । आत्माके साथ-साथ बध व्यवहारका निमित्त रत्नत्रय स्वभाव नही, किन्तु मोहनीयता कही है । कर्मकी १४८ प्रकृतियोमे श्रेष्ठ प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति है उसका भी बध यद्यपि सम्यग्दर्शनके होने पर होता है तथापि उसका निमित्त शुभराग ही है आत्मस्वभाव नही । तभी तो बधके १६ कारण भावनावोंमे शुभविकल्प आया है । देखो दर्शनके होनेपर जो प्राणियोंके उद्धार होनेका विशुद्ध भाव हो वह दर्शनविशुद्धि है वह भाव तीर्थंकर प्रकृतिके बधका कारण होता है । सम्यग्दर्शनके होने पर भी जगत्के जीवो के प्रति इनका मोह छूटे ऐसी भावना हो सकती है, वह दर्शनविशुद्धि है । सम्यग्दर्शनसे पहिले वह जीव मोक्षमार्गी ही नही कहलाता । जिन्हे सम्यक्दर्शन प्राप्त हुआ, जिन्हे परद्रव्यसे भिन्न सहज ज्ञानातरक एक निज शुद्ध आत्माकी रुचि हुई उनके ही तीर्थंकर प्रकृतिका बध हो सकता है क्योकि अनुभूत पुरुष ही उस विषयक सत्य अभिप्रायको कर सकता है ।सम्यक्दर्शन मोक्षक साधन है वह किसी कर्मका बध नही करता और इस ही प्रकार न सम्यग्ज्ञान ही बध करता और न सम्यक् चरित्र । परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर "ससारके प्राणियोका कैसे मोह छूटे" ऐसा जो अनुराग होता है, ससारके जीवोको मोहसे दुखित देखकर जिनके मीठी विह्वलता पैदा होती है जो तत्त्वसे विभाव है ऐसे उस भावको निमित्तमात्र पाकर कामर्णावर्गणायें तीर्थंकर प्रकृतिको प्राप्त हो जाती हैं ।

दर्शनविशुद्धिका भाव—यहाँ दर्शनविशुद्धिका यह अर्थ नही है कि मात्र सम्यग्दर्शनकी निर्मलता, क्योकि सम्यग्दर्शनसे बध नही होता । सम्यग्दर्शनके होने पर जो विशिष्ट शुभपरिणाम हो रहा है उस निमित्तसे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है । यदि सम्यग्दर्शनकी निर्मलता कर्मके बध करनेके लिये हो तो फिर और क्या ही ऐसा रहा या होगा जो कर्मसे छुडा देगा । इस लिये यही स्वभावदृष्टिसे निर्णय करना कि सम्यग्दर्शन तो कर्मसे छुडाने वाली हमारी चीज है, उसके होते हुए जो विशुद्धभाव होते है उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता । सम्यग्दृष्टिके यह भाव या श्रद्धान नही होता कि मैं ससारके जीवोको मोहबधनसे छुडाकर मोक्षमे पहुचा दूँगा, क्योकि यह भाव कर्तृत्व बुद्धि और आस्रवभावको लिये हुए है ऐसा मिथ्यात्व अधकार सम्यग्दृष्टिके नही हो सकता । ज्ञानीके मिथ्यात्वका प्रतिषेध आम्नाय युक्ति स्वानुभव मे प्रसिद्ध है । कर्तव्य बुद्धि ही ससारका मूल है, फिर जिसे "ससारके जीवोको छुडा दूगा, ससारसे पार कर दूगा" यदि ऐसी श्रद्धा हुई तो वहा सम्यग्दर्शन ही सभव नही है । वहा तीर्थंकर प्रकृतिका बधन होगा । इस तीर्थंकर प्रकृतिका बध किसी सम्यक्त्वमे होता है, परन्तु

होता है केवली श्रुतकेवलीके निकटमे । तब आप वह सोच लेंगे कि जिनके क्षायिक सम्यग्दर्शन है ऐसे जीवके भी इस तीर्थंकर प्रकृतिका बध हो जाता । क्षायिक सम्यग्दर्शनमे भारी निर्मलता है । वहा भी विशिष्ट शुभ विशुद्ध परिणाम हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है । जगत्के जीवोको दुखी देखकर "इनका मोह छूट जाय देखो तो चैतन्यस्वभाव यही है--इस पर ये दृष्टि नही दे पाते सो यह दुर्बलता नष्ट होवे" इस धर्मानुरागसे उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बध हो जाता । तीर्थंकर प्रकृति बध वाने नियमसे थोडे ही कालमे अर्थात् अधिकसे अधिक तीन भवमे ससारसे पार हो जाते है । यह प्रकृतिकी महिमा नही किन्तु आत्मस्वभावकी महिमा है ।

सम्यग्दर्शनके अङ्ग—निर्मल सम्यग्दर्शन २५ दोषोसे रहित कहा गया है, उन दोषोमे शका काक्षा आदि ८ दोष नि शकित आदि आठ अगोके अभावसे ही होते है । इस ही कारण जैसे शरीरके ८ अग होते है उन अगोका समूह ही सम्यग्दर्शन है उस ही प्रकार नि शकित, नि.काक्षित, निर्विचिकिन्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना—ये आठ अग है । इनका समुदायात्मक एक भाव सम्यग्दर्शन है । वे ८ अग जो निश्चयदृष्टिका स्वरूप रखते है उसका समूह ही सम्यग्दर्शन है । निश्चयके ८ अगोके होने पर व्यवहारके ८ अग जिस पदमे रहते स्वयमेव आजाते हैं, निर्विकल्प अवस्थामे व्यवहारके ८ अग नही होते है और न किसी दृष्टिके अगोका भेद विकल्प ही है, तथापि निश्चयदृष्टिसे किसी अगका स्वरूप देखने पर वह एक ही सम्यक्त्व परिणाम उपयोगमे रह जाता है ।

निःशङ्कित अङ्ग—पहिले अगका नाम निःशकित है । जिस ज्ञानीने अपने आपमे ऐसा निर्णय कर लिया—मै आत्मा चैतन्यस्वरूप हू, अपना चैतन्यस्वभाव अविचल है, मेरेमे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कोई विचार नही है, मैं एक स्वय अखण्डित द्रव्य हू, मेरा कोईसा भी परिणमन परपदार्थके परिणमनसे नही होता, ऐसे वस्तुके स्वरूपको जिसने पा लिया वह अपने विषयमे इतना नि.शक रहता कि जिसके विषयमे समयसारमे लिखा है कि यदि ऐसा उपद्रव भी आजाय जिससे तीन लोकके प्राणी अपने मार्गको छोडकर हट जाये परन्तु स्वरूपमे श्रद्धा वाले आत्मा अपने अन्तरगके धर्म परिणामसे कभी नही हट सकते । इसका कारण यह है कि उस ज्ञानमे अपनी दुनिया चैतन्य जितनी मानी हुई है उसका घात परसे नही है । अपना परलोक इतना ही माना, जिसके कारणसे दुनियाकी परिणतिसे ज्ञानी कभी विचलित नही होता । उसको दृढ विश्वास है कि यह चैतन्यपरिणाम ही यहा मेरा लोक है, इससे बाहर लोकोको अर्थोंको अपने लिये नही समझता, क्योकि सारे पदार्थ उससे भिन्न है । उनसे जब मेरा सुधार बिगाड नही होता तो मेरी दुनिया वह कहाँ जायगी ? मेरी दुनिया तो वह है कि जिसकी प्रसन्नतासे मेरा भला है और जिसकी अप्रसन्नतासे मेरा बुरा है । लोक भी लोक ऐसा ही कहा करते है कि मेरे मित्र बधु तो यह है, क्योकि यदियह

नाराज हो जावेंगे तब मेरा जीवन कठिन है और इनके प्रसन्न बने रहनेसे मेरा जीवन सुकर है। तब अपनेमे भी यह विचार करो—मेरी दुनिया, मेरे भाई, मेरे पिता पुत्र आदि सब यही चैतन्य है जिसकी निर्मलतासे हम सुखी होते है और जिसके नाराज होनेसे मलीन होनेसे हम दुखी हो जाते है। जिस ज्ञानमे ऐसी श्रद्धा है वह वाह्य पदार्थकी परिणतिसे विचलित नही होता। ऐसी तीक्ष्ण आत्मस्वरूपदृष्टि अन्तरात्मा बनाये हुए है कि जगतमे किसी भी पदार्थका कुछ कही कोई परिणाम हो, उसके परिणमनसे अपने आपमे क्षोभ पैदा नही होने देता, नि शकित अगका यह फल है। सोचो तो भैया! तीन लोक इतना बडा है, किसी थोडी जगह रहने वाले कुछ कहे, करें, सोचें तो मेरे आत्मस्वरूपका क्या बिगाड कर दिया ? जगत्मे अनत जीव है, किन्ही जीवोकी परिणति मेरे अभीष्टके प्रतिकूल हो गई तो उसने मात्रसे उस प्राणीसे मेरा क्या बिगाड हो गया अथवा कितने दिन उसका मेरा साथ है ? अतमे तो मरनेके बाद तो सबसे बिदा हो जाते, मैं भी अकेला ही परभवको जाता हू। मैं अपने भावकी निर्मलता रखे रहू तो मेरे लिये सुख होगा और भावकी मलिनता करू तो मेरे लिये मेरेसे ही दु ख होगा उस वस्तु स्वरूपकी श्रद्धा करने वाले ज्ञानी निःशकित होते है।

आगममे निःशङ्कता—स्वरूपकी जिन शास्त्रोमे चर्चा है उन शास्त्रोंमे उसकी दृढ श्रद्धा होती है और अपनी ही बात इन शास्त्रोमे मिल गई तो इन शास्त्रोंके कहने वाले पर उस ज्ञानीको कितनी दृढ श्रद्धा हो गई। यह बात सर्वज्ञ ने कही है। इससे श्रद्धा उसके माननेकी अपेक्षा यही उठे हुये ज्ञानके पयोगसे शास्त्रकी श्रद्धा और सर्वज्ञ व सर्वज्ञकी महत्ता मानने वाली की श्रद्धा पुष्टि लिये होती है और सर्वज्ञने कहा इसलिये वह सत्य है। इतनी मात्र बाह्य श्रद्धा है तो यह श्रद्धा तो उड सकती है। जो बात हमको अपने आपमे मिली है उसकी श्रद्धा अति दृढ है। इस बातका कितना निर्विवाद प्रतिपादन उससे हो सकता है जैसा इसको कहने वाले जितने निर्मल हैं। यहासे उठने वाली श्रद्धा यहाँके लिये बडी अमिट हो जाती है। ज्ञानकी कितनी बडी बात है वह ज्ञानबल वालेसे नही उठता, ज्ञानीका बल अपने अन्तरगसे उठता है, चाहे वह श्रद्धाकी भी बात हो तो ज्ञानके अपने अन्तरगमे से वह श्रद्धा उठती है। अमुकने कहा सो मानलो ऐसा ज्ञानी नही होता, उन तत्त्वोका अपने आपमे प्रयोग करता है वह उसके मनमे ठीक उतरता है तब सर्वज्ञ ने जो कुछ कहा है परीक्षाकी भी बातें स्वर्ग नरक समुद्र द्वीप आदि यह भी बिल्कुल सत्य है। जिसके खास तत्त्वकी बात ऐसी निर्दोष सत्य है जो हमारे अनुभवमे पूर्ण उतर गई तो उसकी कही हुई सर्व बात बिल्कुल सत्य है, ऐसी जिनवाणीमे, जैनशासनमे सम्यग्दृष्टिकी अविचल श्रद्धा रहती। निश्चयमे नि शक रहता है, तत्त्व यह है ऐसा ही है और प्रकारसे नही है। इस प्रकार भगवानके उपदेशमे जो बात कही वह कितनी सत्य है ऐसी जो रुचि होती है उसे कहते हैं नि शकित अग है।

स्वाधीनता व निःशङ्कता—निश्चयसे अतरगमे मेरे स्वरूपका कोई बिगाड कर सकने वाला नही है । यह स्वरूप ध्रुव है जिस स्वरूपको लिये हुए अनादिसे चल रहा, उस स्वरूपको शरीर तो क्या अनन्त कर्मवर्गणाएँ या उनके फल भी क्या कोई मुझे उस स्वभावसे खडित कर सकते है ? न शरीर मुझे स्वभावसे मिटा सकता और न रागद्वेषादि भाव मुझे स्वभावसे मिटा सकते । मुझ चेतनको चेतनसे अलग कर अचेतन करनेकी किसीके ताकत नही । अवस्था मे भावकर्मके उदयसे निर्बलता है परन्तु स्वभावको मिटा नही सकता, स्वभाव चैतन्य ही रहेगा और यह चैतन्य एकाकी है, स्वतन्त्र है, अपनी परिणतिसे परिणमता है, निःशकित अग वाला ऐसा विचार करके अपने आपके पैरो पर खडा है ।

सिंहवृत्ति—सिंहवृत्ति और स्वानवृत्ति इनमे बस एक यही अन्तर है कि सिहवृत्ति वाले जीव अन्तरात्मा अपने चैतन्यस्वभावका स्वावलबन करता है, अपराध भी हो जाय तो अपने रागद्वेषादि अपराधको देखकर उसे मेटता है परन्तु स्वानवृत्ति वाले मोही प्राणी न अपने चैतन्यस्वभावका भान करते और अपराध भी करे तो वह न समझता है और न अपराध को निकालनेकी कोशिश करता है, किन्तु जो निमित्त अपने घातमे पड गया उस निमित्तपर लक्ष्य करके निमित्तको ही तोडने जोडनेके विषयमे प्रयत्न करता है । जैसे कुत्तेको लाठीसे मारा जाय तो वह मारने वालेपर दृष्टि न डालकर लाठीपर दृष्टि डालकर उसे चाबता है । सिहवृत्ति वाला सम्यक्दृष्टि कहलाता और स्वानवृत्ति वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता । इस तरह दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमे कहे जाने वाले सम्यग्दर्शनके आठ अगोमे पहिला अग निश्चय और व्यवहारसे कहा ।

निःकांक्षित अङ्ग—दूसरा अग निःकाक्षित है । इसका यह अर्थ है कि अपने चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त किसी परिणतिमे अनुराग नही होना निश्चयसे निःकाक्षित है । जितनी भी मेरी कषायकी वृत्ति होती है उन कषायोकी वृत्तिमे रुचि नही होती, इस प्रकार कषायकी वृत्ति उठकर भी वह प्रगटमे अलग बना रहता अपने ही आत्माके प्रदेशमे । फिर उसके उपयोगसे बिल्कुल अलग बना रहे इसमे कितना बडा बल और शाँति है ? यह सम्यग्दर्शन की ही ताकत है कि अपनेमे उठने वाली पर्यायसे ऐसा और अपने आपसे अलग रहता हू, अलग ही सा हो रहा हू अपने अन्दर । अनगार धर्मामृतमे धर्मका महात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है, जो धर्मात्मा पुरुष है उस धर्मात्मा पुरुषके बाह्यमे यदि कोई उपसर्ग दुख विपदा आजाय तो उसका चेहरा उदास तो दीखता है । पर धर्म भीतर खुश है वह ज्ञान भीतर अनुकूल है ऐसा अतरग सुख परिणाम आता यह सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है । वहाँ किसीने प्रश्न किया कि धर्म यदि आनंद भरा रहा है तो चेहरेपर उदासी क्यो है ।उत्तर-धर्म मानो कुछ डर गया है सो वह ऊपर अपना हर्ष नही बताता, भीतर तो अपना हर्ष

रखता ही है परन्तु धर्म अपनेमे अनाकुलताको ही लिये हुए है। वह ज्ञानी यद्यपि ऊपर उदास रहता है परन्तु भीतर अनाकुल है। तो उसके भीतरमे उसके चेहरेपर कोई सम्यग्दृष्टि ही देखता। उदासीके समयमे सम्यग्दृष्टिके चेहरेपर खुशी ही देखेंगे ज्ञानीके बातोकी सारी कलायें ज्ञानीको मालूम है। वह अपनी कलाओके द्वारा ही दूसरेको देखता है। साधारण लोग उसमे उदासी ही देखते है। परन्तु वह भीतरमे हो अनाकुल रहता है। उस ज्ञानी जीवके जिसने अपने अपने चैतन्यस्वभावका दर्शन किया, कर्मके आधीन होने वाले और अतमे नष्ट होने वाले दु खके उदयसे जो भरा हुआ है, पापके कारण है, ऐसे विषयसुखमे उसे रुचि नही होती। उसे बडी ग्लानि होती, यह नि काक्षित अङ्ग है। चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त और भावकी इच्छा नही होना, निश्चयसे नि काक्षित अङ्गका अन्तरग है, और जगतके बाह्य सुखोकी चाह नही करना व्यवहारसे नि काक्षित है।

निर्विचिकित्सित अङ्ग—इसी तरह निर्विचिकित्सित धर्मी साधुको देखकर जिनका शरीर मलिन है, मुखसे दुर्गन्ध भी आती है व जो बीमार साधु है, दस्त भी लग रहे हैं, मूत्र पेशाबसे भी लथपथ है, फिर भी ज्ञानी जीव ऐसे प्रवाहमे उस साधुके शरीर तकसे भी ग्लानि नही करता और ग्लानिरहित होकर उसकी सेवा करता है। ज्ञानीके ज्ञानमे इतना अनुराग है कि ज्ञानीमे अनुरागको पाकर शौच वगैरह भी ग्लानि जैसी तुच्छ परिणित उसके हृदयमे नही रहती। इस बातको दृष्टात ले करके भी देख लो। माताका पुत्रमे बडा अनुराग रहता है। यदि पुत्र टट्टी भी कर जाय पर माताको ग्लानि नही होती। अपने हाथसे साफ कर देती है और दूसरे लडके की टट्टी पडी हो तो उसमे ग्लानि आती है। इसका कारण क्या है कि इस माताको अपनेसे इतना अनुराग है कि उस अनुरागके कारण टट्टीविषयक ग्लानि विदा हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीवको धर्मात्मामे इतना अनुराग रहता है कि धर्मात्माके शरीरसे उस ज्ञानीको जरा भी ग्लानि नही होती है, जिससे अनुराग हुआ उसके दोषमे भी ग्लानि नही रहती, कभी कभी यह तो अनुभवकी बात है। तो फिर शरीरके मलसे उसे ग्लानि क्या रहे? जैसा कि माता पुत्रके कोई दोष समझे तो भी पुत्रसे ग्लानि नही करती। कोई सुन्दर प्रेमके उपायसे उस दोषको छुडानेका प्रयत्न भीतर स्वभावसे हो रहा है, इसी तरहसे ज्ञानी जीवको धर्मात्मामे कदाचित दोष भी है तो भी धर्मात्मासे ग्लानि नही होती। परन्तु अपने सदुपायोसे उसके दोष जिस प्रकार निकले—इसके प्रयत्न स्वयमेव हो जाते है। निर्विचिकित्सित अंग कितना रहस्य भरा है, अतरगमे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ यह जो विभाव है उनसे क्षोभ नही पाता हुआ चैतन्यस्वभावके दर्शनमे ही उसकी रुचि बनी रहती है। कभी भी उसमे यह भाव पैदा नही होता है कि मैं इतने दिनसे धर्ममे लग रहा हू, पर धनी न हो पाया, मेरे अवधिज्ञान चमत्कार आदि पैदा नही हो पाया। इसको धर्ममे

ग्लानि स्वप्नमे भी नही होती । ऐसा यह निर्विचिकित्सित अङ्ग है । इसी तरहसे अन्य अङ्ग जिनका वर्णन कल करेंगे उनकी शक्तिरूप इस दर्शनके होनेपर ज्ञानीमे वस्तुपरिणाम होता है कि मोहसे छूटकर चैतन्यस्वभावको पायें, ऐसा उनको प्रभुमे अनुराग होता है, इस भावमे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है ।

स्वभावलाभमे त्रैरूप्यताका प्रकरण—शुद्ध आत्माके स्वभावका लाभ उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके सहित है । १७ वी गाथामे यह बात बतलाई थी कि यह स्वयभु स्वमे स्वयके लिये स्वयके द्वारा होता है । तब कही ऐसा न समझो कि यह तो अभावकी बात होगी, ऐसा सकोच संदेह किसी श्रोताको आ गया तो उसके निराकरणके लिये यह गाथा चल रही है । श्रोता भी निराकरणके द्वारा वस्तुको शुद्ध कर रहा है । वहाँ कुछ चीज न हो ऐसी बात नही है । उसमे तो खासियत यह है कि कोई पर्याय उत्पन्न होती, कोई पर्याय नष्ट होती है और द्रव्य ध्रौव्य रहता है । यदि वह स्वयभु कोई चीज है तो यह बतलाओ कौनसा पर्याय उत्पन्न हुआ और कौनसा नष्ट हुआ ? देखो वहाँ शुद्धपर्याय तो उत्पन्न हुई और अशुद्ध पर्यायका नाश हुआ और दोनोमे एक द्रव्य हुआ ।

अशुद्ध पर्यायमे त्रैरूप्यता—उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बातको शुद्ध स्वरूपमे घटाया है, अब अशुद्ध स्वरूपमे भी देखो—एक मनुष्य मरकर देव हुआ तो देवपर्यायसे उत्पन्न हुआ और मनुष्यपर्यायका विनाश हुआ । देवपर्याय कब उत्पन्न हुई और मनुष्यपर्याय कब नष्ट हुई ? क्या ऐशा होता है कि पहिले मनुष्यपर्याय नष्ट होती है, पीछे देवपर्याय पैदा होती हो या यह कि पहिले देवपर्याय पैदा होती है और पीछे मनुष्यपर्याय नष्ट होती है कि एक समयमे एक साथ मनुष्य पर्यायका नाश और देवपर्यायका उत्पाद होता है । हाँ एक ही समयमे मनुष्यपर्यायका नाश होता है और देवपर्यायका उत्पाद होता है । सयोग वियोग एक ही समयमे है, जैसा हम और आप दोनो किसी गांवमे जा रहे हो । रास्तेमे एक छोटासा गाँव आया, वहा सलाह हुई कि आगे हम अकेले जायेगे, यहासे लौट जावो । तब आप वहीसे लौट गये । फिर कोई आदमी पूछता है कि तुम्हारा उनका कहाँ वियोग हुआ तो उत्तर है उस छोटे गांवमे वियोग हुआ । उस छोटेमे भी दोनोका साथ था, वियोग कैसा ? तो जैसे सयोग और वियोगका स्थान एक ही है, जहाँ वियोग हुआ वह स्थान अतिम सयोगका भी था । जैसे मनुष्य आयुमे निषेक ८ बजे तक चल रहा है । ८ बजकर एक समयपर देवआयुके निषेकका उदय हुआ । यहा देखो मनुष्यका ८ बजे तो मनुष्यआयुका उदय है, सो वहा तो मरण नही, आयु का उदय आया वहाँ वह देव बन गया तो मनुष्य मरा कहाँ ? यह बतलाओ मनुष्यके मरने की बात यदि कही जा सकती है तो देवआयुका जो प्रथम निषेकका उदय है वह जिस समयमे है उस समयमे मनुष्यका विनाश कहा जा सकता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही में हुआ,

इस बातका इस प्रवचनसारमे ज्ञेयाधिकारमे विस्तृत वर्णन होगा ।

वस्तुकी त्रैरूप्यताके बोधसे शिक्षा—देखो जब नवीन पर्यायका उत्पाद हुआ वहाँ उसी समय पूर्वपर्यायका विनाश हुआ । यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुका ऐसा स्वभाव न हो तो जो पुरुष अधर्मी है वह अनन्तकालमे अधर्मी ही रहेगा, जब उसमे दूसरी पर्यायका उदय हो तो अधर्मी पर्यायका विनाश हो, इसलिये धर्मी पर्यायके उत्पाद बिना अधर्मपर्यायका विनाश नही होगा । भैया ! उत्पाद व्ययका इसमें स्वभाव पडा है, इसलिये कल्याण हो सकता है । प्रत्येक जीवके नवीन-नवीन पर्यायका उदय होना पूर्व पर्यायका विनाश होना यह हम सबके अनुभवमे भी आता है और पौराणिक कथामे भी सुनते है तो वही स्पष्ट है । क्षण क्षणमे दूसरी पर्याय देखी जाती है, यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका ऐसा स्वभाव है, क्षण क्षणमे आत्मामे पर्याय बदलती रहती है, इस तरहसे अपनी पर्यायको विनाशीक जान कर पर्यायमे मोह न करो, किसी पर्यायमे आत्मबुद्धि न करो । जो नाश हो जाने वाली चीज है उसको अपना मानने से अपना लाभ नही हो सकता । जो ध्रुव चीज है उसमे आत्मीय बुद्धि करनेसे अपनेमे कुछ मिल सकता है । लोग अपने-अपने करामातोको दिखाकर चले गये, उनकी कोई भी बात नही रही । उस भवमे क्या होता होगा, उस भवमे अपने परिणामके अनुसार सुख दुःख पाता होगा । यह जीव इस ही तरह निज विज्ञान घनसे भ्रष्ट होकर विभावोंमे ही रत रहता हुआ ससार परिभ्रमण करता है । सयोगाधीन दृष्टिका ही विकारी स्वाद लेता रहा है । हे आत्मन् ! देख सौभाग्यसे सुभवितव्यसे यह उत्तम नरभव पाया । आत्मा तू वही है जो पहिले था, अनेक भवोंके अनेक सपदाविपदासे तू अाघाया नही । सारे भ्रमणका मूल पर्याय बुद्धि है । इस पर्याय बुद्धिको छोड द्रव्यदृष्टि कर । तू स्वभावकी महिमा तो देख । परद्रव्यसे अत्यत भिन्न अपनेमे अविभक्त शुद्ध निर्मल निरुपाधि पारिणामिक भाव सुधाका पान कर । जो तेरे स्वभावके अनुरूप है वह तो तेरी कला है और जो विपरीत है वह सब कलक है । तेरा स्वभाव है विशुद्ध चैतन्य और भी ध्यान रख, तू सामान्यविशेषात्मक है, फिर भी तू इन दो तत्त्वोमे जो कि एक साथ रह रहे हैं मात्र विशेष की पहिचानमे रहा, इसके फलस्वरूप अनतकाल सक्लेश सहा, आकुलित क्षुब्ध रहा । अब तू यह कर, विशेष तो ज्ञेय बना, उसका विरोध न करके सामान्य का दृढ अवलम्बन ले, ऐसा दृढ अवलम्ब लक्ष्य कर कि जिसके बाद अन्य पक्ष न आवे और यह पक्ष भी मिट जावे । तू शुद्ध बुद्ध निरञ्जन ज्ञान पूर्ण है, उस स्वरूपको क्यो नही देखता ? पूर्ण विश्वास और व्यवहार कर कि शुद्ध चैतन्यभावके अतिरिक्त कोई भी औपाधिक भाव मेरे नही है ।

कौलिक निःशङ्कताका एक दृष्टान्त—भैया ! एक शिवखके २ लडके थे । उनमे छोटा लडका पढने लिखनेमे चतुर था । लोगोंके समझानेपर उसे पढाया और पढने विलायत भेज

दिया । जब वह बैरिस्टरी पास करके आया तब मडलाधीशने उसका उत्सव किया । वहाँ वह कलेक्टर कहता है उसके पितासे कि यह तुम्हारा बालक बहुत होशियार है, तब पिता बोला कि यह मेरा लडका नही है मेरा लडका तो (बडेका इशारा करके) यह है । कलेक्टर ने पूछा कि यह तो बडा बुद्धिमान् बैरिस्टर है, इसे अपना न कहकर इस अपडको क्यो अपना कहते हो ? तब सिक्ख बोला कि यह पढ ही तो आया है, रोजगार अच्छा कर लेगा, इतनी ही तो बात है, परन्तु हमारे कुलकी कलामे तो पूरा नही है । कलेक्टरने पूछा—इसकी पहिचान ? तब सिक्ख ने एक ८ हाथकी चौडी खाई खोदी और कहा कि मेरे कुलमे शूरता निर्भयता और कर्मठताकी कला चलती रही, इसे पूरा कराइये, इस खाईको उल्लघ जावे । वह बैरिस्टर एक घोडे रथ सवार होकर उसे लाघन आया । ज्यो ही खाईके पास आया घोडेकी लगाम तान ली और रुक गया । बडे लडकेसे कहा कि अब तुम इस खाईको लाघो । वह बोला स्वय कूद कर लाघू या घोडे पर सवार होकर ? सबने कहा कि घोडेपर सवार होकर । यह घोडे पर सवार होकर चला, घोडा दौडता हुआ जब खाई के पास आया तब उसने एक ऐड और लगाई, घोडा लाघ गया । फिर वह स्वय बोला इसमे तो घोडेका ही बल था, अब मै स्वय लाँघूगा । वह दौडा और कूद कर स्वय लाघ गया । जब इसका विवरण हुआ तब पता चला कि बैरिस्टरको मरनेकी शका थी, बडेके मनमे यह शका ही न थी । भाइयो ! जगतके बाह्य अर्थोंके निमित्त इस अमर विशुद्ध चैतन्यमे अब क्या शका करते हो ? तुम अनत चतुष्टयके अधिकारी हो, इस मोह खाईको लाघ जावो यह तुम्हारे कुलकी कला है अन्यथा बडे-बडे विज्ञान भी पा लो, स्वरूपदृष्टि नही हुई तो उसे भगवानका प्यारा नही समझना । निज अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावकी प्रबल भावना करो तब उस उपयोगमे राग द्वेषको अवकाश ही नही मिलेगा । इनका वस्तुत कोई स्वामी नही है, मात्र भ्रमसे इस जीवने पालन पोषणका भार ले रखा है ।

अमूढदृष्टिता—देखो रागादि यदि आत्माके है तो जब तक आत्मा है सदा रहना चाहिये और यदि पुद्गलकर्मके है तो पुद्गलकर्मका ही कुछ होता रहो, आत्माको इसमे क्या बिगाड हो, फिर क्यो क्षुब्ध होता है । निमित्त दृष्टिसे देखो तो पुद्गलकर्मके है व उपादान दृष्टिसे देखो तो आत्माके है परन्तु स्वभावदृष्टिसे देखो तो वे हैं ही नही । तब स्वभावदृष्टि बनाओ, उनका ध्यान ही हटावो, वे तो मिटेंगे ही । आत्मा परिणमनशील है । यह अधर्मपर्याय छूटकर धर्मपर्याय आती है अथवा यों अधर्म पर्याय छूट जाती है, दोनोका एक ही समय है । धर्मदृष्टिसे धर्मपर्याय आती है और अधर्मदृष्टिसे अधर्मपर्याय आती है । धर्म है आत्माका चैतन्य स्वभाव । कहा भी है "वत्थुसहावो धम्मो" तब इस ही प्रतिभासमात्र चैतन्यभावका लक्ष्य रखा तो ध्रुव नित्य अत.प्रकाशमान है, फिर सब कल्याण ही कल्याण है । इस निर्मल दृष्टि

के होनेपर वे भाव ही नही आते जिनसे मिथ्यात्वादि पाप कर्म बधते हैं, हा पहिले अज्ञान अवस्थामे जो कर्म बाधे थे उनका कुछ विपाक है, उसे कदाचित् गुजारेमे करता है तो भी ज्ञानी अपने निर्मल लक्ष्यके कारण स्वभावमे ही ढलता है और कर्म निर्जराको प्राप्त होते जाते है। अत सर्व विकल्प छोडकर मात्र निज पारिणामिक भावका ही लक्ष्य रखो, इसही मे सत्य कल्याण है। इसमे कभी पर्यायमूढता नही आती। पर्यायमूढ परसमय है, द्रव्यद्रष्टा मुक्तिमार्गके सत्य सैनिक है। दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमे कल निर्विचिकित्स अग तक हो गया, इसके बाद अमूढ दृष्टि अग है वह यही तो अमूढता है। अमूढदृष्टि कहते है कि ऐसी दृष्टि होना जो मूर्खता पूर्ण न हो, उसे कहते हैं अमूढ दृष्टि। मूढ माने मूर्खता पूर्ण दृष्टि होना सो मूढदृष्टि और मूढ दृष्टि न होना सो अमूढदृष्टि। कुदेव कुगुरु कुशास्त्र इनमे श्रद्धा जाना सो मूढदृष्टि है इनमे न जाकर देव शास्त्र गुरुमे ही रुचि रहना यह अमूढ दृष्टि है। निश्चयसे आत्माका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपमें सावधान रहना, उसमे मूर्खता न आना, इस स्वरूपके विरुद्ध अपने आपको न समझना अमूढ दृष्टि अग है। ज्ञानी जीव निर्भय क्यो रहता है इसलिये कि उसे अपना स्वरूप हस्तगत है इसलिये भयका कोई प्रयोजन नही। भय क्या है, लाखका टोटा पड गया, इसमे भयकी क्या बात है, मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप अनत गुणका पिंडरूप ज्योका त्यो अब भी तो हू। यहाँसे गया क्या ? यहाँ किन्हीने कोई उपसर्ग कर किया तो भय काहेका ? यह अनतगुणोका पिंडरूप आत्मा ज्योका त्यो यहाँ ही तो है इसमे आया क्या ? इसमे गया क्या, ऐसी वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा है। इसलिये सम्यग्ज्ञानी जीव निर्भय होता है। सम्यग्दृष्टि अनादि अनत अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभावसे कभी मोही अज्ञानी नही होते।

उपगूहन अङ्ग—अमूढ दृष्टि अगके बाद उपगूहन अग है। उपगूहन अग कहते हैं धर्मात्माओंके दोष छिपानेको। दोष कई तरहसे छिपाया जाता है। जैसे एक तो प्रजामे दोषो को प्रगट न करना क्योकि उस धर्मात्माके दोष प्रगट करनेसे किसीको लाभ नही होता। न तो प्रजाका ही लाभ होता व न कहने वालेको हो, न जिसके दोष कहे गये उसको लाभ होता है। दूसरे धर्मात्माओंके जो दोष है उनको समझाकर उनको दूर करना, इस तरहसे दोषका उपगूहन होता है—तीसरा यदि धर्मात्मा माने ही नही, एकदम उद्दण्डतापर उतारू हो जाय, यदि आयोग्य क्रिया करता रहे तो उसे गुरुजन डाटकर उचित दड देकर यहा तक कि सघसे निकालकर दीक्षा छेद कर उसके दोषोको धार्मिक प्रवाहमे से निकाल देते हैं अर्थात् जिस किसी प्रकारसे धर्मकी प्रसिद्धि हो उस उपायसे उपगूह करे। समाजमे देशमे दोष प्रगट करने से धर्मका ही हास्य लोग करते हैं, इसलिये दोष प्रगट न होने देना उपगूहन अग है। यहा कोई उपाय कर उसे छिपाओ, उसे समझाओ या उसे दड लिवाओ, कुछ भी प्रक्रिया करो परन्तु लोगोको उनके दोष प्रगट न हो सकें, ऐसी बात करना उपगूहन अग है। इसका दूसरा

नाम उपवृहण अग है । आत्माके गुणोकी वृद्धि करना अपने गुणका विकास करना सो उपवृहण अंग है और अपने चैतन्य भावमे दोपोको नही आने देना सो उपगूहन अग है धर्मात्माओके दोषोको प्रगट न होने देना व्यवहारमे उपगूहन अङ्ग है, अपने आपके चैतन्यस्वभावमे अपने दोषोको प्रगट न होने देना, उत्पन्न न होने देना, सो निश्चयसे उपगूहन है ।

स्थितिकरण अङ्ग—उपगूहन अगके बाद स्थितिकरण अग है । कोई धर्मात्मा धनके अभावसे या आजीविकाके अभावसे या लोगोके अपयशसे या शरीरकी कमजोरीसे किसी कारण से धर्मसे विचलित हो रहा है तो उसे विविध उपायोसे धर्ममे स्थिर करना, स्थितिकरण अग है । जैसे पुष्पडाल मुनिको वारिषेण मुनिने अपनी गृहस्थीकी रानियोको श्रृङ्गार करवा करके दिखाकर पुष्पडाल मुनिको वैराग्य बढाकर धर्ममे स्थिर किया । उपाय नाना होते है, ध्येय एक होना है तथा निश्चयसे अपने आपको काम, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोसे विचलित होते हुए भी सद्वचनोके द्वारा अपने आपमे स्थिर कर दिया सो स्थितिकरण अग है । दूसरे को स्थिर करना बाह्य स्थितिकरण अग है । अपने आपको स्थिर कर देना सो निश्चयसे स्थितिकरण अग है ।

गुणदोषदर्शनका विवेक—यह जीव अनादिसे कर्मोसे मलिमस है । यह अनेक दोषोको बनाता जाता है, जब तक यह जीव स्वरूपमे नही छुपता अप्रमत्त अवस्थामे नही होता तब तक किसी भी जीवकी आलोचना करे तो आलोचनाके लिये ५० विषय मिलते रहेगे जब तक दोपका पिटारा है । यहाँ कौनसा ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो गुणोसे ही भरपूर मिलेगा ? बडेसे बडे गाँधी नेताको भी लो, ऊँचेसे ऊचे साधुके दोष खोजने चलो तो दोष मिल जायेंगे, क्योकि परमात्मा ही निर्दोप है परन्तु जिनके दोष खोजने मात्रकी ही आदत है उसके सबसे बडा यही है दोष । दोषदृष्टि वालेको सर्वत्र दोष ही नजर आयेंगे, गुण तो उसकी दृष्टिमे आ भी नही सकते । कोई विवेक ऐसा होता जो गुण और दोष देख करके गुणपर विशेष भार देवे । जो गुण ही देखे वह गुणी और गुणका प्रेमी है । इस कारण हम और आपको यदि अपने कल्याण मार्गमे चलना है तो दोषदृष्टिको दूर कर अपना मार्ग साफ करनेके लिये गुणदृष्टि लेना चाहिये । दोषदृष्टि लेने वाले अपने दोषकी दृष्टि करे, मुझमे क्या क्या दोप है ? हाँ अपने ही उद्धारके लिये हमे यदि शरणके दोष जाननेकी आवश्यकता हो व दिखनेमे आ जाय तो उस का निषेध नही, क्योकि जहाँ हमे श्रद्धा करके अपना कल्याण मार्ग बनाना है वहाँ हमे निर्दोप का आश्रय लेना चाहिये । ज्ञानी उस दोपको जाननेका अपने कल्याणके वास्ते ही प्रयत्न करते है, परन्तु आज तो संसारमे रूढि चल गई । जो दोष देखते है वह अपने कल्याणके वास्ते दोप नही देखते किन्तु अपना व्यसन बढानेके लिये उस दोषको देखा करते हैं । जो भी काम करे अपने हितके लिये करे । अपने हितके लिये दूसरेके दोषोको समझो परन्तु अपने हितका जहाँ

लेश भाव है ही नही और दोष देखकर जहा व्यसन बना रहे, वह स्वय उसके लिये घातक है।

स्थितिकरणके प्रयत्न—स्थितिकरण अग वाले किन उपायोसे धर्मात्माओकी स्थिति करते है ? यह उपाय सम्यग्दृष्टि होनेपर उसके सरल बन जाता है। उद्देश्यका बोध होनेपर भैया ! उलझन नही, दूसरेको किस प्रकार धर्ममे स्थिर करे, यह उपाय उसकी समझमे ही है। कितनेके दोष समझाकर दूर किये जाते हैं, कितनेके दोष दड देकर दूर किये जाते हैं कितनोको स्थिर करना उपदेशसे होता है, कितनोको स्थिर करना विनयसे होता है, कितनो को स्थिर करना अनुराग बढानेसे होता है, कितनोको स्थिर करना सेवासे होता है कितनोको स्थिर करना धनकी सहायतासे होता है। जुदी-जुदी परिस्थिति वालोमे जुदे-जुदे उपायोसे स्थिर करनेका उपाय चलता है। स्थितिकरण—दूसरा यदि धर्मसे विचलित होता है तो उसे धर्ममे स्थिर कर देना स्थितिकरण अग व्यवहारमे है। खुद धर्ममे विचलित होता हो तो खुद को धर्ममे स्थिर करना निश्चयसे स्थितिकरण अङ्ग है।

वात्सल्य अङ्ग—अब वात्सल्य अङ्ग सुनिये–वात्सल्य अङ्ग कहते है निश्छल निष्कपट प्रत्युपकारकी आशा बिना जो धर्मात्माको प्रेम किया जाता है उसको कहते है वात्सल्य अङ्ग। विष्णुकुमार मुनिको कौनसा स्वार्थ था जो ७०० मुनियोको उपसर्गसे बचानेके लिये इतना बडा त्याग किया, कितना बडा त्याग कि त्यागका त्याग करके ऐसा उपसर्ग बचा लिया। आप कहो कि त्यागका त्याग करने वाले बहुत मिल जायेंगे परन्तु त्यागका त्याग करनेमे जिन्हे खेद हो रहा है और त्यागका त्याग बडे ही कार्यके लिये आवश्यकसा मालूम पड रहा हो, वही त्यागका त्याग करे तो उसकी आत्मासे पूछो कितना दु ख होता है विष्णुकुमारने इतना दु.ख स्वय अपनेपर लेकर जहाँ उपसर्ग बचाया है, देखो वात्सल्यकी कितनी पराकाष्ठा है ? प्रेम कहते है तो इसको कहते हैं धर्मात्माओके उपसर्ग आनेपर उनका उपसर्ग दूर करना प्रेम बढाना यह वात्सल्य अङ्ग व्यवहारसे है। निश्चयसे अपने आपके ज्ञायकभावमे रुचि करके उसमे स्थिरता से रहना, अपने गुणमे प्रीति करना इसको कहते हैं वात्सल्य अङ्ग।

प्रभावना अङ्ग—आठवा अङ्ग प्रभावना है। इस अङ्गमे अज्ञानरूपी अधकारको दूर करके जैनशासनकी प्रभावना करना प्रभावना अङ्ग है। बडे-बडे उत्सव भी मना लिये जायें, बडे-बडे कल्याणक भी मना लिये जायें, परन्तु अज्ञानरूपी अधकारको दूर करनेका उस उत्सव मे कोई उपाय नही रखा तो वह प्रभावनाका रूप नही है। लाखो रुपया खर्च करके उत्सवमे दूसरेके अज्ञानको दूर करनेका कोई उपाय नही रखा तो वह प्रभावना अङ्ग नही है। हा कल्याणक हुए, स्थापना की, पचकल्याणक बन गये, उसे उत्सव कह सकते, परन्तु प्रभावना वह कहलाती है कि जिसके द्वारा लोग देखकर यह कहेगे कि यह उद्धार करने वाला धर्म है। तो यह बात दूसरेके हृदयमे आ जाय तो उसका नाम ही प्रभावना है। अब आप सोच लो कि

दूसरेके मनमे यह बात कैसे आ सकेगी ? यह आ सकेगी उनको ज्ञानदान देनेसे । ज्ञानदानसे बढकर और कोई प्रभावना धर्मकी नही होती, यह तो है बाह्य प्रभावना । परतु अपने आपको रत्नत्रयके तेजसे प्रभावित करके बढाना उसे कहते है अतरङ्ग प्रभावना । इस तरह आठ अंगो से सहित उसका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है । मूढतासे रहित अनायतनोसे रहित सम्यग्दर्शनके होनेपर जिसका यह परिणाम हो जाय, जिसका चैतन्यभाव अपनेमे देखा ऐसा चैतन्यभावकी सबमे स्थापना करके ये ऐसे सुखमय अपने चैतन्यस्वभावको क्यो देखते नही, क्यो दुःखी हो रहे, कैसे इनका संसार दूर हो, ऐसे परिणाममे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है । तीर्थंकर प्रकृति तो आस्रवरूप है किन्तु सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग है ।

स्वरूपावगमके लिये त्रैरूप्यताके वर्णनका पुनः उपक्रम—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अतमे जो पूर्ण अवस्था होती है अब उसी पूर्ण अवस्थाका उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी दृष्टिसे इस १८वी गाथामे वर्णन करते है । उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें प्रत्येक द्रव्यमे पाई जाती है । उस कारणसे शुद्धात्मामे भी ऐसी अवस्था होती है । द्रव्यका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है (युक्त है) । प्रत्येक द्रव्यमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाया जाता है, तव शुद्धात्मा कोई द्रव्यसे न्यारा थोड़े ही हो गया, वह भी तो द्रव्य है, शुद्ध हो गया, शुद्धात्माके उत्पाद व्यय ध्रौव्य खोजना ऐसा कहते है या ऐसा हुवाते है । कहाँ हुवाते है ? उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें भी मेरे उपयोगमे विशेप रूपसे हुवाते है, कहाँ हुवानी है ? सिद्धमे हुवानी है अर्थात् अपने ज्ञानके द्वारा सिद्धमे इस समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध करते है और जिसमे सिद्धोका उत्पाद व्यय ध्रौव्य देखो, जानो, समभो, ऐसे जैसे कि इस उपयोगके अनुरूप अपने आपमे ऐसी कोई विशेपता पावें । इस प्रकार उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्यको कहते है ।

उप्पादो य विणासो विज्जादि सव्वस्स अत्थजादस्स ।
पज्जायेण दुकेण वि अत्थो खलु होदि सब्भू दो ॥१८॥

वस्तुकी त्रैरूप्यमयता—समस्त जितने भी पदार्थ है उनका किसी पर्यायमे तो उत्पाद होता है व किसी पर्यायमे विनाश होता है परन्तु उन सब पर्यायोके अन्दर पदार्थ सद्भूत रहता है । जैसे शुद्ध सोनेकी अङ्गद पर्यायसे तो उत्पत्ति हुई, अङ्गद कहते है जो भुजावोमे पहिना जाता है, जैसे सोनेकी बाजू बदरूपमे पर्याय की तो उत्पत्ति देखी गई और और जो पहिले थी उन अगूठियोकी पर्यायका विनाश हुआ व पीली आदि पर्याय जो कि यहां गुणस्थानीय है दोनो जगह उत्पत्ति विनाशको नही प्राप्त हुआ, यहा इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य हुआ अर्थात् सोनेकी ५, ७ अगूठिया थी । किसीने कहा कि इन अंगूठियोका एक अङ्गद बना दो । उसने उनका अगद बना दिया तो देखो वहां अङ्गदका तो हुआ उत्पाद और अंगूठियोंका विनाश, परन्तु सोना दोनो जगह वही सोना है वही पीलापन है तो पीलापनका और सोनेका ध्रौव्य

रहा है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंका किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश होता और किसी पर्यायसे ध्रौव्यपन बना रहता। इतनी ही वस्तु है और वह स्वयं परिणमता हुआ है। प्रति क्षण-क्षण वह परिणमता ही रहता है, अमुक समयका जो परिणमन है उसको उत्पाद और उसीको विनाश कहते है।

अभावैकान्तका प्रतिषेध—वस्तुतः विनाश और अभाव सर्वथा अभाव रूप नही हुआ करता किन्तु किसी कि सद्भावरूप होता है। जैसे किसीने कहा चौकीपर समयसार रखा होगा उसे उठा लावो, उस चौकीपर समयसार था ही नही। तब वह कहता है कि वहाँ समयसार नही है, उसे वहाँ समयसारका अभाव दिखा है क्या? समयसारका अभाव चौकीके सद्भावरूप पडा अर्थात् समयसाररहित चौकीका नाम समयसारका अभाव है। क्योकि जिसके समयसार का अभाव समझमे आया उसके दिमागकी दृष्टिको देखो कि उसके कैसे समझमे आया अभाव? ऐसे ही समझमे आया कि जिस आधारमे समयसार उसे न मिला वह आधार देखा तब समयसारका अभाव उसने कहा। इसलिये अभाव किसी पदार्थोंके सद्भावरूप हुआ करता है तब पर्यायका विनाश ऐसे दूसरी पर्यायका सद्भावरूप हुआ करता है। देवपर्यायका उत्पाद ही मनुष्यपर्यायका विनाश कहलाता है। जिस क्षणमे प्रथम ही प्रथम देवपर्यायका सद्भाव हुआ उस अवस्थामे मनुष्यपर्यायका अभाव कहा जाता है।

उत्पादव्ययध्रौव्यका एक ही समय—वस्तुके उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकमे स्थिति है। स्थिति है उसका नाम ही उत्पादव्ययध्रौव्य है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे, इस तरह वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य है। ध्रौव्य वह होना कहलाता है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे। इस तरह वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यमे गुम्फित है और जितने गुण है उतने गुणोका उत्पाद और उतने ही गुणोका विनाश और उतने ही गुणोका ध्रौव्यभूत ही वस्तु है। इसलिये वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त समझनेके लिये ज्यादा कठिनाई नही पडती। प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूपमे दिख रही है। लोकव्यवहारमे एक मनुष्यके लिये पिता, पुत्र, मामा भानजा आदि रिश्तोका उपयोग किया जाता है। प्रतीत होता है कि उस मनुष्यमे मामापन भी है, भानजापन है, पुत्रपन भी है। ऐसे-ऐसे कितने धर्म मनुष्यमे है, परन्तु कोई एक अपेक्षासे ही सारेके सारे रिश्ते मान ले, लडकेके ही सारेके सारे रिश्ते मान ले तो वह विरोध खा जायगा। जितने धर्म होते उतनी ही अपेक्षायें होती हैं। जितने गुण होते उतनी ही दृष्टियाँ होती है। एक बार बनारसमे गगादास नामके पडित रहते थे। वह सभी सिद्धातके बडे पारगामी थे। जैन सिद्धान्तो को पढनेका मौका मिला, सो उन ग्रन्थोकी छाप पड गई। जिनसिद्धान्तके ग्रन्थोको पढनेकी स्वार्थियोके यहाँ बहुत तेज मनाही है। क्योकि जैनसिद्धान्त सरल सत्य सीधे रूपमे रखे हैं। जो ठीक जल्दी सच्ची समझमे कारण हो जाते हैं। इसलिये यह डर लगता कि कही पढकर यह श्रद्धा न कर बैठे तो हमारे घरसे चला जाय, ऐसे डरके कारण जैनसिद्धान्तको पढ़नेकी

मनाही है। पर जैनसिद्धान्त यह कहते है कि दुनियांके जितने सिद्धान्त है तुम सब सिद्धान्त को पढो, सर्व धर्मके मत खूब पढो, सब मतोको पढ़ो और उस मतमें दोष देखनेकी दृष्टिसे न पढो, सब मतोंका अध्ययन करो और उस मतके गुणको देखो। दोष हो तो दोष भी समझो, अपनेमे वह दृष्टि लेवो कि इसका सिद्धान्त किस दृष्टिसे ठीक बैठता है ?

सिद्धान्तोंका सिद्धान्तदर्शकोंकी दृष्टिसे दर्शनका यत्न—जगतमे जितने सिद्धान्त है किसीका सिद्धान्त सर्वथा असत्य नही है, किसी दृष्टिसे इनका सिद्धान्त ठीक, किसी दृष्टिसे इनका सिद्धान्त ठीक नही। जगतके जितने सिद्धान्त सब दृष्टिमे ठीक है, परतु आचार विचारकी अभी बात नही कहता हू। जिसमे आप यह शका करने लगें कि बलि करना कौन तरहसे ठीक है, हिसा करना कौन तरहसे ठीक है ? ये कार्य स्वरूपके नही है। हम तो सिद्धान्तकी बात कहते है, द्रव्यके स्वरूपकी बात कहते है। द्रव्यमे कि किनने क्या स्वरूप जाना, क्यो स्वरूपदे खा, उन्होने दिमाग लगाकर वस्तुमें जो स्वरूप जाना वह उसका गलत ख्याल करके नही जाना। किस दृष्टिसे जाना—इसको पहिचाननेकी आवश्यकता है। जितने बडे ऋषि हुए कपिल हो या और कोई, उन्होने मोह छोडकर अपनी बुद्धिके अनुसार द्रव्यके विषयमे जो निर्णय किया वह निश्छल किया। तपस्वी हुए उन्होंने घरका मोह छोडा, धन वैभवका मोह छोडा, जगलोके बीचमे साधना कर रहे थे, द्रव्यके स्वरूपका विचार कर रहे थे, अपनी बुद्धिके अनुसार निष्पक्ष होकर द्रव्यकी खोज कर रहे थे। उनके सामनेकी स्थितिको देखकर आप विचारे इन्होंने अपनी बुद्धिके द्वारा द्रव्यके विषयको समझा वह गलत नही समझा। परन्तु यह देखो उन्होने उस समय क्या दृष्टि बनाई होगी ?

निरूपणोंकी दृष्टि व लक्ष्यकी दृढ़ता—आप भी अनुभव करके देखो। आप जब किसी द्रव्यका वर्णन करनेको चाहते है, किसी द्रव्यको खोजना चाहते है तो आप अपनेको एक दृष्टि मुख्य बनायेंगे। उन्होंने जो वर्णन किया उसके करनेमे कौनसी दृष्टि मुख्य बनाई थी ? जिस दृष्टिको लेकर उन्हे ऐसा जचा, बस, उस दृष्टिको जानने की आवश्यकता है। उस दृष्टिसे उस द्रव्यको देखो जिस दृष्टिसे उन्होने द्रव्यको देखा। उस दृष्टिको मुख्य करके देखो आपको कही गलती भी नजर नही आयगी, द्रव्यस्वरूप भी समझमे आ जायगा। इसका यथार्थ निरूपण स्याद्वादने किया, जैसे सूर्य और सूर्यकी किरणें। सूर्य सबका समूह रूप समझो और एक एक किरण जैसे कि ये दिखती कि छूट रही हो, हॉ वस्तुत सूर्यकी कुछ भी चीज सूर्यसे बाहर नही है, चमकते हुए सूक्ष्म सघ किरणरूपमे दिखती है, मूल जो सूर्य है। वह सब किरणोको पकडे हुए है। जिस एक २ किरणको छोडे हुए है वह एक-एक है किरण है; स्याद्वाद सव दृष्टि को पकडे हुए है और इस स्याद्वादकी जो एक किरण निकले वह द्वैतवाद अद्वैतवाद अनित्यवाद क्षणिकवाद आदि अनेक दृष्टियाँ है। द्रव्यके स्वरूपको व जो और लोग कहते हैं उनकी दृष्टि

को पाकर अपना समाधान करो। सर्वरूपसे जो द्रव्यत्वरूप जचता है, प्रमाणसे वैसा निश्चय करलो। वैसा निश्चय करनेके बाद फिर आपको अपना ख्याल करनेके लिये जिस भावकी दृष्टि चैतन्य है आप उस चैतन्यदृष्टिका ही अवलबन लेकर बैठ जायें। स्वरूपके उपयोगमे पर्याय निर्मल होगा और स्वयंमे आप चैतन्यमय कारणसमयसारके अनुरूप विशिष्ट हो जायेंगे।

समयसारकी त्रैरूप्यताका वर्णन—यहाँ इस उत्पाद व्यय, ध्रौव्यके विषयमे अनेकान्त के विषयमे प्रकरण चल रहा है और बतलाते है कि प्रत्येक द्रव्य ध्रौव्यात्मक है। कोई भी पदार्थ ऐसा बतलाओ जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे रहित हो? कोई भी नही है। तब अच्छा, वह शुद्ध आत्मा है तो उसमे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोंके तीनो पाये जाते है। यह तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यका लक्षण है। आत्मामे भी उत्पाद है व्यय है और ध्रौव्य है। अब वह किस तरहसे है, जिस समयमे वह आत्मा शुद्ध हुई है, उसके पहिले क्षणमे कारणसमयसारकी प्रक्रिया थी। कारणसमयसार दो प्रकारका होता है, द्रव्यकारणसमयसार एक पर्याय कारण-समयसार। द्रव्यकारणसमयसार तो अनादि अनन्त होता है। पर्यायकारणसमयसार कार्य-समयसारके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमे पहिले क्षणमे हुआ करता है और कार्यसमयसारके, उत्पत्तिके क्षणमे, कारणसमयसारपर्यायका नाश हो जाता है, तो क्या हुआ कि जिस समय उस शुद्ध आत्माको शुद्धता प्रगट हुई अर्थात् शुद्ध आत्माका रुचि करना, शुद्ध आत्माका अनुभव करना, शुद्ध आत्मामे निश्चल अनुभव करना यह हुआ कारणसमयसारकी पर्याय। यह कारण-समयसारपर्याय मोक्षमे तो नही होता किन्तु अर्हंतकेवलीके प्रगट रहती। अरहतदेव विवक्षा-वश कारणसमयसार व कार्यसमयसार दोनो ही है। कार्यसमयसारपर्याय तो कार्यसमयसारकी पर्यायका उत्पाद हुआ और जो पूर्वपर्याय कारणसमयसार थी वह विनष्ट हुई। प्रगट दोनो पर्यायमे परिणमने वाला आत्मद्रव्य ही हुआ। क्योकि वह एक पदार्थ है। इस प्रकारसे उस शुद्ध अवस्थामे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य ऐसा रहा। यह उस समयकी बात है कि जिस समय वह शुद्ध होता है। शुद्ध होनेके बाद क्या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहता, यह बात यहा नही आई। यहा तो सिर्फ उस क्षणकी बात कही जा रही है, जिसमे शुद्ध आत्मा होता है। शुद्ध होनेके बाद भी निरन्तर उत्पाद व्यय चलता रहता है, वह इसी प्रकारका समान कारणसमयसार पर्यायका नाश। कार्यसमयसारका उत्पाद और दोनोके अन्दर आत्मा द्रव्यका रहना। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य कार्यसमयसारका प्रथम क्षणका है। मोक्षमार्गका नाश मोक्षका उत्पाद दोनोमे आत्माका बना रहना उत्पाद व्यय ध्रौव्य है।

जिस समय मोक्ष होता है उस समयमे मोक्ष पर्याय तो प्रगट होती और मोक्षमार्गकी पर्याय नष्ट हुई, जिस जगह जाना है उस जगह पहुचनेपर रास्ता खत्म हो जाता है, इस तरह

मोक्षमें पहुचने पर मोक्षमार्ग नष्ट हो जाता है और मोक्ष अवस्था प्रगट हो जाती है। मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी अधूरी अवस्थाका नाम है, और रत्नत्रयमये पूर्ण धर्ममय वस्तुका नाम मोक्ष है, जिसके आगे कुछ भी न चलना पडे उसे कहते है मोक्ष या परमपद या मजिल पाना। यदि और भी चलना बाकी है तो उसे रास्ता ही कहेंगे। इसलिये चौथे गुणस्थानसे लेकर १४वें गुणस्थान तक मोक्षमार्ग कहलाता है और जहाँ १४ वा गुणस्थान छोड दिया उसे कहते है मोक्ष। इस तरह शुद्ध आत्माके विषयमे, उत्पादव्यय द्रव्य खोजनेकी बात कही जाती है। शुद्ध आत्माके अन्दर भी उत्पादव्यय ध्रौव्य जैसी तीनो जो द्रव्यके लक्षण को प्राप्त है होना बहुत जरूरी चीज है। ऐसा सद्भावात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य स्वयभु है।

स्वभावमाहात्म्य—ज्ञानका स्वभाव जानना है तो जानना क्या है? यहाँ किसीने उसमे वस्तुओको जानना लगा दिया है, पहिले यह तो निर्णय किया जाय उसमे जानना, यदि लगाया तो जानना लगाने वाला स्वय ज्ञानमात्र अनुभवमे है अथवा नही। यदि स्वय जानने वाला ज्ञानमय है जिसने कि जानना ज्ञानको लगा दिया तो यह बात अविपरीत है कि स्वरूप ज्ञान ज्ञेयाकारके उपयोगसे निवृत्त होता हुआ है। पुनः एक वस्तु दूसरी वस्तुको कुछ नही दे सकती। इस तरह ज्ञानमात्रमे तो अन्यको जाननेका विकल्प नही, गुणपर्यायकी अपेक्षा भी अन्यके ज्ञान देनेकी ताकत नही है। यदि वह ज्ञानमात्र दशामे नही है व हुआ भी नही है तो व्यवहारसे जाननपन ही उसका आशय समझे। जिन पदार्थोके जाननेका बल ही नही उससे यहा ज्ञान आ जाय यह बिल्कुल असभव है। जाननमात्र तो ज्ञानका स्वभाव है परन्तु परको जानना यह औपचारिक कथन है। ज्ञान अपनी ही वृत्ति करता, परकी नही, वैसे तो ज्ञानमें ज्ञेयाकार आता है और आते ही ज्ञेयाकारको ज्ञान लौटा देता है। यह लौटानेकी क्रिया निरतर रहती है। इस कारण यह मानना होगा कि 'ज्ञानका स्वभाव स्वय जानना है वह पदार्थोको जानना किसीसे उधार नही लेना है किन्तु ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। स्वभाव परकी अपेक्षा ही नही रखता। जो पर्याय परकी अपेक्षा रखता वह पर्याय वस्तुकी स्वाभाविक नही कहलाती। इस समयका जो हमारा ज्ञान है यह उत्पत्तिमे परकी अपेक्षा रखता। इस लिये यह ज्ञान जो विकासको प्राप्त हो रहा है वह स्वाभाविक न समझा जाय। यद्यपि वह ज्ञानस्वभावके ज्ञानका ही परिणमन है परन्तु जिस सीमाको लेकर ऐसी अस्पष्टताको लेकर जो ज्ञान है ऐसा ज्ञानविकास हमारा स्वभाव नही है। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है और यह ज्ञान इन इन्द्रियोसे विकल्पित पराधीन होकर भी जाननेके स्वभावको नही छोडता है। इसलिये हमारे उस छोटे छोटे ज्ञानमे भी हमे ज्ञानके स्वभावको बल देना चाहिये। हमे जानकर पराधीनताका बल नही देना चाहिये अर्थात् इतने परतंत्र होकर भी हम ज्ञानी बन रहे, यह हमारे स्वभावका माहात्म्य है।

ज्ञानावबोधकी शिक्षा—इस ज्ञानको समझनेके लिये प्रत्येक पदार्थमे प्रत्येक घटनाओ से हम शिक्षा ले सकते हैं। इस पराधीन ज्ञानके अन्दर हम ज्ञानस्वभावको सीख सकते है। हमारे समझमे आने वाले राग आदि भावोसे अपने ज्ञानस्वभावकी शिक्षा ले सकते है। वह कैसे ? देखो एक कमरेके अन्दर यदि दीपक प्रकाशमान है व हम ऐसे आडेमे बैठें कि हमको दीपक नही दीख रहा परन्तु कमरेमे रहने वाले पटपर यदि पदार्थ दीख रहे हो वह दीखने वाले पदार्थ स्वयं ही यह बात सिद्ध कर देते हैं कि यहाँ दीपक है। इसी तरहसे इसमे ये राग क्रोध मान माया लोभ जो प्रतीत हो रहे हैं। यह राग आदि इस बातको सिद्ध कर देते हैं कि यहाँ कोई ज्ञानमय तत्त्व है। यह रागादि भाव हमारे ज्ञानमय तत्त्वको सिद्ध कर देते हैं। यह शरीर हमारे ज्ञानमय तत्त्वको यदि जानना चाहे तो सिद्ध कर देता है और कोई शरीरमे रमना ही चाहे तो सिद्ध नही होता। बच्चेको पढाया जाता, जीव वस्तु किसे कहते हैं ? जो चलता फिरता खाना ढूढ़ता हो वह जीव है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे यह लक्षण असत्य है तो भी जीवके सद्भावसे शरीरमे ऐसी क्रिया हो पाती है। शरीर है इसमे तो ये चेष्टाएँ नही होती, इसलिये इन चेष्टाओके द्वारा शरीरका नही किन्तु ज्ञानमय तत्त्वका अनुभव कराया।

ज्ञानके रुचियाको ज्ञानका लाभ—जो समझना चाहे उसे अनेक उपाय है, जो न समझना चाहे, उसे साक्षात् तीर्थंकरका मिलन भी उपाय नही है। जो अपनी सुमतिसे रहना चाहे अपने आचरणसे रहना चाहे तो वेश्याका बाजार भी शिक्षा देने वाला है और जो कुमति से रहना चाहे, दुर्भावसे रहना चाहे, तो उसके लिये मदिर भी अधर्मसे नही बचा सकता है। धर्म अधर्म निश्चयसे बाह्य पदार्थोसे सम्बन्ध नही रखता। वेश्याको देखकर ज्ञानी जीव इसी को विचारे और देखे तो सही यह है कि चैतन्य तत्त्व उसके अन्दर भी है, सदा प्रकाशमान भाव यह है इसने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि अनत पर्याय व्यतीत करके कितना ऊचे पदको पा लिया है इतना ऊचा पद पाकर ? अपनी द्रव्यदृष्टिको भूलकर पर्यायबुद्धि करके अपने चरित्रको खराब कर दिया, दुर्गतिका बीज बो दिया है, आदि बातोका विचार कर ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावसे वहाँ भी विचलित नही हो सकता। कदाचित् वेश्या दिख भी जाय तो उसके जानमे फरक नही आ सकता। हाँ उसे इच्छासे देखा भाला तो उसके प्रगट दुर्भाव सिद्ध है, इसके अदर दुर्भावना सिद्ध है। हम तो ज्ञानवानकी बात बतला रहे कि ज्ञानमे इतना अपूर्व बल रहता है, जिसे खोटे प्रतिकूल बाह्य साधन भी मिल जायें तो भी अपने स्वभावसे चलित नही होता और किसीके कुमतिकी आदत है तो मदिरमे भी बैठा बैठा किसीका रूप देखता है वहा पाप कमा लेगा। अस्तु ! तो यह ज्ञानस्वभाव आत्माका पराधीनता स्वभाव नही है। यह परकी अपेक्षा नही रखता। यदि परकी अपेक्षा नही रखता तो इन्द्रियोके विना ज्ञान आनंद नियमसे होता है।

ज्ञानवृद्धिके साधन—ज्ञान बढानेके बुद्धिगत ये साधन है कि मंदकषायी बनो। कषाय से ज्ञानकी वृद्धि नही होती। दूसरेके ज्ञानमे मात्सर्य न करें, ज्ञानके प्रचारमे अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग दे, ज्ञानी जीवका सत्कार आदि देखकर प्रमोदभावना करें और निरन्तर पर-पदार्थसे लक्ष्य हटाकर निरंतर अपने आपके ज्ञायकस्वभावमे अपना लक्ष्य रखे, जिस गुरुसे बात सीखी हो उस गुरुके नामको न छिपावें, किसीमे ज्ञानकी बात आती हो ज्ञानका साधन लगा रहता हो उसमे अतराय न डाले, यह सब यदि व्यवहारमे उतरे तो इसके ज्ञानकी वृद्धि नियम से होगी। ज्ञान जितना रटनेसे पैदा नही होता जितना अपने आपकी सभाल करनेसे ज्ञान प्रगट होता है। दो बच्चोको स्कूलमे पढने भेजा, एकको रटनेसे याद नही होता, एकको एक बार पढ़नेसे ही याद हो जाता है। यह ज्ञानकी वृद्धि बाह्य रटनेपर अवलबित नही है, यह तो आत्माके स्वच्छ भावमे अवलबित है, क्योकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है यह स्वभाव व यदि आचार व्यवहार ठीक है तो वही स्वभाव प्रगट होता है, ज्ञान और सुख कैसे होगा ? जो परोपकारी रहते परमेष्ठीकी भक्ति रखते, जिनके भाव कोमल होते है, जिसकी नीति ठीक रहती है इस कारणसे उनके ज्ञानकी वृद्धि होती है। यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है आत्माके स्वभाव की ओर जो कि उन्मुख प्रगट हो जाता है आनद भी आत्माका स्वभाव है। जो आत्माके स्वभावकी ओर ढला उसका ज्ञान व आनद भी प्रगट हो जाता है, इसी तरह स्वभाव भी पर की अपेक्षा नही रखता। इसलिये इन्द्रियातीत आत्माके ज्ञान और आनद पैदा हो जाता है।

अतीन्द्रिय आत्माके शारीरिक दुःखका अभाव—शुद्ध आत्मा इन्द्रियसे रहित है। इसी कारण शारीरिक दुःख उनके नही होता। शकाकारने यह शका की है कि जिस शुद्ध आत्माके इन्द्रिय नही होती उसके ज्ञान और सुख नही होगा ? परतु यहाँ तो यह कह रहे है कि उनके ज्ञान, उनके पूर्ण सुख तथा शारीरिक सुख दु.ख रूप आकुलताका अभाव इस कारणसे है कि उनके इद्रियां नही है। जब तक इद्रियोका ही काम है, इन इन्द्रियोका ही व्यापार है तब तक यह जीव दुखी ही रहता जिन जीवोके ये हत्यारी इन्द्रिया जीवित हैं। जीवोको दु ख विषयके कारणसे नही किन्तु मोही जीवोके स्वभावसे प्राकृतिक है। कुछ यह बात नही कि बाह्य परके कारणसे ऐसे उनके परिणमनसे ऐसी वाछा है इसलिए दुःख हो रहा है, बाह्य बातसे दुःख नही होता। बाह्य पदार्थ दुखी नही करते। यह दुःख जीव स्वय अपनी कल्पनासे कर रहा है। यही कारण है शुद्ध आत्माके इन्द्रिया नही है। सो इन्द्रियज सुख दु ख नही हैं। ऐसी बात आचार्य कहते हैं, ऐसी बात अपने अन्दर भी सोचते है, ऐसी बात अपने अन्दर भी बनाते हैं।

ज्ञानस्वरूपके ध्यानका अनुरोध—अपने भी ध्यान करने बैठो तो उस ज्ञानस्वरूपका ध्यान करने बैठो जो सहज ज्ञानका स्वरूप है, केवल प्रतिभासमात्र अर्थात् जानना ही है। जानना तत्त्व ऐसी स्थिति रखता जैसा कि आप बाजारमे जा रहे हो, ५० देहाती आपको

दिखाई दिये । आप किसीको जानते ही नही और यदि इनमे कोई मित्र जा रहा है वह मिल जाय तो उसको दृढ करके जाना और विशेषतासे जाना तो उसके जानने और देहातियोंके जाननेमे ज्ञानकी वृत्तिमें कितना अन्तर है ऐसा जानना जिससे देहातियोको जान लिया । ऐसा जानना तो कुछ जाननेकी जात है । जैसा कि मित्रको देखा, देखनेमे कुछ गृद्धता हो गई, यह तो अत्यन्त स्थूल बात है, जाननमात्रका तो कोई दृष्टान्त नही । यदि जाननेमे कुछ राग हो गया तो यह जानना नही । यह राग सहित जानना रहा । ज्ञान वह है जिसे परका जानना तो रहा, परन्तु केवल प्रतिभास करे उसके साथ रागादि भाव नही हो । ज्ञानी जीव जानने स्वरूपको ऐसे सामने देखता है कि जाननेका स्वरूप ही यह हुआ करता । केवल जाननेमे केवल प्रतिभासमे जो स्थिति रहती है ज्ञानीके, ज्ञानको उनका पूर्ण अनुभव है । इस बातको सामने रख लिया । जिसे कलकत्ता दिख गया चर्चा आते ही सब चीजें उसके सामने आ जाती है । जिसने कलकत्ता नही देखा, कोई कलकत्ताकी बात सुनाये तो कल्पनासे सोचता है परन्तु सही स्पष्ट नही आ सकती । ज्ञानी जीवने ज्ञानमात्रकी स्थितिका अपना आशिक रूपसे ही सही अनुभव किया । इसलिये जब यह अनुभव करने बैंठता, ज्ञानमात्रमे स्वयको सोचने बैठता तो उसके सामने वह स्थिति रहती है कि ज्ञानका स्वभावमात्र इतना है । ऐसे ज्ञानके स्वभाव को जानने वाले उसीमे लीन रहने वाले को शारीरिक सुखका पता नही हो सकता । यहा शुद्ध आत्माके शारीरिक सुख दु खका निषेध करके, आत्मीय सुखकी प्रतिष्ठा की जा रही है, सो शुद्ध आत्मामे सुखकी प्रतिष्ठा करना यह काम नही समझना, किन्तु अपने आपके सुखके सुखसे लगाये हुए अपने आपमे प्रतिष्ठा करनेकी बात कही जा रही है ।

स्वकीय अवलम्बनपर बल—दूसरेके सुखकी चर्चा करके हमको क्या मिलता है ? भगवानके अनन्त ज्ञान दर्शनकी बात करके हमको क्या मिलता है, भगवानके बडे बडे अद्भुत गुणका वर्णन कर करके हमको क्या मिलता है ? मिलता भी है, नही भी मिलता । जिन गुणोका हम वर्णन कर रहे हैं, जिन स्थितियोको हम सोचते हैं उन स्थितियोको उन गुणोको अपनेमे सन्धिया करते हुए कर रहे है । तो तत्त्व मिलता है और अपने आपमे सन्धि न करके अपने आपमे उन गुणोको नदारद करके । यदि कोई स्मरण कर रहा है तो पता नही उसे क्या नौकरी दी जा रही है जो इस प्रकारकी नौकरी बजाता है तो हम जानते है कि उसको वैभवकी चाहकी नौकरी मिल रही है । उसका वेतन जो मिल रहा है उस परमात्माके स्मरण से वह क्या वेतन ले रहा है ? धन पुत्र मित्र आदि इसकी चाहकर वेतन ले रहा है, इसमे मिलता क्या ? ससार कलक । मोहके कारण, परमात्माके गुणोका ध्यान करनेके लिये वह मोही व्यर्थ परिश्रम कर रहा है और अन्तर, आत्माका ज्ञान जो अन्तरगके ज्ञानके भावमे से उठकर परमात्माके स्वरूपका अपने आपके स्वरूपका स्मरण करता है वह अपने आपके अनु-

भवके लिये करता है। इस कारण भगवानके सुखोका पर्यायरूपमे स्मरण तो अपना ही काम करना ही कहलाता है।

रागद्वेषसे शून्यकी दृष्टि—कोई कहते कि भगवानकी पूजा करने चलो। यहाँ यह नही कहते कि भगवानकी मूर्तिका सहारा लेकर अपनी पूजा करने चलो। यदि ऐसा कहते होते तो उद्‌देश्य जल्दी न भूला जाता। पूजा करना तो भैया! सच्ची यह है कि शुद्ध आत्माको रागद्वेषादिसे शून्य देखले। यह शुद्ध आत्मा—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभसे शून्य यह आत्मा—इसको शारीरिक सुख दु ख नही। आत्मतत्त्वको समझने वालोके द्वारा आत्म-तत्त्वके स्वरूपकी चर्चा सुनकर कुछ उस आत्मतत्त्वके समीप पहुचकर विचार करते है कि इस आत्मामे तत्त्व क्या है तो देखा कि यहाँ तो कुछ नही ठहरता, सो कितनोने तत्त्वोपप्लव कह दिया। कितनोंने जाना कि यह तत्त्व शून्य तो है किन्तु अध्यात्म तत्त्वकी ओर बढ़नेमे दर्शन शास्त्रमे आगे बढनेपर, भूमिकामे उसके बाद भूमिका यह आती है "ऐसा मालूम होता है कि कुछ नही यह तो शून्य है आत्मा। रागादि भी स्वभाव नही है, ऐसा जानना भी उसका स्वभाव नही" इस तर्कके बाद सामान्य प्रतिभास रह जाय तो क्या रह जाय वहा ? क्योकी बात नही उठती, इसलिये मालूम होता है कि यह शून्य है। इस दृष्टिको लेकर शून्याद्वैतवादी ने अपने शून्याद्वैतवादके मतकी प्रतिष्ठा की है।

ब्रह्मतत्त्व—शून्याद्वैतवादसे जरा ऊचे उठे तो ऐसा मालूम पडता है कि ऐसा नही कि कुछ भी न हों, किन्तु प्रतिभास है, प्रकाश है, एक व्यापक ज्योति है और कुछ नही है। शून्यसे उठकर प्रतिभास तक आये तो यहा देखा प्रतिभास ही मालूम हुआ, जिसे कहते है प्रतिभासाद्वैत प्रतिभास तो हुआ परन्तु वह न्यारा है या एक इस विकल्पके बाद उत्तर पाता है कि प्रतिभा-सैकत्वाद्वैत है। अब और कुछ विकल्प चला, तब देखता है कि प्रतिभास तो हुआ, पर वह प्रतिभास केवल हुआ ही नही किन्तु उसमे जानना पाया जाता है। इसलिये प्रतिभास प्रनिभा-समात्र ही नही किन्तु वह एक ज्ञानस्वरूप है ,उसे कहते है ज्ञानाद्वैत। ज्ञानाद्वैतवादकी दृष्टिमे यह बात आ गई कि यह कुछ नही, यह ज्ञान ही है। ज्ञानमे आया तब तो यह है उसमे नही आया तो कुछ नही, सारे पदार्थोंमे ज्ञान ही ज्ञान है, जगत ज्ञानके सिवाय दुनियामे कुछ नही है। वह ज्ञेयका अभाव करता है और अपनेमे सब देखता है। अध्यात्म चर्चाओको सुनकर और अपने स्वयके दिमागसे जो व्यवहार तत्त्व देखता है तो क्रमशः उसे कुछ कुछ अधिक अधिक समझमे आता जा रहा है कि चीज क्या है ? ज्ञानमय सारा जगत। फिर यह विचा-रता है—यह सारा जगत ज्ञानमय तो है, पर यह ज्ञान क्या निराधार है ? क्या किसी वस्तु के बिना है, वया यह जगतमे है, ऐसा ज्ञान क्या है जो किसीके रूपमे नही है, जिसे कोई आधार नही और कोई अधिकरण नही, ऐसा ज्ञान कहा रहता है ? कैसे रहता है ? क्या

चीज है ? तो वह सोचता है कि नही, ज्ञान किसीके सद्भावमें है वह चीज है, ब्रह्मज्ञान बिना वह केवलज्ञान कैसा ? वह निराधार नही, वह ज्ञान कल्पनामात्र नही किन्तु वह ज्ञान जो है वह एक साधार है । द्रव्यमे है वह चीज है एक ब्रह्म । अब वह जगतके इन पदार्थोको सबको ब्रह्मके पर्यायरूपमे देखता है कि ये सब ब्रह्मकी पर्यायें हैं, ये सब ब्रह्मके विकार है, यह सब तो कुछ भी तत्त्व नही हैं, यह सब ब्रह्मका विकार है, यह सब आत्माका विकार है, यह सब जीवका विकार है । इस ब्रह्मसे बढ कर और कुछ तत्त्व नही है ।

ब्रह्मविकार—देखो ये दर्शनवाले जिस जगह जिस तत्त्वको पाते हैं वह तत्त्व वहा उनकी दृष्टिमे है और उसे जिनधर्मकी एकनयकी दृष्टिसे देखो । उस दृष्टिसे वहा सत्य जचता है असत्य नही जचता है । यह जीव विकार है यह असत्य नही है । हमे यह बतलावो कि एक काच इस धातुमे पहिले जीव आया और यह काच बन गया हो, आप इसे सिद्ध कर सकते है । यह बिना शरीरके ही आ जाय या आया हो, यह किसी जीवके सबध बिना काय बनी हो और इसने बिना जीव सबधके यह शक्ल पा ली, यह सिद्ध कर सकते हैं ? नही कर सकते । बतलाओ कि यह काच कहाँसे आया ? फला कम्पनीसे आया । उसने कहासे मगाया ? उसने जमीनमे जो धातु थी उससे तैयार किया । तो वह धातु क्या चीज थी वह पृथ्वीमे था पृथ्वीकायिक जीव वहां आया काच जीवसे बना था । जीवके निमित्तसे यह बात प्रगट होती है । यह कपडा जीवका विकार है, यह ककड जीवके विकारसे बना, यह छोटे छोटे ककण जो बन गये वे जीवके भूत सवन्धसे बने है । यह रंग क्या चीज है ? जगत के दिखने वाले जितने पदार्थ है उन पदार्थोमे पहिले जीवका सम्बन्ध था तब यह बढा । यदि जीव न आवे तो कोई यह या और चीज बन सकती ? नही । यह पानी भी कभी नही बन सकता, यदि जीवका विकार पानी नही होता । यहा विकारके मायने जीवके निमित्तसे होने वाली पर्याय है, पानी भी लो, जीवका विकार न मानो कहासे लावोगे ? जो पानी आप लेवो वह चाहे शुद्ध किया हुआ लावो, प्रासुक लावो वह पानी जीवका ही विकार तो है । उस पानीको जीवने तो शारीरिक रूपसे स्वीकार तो किया था, तब वह पानी बना जीवके विकार विना रोटी तो बनाओ । कहाँ बनाओगे आग पर बनाओगे, विकार हैं । कपडा पहनोगे तो कहासे पहिनाओगे । तो जो हम पहनते हैं जीवका विकार था । सब जो भी दिखती है वह सब जीवके निमित्त विकारमे आई । नही तो बन नही सकती, शक्लमे नही आ सकती । इस जगतमे जो कुछ है वह ब्रह्म का विकार है, वह ब्रह्म भाव सब कुछ है ।

निर्वाणका अध्यवसाय—शून्यसे उठकर यहाँ तो आये—यह बात वहाँ तक सत्य निकली ? पहिचान लिया, अब उस ब्रह्मको द्रव्यदृष्टिसे देखो । भावदृष्टिमे से देखो तो कुछ हाथ न लगा अर्थात् यह आत्मभाव दृष्टिसे सीमित नही, यह आत्मा भाव दृष्टिमे व्यापक है,

असीमित है। इसलिये भावमे दृष्टिमें ब्रह्मको देखा तो अपना सारा जगत ब्रह्मस्वरूप मालूम पडा सो भी उपचारसे। यदि द्रव्यदृष्टिसे पृथक् पृथक् रूपमे देखा तो अनन्त आत्माकी सत्ता बन जाती। जो बात आती है जिस तरह जिस दृष्टिसे काममे आये उसे वहा उसी तरह काम मे न लेवे और दूसरी तरह काम करे तो धोखा ही खा जायेगा। इस मत प्रकाशको स्थगित कर कल कहेगे। अब यह बात बतलाते है कि इस आत्माके जो कि शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयभु हुआ है (इस आत्माके) इन्द्रियोके बिना ज्ञान और आनद कैसे रहता है ? इस सदेह को दूर करते है। प्राय बहुतसे लोगोको यह सकट हो जाता कि जिस आत्माके परमातमाके देह नही, इन्द्रिय नही, मन नही उसे ज्ञान कैसे होता होगा और इसे आनन्द कैसा आता होगा ? जिनने विषयोमे ही आनन्द माना और इन्द्रियके द्वारा जो आनन्द होता ऐसे ही जिसे ज्ञान माना उसे इस बातका अनुमान भी नही हो सकता कि जब देह नही रहता ऐसा परमात्मा है उसको ज्ञानआनन्द हो भी सकता ? यही कारण है कि कितने ही लोगोने बुद्धि सुख दु.ख इच्छा द्वेष प्रयत्न रागधर्म अधर्म सस्कार—इन ९ गुणोके अभावका नाम निर्वाण बताया। जब आत्मामे बुद्धि नही रहती तब मोक्ष रहा।

अटक और घटक—जब सुख नहीं रहा, दु ख नही रहा तब मोक्ष कहलाया। देखो गेहूके साथ घुण भी पीस दिया, दु ख अधर्मके विनाशके साथ ज्ञान और सुखका भी विनाश कर दिया, क्योकि उनका तो यह ऐसा ही भाव था कि ज्ञान तो यह ही कहलाता है जैसा कि हम जाना करते हैं परन्तु यह क्या है ? यह तो ज्ञानकी अशुद्ध पर्याय है, ज्ञान तो परमात्मा भावस्वरूप ध्रुव चीज है, यह तो सिद्ध पर्याय भी नही है परन्तु इस निकृष्ट ज्ञानपर्यायके अतिरिक्त कोई ज्ञान पर्याय शुद्ध होता है यह जिनके समझमे ही नही आया तब इन्होने ज्ञान गुणका ही निषेध कर दिया। इसी तरह इस अनादिकालके मलिन जीवने यह समझा कि खाने पीने देखने सूँघने आदि विषय भावोंके अतिरिक्त सुख कोई चीज नही, यही सुख है अर्थात् अन्य कोई आनन्द ही नही होता, इस कारण जिनके इन्द्रिय नही, जिनके मन नही उनके आनन्द कैसा ? ऐसा सन्देह होता है। कोई हस किसी कुएके तह पर बैठ गया। कुएमे रहने वाले मेढकने पूछा—भाई तुम कहाँ रहते ? उसने कहा—मानसरोवरमे। उसने पूछा—मानसरोवर कितना बडा है ? बहुत बडा है। मेढकने एक पैर पसारकर कहा—कि इतना बडा ? तो हसने कहा—इससे भी बडा। दूसरी टाग, तीसरी टाग, चौथी टाग पसारकर कहा इतना बडा ? तो हसने कहा—इससे भी बडा। मेढक बोला तब तो तू झूठा है, इससे बडी तो दुनिया ही नही है जितनी मेरी टांग है जितना मेरा शरीर है उससे बडी तो दुनिया भी नही, वह कहासे आ जायगा। जिसकी बुद्धि इन्द्रियमे ही अटकी, इन्द्रियके स्वभावमे ही अटकी उसकी यह कल्पना नही हो सकती कि इन्द्रियके बिना ज्ञान और आनन्द भी कोई वस्तु होती है। इसे

अनुभवी जान सकते हैं। इसका जिसके अनुभव हुआ है वह पहिचान सकता है। अब इद्रियके निरपेक्षपनसे, निरपेक्ष मात्र चैतन्यभावके अनुभवमे जो परमज्ञान और परम आनन्द होता है, जो शुद्धोपयोगके प्रसादसे आत्मा स्वयभु हो जाती, स्वय ही मे स्वयंको स्वयके लिये स्वयसे स्वय पा लेता है उसको ज्ञान और आनन्द सहज ही होता है। इस प्रकारका वर्णन इस गाथा मे करते है।

पक्खीणघादिकम्मो अणतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिदिओ सो णाण सोक्ख च परिणमदि ॥१९॥

ज्ञानानन्दपरिणमनकी पात्रता— जिसके घातिया कर्म नष्ट हो गये है, जिनका अनन्त वीर्य प्रगट हो गया है, ज्ञानदर्शनके तेजसे जो युक्त है ऐसा वह जीव अतीन्द्रिय हो जाता है और उसके ज्ञान और सुख होता है। गुणगुणीका भेद तात्त्विक नही, वह परमात्मा तो स्वय ज्ञान और सुखरूप परिणम गये। ज्ञान और सुख है, उसके ज्ञान होना और उसके सुख होना ऐसा भेदभाव वहाँ नही देखना। वही परमात्मा अतीन्द्रिय होकर ज्ञान और सुखरूप परिणम जाते है। आत्मा शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे नष्ट हो गये है घातियाकर्म जिसके ऐसे होते है। कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति, कर्मोका लक्ष्य नही। कर्मके उदयसे पैदा होने वाले का लक्ष्य नही, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति किसी गुणके पर्यायकी दृष्टि नही, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति गुणोको भेदरूपसे देखना नही, किन्तु कर्मोके नाश करनेकी पद्धति समस्त गुणोमे अभेद स्वरूप ज्ञायक तत्त्व जिसमे कि सभी ज्ञानकी सिद्धिके लिये या ज्ञायकता की सिद्धिके लिये ही और २ गुण सेवक है ऐसा प्रतीत होता, वह ज्ञायक तत्त्व जिसके लक्ष्यके अभेद रूप आ जाय तो ऐसा शुद्ध तत्त्व और उपयोगरूप परिणाम कर्मोंके नाश करनेका कारण है। अपने आपको समझना काम है, कर्म अपने आप खिर जाते है। कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करे तो कर्म और बध जाते है क्योकि परलक्ष्यसे कर्मबध होता। निजके लक्ष्यसे कर्मका बध समाप्त होता। जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये इन जीवोने क्या किया था ? यह समझा था कि मैं ज्ञानमात्र आत्मा इन इन्द्रियोसे जुदा हू और इन इन्द्रियोके निमित्तसे पैदा होने वाला जो इन्द्रिय ज्ञान है इससे जुदा हू, यह इन्द्रिय जिन पदार्थोंको विषय करती है इन सारे जगतके पदार्थोंसे जुदा हू।

विशुद्धज्ञानकी त्यागस्वरूपता—भैया! द्रव्य इन्द्रियसे भावेन्द्रियसे और इन इन्द्रियोके विषयसे भिन्न अपने ज्ञायक भावको समझलो कि इन्द्रियका और भावेन्द्रिय और विषयका त्याग हो गया। क्या किसी योगीमे ऐसी समर्थता है जो द्रव्य इन्द्रियोका बाह्यत्याग कर सके। किसी योगीके ऐसी शक्ति है कि इन द्रव्य पिंडके सम्बन्धको अलग कर सके, नही कर सकता, फिर शरीरका त्याग क्या है और द्रव्य इन्द्रियोका त्याग क्या है? अपने उपयोगमे

शरीर और द्रव्येन्द्रिय न रहे। यही शरीर और द्रव्येन्द्रियका त्याग है। किसी आत्माकी सेवा करके भी, मित्रता करके भी यदि उसकी चित्तसे अतरगसे उसकी सेवा, उसकी मित्रतामे उसके काममे नही है तो यही कहा जाता है कि यह न सेवा करना है, न इसके मित्रता है, न प्रेम है तो भाई कार्य तो उतना ही किया जाता कहलाता है जो अन्तर प्रेमसे किया जाता हो। यदि अतरगके भावसे नही किया जाता तो वह अकृत समझा जाता। लोगोके अनुभवसे देखलो यही बात यहाँ उपयुक्त होती है जब शरीर होते हुए इस शरीरमे अनुराग नही, इन्द्रियोके होते हुए इन्द्रियोमे अनुराग नही तो यह कहा जाता है कि शरीर इन्द्रिय दोनोका त्याग कर दिया। घरमें सम्पदा होते हुए भी जिसने सर्वपरभावोसें भिन्न ज्ञायक भावमय निजस्वरूपका भाव किया है तो उसके चित्तमे तो वह वैभव अत्यन्ताभाववाला पदार्थ है। वह यदि सम्पदा घरमे है तो भी उसके मनमे यह बात है कि मेरी सम्पदा नही है। शरीर परिग्रहका त्याग विवेकी पुरुष अन्तमुहूर्तमें कर देता। अब घरसे निकलना और अपने राज्यसे बाहिर होना या अपने शरीरके आभूषणोका दूर करना आदि यह चाह कितनी देरमे हो, परन्तु जिसमे श्रद्धा इन बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने निजी तत्त्वमें आ गई उसने सारे जगतका त्याग कर दिया। जगतमे रहने मात्रसे जगत परिग्रह नही होता। भरत चक्रीको घरमे रहते हुए बिरागी (वैरागी) बताने का यह प्रयोजन था कि यह छह खडोके बिषयमे रहकर किसी विषयमें राग नही करता था।

दृष्टान्तपूर्वक सम्यक् ज्ञानकी प्रत्याख्यानस्वरूपताका समर्थन—भैया! द्रव्येन्द्रियोका त्याग, भावेन्द्रियोका त्याग विषयका त्याग, यही है कि इनको पर जानकर इनसे रुचि न करना। यही इनके नाश करनेकी पद्धति है। समयसारमे एक दृष्टान्त है। जैसे दो मनुष्योने धोबी को चादर धोने दी। एक मनुष्य वहाँसे धुलनेपर ले आया, किन्तु वह चादर थी दूसरेकी। पश्चात् दूसरा गया तो उसे दूसरी चादर दे दी। वह पहिचानकर पूछता है कि यह चादर मेरी नही है। तब धोबी बोला—अहो वह चादर उसके पास पहुच गई भूलसे। आप ले आवें, उसे यह दे दें। दूसरा पुरुष गया, चादर ओढे वह सो रहा था। उसने आचल पकडकर कहा उठो यह चादर मेरी है, यह सुनकर उसने पहिचान की तो पूर्ण दृढ श्रद्धा हो गई कि इसमे मेरी चादर के चिह्न नही इसलिये मेरी नही और यह तो देनी ही पडेगी। तब यहाँ देखी भैया? वास्तवमे तो चादरका त्याग हो ही गया अब तो उतारनेकी देर है। हुआ क्या? भिन्न पहिचान चुकना ही अतरगसे त्याग है, बाह्य तो क्रियामात्र है, वह होती ही है, होगी ही। इसी प्रकार भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्वसे पहिचान जानना बडा पुरुषार्थ है, इसके बाद अनुकूल चारित्र होता ही है। अज्ञानी जीव क्रोध, मान, माया, लोभ रागद्वेष भावरूप चादरको अपनी समझकर उन्हे राग भावसे अपने सर्वांगसे ओडकर बेहोश होकर सो रहा है। ज्ञानी गुरु कहता है और उस

वेहोश पुरुषको समझाता है कि उठ उठ जाग, जिस चादरको जिस भावको तू अपने सर्वाङ्गमे पाकर वेहोश है यह भाव तेरे नही है। तेरा स्वच्छ चादर तो ज्ञान है। ज्ञानी गुरुके द्वारा वार वार इस वातको सुनकर परीक्षा करता है कि अहो यह भाव मेरा नही किन्तु क्षणिक है, परके निमित्तसे पैदा हुआ है, मेरा चिन्ह तो दीखता ही नही, मेरा चिन्ह तो ज्ञान है, ठीक भी है। जव पुरुष राग करता है तो ज्ञान नही रहता, जव मान माया लोभ करता है तो ज्ञान नही रहता, इन भावोमे तो ज्ञान पाया ही नही जाता। यह भाव तो जव होते हैं यह जडसा हो जाता है। विवेकने अपने लक्षणोकी परीक्षा की, उन भावोंमे अपने लक्षण भाव नही पाये तो उस आत्माके उस समयमे विभावका विकास छूट गया और जिन पदार्थोंके आश्रय, विभाग हुआ था उन सारे पदार्थोका ममत्व छूट गया। अव कर्मकी वरजोरीसे मुझे इन विभावोको अपनी आत्मद्रव्यसे दूर हटानेमे चाहे ५ सागर लग जायें, २-१ भव लग जायें परन्तु आकुलता अव अभीसे नही है। सम्यग्दृष्टिके जगतके वाह्य पदार्थोका उपद्रव अतरगसे छूट गया ऐसा विभाव जिसका छूट जाय उसके उस निज सुखके अनुभव होनेको विषयी जीव क्या समझें ? यहाँके अंतरात्मावोका ही मर्म लौकिकजन नही पाते तो सिद्धका क्या पता पायें ? इसलिये तो सिद्धके वारेमे लौकिक आत्माको सदेह होता, अलौकिक आत्माको संदेह नही होता है कि जिनके इन्द्रियाँ नही उनके ज्ञान और आनद कैसे होता होगा ?

स्वाभाविक ज्ञानका प्रताप—जव यह आत्मा शुद्ध तत्त्वके उपयोगके प्रसादके सामर्थ्य से घातीय कर्मोको क्षीण कर देता और जव घाती कर्म नष्ट हो गये, ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय अतराय जव नप्ट हो गये तव क्षायोपशमिक ज्ञान भाव व क्षायोपशमिक दर्शन इस आत्मामे नही रहता। केवलज्ञानी होनेसे वह सव नप्ट हो जाते, द्रव्यमे विलीन हो जाते। कितने ही पुरुप यह कह दिया करते है कि उस केवलज्ञानमे यह सब ज्ञान गर्भित हो जाते "नही" गर्भित नही होते, वहाँ तो उनकी क्रियाकारिता ही नही रही। ज्ञान गुण एक है उससे यह ५ पर्याय है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। गुण मे एक समय एक पर्याय रह सकती है इसलिये जव केवलज्ञान हुआ तव ४ पर्याय गर्भित नही होती। वहाँ तो इन चारो पर्यायोका अभाव हो गया। यह चारो पर्याय क्षायोपशमिक ज्ञान है। इस तरह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन यह तीनो क्षयोपशमिक है। केवली भगवानके केवल दर्शन होनेपर क्षायोपशमिक दर्शन भी नही है इसलिये वह अनतज्ञानी अनतदर्शनी अतिन्द्रिय हो व साथ ही सर्व अतरायक्षय होनेसे, अनतशक्तिमान हो जाता क्योकि अनत-वीर्य उसके पैदा हो गया। सर्वज्ञानावरण दर्शनावरणका विनाश होनेसे केवलज्ञान केवलदर्शन रूप तेज प्रगट हो गया। समस्त मोहनीयका अभाव होनेसे, अत्यन्त निर्विकार शुद्धचैतन्य-स्वभाव आत्मा पा लिया। इसमे ज्ञान और सुखका अनत स्वय परिणमन हो जाता है। ज्ञान

स्वयं ही अपनेमे आपका प्रकाश करने वाला है। ज्ञानमे यह स्वभाव है, ज्ञानी अपने स्वभावसे ही परप्रकाशक है, परका प्रकाशक नही। वह पदार्थ है इसलिये ज्ञानमे झलकते है ऐसे कार्य-कारण भाव नही, ज्ञानीका ऐसा ही स्वभाव है, ज्ञानीके भी अतरगमे ऐसा ही तेज है। अपने स्वभावमे जो है सो झलका लेता है। कही ज्ञान परसे नही हो गया, परपदार्थकी सिद्धि भी उनके कारणसे नही है। ज्ञान अपने स्वभावसे ऐसा इन कलाओको लिये हुए है कि खुद ऐसा परिणमन करता है। उसके अन्तरमे परपदार्थके प्रतिभासका परिणमन है।

सहज सुखमें अनाकुलता—जैसा ज्ञान सहज है वैसा सुख भी सहज है। सुख क्या है? आकुलताका अभाव होना इसको सुख कहते है। जिसने इन्द्रिय सुखमें सुखकी कल्पना की वे उसके इन्द्रिय सुखको देखे तो वह कैसे आकुलतासे रहित समझे? वह तो दुःख देखे तो सुख मानेगा। देखने वालेके देखनेके समय कितनी आकुलता रहती, भोजनके स्वाद वालेके वेगसे चाब (मु ह) चलने लगती है, धैर्य नही रहता कि मैं धीरे धीरे खाऊ। एक ग्रास मु हमे है तो दूसरे ग्रासकी कल्पना हो जाती है कि मैं मिठाई खा रहा हू तो अब नमकीन खाऊगा। कितनी अधीरता, कैसी उसकी आकुलता है? जिस इन्द्रियके भोगमे उसने सुख माना उसमे कितनी आकुलता है कितना दु ख है कि वह अपने दु.खको भी नही समझ पाता। जिस जीवने विषयोमे सुख माना इसमे कितनी आकुलता है? गन्धके अनुभव करनेमे जिसने सुख माना उनको कितनी आकुलता है? रूपके देखनेमे जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता है? रागरागनियोके सुननेमे जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता है? उनके आचारको देखकर यह जान लोगे कि वे कितने दुखी है? इन्द्रियके सुखमे कितना दुःख भरा हुआ है? सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियसुखमे रुचि नही करता। उसे यह विपदा दीखती है। वह बाह्य पदार्थसे रुचि हटाकर आपको आपमे प्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न करता है। सुखी है तो वह है जिसे आकुलता रचमात्र भी नही है। जहाँ आकुलता नही है उसको सुख कहते है। ऐसे सुखस्वरूपमे यह शुद्धात्मा परिणम जाता है। बडे-बडे राजा लोग जब रात्रिमे अपने नगरमे गश्त लगाया करते थे। एक बार किसी राजाने जब देखा किसी कुटीपर कुम्हार ढेले पत्थरो पर भी पडे पडे नीदमे बडे खुर्राटे ले रहा है, बडे आनन्दसे सो रहा है, सो कभी कभी वे राजा भी लालायित हो जाते थे ऐसा सुख हमको नही है। वहाँ विचारशैली तो समझमे आ ही जावेगी कि सुख आकुलताका अभाव है, उस सुखका माप धनकी दृष्टिसे नही, अनाकु-लतासे करो। जिसे जितनी मूर्छा होगी वह उतना सुखी नही।

मोह व निर्मोहताके प्रभावपर दृष्टान्त—एक साधु था। उसकी लगोटी चूहे खा जाते थे। लगोटीको खाने से बचानेको बिल्ली पाली। उसके दूधके लिये गाय रखी। गायको चराने के लिये दासी रखी। दासीके साथ सम्बन्ध हो गया। लडका हो गया। एक रोज वह दूसरे

गाँवको जा रहा था । नीदमे बाढ आई । सब डूबने लगे तो सबने साधुको पकड लिया । साधुने सोचा कि बडी आफत आई तो उसे ख्याल आया—यह सब लगोटीके कारण हुआ । उसने लगोटी उतारकर मूर्छा हटाई और तिर गया । गाय बिल्ली व उनके बच्चे भी तिर गये । दासी व लडकेका पता नही वे भी तिर गये होंगे । इससे पता चला जब तक लंगोटीमे मूर्छा थी सब डूब रहे थे, लगोटीसे मूर्छा हटाई सब तिर गये । उसी प्रकार यदि घरमे एक आदमी धर्मात्मा हो जाय तो घर तिर जाय, घरका मालिक पापी हो जाय तो घर डूब जाय । कषाय को नाना प्रकारकी मूर्च्छाओंको आत्मा पाकर अपने आपपर अन्याय करता हुआ अपने घरमे अन्याय करता है ।

अनाकुलताकी सत्यसुखरूपता—सुख तो अनाकुलतामे है, सुख बाह्यपदार्थोंमे नही, जिसमे यह ज्ञान अपनेसे अनुभव करता है उन्हे वहाँ स्वय अनाकुलता हो जाती है और सुख रूप परिणाम हो जाता है । इस प्रकार ज्ञान और आनन्द तो आत्माका स्वरूप होता है इन्द्रिय तो ज्ञान और आनन्दमे बाधा देने वाली थी । जो इन्द्रियसे ज्ञान आनन्द हुआ था वस्तुत ज्ञान और आनन्दमे यह बाधक हो रहा था । इन्द्रियके नाश होनेमे क्या ज्ञान और आनद नष्ट होगा या उस ज्ञान सुखका परम विकास होगा । यह एक महल है उसमे पाँच द्वार है । इस मकानके भीतर खडा पुरुष दरवाजेसे देखता है तो ज्ञान होता है । क्या वहाँ आप यह कहेगे कि अमुक आदमी दरवाजेके द्वारा देखता है ? वह आत्मा अपने ही कारणोंसे देखता है । इसी तरह यह आत्माका ज्ञान स्वभाव है, इस देहरूप मकानमे बधा है । देहके मकानमे इस मकानकी तरह ५ इन्द्रियोंके पाँच द्वार है । ऐसा प्रतीत होता है यह आत्मा द्रव्य इस इन्द्रियके द्वारसे कारण से ही जान पाता है । रूपका ज्ञान इन्द्रिय बिना नही होता परन्तु जब स्वलक्ष्यके बलसे यह देहरूपी मकान न रहा, तो मकानके नष्ट होते ही खिडकिया तो अपने आप चली गई । इन्द्रिय तो अपने आप दूर हो गई जिसका यह मकान नही रहा, इन्द्रिय भी न रही । क्या उस आत्माके विषयमे कहने लगें, उसे अब कैसे ज्ञान आनद होगा ? उस आत्मतत्त्वको जानने वाला वहा विशेष शुद्ध अवस्थामे आ गया, उसके तो सब और अनन्त आनन्द और ज्ञान होता है आनद आकुलतामे नही है, जिसे सारी चिंता मिट गई, सारी आकुलता मिट गई ऐसी अवस्था स्वरूप सुख स्वरूप है । उनके कैसा सुख होता है वह पूर्ण है । आप ज्ञानके प्रयोगसे सब वस्तुओ के स्वरूपको निर्णयकर उसमे श्रद्धा बढावें ।

तत्त्वनिर्णयका प्रसाद—मैं जगतमे एकाकी हू । सारे पदार्थ मुझमे अत्यन्ताभाव वाले है, यह उसमे नही वह इसमे नही, इसके परिणमनसे इसका कुछ नही, इस श्रद्धाको लेकर आनदमे बढे और इस भावनाके साथ जब मेरा नही तब-मुझे कुछ विचारनेसे क्या मतलब ? मन वचन कायकी क्रियाको बद करके जहाँ कुछ समझमे विचारमे ही न आवे कुछ मूर्छा

क्या रहे ? बाह्य पदार्थ जुदा है यह तो समझ लो। फिर मन वचन कायका व्यायाम न करो। मन वचन कायके निरोध रखनेसे, उसमें स्वय अपनेको ऐसे अनाकुल रूपमे आत्मतत्त्व देखोगे कि जिसे देखने के बाद यही प्रतीति रहेगी कि सुखका स्थान यही है। शुद्ध आत्माके क्या सुख होता है ? उस स्थितिसे सत्य समझमे आता है। वह अनुभवसे सत्य है कि आत्मामें जो ज्ञान और आनन्द है वह इस स्वरूप है। सर्व इन्द्रियो को सयमित करके क्षण भर आराम से तो रहो निराकुलताका अनुभव होगा और तब पता होगा कि शुद्ध आत्माके इस जातिका अनत सुख है। ज्ञानी साधुओके सघमे निवास विचरण करते हुए कितने ही संन्यासियोंनें आत्मतत्त्वकी चर्चा सुनकर आत्मतत्त्वका अथवा अपनी कल्पनाके अनुरूप निर्विकल्प अवस्था जैसा अनुभव किया, उस अनुभवके बाद वे तत्त्वको निर्णीत करते थे कि तत्त्व क्या है ?

एकान्तधारामें तत्त्वोपप्लव व शून्याद्वैतका स्थान—अनेकान्तद्रष्टा तो उसका निरूपण निभा लेते है परन्तु जैसा कि कल भी कहा था, कितने चूक जावेंगे उस दशाका सविकल्प दशा मे मिलान किया तब यह समझमे आया तत्त्व तो कुछ है नही यह सब इन्द्रियजाल जैसा मालूम होता है, इन्द्रियकी दृष्टि हट जानेपर जो अभाव है यही कल्याण है, इसका और नही, क्योकि कुछ है ही नही तत्त्वका उपप्लव है, यही कल्याण है तत्त्व कुछ नही। वस्तुमे जो बुद्धि फंस गई यह मुझमे तत्त्व है इसका विनाश कल्याण है, द्रव्य आत्मा है ईश है। इन विकल्पोमें जब बुद्धि फस जाती है तो उसे विकल्प उठ रहा है। उसे देखो—विकल्पकी हालत कल्याण की नही होती, निर्विकल्पकी हालत कल्याणकी होती है। यह तत्त्व कुछ नही है यही उपप्लव उसकी समझमे आया। तब बादमे उसने तत्त्वका मूलसे ही वायकाट किया कि तत्त्व कुछ नही, पर थोडी देर बाद कहता है कि कुछ चीज यह तो है न, शून्य है, शून्य ही सही यह तो है न, तब शून्य ही तत्त्व है। तुम तो कुछ तत्त्व मानते नही हो, शून्य है यही तत्त्व है तब शून्याद्वैत तक आये।

प्रतिभासाद्वैत, ज्ञानाद्वैत एवं शब्दाद्वैतका आविर्भाव—शून्याद्वैत समझमे आनेके बाद वह चलता है कि कुछ प्रकाश जैसा पतिभास जैसा कुछ सामान्य जैसी बात मालूम तो होती। क्योकि अपने आप कही तो कुछ रहा तो समझमे आया केवल शून्य ही नही, किन्तु प्रतिभास भी है वह प्रतिभासाद्वैत है। इस प्रतिभाससे विकल्पको दूर कर एक रूपमे स्थापित करता है कि समस्त प्रतिभास एक रूप है। प्रतिभासकी एकता माननेके बाद, एक मात्र प्रति भास ही नही है। जानना तो हो ही रहा। ज्ञान तक तत्त्व आया, ज्ञान तत्त्वके बाद ज्ञान निराधार नही होता इसका कोई आधार है। इस तरह वह आधाररूप ब्रह्माद्वैव तक आया। ब्रह्माद्वैतमे विषयोको यह विवर्त ही कहता है। ब्रह्माद्वैतमे चीज वह कुछ नही सब ब्रह्मविकार है। उसके बाद फिर उसको कुछ सुमति जागती है। वह कहता है अरे यह खेलसा हो रहा है

कि मै जिस चीजको देखता, देखनेके ही साथ अन्दरमे शब्द उठने लगते। इसको देखा भीतर मे खम्भा ये अन्तर्जल्प हो गया। ज्ञानकी वृत्तिको देखो, जिस चीजको देखते हैं अंतरमे शब्द उठते जाते ज्ञान करते ही। अतर्जल्प बिना बोध तो नही मालूम होता है कि यह सारा ससार शब्दगत है। शब्दोंसे तन्मय सारी चीज है। जिस चीजके ज्ञानका स्पष्ट विकास तब तक है जब तक इस चीजके नामके शब्द अन्तरमे न आ जाये। परिचित बातोंमे तो यह अनुभव हो ही जायगा कि जिस चीजको देखते है, जानते है, उसके शब्द अतरमे उठ जाते हैं। मोह क्या है जाना कि अन्तरमे यह शब्द आ ही गया। जिस चीजको जानते हैं अतरमे शब्द आ ही जाते। इसलिये यह कहना है यहाँ, यह ज्ञान ही नही है किन्तु सारा जगत शब्दमय है।

चित्राद्वैतवादका आविर्भाव—इसी तरहसे शब्दाद्वैत सिद्धान्त जाननेके बाद वह सोचता है—क्या इतनी ही बात है शब्द ही शब्द और कुछ ही नही है, देखनेमे आता है यह सारे शब्द थोडे ही है। यह तो यहा नाना प्रकारकी चीजें दुनियामे दिख रही हैं। सारा ससार चित्र विचित्र है नाना प्रकारका है परन्तु अब भी उसकी समष्टिकी दृष्टि नही छूटी कि नाना तो अवश्य है पर नानाका समूहरूप जो एक है व वह तत्त्व है, यह नाना तत्त्व नही है। इसको कहते है चित्राद्वैत। चित्र विचित्र तो दुनियाको माना, पर नाना नानामे भी इसकी जो समूहता एक है वह तत्त्व है। यहा तत्त्वमे सन्यासियोके जिस दृष्टिमे जो जो सिद्धान्त आये उस उस सिद्धान्तका अभी प्रतिपादन चल रहा है। पर थोडी देर बाद सोचता है यह चित्र विचित्र नाना चीजें तो है पर ऐसा तो हमे नही मालूम होता कि एक पिण्ड रूप होता है, यह चीज अलग अलग है, यह सब चीज अलग अलग है, दुनियाभरके पदार्थ भिन्न भिन्न सत्ताके लिये हुए मौजूद है फिर इसका समूह रूप एक तत्त्व चित्राद्वैत एकान्त ही है।

भौतिकवादका आविर्भाव—इससे भी आगे कुछ है, इन सबके सद्भावोके देखा यह सब है—इस कल्पनामे आ रहा था कि इतनेमे समष्टिकी दृष्टि छूटी सो अद्वैतवाद और निजकी दृष्टि छूट गई, अब अद्वैतसे सम्पर्क न रहा और चार्वाक जैसा सिद्धान्त आ गया। ये सब पदार्थ ठीक हैं यही सब कुछ है। ठीक तौरपर तो यह है कि यह सब भोगके लिये बना है, हमारे उपयोगके लिये बना है। गुप्ततत्त्व कौन ने देखा? आगम शास्त्र तो अपने अपने घरके है युक्तिया तो ऐसी होती है कि सचको झूठ बना दें और झूठे को सच बना दें। युक्तियोमे कोई सार नही होता है। इसलिये युक्तियोमे तो कोई सार नही है और जो धर्मका तत्त्व है वह तो गुफामे होगा, दुनियामे तत्त्व क्या है? जिस मार्गसे महाजन चले। इससे सम्राट पडौसी बडे भाई जो करें वही हमे करना है, उसीमे हमको रहना चाहिये, उसीमे सारा सुख है। इस तरहकी दृष्टि चार्वाककी आई, उसने आत्मतत्त्वको छोडा, जगतके भौतिक पदार्थोंको ही सब कुछ मान लिया। भौतिकवाद अर्थात् पृथ्वी जल आग वायु इन चारोंके मिश्रण होनेमे एक

ऐसी बिजली पैदा होती है कि वह जानने लगती है, खाने लगती है । इसी तरह पहिले तो फिसल फिसल कर भी तत्त्वपर पहुचते थे । कुछ आत्माका ध्यान हुआ नजर आता था, अब उसके विकल्पमें पदार्थ उठते उठते भौतिक बात तक आये ।

प्रकृतिवाद—भैया ! विकल्पकी ताकत विचित्र होती है । जैसे कि नदीकी तरग होती है, कही ऊची जाती है कही नीची । इसी तरहसे ये वितर्क जो होते है संन्यासियोके कभी यहाँ पर आया, कभी अन्तरमे उतरें । यहाँ तक तो वह आ गया, फिर वह सोचता है यह सारो चीजें ठीक ठीक है, परन्तु हमको दिखता है कि कोई किस तरह परिणमता है कही कुछ काम हो रहा है, नाना प्रकारके इसके परिणाम हो रहे है । यह कौन कर रहा है ? नाना प्रकारकी क्रियायें जिन पदार्थोंमे हो रही है जिसका कर्ता कौन हो रहा है, सोचता है यह सब प्रकृतिसे हो रहा है । अब देखो इन दिखने वाली चीजोंके अतिरिक्त कोई प्रकृति नामक जड द्रव्य उसकी समझमे यहाँ आया । अब भौतिकतासे कुछ ऊचा उठा और सोचता है कौन कहाँ क्या करता है, सब प्रकृतिसे हो रहा है, सब स्वभावसे हो रहा है । जैसा जो परिणमन है प्रकृति करती है, यह सब प्रकृतिसे सारा संसार चल रहा है । उस भौतिकवादमे भी कुछ अदृश्य अब यहाँ प्रकृतिसे माना ।

सत्कार्यवाद—उस स्वभाव सिद्धान्तसे कुछ ऊचे उठकर सोचता है कि प्रकृति करती तो है पर प्रकृति ही करती क्या ? प्रकृति तो इसकी अलग अयथार्थ चीज है । पदार्थोंमे ही तो प्रकृति है । ये सब चीजें तो स्वय प्रगट हो रही है । प्रकृति ने प्रेरणा दी परन्तु ये चीजें अपने आप ही तो प्रगट हो रही हैं । इसलिये इन चीजोका आविर्भाव होता हैं । यह सब जो प्रगट होता है वह तत्त्व है । प्रकृतिसे भी आगे चलकर वस्तुके आविर्भावको माना, यह सब वस्तुका आविर्भाव तो माना परन्तु उसमे सोचता है कि इससे इस पर्यायका और उसमे उस पर्यायका ही आविर्भाव है । गडबडीसे या अव्यवस्थासे पर्याय क्यो नही हो रही है ? क्या नई अवस्था बाहिरसे आकर पैदा हुई या किसी ने उसमे कोई अबस्था डाल दी ? सोचते सोचते उसको वह प्रतीत होता हैं कि नही, उस चीजके जितने काम होते है अनन्त काल तक वह सारे काम उसमें उस समय मौजूद हैं परन्तु वे सब ढके होते हैं । जब समय आता है तो उनका बारी-बारी से काम प्रगट होता है, यदि ऐसा नही होता तो किसी की चीज किसीमे पहुच जाती इस वास्ते सारी वस्तु न होती, नाश हो जाता । चीजके नियत काम होते है, इसका कारण सत्कार्यवादी कहता है कि इसमे वे कार्य मौजूद है, समयपर वे काम निकालते है । इसलिये वैसे ही काम होते है । जो नही है वैसा कभी नही होता । इसे उनकी दृष्टिको मिलाकर देखो उनकी समझमे क्या विकल्प हो रहा है, इसको कहते है सत्कार्यवाद ।

निर्गुणेश्वरकी तर्कणा—यह एकान्तवादकी मीमासा चल रही है कि अध्यात्मतत्त्व

मे प्रवेश करने वाले यदि जरा भी चूक गये तो वे कहाँ कहाँ जाकर उलझ जाते हैं ? सत्कार्य पहिलेसे मौजूद हैं और वे समय समय पर प्रगट होते है, हम भी जीव है, प्राणी है, हममे जो कार्य है वे समय-समयपर प्रगट होते है । यहाँ तो वह भिन्न अनेक तत्त्वोकी दृष्टिमे आ गया, सब अनेक तत्त्वकी दृष्टिसे माने । फिर उसके वितर्क उठा, वह एक तत्त्वपर पहुचता है क्योकि कल्पनाएँ ऐसी होती है वह कभी कभी कल्पनासे सकोचकी और कभी संकोचसे विस्तारकी ओर जैसी लोकव्यवहारमे जाया करती है । कभी तत्त्वमे नानापनकी कल्पना, कभी मिलकर अद्वैतकी कल्पना । अब वह सोचता है कि ये सब अवस्थाएँ कम है तो सही, परन्तु यह सब एक ईश्वरका ही काम है, उसका ही सारा विवर्त है और वह ईश्वर निराकार है जिसे कहते है, निर्गुणेश्वर, जिसकी प्रेरणासे सर्व कार्य व्यवस्थित हो रहा है वह निर्गुणेश्वर है, सर्वव्यापी है, एक ईश्वर है । उसमे ये सारे माया कल्लोल है उसमे यह सब विवर्त है, वह निर्गुणेश्वर परम स्वतत्र है । वह निर्गुणेश्वर सबमे है, सबसे न्यारा है, जगद् व्यापक है । यह सब जो जीव देखते हैं उनके विम्बकी तरग है । इस तरहसे एक व्यापक निर्गुणेश्वरकी कल्पना हुई ।

सगुणेश्वरता, कर्मयोग व भक्तियोग—इस निर्गुणेश्वरकी कल्पना करते करते यदि थक गया (क्योकि जहाँ कोई आधार नही होता, जहाँ पर आश्रय नही मिलता, कहाँ तक उसके ज्ञानकी गाडी चले) तब सगुणेश्वरकी प्रतिष्ठा हुई, ईश्वर उसके भी है, निर्गुणेश्वर है परन्तु वह कभी मूर्ति रूपमे आया करता है । जिसे कहते हैं सगुणेश्वर वह निर्गुणेश्वर कभी कृष्णका अवतार लेता, कभी शूकर आदि अनेक अवतार लेता । इन इन अवतारोंमे निर्गुणेश्वर आकर अपना सगुण रूप रखता और अपनी मूर्ति दुनियाके सामने दिखाता, वहाँ उस अध्यात्मतत्त्वकी सकडी गलीसे चलने वाला पुरुष जरा सी असावधानीके कारण फिसलने पर जहाँ जहाँ पहुचता जाता है वहाँका वर्णन कर रहे हैं । अब सोचा ठीक सगुणेश्वर भी है, निर्गुणेश्वर भी है परन्तु इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? इसकी प्राप्तिका उपाय उनके लिये विधि-कर्म करो, यज्ञ करो, पूजा करो यह उनके उपाय है । यह वह सिद्धान्त है जिसको कहते हैं मीमासाका कर्मवादी और कुछ नही सोचता, हमे तो एक हुक्म है परमात्माका । हुक्म है इस तरहके काम करे, यज्ञ करे, बली करे, पूजा करे, इस प्रकारके कार्यमे लगे रहे । देखो वह परमात्मा ऐसे कर्मोंसे जोड जाता है । यहा तक कर्म जोडे गये कि अश्वमेधयज्ञ, नरमेधयज्ञ तककी भी नौबत आ गई, फिर उन्होने कितनोने ज्ञानपर बल देकर सोचा कि केवल शारीरिक कामसे ही तो लाभ न होगा । मनुष्यके जब तक इच्छा है तब तक तो कर्म बन्धेगा ही, उनमे प्रगट होगा ही, उसे बचायेगा कौन ? तब कहते हैं तुम कर्मयोगी तो हो, कर्म करनेके लिये प्रयत्नशील तो हुए हो, पर इतना हमारा मानो कि कर्मयोग निष्काम करो अर्थात् निष्काम कर्मयोगी बनो, कोई इच्छा न करके तुम उस ईश्वरकी आराधना करो । अंतस्तत्त्वकी और अभि-

सुख होकर वह विचारता है ये बाह्य क्रियायें हैं, ये सब काययोग है। उसे इतनेसे सतोष न हुआ तब वह सोचता है, केवल कर्म कर्मसे क्या होता ? स्वर्ग। इससे क्या होगा ? उस ईश्वरकी जब तक अनन्य भक्ति न आवे तब तक उस ईश्वरसे भला नही हो सकता। इस लिये इसके आगे चलकर भक्त योगी बना और वह हो गया भक्तियोगवादी। उस सगुणेश्वर की भक्तिसे रहने वाले जीवोने यह सोचा कि इतनी भक्ति करो कि उसमे तन्मय हो जावो। जिसे कहते है समाधि।

क्षणिकवादका आविर्भाव—भैया! समाधिमे रत हो। ऐसा वे कर रहे थे कि इतने मे एक आया और कहने लगा कि तुम किसका पुल बाँध रहे हो, जगतके पदार्थ तो क्षण क्षण भरमे नष्ट होने वाले है, तुम किसके लिये पुल बाँध रहे ? यहाँ तक ईश्वरकी कल्पना हुई, भक्ति हुई। सब कुछ हुआ परन्तु इस बातको सुनकर फिर उलझन हुई वह विचारने लगा कि क्या कर्मयोग क्या निष्काम कर्मयोग, क्या गुणेश्वर यह सारा जगत क्षणिक है, यही तत्त्व है इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व नही, यहाँ द्वैतवाद आ गया। जो कुछ दिखता है वह क्षण क्षण मे नष्ट हो जाता हैं, उसी समय पैदा हुआ और उसी समयमे नष्ट हो गया। क्षण भर स्थिर रहता है और क्षण क्षणमे नष्ट हो जाता है। यह तत्त्व है, यही यज्ञ है, यही भक्ति है। जो पदार्थ क्षण क्षणमे नष्ट है उसे किसीके आश्रय लेनेकी कल्पना नही होती। वे बतलाते है कि उसका अन्य क्या होगा कि जब हमारी दृष्टिमे सारे पदार्थ क्षण-क्षणमे नष्ट हो जाने वाले है, हमे किसीका सहारा आश्रय पकडनेकी जरूरत न होगी। जो चीजें क्षण क्षणमे नष्ट होने वाली हैं देखो उन्हे जो पकडे ग्रहण करे वह मूर्ख है। जो रहे ही नही, जो नष्ट हो जाता है उसको पकडनेमे क्या लाभकी बात है ? क्षणिकवाद कहता है कि समस्त पदार्थोंको क्षणस्थायी मानो, बस यह तत्त्व है, इसीमे आत्माको सुख है और मोक्ष है। क्षणिक अनेकके सिद्धान्त तक पहुचे।

वैशेषिक भावका आविर्भाव—अब आया वैशेषिक भाव। वह कहता है अहो भाई तुम्हारी बात ठीक है, तुम्हारा कोई विरोध नही। हमारा इसमे विरोध नही कि पदार्थ सदा रहते है या नष्ट नही होते, पर यह बतलाओ कि तुम जिसको क्षणिक मानते हो वे चीजे तुम्हारे दिमागमे कितनी है ? जिसे कहते हो यही तत्त्व है कि अर्थ क्षण क्षणमे नष्ट होते है। क्या बात समझी कि पदार्थ दो हैं—१ जड, १ चेतन, परन्तु बात तो यह है कि पदार्थ अनन्त है और फिर उस एक एक परमाणुमे व किसी द्रव्यमे अनन्त तो गुण नजर आता है अनन्त गुणमे अनन्त ही क्रियाएँ नजर आती हैं और उन गुण और क्रियामे सामान्यपन भी नजर आता और उनमे विशेषपन भी नजर आता। ऐसा भी लगता है कि सारीकी सारी

एक-एक रूपमे इकट्ठी हो रही है । ऐसा भी मालूम होता कि इसमे एकमे जो दूसरी चीज नही है ऐसा भाव भी इसके अन्दर पडा हुआ है तब इसको अभाव कहते है तब तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय अभाव कितनी चीजें यहाँ है । वैशेषिक सिद्धान्तमे ये सभी तत्त्व स्वतत्र है । कही इतना मत मानो कि सारीकी सारी पिंड एक है और इसमे गुण कर्म सामान्य आदि भी रहा । किन्तु यह तो ऐसा है कि इसमे द्रव्य भी है, कर्म है विशेष आदि सब है और सब स्वतत्र है इसमे रहने वाले तत्त्व परतत्र क्यो रहे, यह सब भी स्वतत्र है, अलग अलग सत्ता रखने वाले है । यह सारा वैशेपिक सिद्धान्त उन चीजोको मानता पृथक् स्वतत्र ।

वैशेषिकताका विश्लेषण—इस सिद्धान्तमे जो एक परमाणु है उस परमाणुमे कितना तत्त्व भरा है और तत्त्व सारा न्यारा-न्यारा न्यारा स्वरूप तो रखता, परन्तु द्रव्य अपना ही है, गुण भी नजर आता है, रूप रहता, गन्ध है, कर्म क्रिया भी नजर आती है, वह सब अपने सबधसे है । इसको समवाय बतलाया गया और वह एक समवाय सब जगह व्यापक है । जिस की वजहसे सबकी कई सत्ता होनेपर भी बिखर नही जाती । सामान्य सबमे व्यापक है और फिर सबके अन्दर न्यारी न्यारी सत्ता है ऐसी उनकी बात है, ऐसी विशेष विशेष भी सब हैं और इन सबका एक जगह सबध भी है । यहा कोई प्रश्न करे कि सब न्यारा तत्त्व है, तो पिंड क्या है ? काम कैसे हो रहा ? वहा विशेषवादी कहता है कि समवाय नामका पदार्थ जो सारी दुनियामे व्यापक है वह समवाय ऐसा बल देता है कि जिसपर जाता है काम करनेसे ही बनता है । यह वहा चिपटा ही रहता है । तत्त्व स्वय होता है वह अपनेमे रहे इसका प्रवेश अन्यमे न हो तो वस्तु कैसे बनी रहे, यह सारे तत्त्व बेकार न हो जाय । इसलिये समवाय नामक एक तत्त्व बना दिया जो सब चीजोका सम्बन्ध जुडाय रखे और सम्बन्ध तो जुडाया परन्तु किसीसे जुड जाय, इसका उसमे जुड जाय तो बडा अन्धेरखाता हो जायगा, तब नही, नहींकी व्यवस्था करने वाला एक अभाव तत्त्व है । वह यह व्यवस्था करता है—किसीकी चीज किसीमे नही जाती । इस तरह वह वैशेषिक इन तत्त्वोंके अन्दर वितर्क उठाकर यहा तक वह पहुच गया ।

अनेकान्तवादका समाधान—इन सबके इतने परिश्रमको देखकर अनेकान्तवादी करुणा करके कहते है कि वैशेषिक मित्र ! तुम्हारी बात ठीक है । द्रव्यमे ये सब विशेष व पर्याय है बिना एक पिड वस्तु माने ही देखो कहा क्या तत्त्व रहेगा ? वह परमाणु समस्त गुणके पिंडसे भिन्न वस्तु क्या है, यह आत्मा समस्त आत्मीय गुणके पिंडसे भिन्न वस्तु क्या है ? इसलिये गुणोका समूह ही द्रव्य है जो उसका परिणमन है, उसे कार्य कहते हैं, वह त्रैकालिक रहता है । इस कारणसे वह द्रव्य ऐसा हुआ । तुमने जो सामान्यकी व्यवस्था अलग बनाई, तुम्हारे इस

भिन्न-भिन्न विशेषणसे बड़ी वस्तु हुई थी इसलिए सामान्य अभाव व समवाय अलग बनाया, परन्तु यह स्वभाव ही द्रव्यका स्वय ऐसा ही है । जो अपने स्वरूपमें ३ काल तक रहा वह तो सामान्य है, वह द्रव्य अपने गुणको भाव रूपसे रखता ही है यह समवाय है और निजकी स्थिति ही समस्त परकी स्थिति रूप करता है । निजकी स्थितिके लिये परके अभावकी अपेक्षा नही करनी पडती । निजका सद्भाव ही परोंके अभाव रूप है, निजकी स्थिति ही स्वयको ऐसे स्वभावमे लगाये हुये है कि उसमे परका अभाव रहता ही है । परकी अस्थितिरूपसे रहना ही निजकी स्थिति है एव निजकी इस शुद्धिके पहलेसे ही परकी शुद्धि है । उस एक अखड एक द्रव्यमे गुणोंकी सत्ता अभेद रूपसे है, उनके परिणाम कर्म है तथा क्षेत्रसे क्षेत्रातरस्थ होना भी कर्म है, उनका सामान्य विशेष भी उन्हीमे सर्व समवेत है, अत सर्वात्मक वह एक अखड तत्त्व है । इस तरह तत्त्व द्रव्य गुण कर्म आदि अलग अलग तत्त्व नही है, यह एक द्रव्य कहलाता है । जीवकी नाना अवस्थाएँ है—कोई धर्मरूप, कोई अधर्मरूप । धर्मका सद्भाव ही अधर्मका अभाव है । सब इस प्रकार द्रव्यके स्वरूपमे स्थित है, एकान्त तत्त्व कुछ नही, यहा तक कहासे उठकर चलते हुए कितने ही सिद्धान्त आते है, इस बातका वर्णन किया । अतमे बात आई कि वस्तु अनेकातात्मक है ।

अनेकान्तके निर्णयका एक लोकदृष्टान्त—वे सब तत्त्वस्वरूपकी जुदी बातें कहाँ तक युक्त है जहा तक उन्हे एक एक दृष्टिसे देखा । एक हाथीके स्वरूपको जाननेके लिये पाँच अन्धे लडते है तो लडो । जिस अधेने पूंछ पकडी वह कहता है हाथी कटीला होता है, जिस अधेने हाथीका पैर पकडा वह कहता है खम्भासा होता है, जिस अधेने कान पकड़ा कहता है सूप सा होता है, जिसने सूड पकडी वह कहता है मूसल जैसा है । लडते है तो लडो पर जिसके आखे है और जो चीजोको देख सकता है वह भ्रममे नही पडता । वह उन्हे समझाता है लडते क्यो हो, जिसने हाथीको जिस जिस अपेक्षासे समझा वह उसको उसी तरह समझाता है । वह हाथी तो पांच चीजोका मिलकर बना है यह जो अनेकान्तवाद है, यही वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करता है । यह आत्मतत्त्व जो अनन्त गुणोका अभेद पिंड है, त्रिकालिक अस्तित्व रखने वाला है ऐसे तत्त्वको यह आत्मा अपने निज स्वरूपमे दृष्टिमे नही देता, जगतके बाह्यपदार्थोंमे हितरूपसे दृष्टि देता है तो अनन्त कर्म अपने आप बधने लगते है ।

आत्मरतिका अनुरोध—हे आत्मन् ! अपनेको बाह्यके लक्ष्योंसे निकालो । इस आत्मामे निज तत्त्वको देखो, इसीमे रत होवो । बाह्य विकल्पोको छोड ससारके मोहको छोड अपने आप को समझ, इस प्रकार तत्त्व प्रमाणित करके फिर निश्चय दृष्टिसे आत्माके निरपेक्ष स्वरूपका ध्यान कर । आचार्य महाराज कहते है कि अब तुम शुद्धात्मा हो जावो, निर्विकार निर्विकल्प स्थितिको पावो । पहिले प्रमाणके द्वारा वस्तुके पूर्ण स्वरूपको देखो, फिर निश्चयके द्वारा निर-

पेक्ष तत्त्वको देखो, फिर निरपेक्ष तत्त्वकी दृष्टिको एकदम विलीन करके सारी दृष्टियो व प्रमाणसे अतीत होकर एक शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप रहो, यह बात बतलाई कि आत्मा किसीमे से नही निकलता । निकलनेका रास्ता बिल्कुल हल्का है, उस हल्के रास्तेसे निकलना है, वह रास्ता है निजकी निजपर दृष्टि । इस रास्तेपर चलते हुएभी कभी बाह्यपर दृष्टि देता है और रास्ता चूक जाता है, फिर वह समझता है और धीरे वापिस अपने रास्ते पर आता है । यदि वह रास्तेको पकड लेता है तो ठीक ठीक तरीकेसे मार्गको पार कर जायगा । अध्यात्म तत्त्व एक सकरी गली है । इसके स्वरूपसे बाह्य स्वरूपपर लक्ष्य हुआ तो वह अपनी ही गलीसे भ्रष्ट हो सकता है । यह अध्यात्मप्रेमी कहा कहा किसमे फसकर क्या तत्त्व बनाता रहा ? इन सब तत्त्वोको जितने भी कहे गये उन सबको उनकी दृष्टिसे देखो और उनके ठीक-ठीक स्वरूपका निर्णय करो । इसी तरह जिसने अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया, सम्यक् विश्वास किया ऐसा पुरुष रागद्वेषादि भावको छोडकर अपने आपके कल्याणके लिये उठता है ऐसा जीव सारे प्रमाद को छोडकर चारो घातिया कर्मोको नाश करके अपने शुद्ध तत्त्वको पा लेता है ।

इन्द्रियोकी ज्ञानानन्द बाधकता—यहा जिस शुद्ध आत्मामे द्रव्येन्द्रिय नही, भावेन्द्रिय नही, ऐसी शुद्धात्माको क्या ज्ञान और आनन्द होता होगा ? इसका समाधान करते करते यहाँ तक सिद्ध कर दिया कि जिनके इन्द्रिय है उनसे ज्ञान और आनन्दकी बाधा ही हो रही है । इन्द्रिया तो ज्ञान और आनन्दके बाधा देने वाली है, जिनके इन्द्रियके ज्ञान और आनन्दकी मिथ्या तरगोसे सुखकी मान्यता है उनको यहाँ शिक्षा है इन्द्रिय ज्ञान और आनन्दकी बाधक कहलाती है क्योकि स्वभावसे ही ज्ञान और आनद है । जैसे किसी रईसकी जायदाद सरकारने कोर्ट करली । वह बच्चा था नाबालिग है उसकी सरकार रक्षक है । उसको सरकार उसके एवजमे ३००) रुपये मासिक देती जाती है । बच्चा सयाना हुआ तो वह सोचता है—सरकार ३००) देकर बडा उपकार करती है, धन्य है यह सरकार । तब लोगोने समझाया कि तुम्हारी करोडो रुपयोकी जायदादको कोर्ट भर रखा है, तुम्हे ३००) देकर बाकी रुपया अपने काममे लेती है । जब इसे यह मालूम हुआ तो सरकारसे उसने कहा—हमे तो हमारी जायदाद व वैभव चाहिये । इसी तरहसे पूर्णज्ञान आनद वैभव वाले यह जीव उनके ज्ञान और आनदका वैभव कर्म सरकारने कोर्ट कर लिया, अब यह ज्ञान आनद इस जीवके नही रहा, अब जरा कुछ सयाना हुवा, पुण्य उदय हुआ, तो उसके उदयमे कुछ सम्पत्ति सी मिल गई, अब वह जीव पुण्य सरकारका बडा उपकार मान रहा । उसके परिवर्द्धनके लिये उसकी पूजाके लिये ब्राह्मणोका सत्कार करता, पूजा करता और सारे काम करता है । फिर जरा सयाना हुआ तो गुरुने समझाया कि तू उस अमूल्य जायदादका मालिक है, यह तो पुण्य सरकार इतना मजा देकर तुझे भुलावा दे रहा है । तुझे पता है वह तेरा अनतज्ञान और आनन्द लूट करके

क्या देता है—उस जायदादमे से जरासा ज्ञान सुख दिया जा रहा है । तुम किससे सुख मान रहे हो ? इसका बोध हुआ, ज्ञान हुआ और सोचा हम पुण्य नही चाहते अपना वैभव ही चाहते । हमारा जो आनन्द ज्ञानका वैभव है उसकी ही हमारी माँग है । उसकी माग हम गिडगिडाकर नही करते, कानूनके बलपर माँग करते है । इसी तरहसे यह ज्ञान कर्मका मुकाबिला करता है, कषायका मुकाबिला करता है ।

केवलज्ञानीके शारीरिक सुख दुःखका अभाव—शुद्ध चैतन्य स्वभावका ध्यान करके जिसे मोही जन समझते ही नही, उस स्वभावकी परख करने वाले सम्यक्त्वके सहयोगसे अपने वैभवको अपनेमे पा लेता है । अशुद्ध अवस्थामे भी जो ज्ञान आनद प्राप्त हुआ है यह इन्द्रियसे नही मेरे बलसे हुआ है । अब भी मेरे ज्ञान और आनन्दका विकास होता है । आचार्य सिद्ध करते है कि उस शुद्धात्मामे जो सुख व ज्ञान है वह स्वभावसे ही है, इन्द्रियके कारण नही । इन्द्रिय न होने के कारण केवलीके परमसुख है । इसी प्रकारसे वैभवको प्रगट करते है । साधक भगवानके गुणोका स्वरूप आप अपनेमें देखता, उनकी सन्धि करके अपने आपमे उद्देश्य करता है कि केवलज्ञानीके शारीरिक सुख-दुःख नही है । अब अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियरहित होनेसे ही शुद्धात्माके शारीरिक सुख दु ख नही है ऐसा कहते है—द्रव्येन्द्रियाँ शरीरमे हैं और शरीर जब शुद्धात्माके नही होता तब आश्रय द्रव्य इन्द्रियोका नही रहना और उसके अभाव होने पर भावेन्द्रिय जो कि सुख दुःखमे ले जाता है लेश सभावित नही है तथा जिन सकल परमात्माके कुछ ही कालको शरीर रहता है वहा भी शरीर है तो रहो, जब क्षायोपशमिक ज्ञान या भावेन्द्रिय नही है तो शारीरिक सुख दुःख ही क्या होगा ? ऐसे शारीरिक सुख दु ख से रहित केवलज्ञानीके स्वरूपको विभावयति माने कहते है, 'विभावयति' का शब्दव्युत्पत्तिसे देखनेपर अर्थ होता है कि विशेष रूपसे हुवाते है । वह स्वरूप तो हो ही रहा है, किन्तु आचार्य उस उस रूप उपयोग बनाते जा रहे है, ज्ञान करते जा रहे है, वहा भी यह कहना व्यवहारमे अनुपयुक्त नही है कि हुवाते जा रहे है । तात्पर्य यह है कि शुद्धात्माके सुख दुःख नही है, ऐसा कहते है—

सोक्खं वा पुण दुःक्ख केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जह्मा अदिंदियत्तं जाद तम्हा दु त णेयं ॥२०॥

केवलज्ञानीके सुख दुःखके अभावका कारण—कहते है कि केवलज्ञानीके शारीरिक सुख और दुःख नही होते, दोनो ही दुःख हैं, कोई सा भी नही होता है, इसमे क्या कारण है ? वे अतीन्द्रिय हो गये । अपने इस देह पिडके अन्दर ... स्वरूपका विचार करो, देहका लक्ष्य छोडकर अतरगमे देखे तो ... देहसे भिन्न स्वरूप वाला हू, मैं स्वयं ज्ञान और अनाकुल हूं, ...

उत्पन्न नही होती, प्रत्युत वाह्य पदार्थोसे जैसे जैसे लक्ष्य कम होता जाता, वैसे ही वैसे मुझमे अनाकुलता अधिक पैदा होती। अन्तर्दृष्टिमे अपने अतरगकी वात विचारनेपर यह वात विल्कुल अनुभवमे आ जाती कि केवली भगवान ऐसे ही तो हो गये जिस प्रकार कि हम इस देहमे रहकर अपने आपका स्वभाव दृष्टिसे विचार कर रहे है। वह ज्ञान उसके सुखका परम भडार अपने सच्चे स्वरूपमे आ गया। इन्द्रिय देह द्रव्यकर्म सभी नष्ट हो गये, केवल एक चैतन्य ही रह गया, उसका ज्ञान और उसका सुख जो उसकी तरंग है, शुद्ध तरग है। वह अपने आप पैदा होती है। उन तरगोंको पैदा करने वाला कोई निमित्त कारण नही होता है। क्योकि वह उसकी स्वाभाविक अवस्था है। स्वाभाविक अवस्था यदि किसी निमित्तकी अपेक्षा रखे, तो वह स्वाभाविक नही कहलाती। वैभाविक ही निमित्तकी अपेक्षा रखता है, सो भी निमित्तमात्र रूप वह वाह्य पदार्थ रहता है।

संगतिसे विघात—जिस कारणसे कि शुद्ध आत्माके इन्द्रिका समूह नही है तो इन्द्रियज सुख दु ख भी नही है। लोहेके गोलेमे सगति किया हुआ जो आग है वह तो चोट सहता है परन्तु सगति अलग हो तो चोट नही सहता। अर्थात् जैसे लोहेके गोले मे आग लगे तो वह आग घनकी चोट पाता है। आगमे घनकी चोट देनेका क्या मतलव? आगको घनसे कौन पीटता है? लुहार लोहेको घनसे पीटता है, चौडा करता है, परन्तु वह लोहा जव आगकी संगति करता है तव घटाया वढाया जा सकता है तो लोहेकी सगतिसे जैसे आग पिटती है इसी तरहसे इन्द्रियज्ञानके कारण यह इन्द्रियकी सगतिसे यह आत्मा भी पिटती है। हम यहाँ इन्द्रियसे पिट तो रहे और इस पिटाईको सुख मान रहे, बस इसलिये यह शका होती है कि जिनके इन्द्रियज्ञान नही है उनके मुख कैसे होता होगा? देखो भैया यह ऐसी पिटाई है, यह हमारा ऐसा दु.ख है कि हम दु खको दु.खका स्वरूप नही समझ पाते। दुखी तो हो रहे है पर दु:खका जब तक ठीक स्वरूप नही समझे तो हम दु.खसे मुक्त कैसे होवेंगे? दु खको सुख मानकर भोगे और उसमे आकुलना न होवे तो भी भला था, कोई बुरा नही था, भ्रम था सो था, भ्रमने क्या विगाड दिया? सुखी तो बने रहते, परन्तु दु खको सुख मानकर सुखी होना चाहा और वहा भी सुख नही होने पाता, आकुलता लगी रहती बस यही खेदकी बात है।

संतोष्यताका संसारमे अभाव—ससारके जितने सुख है सभी सुखोपर दृष्टिपात कर लो, कोई सुख भी अनाकुलतासे भरा नही है। घनका सुख परिवारका सुख नेतागिरीका सुख और बडे सुख जिसे ससारमे सुख समझते उनमे रहने वाले लोगो के हृदयसे पूछलो कि उनको आकुलता रहती या अनाकुलता? दु ख भोगते जा रहे है और सुखके बोध से दुखी होते जा रहे हैं और फिर भी बाज नही आते। जैसे लालमिर्च खाते जाते है, आँखोंसे आँसू गिर रहे, सी सी कर रहे, फिर भी मिर्चके आसक्त मिर्चसे बाज नही आते। यह जीव ससारके जितने

दुःख हैं उनको भोगते जाते है दु खी होते जाते, फिर भी वाज नही आते । कदाचित् दुःखमें आप थोडी देरको यह तो सोच सकते कि कुछ न करो । कुछ आरामसे वैठो तो दु ख मिटा और फिर भी उसी दु खमे आ गया, बीमार रोगी हुआ, मरणासन्न हुआ सोचता है कि भगवान इससे यदि वच जाऊ तो खूब धर्म करूगा । मैंने अपनी चिन्ता बढाकर बिना धर्मके जीवन खोया, सभीका विरोध करके अपना जीवन बिना धर्मके खोया । ज्ञानीको धर्मका स्वरूप प्रगट समझमे आया तो अपने तथ्यके मुकाबले पर्यायगत शुभभावको वह अधर्म समझते है । धर्मका पूर्ण स्वरूप उन मुनियोके समझमे आ रहा जो व्यवहारधर्ममे वहुत आगे वढ़नेपर भी सतोष नही रखते कि मैंने सव कुछ कर लिया । उन्हे भी वह गलत मालूम होता है कि धर्म का तो यह स्वरूप है, मैं अभी धर्मसे दूर हू । वहो भैया ! तव फिर हम लोग कहाँ ? हमारा कौन काम ऐसा है जिस कामको करके यह माने धर्म कर लिया, जरा ऊपरी भक्ति करली वस सतुष्ट है, सतोष पा लेते हैं । आप सोचो कोई सतोपकी जगह भी है, विकल्पको ही कहा करते हमने धर्म कर लिया ।

ज्ञानातिरिक्त भावोकी अज्ञानमयता—मुनि विचारते है कि मेरे भाव जो यह हो रहा है वह अज्ञानमय हो रहा है । देखो मुनियोंके अतरग भावको देखो—सामायिक भी कर रहे है मुनि सामायिकसे वैठ गये और वे सोचते है कि जो मैं ऐसा वैठा यह अज्ञान भाव हो रहा है ऐसा जो कि तप कर रहे है यह अज्ञानमे मुनि सोचते है कि भक्तिभावना भी रागकी की जाती है वह अज्ञानमे है । परमेष्ठीकी भक्तिका अतरगमे अनुराग हुआ, उस अनुरागसे ऐसा सोचता हू कि यह मेरे रागकी चेष्टा है, यह सच्चा भाव मुनियोकी अतरग वातको वतला रहा है कि उनके अदर तत्त्व ज्ञान भरा है । वह सोचते है मेरा स्वभाव तो निर्विकार निर्विकल्प है । जितने भी ये विकल्प क्रियायें है वह सव अज्ञानमे हो रही है । इतने ऊचे मुनिराज जिनके चरणोकी रज मिल जाय तो भव्यजन उपासक अपने सिरमे धारण करके अपने जीवनको धन्य समझते हैं, ऐसे भाव मुनियोके यह विचार उनके शुभोपयोगमे होता । तव आप अपनी स्थितिको देखे हम कहां है और कहा पडे, क्या करके संतोप कर रहे है ? वडे सतुष्ट है वडा आनन्द है । अगर कोई यश संपदाकी वात हो तो उसे वातमे मालूम होता है वडा आनन्द है । उनके चित्तमे यह सुख मालूम होता है कि ससारका ऐसा वैभव मिले वहा सुख है । कहते है कि यह आत्मा जो पिट रही वह इस देहकी सगतिसे पिट रही है । यदि देहका सम्बन्ध होता तो यह आत्मा स्वभावसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन शक्तिमान अनन्त सुखी होता । यह देह, ये इन्द्रियां तो ऐसा कपटी मित्र है जैसे कपटी मित्र वहुत वडी हानि करके छोटे लाभकी वात वतलाते है, इसी तरह यह देह, यह इन्द्रिया ऐसी कपटी मित्र वन रही है मेरी वडी भारी हानि करनेके लिये थोडेसे लाभमे हमको मुग्ध वना रहे । विवेकी पुरुष इस कपटी मित्रकी वातोमे नही आते । वे

अपने पथपर पहुचते है और सोचते है कि हमको क्या दास बनावोगे, तुम हमको अपना क्या नौकर बनावोगे तुम सब मेरे स्वरूपसे भिन्न हो, मैं तुम्हारी बातोमे नही आ सकता। कमजोरीके कारण परकार्यके वातावरणमे आना भी पडे तो भी वह अपनी श्रद्धाको निर्मल रखता है।

इन्द्रियोकी उद्दण्डता—उद्दण्ड यह इन्द्रियोका समूह जिस शुद्ध आत्माके नही उसके घोर घन घातकी चोटकी तरह शारीरिक सुख दुःख उसके नही हो सकते। देखो भैया! इस संसारमे अन्य जो तिर्यंच जीव है जो बडे अज्ञानी है इनको भी मुख्यतासे एक खास इन्द्रियोका विषय राग रहता, हिरनको सूंघनेका राग रहता, पतगको रूपका राग रहता भवरको गन्धका राग रहता, मछलीको स्वादका राग है, हाथीको स्पर्शका राग रहता है। यह विचारे हाथी आदि तिर्यंच अज्ञानी यह अपने एक इन्द्रियकी मुख्यतासे राग करता। परन्तु यह मनुष्य ५ इन्द्रियोकी मुख्यतासे राग करता है। घरमें भोजन करके आये, पेट लबालब भरा घरसे बाहिर निकले जेबमे चार पैसे पडे है चाटवाला दिखाई दिया बस पेट लेटर बक्समे जगह खाली मिल ही जाती ऐसी आसक्ति है। इसके साथ २ ही मास मदिरा आदिका विवेक न करे सब खाये। यह क्या है यह कपटी इन्द्रियां हमारे पूरे लाभको मिटाकर थोडेसे लाभमे मुग्धकर रही है। वस्तुत. तो वह वर्तमानमे भी कोई लाभ नही है, कल्पनासे किसीको भी कुछ समझलो उससे क्या उठता? स्पर्शनकी बात देखो—विषयी भोगमे आसक्त रहता है। कितने ही लोगोका जीवन इसी विषयभोगके कारण बरबाद हो गया। दूसरोकी बरबादी भी देखकर मैथुनका प्रसग नही छूटता, उस लोहूसे लथपथ मलमूत्र वाले शरीरका राग नही छूटता। यह क्या है? यह इन्द्रिय थोडेसे सुख दुःखका लालच देकर आत्माके स्वाभाविक वैभवको लूट रहा है। इसका भोगीको पता नही, वह इन्द्रियोमे ही आसक्त हो जाता है। इसी तरह इन सब इन्द्रियोकी ऐसी ही बात है। सुहावने रूपको देखकर अपने अतरगको रीता करके निरतर उसमे आसक्त रहता है।

उद्दण्डता एक उदाहरण—एक देवरति राजाकी कथा है। देवरति राजा था। वह रानीमे आसक्त था। उसके राज्यमे इस कारण गडबड होना शुरू हुआ तो मत्री कहते है कि महाराज या तो रानीको लेकर यहांसे पधारो या रानीमे आसक्ति छोडकर राजका कार्य सभालो! मन्त्री दोनोका हितैषी होता है। राजाकी रानीका नाम रक्ता था। राजा आसक्तिके कारण रानीको लेकर राज्यसे भाग गया। वह किसी दूसरे शहरमे पहुचा। वहाँ जाकर राजा भोजनकी सामग्री आदि एक रोज लेने गये। इतनी देरमे अन्धा, लूला आदमी वहा एक गाना गाता हुआ चरस हाक रहा था। रानी उसके गानेको सुनकर उसपर मुग्ध हो गई। कुबडेसे याचना की, उसने कहा कि राजाके रहते हुए मैं ऐसा नही कर सकता। जब राजा आया तो

[उ]सने रानीको उदास पाया तो उसने रानीसे पूछा कि मैंने तुम्हारे लिये घरबार छोड दिया [अ]ब भी नाराज क्यो हो ? रानी बोली—आज आपका जन्म दिवस है, यदि उन महलोमे होते [त]ो कितना अच्छा स्वागत करती ? राजाने कहा—यहाँ ही स्वागत कर सकती हो । रानीने कहा, तुम फूल लावो मै माला बनाकर तुम्हे पहनाऊगी । राजा फूल लेने चला गया और फूल ले आया । रानी ने ५० हाथके ३ गजरे बनाये और राजासे कहा कि पहाड पर चलो वहापर [ग]जरोसे स्वागत करू गी । राजा वहा गया और रानीने इस तरहसे उन गजरोंसे कस दिया कि [व]ह चल फिर न सकता था, फिर उसको धक्का दिया । पहाडके नीचे नदी बहती थी, राजा उस नदीमे आकर गिर पडा ।

पुण्यका अमात्यपन—ससारका हाल देखलो, कौन किसे चाहते है इसकी परीक्षा कर लो । प्रथम तो वस्तु स्वरूप ऐसा ही है वस्तुके गुणकी पर्यायें उसी वस्तुमे है, वस्तुके द्रव्यगुण पर्याय अपने प्रदेशोमे ही है, परके प्रदेशोमे नही, फिर कौन कहा जा सकता है ? वह देवरति राजा लडखडाता नदीमे बहते हुए एक किनारे लग गया और यह रक्ता, रानी उस अन्धेको अपने सिरपर लेकर स्वय तो नाचती और वह अधा गाना गाता और इस प्रकार अपने पेटके लिये पैसे कमाते । लोगोको क्या बतलाती कि यह मेरा पति है, अधा है, इसे सिरपर लेकर पतिव्रताका व्रत पालन करती हू । उधर देवरति राजा बहता बहता हुआ ऐसे देशमे जा पहुचा था, जहा राजा नही था । मंत्रियोने सोचा राजा उसीको बनाओ जिसको प्रधान हाथी स्वय उठाकर मस्तकपर उठाये । हाथीने घूमघाम कर उसे ही मस्तकपर बिठाया और इस प्रकार देवरति वहाका राजा बन गया । अब यह रक्ता रानी पडते गिरते उसी नगरमे पहुची और दरबारमे पहुच गई । देवरति राजाने उसे पहिचान लिया वह तो पहिचानकर वहापर विरक्त हो गया और राजपाट छोडकर साधु हो गया । रक्ता रानी तो रक्ता ही रह गई ।

विपदा व भ्रमका कारण विषयानुराग—ससारका स्वरूप तो देखो कि इन्द्रियके कार्यमे नष्ट होकर अपना आगा पीछा भूल रहा । मरनेके बाद भी तो हम तुम होगे । इस का कोई ख्याल नही करता । इन इन्द्रियोको मित्र मानकर हम सुख मानते है उसीमे दुःख है । यदि इस देहका सम्बंध आत्मासे नही होवे तो यह आत्मा विपदाकी चोट नही सह सकती जैसा कि आग लोहेकी सगति न पाती तो वह भी न पिटती । इसी तरह भगवानके शरीर नही है तो शारीरिक सुख दुःख भी नही है । शुद्धात्माके मोहकर्म रहा नही, ज्ञानावरण दर्शनावरण इन्द्रिय कर्म रहा नही, इस कारण पचेन्द्रियोके सुखके लिये उनका व्यापार नही होता । उसका व्यापार अपने चैतन्यस्वरूपमे अपने स्वभावके अनुरूप शुद्ध तरगके द्वारा होता है । इस इन्द्रियके द्वारा जो व्यापार होता, यहा व्यापार इस सुख दुःखका अनुमापक है, यह दुःख है । घावको पट्टी सगाते है वह पट्टी इस बातकी अनुमापक है कि इसके घावका दुःख है

और घाव अच्छा नही है। इसी तरह अपने इन्द्रिय सुखके लिये जो व्यापार करता है, परिश्रम करता है उसका परिश्रम ही इस बातको बतलाता है कि उनको इस चाहका दुःख है। यह जगतके जीव २४ घटे परिश्रममे लग रहे। २४ नही तो १८ घटे तो परिश्रममे लगे रहते है। उस परिश्रमसे थककर ६ घटे पैर पसार कर शयन करते है २४ घन्टो काम करते है। इसका कारण क्या है इन्द्रिय सुखके लिये जो मेहनत की उस मेहनतका फल है। इन्द्रिय सुखके लिये मेहनत की, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सुखमे उसकी रुचि हुई। इसका कारण क्या ? अपने चारित्रगुणको रमानेके लिये उसे कोई स्थान न मिला।

रत्नत्रयका प्रसाद—यदि अपने ज्ञान, दर्शन सामान्य स्वरूप आत्मतत्त्व अनतगुणमे अभेद स्वरूप आत्मतत्त्व उसकी दृष्टिमे आता तो इन्द्रिय सुखमे रुचि न होती, चारित्र ज्ञानके कामको स्थिर कर देता है, आत्मामे दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनो गुण ऐसी मित्रतासे काम करते है कि जैसे किसीको कुछ काम करना है। उसके लिये तीन आदमी बैठ जायें, जैसे एक लिफाफा बनाना है, ३ आदमी बनाने वाले है। तीनो ऐसे बैठते हैं एक काटता है एक ठीक जगह लेही लगाता है और तीसरा उसको चिपका देता है। जैसे यह तीन काम, तीन पुरुष मिलजुलकर एक साथ काममे लग रहे, मानो यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इस तरकीबसे अपने काममे लग जाते है, यह तो औपचारिक दृष्टान्त है, गुण तो एकत्र अभेदरूप है। दर्शनने श्रद्धा की, ज्ञानने बताया, चारित्र वहा जुट गया—यह तीन काम दर्शन, ज्ञान, चारित्रके इस तरह हो रहे। दर्शनने विश्वास किया, ज्ञानने उपाय बतलाया, चारित्रने उसमे लगा दिया। चाहे वह विषयकी बात हो चाहे तपस्याकी बात हो, अच्छे वृत्तिकी बात हो। दर्शन, ज्ञान, चारित्र इस ढगसे काममे लग रहे हैं। विषयी आत्माको दर्शनने विषयमे हितकी श्रद्धा कराई, ज्ञानने उपाय दिखा दिया, चारित्र विषयमे जुट गया। दर्शन, ज्ञान, चारित्र सामान्य गुण है। जब यह खोटे कार्यमे जाता है तो उसको कहते है मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। और जब यह अच्छे विषयमे जाता है तो इसको कहते है, सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र अच्छा विषय, जो स्वयंके लिये स्व ही है।

कार्यसिद्धिमे विश्वास, ज्ञान व लगावकी अवश्यभाविता—कोई भी हम काम करते है उस काममे तीन तरहकी बात होती हैं–विश्वास, ज्ञान और लगाव। तीनो कैसे लग रहे ? अपने धर्ममे विश्वासका काम दर्शनका हुआ, वही ज्ञानने जानन किया और चारित्र इनके विषयमे जुट गया। यह तीनो बातें इन जीवोमे अनादिसे अनन्त काल तक रहती है। फर्क एक शुद्ध अशुद्धका है। सम्यक्दृष्टिको तत्त्वका विश्वास हुआ, इसकी सब बातोका ज्ञान हुआ और उसमे जुट गया। इसी तत्त्वमें जुट गया, किसी बाह्य व्यापक बातमे नही। यहाँसे लक्ष्य हटाकर निज तत्त्वमे जोडा और इस तत्त्वमे स्थिर होनेका फल यह है कि उसका ज्ञान व्यापक

हो गया। हमारे उपयोगको जब तक हम फैलाकर रखे रहे तब तक हमारा ज्ञान फैलता नही है और जब उसके फैलावको रोक दिया, निज आत्माके केन्द्रमे ही बाँध दिया तो ऐसा बल देता है कि वह ज्ञान सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वगत हो जाता है। यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र जहाँ जहा आत्माकी पर्यायमे परिस्थिति होती है उस उस प्रकारसे यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र काम करता है। तो सिद्ध भगवानका दर्शन, सिद्ध भगवानका ज्ञान और चारित्र, ज्ञान, दर्शन सामान्यकी क्षणिक क्षणिक परिणति शुद्ध शुद्ध पर्यायरूपमे काम कर रहा है। हमारे ज्ञानकी परिणति किस रूपमें काम कर रही है ? अपने ज्ञान श्रद्धाको सभी पहिचान सकते है। देखो ज्ञान श्रद्धाका किसीने क्या, किसीने क्या विपय बनाया है ? वह भगवानकी भक्तिमे लग रहा है, तत्त्वचिंतवनके यत्नमे है, उसी समय किसीने कहा दादा दुकानकी चाबी कहाँ है, वह दुकान की चाबी कही भूल आया था। तो अब उसका ध्यान तत्त्वचिंतवनमे नही लगता कहा, लगा सो अनुमान करलो, उसने विश्वासका कहाँ काम लगाया है और दुकानपर बैठा हो वह तत्त्व चितनमे लग रहा हो, द्रव्यके स्वरूपको विचार रहा हो। द्रव्य त्रैकालिक है अकालिक है कहाँ है क्या स्वरूप है एक आदमी दुकानमे बैठा बैठा चिंतवनमे लग रहा, किसी ने कोई बात कही उसके सुननेमे ही नही आया उसकी श्रद्धा कहा है ? श्रद्धा स्वपर पहुच जावे तो बडे बडे काम को करते हुए भी बाह्यमे रमता नही है। अब अपनी अपनी श्रद्धाको पहिचान ले कि तुम्हारा दर्शन, तुम्हारी श्रद्धा क्या है, कैसी प्रबल है ?

विश्वासका विस्तार—एक हस मानसरोवरमे रहता था। कुएपर बगुले ने पूछा कि कहाँ रहते है—मान सरोवरमे, वहा क्या क्या है बगुलेने पूछा। हस बोला रत्न है, सोनेकी सीढी का घाट है, बहुत बहुत बाते बतलाई। बहुत देर सुनकर बगुला बोला, मछलिया हैं कि नही, देखो उसे क्या सुहाया, यहा श्रद्धाकी बात दर्शनकी बात हो रही है। जिनके मनमे जो बात बैठी है जो श्रद्धा बैठी है उस तत्त्वके आधार ही पर चलनेकी धुनि बनी रहती है, उसकी ही चर्चा तो सुहाती है। हाँ तो प्रकृत बात यह है कि दर्शन श्रद्धाको हम आप समझ सकते है कार्यके द्वारा कि हमारी श्रद्धा किस ओर लग रही है ? भगवान शुद्ध आत्माका श्रद्धान क्या है तो प्रतीतिरूप रुचि रूप नही, किन्तु सम्यक्त्व परिणमन रूप है। उसमे प्रवृत्ति नही बनाई जा सकती क्योंकि प्रभुका निर्विकल्प ज्ञान है वीतराग चारित्र है। शुद्ध आत्मा ही के ज्ञानके अतरगको देखो, यह नही हो सकता है कि उसे इसका ज्ञान है। उस ज्ञान गुणका स्वच्छ अतरमे परिणमन हो रहा है, वह परिणमन सर्वज्ञतास्वरूप है आत्मज्ञानरूप भी है। हम विकल्प वाले लोग उसे विकल्पोकी दृष्टिसे ही देखते है।

शुद्ध जाननमें कल्मषताका अभाव—यद्यपि जानन इतना है जितना कि सर्वज्ञेय है तथापि जानते वे स्वयको ही हैं, उसही मे इतनी विशालता है। जब हम ज्ञेयाकारके सम्बन्ध

को देखते है तो हमे सर्वज्ञ प्रतीत होता है, जब हम निर्विकल्प रूपमे वहाँ निर्विकार तरंगसे देखते है तो हमे वहा आत्मज्ञ प्रतीत होता है। शुद्ध आत्माके आत्मज्ञता भी है, सर्वज्ञता भी है परन्तु उसके स्वरूपको देखनेका एक प्रकार है। निश्चयसे आत्मज्ञता है व्यवहारसे सर्वज्ञता है ऐसे उस शुद्ध आत्माका जिसके कि देह नही है शारीरिक सुख और दुःख नही हो सकता है क्योकि कर्मोका उदय हुआ तब आत्मामे दु खकी मोहकी रागकी पर्याय हुई। देखो वह दुःख की रागकी पर्याय किस परको विषय करते हुए ही अपने स्वरूपको बना सकती है। जहाँ देह नही, कर्म नही, कोई आश्रय नही, वहाँ फिर कैसे आकुलता हो ? इसलिये तो उपदेश है कि भाई अमुक चीजका त्याग करो, अमुक परिग्रह छोडो, इस चीजका त्याग करो। यह पद्धति इसलिये है कि जब हम यह आश्रय ही न रखेंगे तो कभी ऐसा भी हो सकता आश्रयके न मिलनेसे अपने स्वरूपको भी न बना सकेगा यह रागादि भाव। जब रागादि भावके अपने स्वरूप न बन सकेंगे तो मोक्षमार्गको पूर्ण सहयोग मिलेगा।

कल्याणकी निजमे खोज—भैया! यह चरणानुयोगकी पद्धति है। वस्तुतः बाह्य त्याग न आत्माका हित रूप है, न आत्माके अहित रूप है। बाह्य तो बाह्य है वह तो अपनी सत्तासे बैठा है। इसका त्याग तो इसलिये है कि वहाँ आश्रय होता था सो बुद्धिपूर्वक एक यत्न किया और है भी ठीक, निर्मलदशामे तो छूट ही जाता है। बाह्यके त्यागको मोक्षमार्ग नही कहते। बाह्यका त्याग इसलिये है कि मेरा बध तो भीतरमे चल रहा है। यदि उसका आश्रय न मिला तो वह उदय अपना बल न दिखाकर यह स्वय खतम हो जाय। यदि कोई ऐसा कहे कि सर्वथा किसी बाह्यके त्यागकी जरूरत नही तो भाई देखो कि आप बाह्यके पदार्थसे अलग रहते हो कि नही। यहाँ तो वस्तुका स्वरूप बताया, चीज ढूढना न ढूढना इसके लिये बात नही। बाह्यको त्याग करनेका भाव भी आत्माका एक विकल्प है। हम बाह्य पदार्थोके त्याग करने वाले नही है, वे तो जुदे है, स्वय बाह्य पदार्थके त्यागसे सुख नही इन्द्रियके विकल्प के त्यागसे सुख है। जिन जिनके इन्द्रियोके लगावका त्याग हुआ था उन उनके बाह्य पदार्थों का त्याग हुआ था। बाह्य हमारे विकल्पका आश्रय है। आश्रय जानकर इसका त्याग होता है, ये मुझे तग करते हैं ऐसे भावसे बाह्यका त्याग नही करना है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि दु.ख करने वाले मेरे मोह रागरुषकी परिणति ही है, 'सुख दु ख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दु खकी खान ॥' मुझे विभावकी दृष्टि नही चाहिये। स्वभावमे ही मेरा सर्वस्व है, इस अभिप्राय वालेका बाह्यमे कोई प्रयोजन न रहने से ये बाह्य स्वय हट जाते है।

साम्य और सम्यक्त्वका प्रताप—महाराजा श्रेणिकने मुनिपर धर्मके द्वेषसे मरा हुआ साँप डाल दिया। ३ दिन तो श्रेणिकने चेलनीको नही बतलाया। ३ दिन बाद कहा कि हमने तुम्हारे साधुपर मरा हुआ साँप डाल दिया। चेलनी ने कहा यदि वह साधु होगे तो वैसे ही

स्थितिमे होगे और यदि साँप स्वयं हटा दिया तो हमारे साधु नही है । श्रेणिक बोला—चलो परीक्षा करने चलें, देखा कि वे साधु अपने योगमे बैठे थे । मुनिके शरीरपर चीटियोंका ढेर हो रहा था और वह खूनको पी रही थी । मुनि अपने आपमे आत्मतत्त्वको दर्शन करनेमे ही रहे । जिसको जैसी लगती है उसको वही सुहाती है, जिसे अपने आत्मतत्त्वकी बात लग गई उसको दूसरेकी खबर नही, इसमे अचरज नही है । महाराजा श्रेणिक बडा पश्चाताप करने लगे । श्रेणिक चीटियोको हटाने लगे तो चेलनी बोली—चीटियोको तरकीबसे हटायेंगे । इसने शक्कर लेकर दूर रक्खा तब चिटियाँ हट गईं तब साप निकाला । जब मुनिराजका उपसर्ग दूर हो गया तो उन्होने समाधि खोली । उन्हे जब सामने देखा तब दोनोको धर्मवृद्धि दी । वहां राजा श्रेणिकके हृदयपरिवर्तन हुआ, मोह हटा । सोचा देखो धन्य है इन मुनिराजके समताभावको नाम भी नही लिया । रानाको ही धर्मवृद्धि होती तो उसमे रागकी झलक होती । धन्य है इन प्रभुको, धन्य है इनके समताभावको । ऐसे गुरुको सताया मैं पापी हू । श्रेणिकने बडा पश्चाताप किया, आत्महत्या करना विचारा, मैंने बडा पाप किया । इस खेदमे अपने विनाशके लिये कटार निकालनेकी सोची तो महाराज कहते है कि श्रेणिक क्या विचारते हो, यह तो ससारका स्वरूप है । जब तुम्हारे कषायभाव पैदा हुआ तबका वह भाव था, इस समय तो तुम्हारे दुर्भाव नही । श्रेणिकने हृदयसे विचारा कि ये मनकी बात भी जानते है, वहां और दृढ़ श्रद्धा हुई । देखो भैया पहिले इसी सापके उपसर्गमे श्रेणिकने ऐसा पाप कमाया कि नरक ३३ सागरकी स्थिति बाधी, अब सम्यक्त्व जगा तो उसके मात्र ८४००० वर्षकी स्थिति रह गई, यह सम्यग्दर्शनका प्रताप है ।

ज्ञानीका साम्यरसका विचार—ज्ञानी सोचता है दुश्मन हो, मित्र हो दोनो बराबर है, दोनो मेरी आत्मासे पृथक् स्वतत्र परिणमते है । दुश्मन कोई बिगाड नही करता, मित्र कोई लाभ नही करता । मित्रकी चेष्टा उसमे होती है, दुश्मनकी चेष्टा उसमे होती है । कौन शत्रु कौन मित्र है, प्राणी अपने भावसे पुण्य पाप करता है । मेरा कोई न अच्छा चाहता है, न बुरा ऐसी दृष्टिका आना यह ज्ञानका फल है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जिसको आत्मतत्त्वका मिलाप हुआ वे इन्द्रियके सुखमे नही रमते, इन्द्रियोके सुखमें मोही आसक्ति करता है और दुःखी हो जाता है । ज्ञानीको तो सुख सम्पदा मिले तो वह उसे झझट ही दिखता है । कैसा उपद्रवमे पड गया, कहां लग रहा, मै तो चैतन्यज्ञानस्वभाव हू, मेरा शरीर तो ज्ञान मात्र ही है ऐसा सच्चा भावका परमतत्त्व होकर मैं कैसे कूड़े कचरेमे लग रहा ? इन्द्रियके सुखमे सम्यग्दृष्टिको तो दुःख ही लगा । जिसे जिसकी लग गई उसे वही सुहाती है । सम्यग्दृष्टि मुनि जब उसके निद्रा भी होती है तो उस निद्रामे ४८ मिनट तो लगातार नही लगते । ४८ मिनट तो मोटी बात है प्रमत्तगुणस्थानका अन्तर्मुहूर्त भी बडा नही है । हा तो साधुको स्वभाव सुहाता है

क्योकि जिसके जो लग गई इसको वही सुहाती है मुनिके भीतर ज्ञायक स्वरूपका संस्कार है संसारसे सवेग है । यदि निद्राका एक अन्तमुहूर्तसे ज्यादा हो गया तो उसके वह छट्टा गुणस्थान नही रहेगा जिसके भी अतरगके कपाट खुल गये कि भीतर भीतर प्रताप चल रहा है कि देखो निद्राका प्रमाद देर तक नही रहता । एक मुहूर्तके भीतर ही वह फिर सावधान हो जाता है और निज चैतन्यरसकी ओर ढलता है, ज्ञानी जीवोको वही वही रुचिकर होता है, चर्चा चाहेगा तो उसीकी, सुनेगा तो उसी चैतन्य तत्त्वको ।

ज्ञानीके एकत्वका प्रेम—कोई भिक्षु था । किसी जगह रईसोका भोजन हो रहा था । भिक्षुने रोटी मांगी । रईसने जवाब दिया चल हट । भिक्षुने दुबारा रोटी मागी, उसने भिक्षुको कहा चल हट बे, यहाँ तो पगतका काम लग रहा । भिक्षुने कहा तेरे काममे आग लगो मुझे तो दो रोटी ही की तो जरूरत है । सम्यग्दृष्टि सोचते है कि जगतमे सुख और वैभव अपने-अपने जगह रहे, मुझे तो एक ऐसी दृष्टिसे ही काम है—ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष जिसे शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव हुआ उसे बाह्य झझटे नही लगा करती । कर्मोदयसे कोई आ पडे तो वहाँ रहता, उसमे भी उसको रुचि नही रहती । ऐसे जिसको अपने आत्मतत्त्वका भान हुआ है वह पुरुष जब देह से रहित हो जाता है फिर उन जीवोको सुख दु ख कहाँ होता होगा ? इतनी बात समझने वालेके सदेह नही होता । सिद्ध प्रभुका ज्ञान और सुख उनके ज्ञान और सुखके स्वभावसे होता है, इसी तरह इस गाथामे यह बात सिद्ध की कि केवलज्ञानीके सुख दु ख नही है उनके जो परम अतीन्द्रिय आत्मीय सुख है इनके जब तक सयोगकेवली है साताका उदय है परन्तु कोई ऐसा सुख नही लगता जो लौकिक हो किन्तु इन्द्रियातीत ही उनके स्वाभाविक सुख है । ऐसा उत्कृष्ट सुख निज चैतन्यके लक्ष्यसे स्वय प्रगट होता है, अत सत्सुखार्थीको निज ज्ञायक भावमे स्थिर होना चाहिये ।

ज्ञानीके ज्ञान और आनन्दका विवरण—अब ज्ञानेके स्वरूपके विस्तारको और सुखके स्वरूपको विस्तारसे क्रमश जिसका कि पहिले भी कुछ वर्णन था उसके अनुसार कहते हैं, अभी तो यह बात बतलाई है कि जो शुद्ध आत्मा हो जाता है उसके ज्ञान और सुख असहाय अर्थात् परकी अपेक्षाके बिना होता है । अब उसी ज्ञानके स्वरूपको जो कि निरपेक्ष है—परकी अपेक्षाके बिना है—अपने स्वरूप स्वभावसे व्यक्त होता है तथा उस सुखके स्वरूप को जो ज्ञानकी स्वभावस्थितिसे व्यक्त होता है ऐसे इन दोनोके स्वभपको कहते है । उनमे इस केवली भगवानके ज्ञानमे अतीन्द्रिय ज्ञानका परिणमन होनेके कारण सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है । स्वभावको देखो, ज्ञानका स्वभाव क्या है ? ज्ञानका स्वभाव जानना है । यद्यपि वह अदर पूर्ण रूपसे व्यक्त हो और उसे आवरण डाके ऐसा नही है किन्तु उस आवरणके दूर होते ही वह ज्ञान पूर्णतया व्यक्तिमे प्रकट हो जाता । कही ऐसा अपूर्ण अवस्थामे भी नही है कि कर्मज्ञान

गुणको जड बनाये रखता हो। यह तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है जिससे ऐसा ही होता है कि आवरणके रहते हुए ज्ञान उस अपने कालमे अपूर्ण रहता। आवरणके रहते हुए भी जो विकास थोडे थोडे मालूम होते है वह ज्ञानके स्वभावसे प्रकट होते है। जहाँ पूर्ण आवरण दूर हो जाय वहाँ ज्ञानका पूर्ण विकास अपने ही स्वभावसे प्रकट हो जाता है। इस तरह यह ज्ञान स्वभावमय आत्मा अनादि अनत अखड जिसका किसी अन्य आत्मा व परमाणु मात्र भी अन्य पदार्थोंसे परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नही, पूर्ण स्वतन्त्र है। क्योकि सर्व पदार्थ स्वतत्र अपनी पर्यायसे अपने स्वरूपको भोग रहे है, अपनी ही परिणतिको भोगते इसलिये सर्व पदार्थ है।

ज्ञानकी स्वयंभुता—इस वस्तुनियमके अकाटच प्राकृतिक स्वतःसिद्ध व्यवस्थानके हेतु इस ज्ञानमय आत्माको ज्ञान और सुख मिलता ऐसा सोचना ही भ्रम है। ऐसे सोचने वालोके लक्ष्यका उपलक्षण कर "जिनकी उपस्थितिमे यह आत्मा निज भावकी दृष्टिसे दूर होकर विभावपरिणमन करता है और दु.खी होता है, उनसे सुख दु.ख हुआ, ऐसा कहा जाता है। भ्रमको त्यागकर अनादि अनत अहेतुक ज्ञान स्वभावको कारणरूपसे उपादान कर जो परम-काष्ठा प्राप्त ज्ञान परिणति होती है वहाँ सर्व प्रकार निर्विकल्प दशा होती है। वहाँ अतीन्द्रि-यज्ञान और अतीन्द्रियसुख होता है, जिस अतीन्द्रिय केवलज्ञानके विषयमे जो कि स्वभावतः प्रत्यक्ष है तीन लोक व तीन कालकी समस्त द्रव्यगुणपर्यायमे प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ केवलज्ञान का सयुक्त प्रयोग हो वहाँ केवलज्ञानका अर्थ ज्ञान गुणकी केवल अवस्थाकी तरग—व्यक्ति है। वह केवलज्ञान कितना व्यापक है और कितना शक्तिमान् है? अब इसे बताते है।

केवलज्ञानकी असीमित शक्ति—एक अधिक उत्कृष्ट युक्तानतकी सख्याको उतनी ही बार रखकर अर्थात् एकाधिक उत्कृष्ट युक्तानतका विरलन उसे कहते है जैसे २० के विरलन करके गुणा करना है तो १० बार १०—१० परस्पर गुणा करते जाना, इसी तरह अनतका विरलन करके परस्परमे गुणा करते जाना, अन्तमे जो लब्ध हो फिर उसका विरलन कर गुणा करना, उसका भी अन्तिम लब्ध है उसका विरलन कर गुणा करना इस प्रकार तीन बार उस अनतका विरलन गुणित होनेके बाद जो लब्ध हुआ उसमे सिद्धोकी सख्या, निगोदोकी सख्या, वनस्पतिकी सख्या, अनत गुणे पुद्गलोकी सख्या, उससे अनतगुणे समयोकी सख्या इन सबको मिलाकर जो राशि बने उसका फिर ३ बार उपर्युक्तशैलीसे विरलन गुणित करना, अतमे जो लब्ध हुआ उसमे धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यका व अगुरुलघुगुणके अविभाग प्रतिच्छेद मिलाना। जो राशि लब्ध हो उसे फिर ३ बार विरलन गुणित करना, फिर उस विशाल अनतराशिको केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोमे से घटाकर जो लब्ध हो उस लब्धमे उस प्रकृत अनतराशि को मिला देवे। जो लब्ध हुआ, इतने अनतानत केवलज्ञानके शक्त्यश है इतना तो शक्तिमान् है

और जो भी सत् है उस सबका विषयी होनेसे सर्वव्यापक है। शक्त्यश बतलाने के लिये ऐसा इसलिये किया गया कि उस सारीकी सारी सख्यासे इतने अनतानत गुणित केवलज्ञानके शक्त्यश है कि उसके बतानेका उपाय यही मात्र था कि जो वह विशाल सख्या है उसे केवल ज्ञानशक्त्यशोमे से घटा कर उसमे उन्हीको मिलाकर कह दिया जावे। जैसे—५ सख्या है उसे २० मे से घटाया १५ हुए, अब १५ मे ५ मिला दो २० के ही २० हो गये। यहाँ २० का मोटा दृष्टान्त केवलज्ञानके लिये समझलो और ५ का दृष्टान्त उस सख्याके लिये है जो अनत सख्याको ६ बार विरलन गुणन और कितने ही मिलन करके जो लब्ध हुई है। इतने सब अशोको केवलज्ञान शक्त्यशोमे से घटाओ और फिर वही जोड दो, अपने केवलज्ञानकी शक्त्यशोकी सख्या पूरी होगी।

ज्ञानकी सर्वव्यापकता—ज्ञान सुखके अविभाग प्रतिच्छेदोकी सख्या इतनी विशाल अमित होती है जिस कारण हम ज्ञानको मात्र क्षेत्रसे व्यापक नहीं कह सकते कि केवलज्ञान लोकाकाशमे या सर्व आकाशमे व्यापकर रहता है इसलिये ज्ञान व्यापक है क्योकि यदि विशुद्ध ज्ञानको इतना ही व्यापक माना जावे, वह केवलज्ञानको इतना ही व्यापक माना जावे तो वह केवलज्ञान आकाशके बराबर ही रहा परन्तु इतना ही नही है, केवलज्ञान समुदायसे भी अनंत गुणा है, इससे बडा कुछ अन्य है नही। इसलिये केवलज्ञानको क्षेत्रकी अपेक्षा व्यापक न जानना। केवल क्षेत्रके भीतर व्यापक माना तो जितना आकाश है उतना ही रहा किन्तु वह तो त्रिलोकव्यापकके अतिरिक्त त्रिकालव्यापक भी है और शक्त्यश इनसे अतिरिक्त है। देखो भैया! लोकाकाश उसे कहते है जहा छहो द्रव्य पाये जावें। अब यहा विचारो केवलज्ञान वहाँ ही व्यापक नही, वह तो लोकाकाशके बाहर भी व्यापक हो गया। अहो क्या किया? क्या जैन सिद्धान्तकी मर्यादा तोड दी? नही। यहा प्रश्न हो सकता है कि आगममे तो यह कहा है कि जहा मात्र आकाश ही पाया जावे और कोई तत्त्व न पाया जावे वह आलोकाकाश है किन्तु तुमने तो यहा ज्ञानको आलोकाकाशमे भी व्यापक बताया तव विरोध ही तो रहा। समाधान—देखो इस वर्णनको ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिसे देखें प्रदेशवत्त्वके सयोगसे नही, तो समझमे आयगा कि यह निर्मल केवलज्ञान लोकाकाशमे ही व्यापक नही, अलोकाकाशमे भी है। इतना भी नही किन्तु वह केवलज्ञान तो जितने द्रव्य हैं उनमे व उनके अनत गुणोमे व उनकी त्रैकालिक अनत पर्यायोमे व्यापक है। आलोकाकाशमे जितने प्रदेश हैं उनकी अनादि अनतपर्याय हैं उनमे भी केवलज्ञान व्यापक है।

ज्ञानकी सर्वव्यापकताका विवरण—इसका विवरण इस प्रकारसे समझिये—किसी वस्तुकी परीक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ४ दृष्टियोंसे होती है, तब यहां द्रव्यसे परीक्षा करे तो वह गुणपर्यायके पिण्डरूपमे पिण्ड अधिष्ठान रूपमे ज्ञानकी परीक्षा है। ज्ञानपर्यायके अधिष्ठान

पिण्डरूपमे बात ऐसी ही है कि वह "लोकाकाशके अन्दर ही समस्त द्रव्य पाये जाते है, इस नियमके अनुसार वह ज्ञानपिंड लोकाकाशमे ही पाया जा सकता है, इतना भी कदाचित् । सर्वदा तो यह तेज प्रमाण निजक्षेत्रमे ही पाया जाता है । इसी तरह क्षेत्रकालकी अपेक्षा भी सकीर्णता है, परन्तु इस शुद्ध आत्माको जब चैतन्य-ज्ञान, दर्शन, भावकी दृष्टिसे देखते है, ज्ञान के भावकी दृष्टिसे देखते है तो यह ज्ञान इतना बडा है कि समस्त लोकाकाश और समस्त द्रव्य गुणपर्याय सर्वमे गत है इसलिये इसको व्यापक कहा है । इसे मात्र ज्ञानस्वरूपसे न देखकर विस्तृत जाननेके प्रसगमे जहां इस ज्ञानको प्रदेशके साथ जोडोगे "जहा कि यह दृष्टि बनानी पडेगी कि ज्ञान एक गुण है, गुणद्रव्यके अन्दर ही रहता, द्रव्यके प्रदेश ही गुणका आधार है," तब यह ज्ञान गुणद्रव्यमे प्रकट होकर ऐसे स्वरूपको रखे रहता है ऐसे स्वभावमे विकसित हो रहा है कि जो समस्त लोकालोकके सर्व द्रव्य गुणपर्यायके ज्ञानरूप बना रहता है । जहा प्रदेश और ज्ञानकी सधि करके बात कहोगे वहा पर ऐसी दृष्टि आवेगी । प्रदेश व ज्ञानकी सधि बिना ज्ञानस्वलक्षणका विचार करे, वहा सर्वव्यापकताकी ही बात है, बाधा कोई नही आती, केवल विवक्षाका ही इसमे भेद है ।

ज्ञानकी प्रत्यक्षताका विभावन—अब ऐसा जो केवली है—जो अनन्तज्ञानमय परिणमता है उसके समस्त जगत प्रत्यक्ष हो जाता है । इस प्रकारसे विभावयति याने आचार्य श्री हुवाते है—कहते है—उसके अपने अन्दर अपनी प्रेरणापूर्वक धारणा करते है । यह विभावयति का रहस्य है इसकी बात लग रही है कि ज्ञानके शुद्धस्वरूपको उसमे गर्भित सुखके शुद्धस्वरूप को अभी धारण करते है । इसी तरह अभिदधातिको सामान्यतया कहते है ऐसा अर्थ होता है किन्तु इन शब्दोके टुकडे कर विचारनेसे क्या अर्थ होता है—दधाति याने धारण करता है व अभिदधाति याने सर्वांगमे धारण करता है अर्थात् आचार्य श्री ज्ञानके स्वरूपके व सुखके स्वरूप के विस्तारको युगपत् होते हुये भी कारणकार्यविधिके कारण कालकी अपेक्षा बताने मे व बतानेकी अपेक्षा व्यवहारमे क्रमसे सर्वांगमे धारण कर रहे है । ज्ञानके स्वरूपको व सुखके स्वरूपको कहते है । इसमे इस रहस्यमय आनन्दका वर्णन है कि ज्ञानके स्वरूपको व सुखके स्वरूपको दृष्टिमे धारण कर रहे है और कहते है—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहि किरियाहिं ॥२१॥

ज्ञानकी सर्वज्ञताका सन्देश—इसमे उस केवलज्ञानीका जो ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञानमय परिणमता है इसी लिये सर्व एक साथ जानता है ऐसी बात कही है । शुद्ध आत्मामे परिणमता हुआ जो ज्ञान है केवली भगवान है, शुद्ध ज्ञानमे परिणमता हुआ जो केवली भगवान् है उसके समस्त द्रव्य समस्त पर्याय प्रत्यक्ष हो जाते हैं क्योकि केवली अवग्रह आदि

क्रियावोके द्वारा नही जानता है वह तो इन्द्रियोकी सहायताके बिना ही जानता है, अतः क्रम रहित सर्वको प्रत्यक्ष अपने शुद्ध स्वरूपसे करता ही है, अत एव वह स्वयभू है। अर्थात् जैसे हमारा वर्तमान ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहिले अवग्रह होता है, इसके अनन्तर ईहा होता है, इसके बाद अवाय और तत्पश्चात् धारणा होती है, ऐसे केवली भगवानका ज्ञान नही होता। हम जिस पदार्थको देखते है देखते ही उसका पहिले कुछ सामान्य बोध होता है। सामान्य बोध के पश्चात् कुछ विशेष बोधमे प्रयत्न होता है। विशेषबोधके कार्यात्मक प्रयत्नके बाद फिर निश्चय होता है। हमारे ज्ञानकी ऐसी ही परिचित वस्तुवोको भी इस ही शैलीसे जानते है, वहाँ अवग्रहादि किस शीघ्रतासे हो गये, हम उसका अनुभव नही कर पाते है। हमे ज्ञानसे ही दिखते ही ऐसा लगता है कि हमने इसे एकदम ही तो जान लिया किन्तु बात ऐसी नही है कि किसी पदार्थको देखते ही हमे अवाय हो जाय। वहाँ अवग्रह ईहा अवाय धारणका इतना कम अन्तर पडता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमने एकको या अनेकको एकदम स्पष्ट जान ही लिया। हाँ तो जैसे छद्मस्थ अवग्रहादिपूर्वक जानता है, इस तरह भगवानका ज्ञान नही होता। उनके ज्ञानमे प्रतिसमय त्रिलोक व त्रिकालका सर्वद्रव्य गुण पर्याय हुआ करता है।

प्रत्यक्षज्ञानमे विकल्पका अभाव—सर्वज्ञका ज्ञान सविकल्प नही है, हम उसके ज्ञानको अपने विकल्पकी सदृशता लेकर सोचना चाहे तब यह सशय होता है कि केवली भगवान कैसे जानता है? यदि इसका अपनी भाषामे उत्तर दिया जावे तो यह कह लो कि नही जानता है परन्तु है ज्ञानस्वभाव तो इसका सही उत्तर यह है कि सबको जानता है। जिन विकल्पो से हम सर्वज्ञके ज्ञानको सोचते है—"कुछ भी नही जानते है"। हमारी दृष्टिमे जैसा विकल्पो को, उन भावोको पर्यायोको जानना होता है उस दृष्टिसे तो वह एक भी द्रव्यको नही जानता है परन्तु वह तो समस्त ३ लोक ३ कालके पदार्थोंको निर्विकल्पतया जानता है। कैसा विल-क्षण परमात्माका ज्ञान है? और तो जाने दो, हम भी जो कुछ जानते है जान तो जाते है फिर भी उस ज्ञानको हम ही नही बता सकते—कैसे चीजोको देखा जाता, उसके विषयमे क्या बात कही जावे? बडे भी उसका वर्णन करने बैठे तो भी वे क्या हमे प्रत्यक्ष कर देखेंगे। केवली भगवान्का जो ज्ञान व सुख है उसका कुछ भी विशद वर्णन हम नही कर सकते, क्यो कि उसने उस पदार्थको परमशुद्धिसे परिणत होकर नही जाना और जो जानते है वे बातचीत भी नही करते। यह सब तो उस मार्गके नेतावोने बताया जो हम अपने अनुभवके आधार पर भी उसका तथ्य बोध करते है। अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात तो दूर है, जो इन्द्रियजज्ञान है जो कि विकल्पात्मक है उसके विषयमे ज्ञानका प्रकट निर्णय नही कर सकते। इसके सर्वागरूपके ज्ञानको आपने विकल्पसे बतलाया। कैसे जानते हैं यह नही कहा जायगा।

ज्ञानका सहज प्रसार—यहा ज्ञानके स्वभावको तो देखो ज्ञानस्वभाव ऐसा है कि

समस्त द्रव्यगुण पर्यायको यह ज्ञान जानता है, जाननेका इसका स्वभाव है, ऐसी कोई भी शक्ति नही जो केवलीके असीम ज्ञानको रोक रखे अथवा जो ज्ञानमे ऐसा भेद कर पाये कि वह अपने को ही जाने, परको नही जाने। तात्पर्य केवलज्ञानकी वाधिका अब कोई ऐसी शक्ति नही जो विरुद्ध निमित्त बना सके। अत' वह ज्ञान अपने स्वभावसे समस्त द्रव्य गुण पर्यायको जानता है। इसमे भूतकाल व भविष्यकालके भी जाननेकी असीम शक्ति है। थोडे भविष्यकी बातको तो हम लोग भी जानते है। जैसा जानते है वह चाहे सच न निकले परन्तु भविष्यको जाननेकी जैसी हालत तो आपके अन्दर है। निमित्तज्ञानी अवधिज्ञानी आदि महापुरुप तो जानते ही है फिर केवलीके ही भविष्यज्ञानमे क्या शका करना ? हमारा वह भविष्यके जानने का ज्ञान यदि सच्चा नही निकलता तो उसका कारण आवरण कर्म है परन्तु केवलीके तो आवरण नही। और देखो हम आप कुछ भूतकालकी बातोको तो स्पष्ट जान ही लेते है। भूत वर्तमान भविष्यकी बातको जाननेका स्वभाव ज्ञानमे स्वत. सिद्ध है। इस प्रकार यह ही बात युक्तियुक्त भी है कि जिस आत्मामे कोई आवरण नही रहा, बंधन नही रहा, इन्द्रिय नही रही, कषाय नही रहा, कर्म नही रहा उसे आत्माका ज्ञान इतना व्यापक होता है कि वह तीन लोक तीन कालकी बातोको स्पष्ट जानता है, अलोकको भी जानता है। समस्त आवरणके क्षय होते ही अनादि अनन्त अहेतुक जो स्वभाव है इस ज्ञानको ही कारण बनाकर यह ज्ञान ही कारण बनकर इस स्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्म स्वय परिणमता है, यह केवली होनेका सर्व व्यवसाय है।

कारणसमयसारके आलम्बनकी श्रेयता—देखो भैया! ज्ञान स्वभावका जो केवल ज्ञान है यह परमपारिणामिक भाव है जिसको कारण रूपसे उपादान करके अतरात्मा केवल ज्ञानोपयोगी बन गया अर्थात् आत्माके अन्दर ही अनादि अनत अहेतुक जो ज्ञानसामान्यस्वभाव है वह परमपारिणामिकभाव–कारणसमयसार ही कल्याणका मूल आधार व स्रोत है। वह चैतन्यभाव जो निगोदमे भी उस एकरूप एक रससे रहा और मुक्त होने पर भी एकरससे रहता रहा। यह किसकी चर्चा चल रही है। सामान्य कहते किसे है ? देखो जैसे इतने मनुष्य बैठे है सबमे मनुष्यपन है, मनुष्यपना सबमे सामान्य भावसे है। यह १० डिगरीका मनुष्य है, यह २० डिगरीका मनुष्य है इस किसी भी प्रकार मनुष्यपनकी डिगरी नही होती। विकासमे पर्यायमे डिगरिया है। जैसे यह इतनी डिगरीका ज्ञानी है यह इतनी डिगरीका गुणी है यह इतनी डिगरीका बहुमान्य है आदि परन्तु उनमे मनुष्यपन तो सम ही है। इसको कहते है सामान्यभाव। यह तो तिर्यक् सामान्यका उदाहरण है।

कारणसमयसारका ऊर्ध्वतासामान्यमे दर्शन—आत्माके ज्ञानस्वभावकी बात ऊर्ध्वता सामान्यके उदाहरणसे देखें—जैसे एक मनुष्य बालक था, वही जवान हुआ, वही बूढा है, यहां

बालक जवान बूढा ये सब अवस्थायें हैं। इनमे जो जैसा मनुष्यपन एक अवस्थामे है वही वैसा मनुष्यपन सब अवस्थाओमे है, फिर मनुष्यपन किसी एक अवस्थारूप नही है। यहा मनुष्यत्व सामान्य है। इसी तरह समस्त ज्ञानोपयोगोमे ज्ञानसामान्य वही वैसा ध्रुव—सदा रहता है। वह ज्ञानोपयोग सामान्यसे उठकर चल रहा है। आत्माकी इन शुद्ध अशुद्ध सब कुछ पर्यायोंके अन्दर अन्य रूपको पाने वाला एक चैतन्यसामान्य भाव है वह अनादि है, अनत है, अहेतुक है ऐसा जो ज्ञान स्वभाव है इस ज्ञान स्वभावको ही कारण करके, करण करके, कार्य करके अर्थात् इस ज्ञानका ही लक्ष्य बनाकर इसको ही प्रतिष्ठित करके इसमे ही स्थिर हो करके इस ज्ञानस्वभावके ऊपर प्रवेश किया, जो केवलज्ञान उस उपयोगरूप होकर आत्मा स्वय परिणमता है। केवलज्ञान केवलज्ञानपर्यायरूप है, प्रतिसमय नवीन नवीन पर्यायरूप है। ज्ञानकी शुद्ध तरग का नाम केवलज्ञान है। केवलज्ञान पर्याय एक परिणमन है। उसके पहिले भी यह ज्ञानस्वभाव था। इसलिये उसके ऊपर केवल ज्ञानोपयोगका प्रवेश बतलाया। इस ज्ञानस्वभावको कारण पाकर प्रविष्ट हुआ केवलज्ञान कैसे आया ? केवलज्ञानको उपयोगरूप बनाकर वह शुद्ध आत्मा ऐसा ही परिणम गया।

केवलज्ञानप्राप्तिके उपायका संकेत—देखो भैया! इस रहस्यके अन्दर सारा मोक्षमार्ग आ गया कि हे मोक्षमार्गी जीवो! कल्याणाभिलाषियोको केवलज्ञान पानेका मोक्ष पानेका एक यही उपाय है और कोई उपाय नही है। क्या उपाय है ? अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभाव को कारणरूपसे ग्रहण करके (यह हाथके द्वारा गृहीत नही, क्रियाके द्वारा नही, कायक्लेशके द्वारा गृहीत नही, यह एक लक्ष्यके द्वारा ही गृहीत होता है) हाँ अपने आपमे रहने वाले अनादि अनत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको ग्रहण करके उसमे ही स्थिर हो करके विश्राम करो। इस उपायसे निश्चयसे अन्दर निर्मल ज्ञानपर्यायका प्रवेश होगा। पहिले निर्मल अपूर्ण ज्ञानकी पर्यायका परिणमन होगा, वह निर्मल इतना बढेगा कि सम्पूर्ण ज्ञानोपयोग होकर परिणम जायगा। यह मोक्षमार्ग है। अनतर भी अनत काल तक सदृश ही स्वभाविक केवलज्ञान रूप निर्मलपर्याय प्रकट होती रहती है। अहो मोक्षमार्ग कितना सहज है, इसमे तो परवस्तुकी प्रतीक्षा ही नही करना पडी, मात्र अपने बिखरे हुए चुटपुट ज्ञानोको केन्द्रित करके एक लक्ष्य पर रखना ही किया गया।

ज्ञानमग्नताका प्रताप—जैसे—आतसीका काम होता है जो कि जला देता है—सूर्य के सामने रखने पर सूर्यकी किरणोके केन्द्रित होने पर अर्थात् सूर्यको निमित्तमात्र पाकर किरणपक्तिरूपमे परिणम जाने वाले छोटे छोटे स्कधराशियोंके केन्द्रित होने पर तप उत्पन्न होता है। एक दिन कहा था कि सूर्यकी ये किरणें नही हैं, सूर्य तो मात्र इतना ही है जितना कि उसका पिण्ड है। उसके वाहर उसकी कोई किरणें नही निकलती, किन्तु सूर्यका निमित्त

पाकर जैसे यहाँके पदार्थ अन्धेरे अवस्थाको छोड़कर प्रकाश अवस्थामे आये वैसे ही आकाशमे फैले हुए छोटे-छोटे स्कध भी सूर्यका निमित्त पाकर प्रकाश अवस्थामे आये। उन्हे जब हम सूर्य के सन्मुख देखते हैं तो सूर्य और आख इन दोनोके बीच रहने वाली स्कधोंकी पक्तियाँ जो दीखती है उन्हे ही किरणो शब्दोसे कहा गया है। खपरैल छप्पर वाले जो घर है उनमे कही छिद्र हो तो उस छिद्रमे से प्रकाशित स्कध चलते हुएसे नजर आते हैं। यह प्रकाशित वहाँ सीमित है इस कारणमे खपरैलमे प्रकट नजर आता परतु आसमानमे बिल्कुल फैला हुआ क्षेत्र है। इस कारण हमको उडते हुए नजर नही आते किन्तु पक्ति किरणरूपमे नजर आते है, यह बतलाया वस्तु स्वरूपका नियम। कोई वस्तु किसी वस्तुको कुछ नही परिणमाता। सूर्यने इन पदार्थोंको प्रकाशित नही किया, सूर्यका निमित्त पाकर ये पदार्थ स्वय प्रकाशित हो गये। हाँ तो जैसे आधासीसी काचमे किरणोके केन्द्रित होनेपर यहाँ भी क्या हुआ? वस्तुत काचकी ही तरंग वैसी केन्द्रित हो गई जैसे पर किरणें केन्द्रित हुई। इसका अर्थ यही है कि काचकी ही वैसी ही वैसी बात एक लक्ष्यरूप हुई, इसके प्रतिफल स्वरूप उसका कार्य ज्वलन हो जाता है। इसी तरहसे इस आत्मामे जो ये प्रकट ज्ञान है इन ज्ञानोको केन्द्रित कर दिया जावे—फैले हुए जो अनेक पदार्थ विषयक ज्ञान है उन्हे केन्द्रित कर दिया जावे अर्थात् पर-लक्ष्यको छोडकर एक निज ज्ञानको लक्ष्यीभूत रखा जावे। यही पर-लक्ष्यका त्याग है। इस तरह अतरात्माका जब लक्ष्य एक हो जाता है अर्थात् बाह्य अर्थोपर लक्ष्य न देकर एक चैतन्यभावपर ही लक्ष्य हो जाता है तो इस अनादि अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावके लक्ष्य होनेपर रत्नत्रयमे निर्मलता अपने आप आती ही है और यही काम केवलज्ञानरूप शुद्धपर्यायको प्रकट कर देता है क्योकि जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि हो जाती है।

शाश्वतस्वरूपके लक्ष्यसे निर्मलपर्यायका अभ्युदय—निर्मल ध्रुवके लक्ष्यसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है। लोग कहते है धर्म करो, धर्म क्या कोई रूपी चीज है जिसे यो बताया जाय, आकार बना दिया जाय या कुछ कर दिया जावे, तो लो, कह सके कि इसने धर्म कर दिया। धर्म बाह्यमे तो रहता नही, मेरा धर्म मेरा ही स्वभाव है, अन्य सर्वका नही, जो सर्व को जिसका कि धर्म कहलाया अमुक तरहसे हाथ लगा लिया तो धर्म हो गया या अमुक तरह से लड गये तो धर्म हो गया या अमुक तरहसे खडे हो गये तो धर्म हो गया आदि धर्म किसी परका स्वभाव नही है जो सर्वकी क्रियामे हम धर्म पा लें। धर्म राग द्वेषादि भाव तो है नही जो शिथिलसे शिथिल द्वेषको करके या बढे से बडा अच्छा राग करके हम धर्मभावको पा सकें। फिर धर्म क्या चीज है? धर्म है निर्विकार निर्विकल्प शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन। प्रारभमे चैतन्यभावका लक्ष्य रखना धर्म है। इस चैतन्यभाव रूप ही रहना रत्नत्रयकी पूर्णता है। वह निर्मलता वहाँ अपने आप प्रकट हो जाती है। इस ज्ञानसामान्यका लक्ष्य

ज्ञानमे हो गया तो चारित्रमोहके विपाकको निमित्तमात्र पाकर होने वाला भगवान्के ज्ञानका स्तवन वर्णन अनुराग वदन आदि सव शुभोपयोग हैं। जिसके अवलोकन कर चुकनेपर चरित्र मोहोदयवश शुद्धात्मविषयक शुभोपयोग होता है वह अतरग भाव धर्म है और मिश्र प्रेरणा-वश जो यह कार्य हो गया वह व्यवहार धर्म है। यह धर्मके स्वरूपकी आलोचना हो रही है। एक बार कुछ सर्व मूर्च्छाको दूर कर निजज्ञानस्वभावके वस्तुके निरपेक्ष सामान्यस्वभावके यदि दर्शन करले तो उस निरपेक्ष सामान्यके दर्शनके पश्चात् जितने शुभोपयोगके काम है वे एक अकपर लग गये और उसकी भीतरी कीमत वढती जावेगी और एक चैतन्य प्रभुका दर्शन न होवे तो भाई भगवान्का उपदेश है कि उस एकके श्रद्धान विना वह कीमत तो नही रख सकनेका है उल्टा ससार ही चलता है।

स्वतत्त्वके आलम्बनसे वृत्तिकी यथार्थता—एक अक पहले आने पर ही शून्यकी कीमत होगी। चाहे ऐसी शून्य कितने ही करते चले जावें परन्तु एक तत्त्वको लेकर न चले तो उन शून्योकी कीमत शून्य ही रहेगी। एक वार अपने आपको उत्साहित करके जिस धर्मके दर्शनके विना दुखी होना पडा रहता है उसे सर्व अन्तरग प्रयत्न करके देख तो लो। जगतके वस्तुके अस्थिर स्वरूपके ज्ञानके पश्चात् रागद्वेपमोहकी शिथिलता होनेके कारणभूत उस ज्ञान-स्वभावका अनुभव प्रकट होगा। वस्तुके अतरंग स्वरूपको देखो वाह्य अस्थिरताका भी ज्ञान सरल होता। केवल वाह्य स्वरूपको देखकर ही उसके विपयमे पूर्ण निर्णय करके सत्य आत्मीय बुद्धि स्पष्ट न आवेगी। भगवानकी मूर्तिके आगे पूजा ही पढकर उनके गुणोका स्मरण कर इन कार्योके रहते हुए भी यदि हमारे अनादि अनन्त चैतन्यभगवानका दर्शन न हो तो हम टोटेमे ही रहेगे। कोई व्यवहारपदवीमे व्यवहारके निपेधकी बात नही वही। वहा रहकर भी निश्चयस्वरूपकी दृष्टि दृढ बन जाय इसका प्रयास रहे। पूजनमे मूर्तिके समक्ष भगवानके गुणो का स्मरण कर रहे हो, वहाँ अपने अनादि अनन्त अहेतुकभावका लक्ष्य करते जावो, जितना भी बन सके उसकी ही दृष्टि लगाते जावो। क्या यह पूजा नही कहलावेगी ? यह तो भगवान के रहस्यकी बात पाने वाले की उत्तम पूजा होगी। यह व्यवहार धर्म तो तीर्थकी रक्षाके लिये है। व्यवहारसे निश्चय नही मिलता, ऐसी बात सुनकर व्यवहारमे आवे ही नही या व्यवहार आवे ही नही, इसका यह मतलब नही-। तथा यद्यपि यह ठीक है कि व्यवहारधर्म तीर्थका रक्षक है उसे वहाँ करना चाहिये किन्तु धर्म तो निश्चयसे अपने अतरगसे प्रगट होता है। अनादि अनन्त अहेतुकज्ञान स्वभावका अवलबन ही सर्व कल्याणका मूल है। इसके अन्दर बडा रहस्य भरा पडा है। समस्त मोक्षमार्गको यही बतला दिया है। तुमको सुखी होनेके लिये क्या करना है ? यह इस पक्तिने बतला दिया "समस्तावरणक्षय क्षण एवानाद्यनताहेतु-कासाधारणज्ञानस्वभावकारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविशत्केवलज्ञानोपयोगीभूय स्वयमेवात्मा

विपरिणमते" यह किसी अन्यकी तो कोई बात नही है, इस शुद्धतामे रहकर तत्त्वकी साधना करो, आपकी ही यह बात है ।

परमतत्त्वकी भक्ति--परमात्मा तो शुद्ध हो गये, मात्र उनके गीतसे क्या ? व्यवहारमे है तो क्या करें ? वहाँ रहकर भी निश्चयकी साधना करो, दृढतासे स्वमे रहकर निश्चयकी साधना करो । यदि अपना कल्याण चाहते हो तो ज्ञानस्वभावका लक्ष्य करो । यह तेरा पद है, यहाँ दृष्टि रख, इसका जानना ही तेरा मित्र है, रक्षक है । जगतके और कोई पदार्थ तेरे रक्षक नही हो सकते । करोडोकी सम्पदा, पुत्र पिता स्त्री मित्र यह सब कोई तेरे रक्षक नही हो सकते, सुखके कारण ही हो न सक्ते । तेरे अनुपम सहज सुखका कारण निज चैतन्य भगवानका दर्शन ही है । सब ओरसे लक्ष्य हटाकर—जहाँ जहाँ दिमाग पहुचा हो उन उनको सबको दूर कर अपने आपमे ज्ञानसामान्य स्वभावके लक्ष्यका प्रवाह उस स्वभावमें उपयोगी रहे तो निर्मल परिणाम आ आकर केवलज्ञानके रूपमे बना देगा ।

विशुद्ध चैतन्यपरिणमन—केवलज्ञान ज्ञानकी परम स्वच्छ तरग है यह अत्यंत स्वतत्र परापेक्षारहित प्रभुकी महिमा है । केवली भगवान इन्द्रियोका भी सहारा लेकर नही जानते । जो इन्द्रियोका सहारा लेकर जानता है उसके ज्ञानके विकासमे फर्क पड जाता है । पहिले अवग्रह फिर ईहा फिर अवाय पुन धारणा । छोटीसे छोटी परिचित वस्तुके भी जहाँ सामने देखा कि क्रमश· अवग्रह ईहा अवाय धारणा उसके इन्द्रियज ज्ञानके होनी है । एक अपरिईथ तक देखो तो वहाँ अवग्रह ईहा अवाय धारणाका स्वरूप स्पष्ट समझमे आता । सामनेसे कोई आदमी आ रहा पहिले तो यह सोचा कि आदमी है, फिर यह सोचा कि यह तो दक्षिण देशका है परन्तु उसमे अभी पूर्ण निश्चय नही और न अभी कोई सशय है । जानने पर विशेष प्रयत्नशील हुआ । उसमे यह बोध आया कि यह दक्षिण देशका है । इस ही का निश्चय पूर्ण हुआ, यह अवाय है फिर उसे न भूले यह धारणा है । यहा अपरिचितमे अवग्रह ईहा अवाय धारणाका वर्तन स्पष्ट समझमे आता, परन्तु परिचितमे समझमे नही आता कि कब अवग्रह हुआ, और कब ईहा अवाय धारणा हुए, फिर भी वहा क्रम है । ये इन्द्रिया हमारे ज्ञानमे क्रम डाल देती है । परन्तु जिनके इन्द्रियाँ नही हैं इन्द्रियोंके कारणभूत भावेन्द्रिया भी जिनके नही रही अर्थात् जिनके केवलज्ञानावरणका अभाव हो गया ऐसे परम आत्माके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तो वह किस ढगसे होता है, उसके सम्बन्धमे केवलज्ञानके कार्यका यह एक अलौकिक चित्रण किया गया है कि अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावको (यहा ज्ञानस्वभावको गुण समझना या सामान्य तत्त्व समझना) ग्रहण करके (यहा उपादान शब्द दिया है जिसे उपादान शब्द बनता है, यह उपादान निमित्त केप्रसंगमे भी प्रयुक्त होता है) उस चैतन्यभात्र को कारणरूपसे उपादान करके उस स्वभावके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञानरूप उपयोगी

होकर आत्मा स्वय शुद्धपरिणम जाता है। चैतन्यस्वभाव—ज्ञानस्वभावके ऊपर केवल ज्ञानोपयोगरूप होकर आत्मा परिणमता है अर्थात् इस शुद्धपर्यायमे ज्ञानमात्र भी चल रहा है और केवलज्ञान भी चल रहा है, ऐसा बुद्धिमे आनेकी बात है। वस्तुत वहाँ दो पर्यायज्ञान नही है।

स्वभावविकासमे भी स्वभावका सत् भाव—यहाँ उपरि शब्द डालनेसे यह रहस्य अवगत हुआ कि केवलज्ञान हो जानेके बाद सर्वज्ञके ज्ञानमात्र खतम नही हो जाता। जो बात सामान्य स्वभाव पहिले कारणसमयसार नामसे व्यवहृत होता था वह ज्ञानमात्र यहा खतम नही हो जाता। 'ज्ञानस्वभावके ऊपर' ऐसा कहनेसे पुद्गलकी तरह—स्कधकी तरह उसको नही समझना कि ज्ञानमात्र तो ऐसा नीचे है और उसके ऊपर केवलज्ञान शुद्ध तरग आई क्योकि स्कधमे अनेक द्रव्य हैं परन्तु यहा तो एक वह ही है। ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरग है वह केवलज्ञान है। तरग तो अनादि सात होती, कोई सादि शान्त होती, शुद्धात्माकी वह तरग सादि अनत होती। वर्णन प्रवाहकी अपेक्षा है। एक एक क्षणकी दृष्टिमे तो सब तरग सादि सान्त एक क्षणस्थायी हैं। वह शुद्ध तरग आई तो वह पर्याय रही, वह पर्याय किस आधारमे आई या है जिसके आधारमे वह पर्याय चल रही है उसे कहते हैं ज्ञानस्वभाव। यह ज्ञानस्वभाव चल रहा है और ज्ञानस्वभावका ही शुद्ध अवस्थारूप परिणाम—तरग—केवलज्ञान भी चल रहा है। उस कालमे वहाँ उस केवलज्ञानरूप तरगके आश्रयरूपको केवलज्ञानसे भिन्न लाक्षणिक ज्ञानस्वभाव कहते हे। वहाँ स्वभावके अनुरूप ही पर्याय है, फिर भी प्रत्येक केवलज्ञानीमे उस प्रतिसमयकी सर्वज्ञताकी पर्यायोमे अनन्यरूपसे चलने वाला जो ज्ञान स्वभाव है वह तो है ही। उस ज्ञानस्वभावका कारण रूपसे उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञानके उपयोगरूप आत्मा परिणमता है। कौन ? केवली आत्मा। इसलिये इस केवली भगवानके ज्ञानमे एक साथ समाक्रान्त कहिये आया सर्व जगत है।

प्रभुके ज्ञानमे सर्व जगतका समाक्रमण—आक्रान्तका अर्थ है आक्रमण किया हुआ और समाक्रान्तका भाव हुआ, केवलीके ज्ञानमे जगतके सभी पदार्थोने तथा सभी शक्तियोंसे सभ्यतासे विनयसे मानो आक्रमण कर दिया अर्थात् वह सबके सब केवलीके ज्ञानमे झलकने लगे—ज्ञात हुए। इस तरहसे नही आये कि वे पिण्डसे आ गये हो अथवा आकर ऊधम मचा दिया हो, यही तो समका भाव है। ज्ञाता भी अपने अस्तित्वसे सुरक्षित है, सर्व अर्थ भी स्वयमे सुरक्षित रहे फिर भी सब ज्ञानमे आये अर्थात् सर्वपदार्थोको निमित्तमात्र करके जो ज्ञानमे ज्ञेयाकार हुआ वह समस्त विश्वके अनुरूप है। उनके ज्ञानमे तीनो लोकोके पदार्थो का द्रव्य भी झलक रहा, क्षेत्र भी झलक रहा, भाव भी झलक रहा तो सब त्रिलोकके पदार्थो ने मानो भगवानके ज्ञानमे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबने एक साथ आक्रमण कर दिया।

लडाई नही हो रही है । यह प्रभुत्व है, सभ्यताका आक्रमण है । तत्त्वके स्वरूपको खेद न हो, भगवानके स्वरूपको धक्का न पहुचे, प्रत्युत पूर्ण व्यक्ति पावे, ये सर्व द्रव्य गुणपर्याय ऐसी सभ्यतासे आये । कैसा अनुपम यह आक्रमण है । अर्थात् निमित्त पाकर ज्ञानमे यह सर्व ज्ञेय प्रतिबिम्बत हो गया है, इस कारण ये समस्त ज्ञानमे आलम्बन आता ।

केवलज्ञानकी सर्वार्थप्रत्यक्षता—केवली भगवान् खरगोशके सीगको नही जानते, खरगोशके सीग ही नही, जाने कैसे ? परन्तु हमारे यदि अपनी कल्पनामे 'खरगोश है यह उसके ऊपर सीग लग गये' ऐसा विकल्प हुआ, तब यह तो केवली के ज्ञानमे आया ही क्योकि यह विकल्प सत्का परिणमन है परन्तु खरगोशका सीग सत्ताका परिणमन नही, उसका ख्याल सत्ताका परिणमन है वह ख्याल जो कि ध्याताका परिणमन है । निष्कर्ष यह है कि जिसकी सत्ता होती है वह भगवानके सर्वज्ञपनाका आश्रयमात्र है । यह आश्रय भी ऐसा नही कि वर्तमानावच्छेदेन सामने हो तभी सामने रखकर ज्ञान जाने किन्तु जो है वही तो ज्ञानमे आया । पदार्थमे (पर्यायमे) सत्ताका सम्बन्ध चाहिये, वह किसी कालावच्छेदेन हो वह समस्त सवेदनके आलबनभूत होकर वह सर्वद्रव्य गुणपर्याय केवलज्ञानमे प्रत्यक्ष जाने जाते है । सर्व अर्थके प्रत्यक्ष होनेपर भी विकल्प न होने के कारण साधारण लोकोकी दृष्टिमे प्रत्यक्ष होना ज्ञान होना न होने बराबर सा है । उनको सारा विश्व प्रत्यक्ष हो गया, इससे उनको लाभ क्या हुआ ? जितने लोग किसी चीजको जानना चाहते है वे किसी लाभके लिये ही तो जानना चाहते है, केवलीने सारा विश्व जाना वह किस लाभके लिये जाना ? नही, केवली ने समस्त विश्वको जाननेका प्रयत्न नही किया । ज्ञानकी स्ववृत्ति ही ऐसी है जो इस रूपको लिये हुए है । इसलिये किस लाभके लिये जाना यह प्रश्न ही नही उठता । वहाँ तो ज्ञानकी सहजवृत्ति हुई फिर भी हम अपने ख्यालसे उत्तर देवे तो यह सुनिश्चित होता है कि सर्वको जाननेपर इनका विकल्प आनेका कोई अवसर ही नही रहता । जो क्रमसे जानता है उसके विकल्प उठता है ।

सम्यक्त्वका मूल प्रताप—जो सर्वको जानता है उनके निर्विकल्पपना—विरागत्व कायम है परन्तु यह उत्तर हमारी आदतके मेलका है, भगवानकी यह निर्विकल्पता सर्वज्ञपनाके कारण नही किन्तु वीतरागताके कारण है—रागद्वेप मोहके विनाशके कारण है, उनमे जो सर्वज्ञता आई वह सर्वज्ञता आती ही है । ज्ञान जब स्वच्छंद हो जाता है उस पर जब कोई आवरण नही रहता तब ज्ञानकी तरग इसकी सर्वज्ञता रूप होती ही है, फिर भी निर्विकल्पता निराकुलताको सर्वज्ञता पुष्टि रखती है । यह सब किसका प्रताप है ? यह प्रताप है सम्यग्दर्शन का । यहा जो विशुद्ध ज्ञायक भावपर उपयोग लगाया, उसका लक्ष्य किया उसका यह फल है केवलज्ञान । शुद्ध अवस्थामे जो छिप गये—पहुच गये, श्रेणियोमे भी जो साधु चले गये वह सब यहाँके सम्यग्दर्शनका प्रताप है तथा वह भी सम्यक्दर्शनके पहिले, सम्यग्दर्शनके पहिलेके

करण परिणामका प्रताप है। तब आपने यह समझा कि अधिक मेहनत किसने की ? सो अर्हन् बननेमे सबसे अधिक मेहनत कहाँ हुई ? सबसे अधिक मेहनत सम्यग्दर्शनके पैदा होनेके समय अर्थात् करणत्रय परिणामोमे हुई। यह लक्ष्यकी बात नही कर रहे है कि हमको लक्ष्य उन करण परिणामोमे करना चाहिये जिनकी मेहनतसे हमे सिद्धि हुई। आदर्श तो शुद्धका स्वरूप ही रहना चाहिये क्योकि उसका आदर्श या ज्ञान स्व-स्वरूपका आदर्श हुए बिना करण परिणाम ही होगे कहाँसे ? परन्तु यहाँ तो कार्यकी बात बतला रहे है कि सबसे बडा काम उन करण परिणामोमे रहा क्योकि अनन्त ससारकी क्षति उन करण परिणामोसे हुई, वे करणपरिणाम मिथ्यात्व गुणस्थानमें सातिशय मिथ्यादृष्टिके हुए। तब यह समझना कि मोक्षमार्गके लिये जो प्रथम प्रयास है वह सर्वोपरि महत्त्वका प्रयास है, आगेका प्रयास इसके समक्ष सरल है।

अन्तिम विकासका सहज परिणमन—अ आ क पढने वाले शिष्यका बडा परिश्रम था और बी ए एम. ए. मे पढने वाले शिष्यका परिश्रम कम है। इसी प्रकार मास्टरोंके परिश्रमकी भी बात है। अभी भी बडे बडे विनयी जो हुए या होते है वे क का पढने वाले मास्टरको उसी आदरसे अथवा महान् आदरसे देखते है जो बडे मास्टरका होता है। यह बात पहिले कह ही चुके हैं कि आदरसे करणको लक्ष्य बतानेकी बात नही कह रहे हैं किन्तु यहा यह कह रहे है कि सबसे अधिक जो परिश्रम होता है वह आत्माका मोक्षमार्गमे चलनेके लिये अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोमे होता है। वह परिणाम कब पैदा होता, कैसी स्थितिमे पैदा होता ? तो भाई वह परिणाम भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञायक भावको कारण पाकर होता। सम्यग्दर्शनके बाद व्रत परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण पाकरके जो स्थिरता होती उसमे होता है। अच्छा ! महाव्रत का परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे ग्रहण करके होता कि व श्रेणीयोमे यह आत्मा कैसे पहुचता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे उपादान करके पहुचता। अब क्षीणमोह कैसे होता ? तो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको ही कारण पाकरके उस स्थिरतामे होता। और केवली कैसे होता ? तो भी यही उत्तर है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वय परिणमता है।

परमपारिणामिक भावका प्रताप—देखो भैया ! यह परमपारिणामिक भाव एक ही अपूर्व मास्टर है, गुरु है, देव है, जो हमको सम्यक्दर्शनसे सम्यक्चारित्र तक और अत्यत शुद्ध पर्याय तक ले जाने वाला है। इस ही की कही चर्चा, कही बोध, कही लक्ष्य, श्रद्धान, भावना, ध्यान, उपयोग, परिणमन होता है। इसही निज ज्ञानस्वभावका लक्ष्य—यही करना ही एक

हमारा अभी धर्म है। हमारे व्यवहार धर्मके अन्दर भी ज्ञानीको केवल यही करनेको होता है। सारे प्रकारके शुभोपयोगमे बसकर भी ज्ञानी जीवका काम यही रहा करता है। हमारी समझमे इसके चिन्तवनमे हमको परिश्रम करना चाहिये। यह परिश्रम नही, अपूर्व आराम है जिसका रहस्य या द्वार अब तक देखा भी न था। २४ घन्टेमे विषय कषायोके परिश्रममे यह जीवन प्राणियोका बरबाद हो रहा है। एक बार विषय कषायोसे हटकर अपने आपमे आवो अथवा अपने आपके स्वरूपको देखो, इस ही मे स्थिर होओ, उसे विषय कषायके परिणाम स्वय हटेंगे ही। एक बार सहजसुखामृतका अनुमान करो। स्त्री पुत्र आदि सब उठकर प्राय नही जाते, वे सब घरमे ही है आनन्दसे रहेगे। उनके उपयोगमे अब तक इतने रहे, अब कुछ ५ मिनट ही (आगे मिलेगे यह भाव रखकर नही) तो उन बातोका ख्याल छोडकर अपने ज्ञानस्वभावमे आवो, लग जावो, रहो आधा सेकिण्ड भी, सेकिण्डके हजारवे भाग भी अथवा जैसे बिजली चमकती उस शैलीके क्षणसे अपने स्वभावके पास आजावो। यदि कोई अपने ६०–७० वर्षके जीवनके भीतर एकपाव सेकिण्डको भी यह बात पा लेवे तो वह सर्व दु खसे पार हो सकता है। सारा समय तो रखा विषयके लिए। मन नही माने तो रागके लिये, कुछ समय स्वरूपचिन्तनसे लगावो और यदि आपको चिन्ता ही है उन सर्व अत्यन्ताभाववाले पदार्थोकी, तो हम कहते है आपके बाल बच्चे सब ठीक रहेगे। एक मिनट आधा मिनट सर्व बाह्यसे उपयोग हटाकर आरामसे तो बैठो, ज्ञानस्वभावका अवलोकन हो जायगा। देखो यह अनुभव होनेपर व्यवहार सत्य है, ज्ञान सत्य है, चारित्र सत्य है। अन्यथा वक्ताओकी गाली ही खानेको मिलेगी।

चित्स्वभावके परिचय बिना सिद्धिका अभाव—एक चैतन्यमात्रका अनुभवन किया हो तो उसे अन्य सब भार प्रतीत होता है, उस भावसे जो जाना कि उसे ज्ञायकभावका लक्ष्य आ ही गया। कभी किसी चारित्रमोहनीयकी प्रबल प्रेरणासे किसी कार्यमे लगे हुए भी उसके वियोगबुद्धि लगी रहती कि किस दिन वह समय आवे कि यह खटपट न करना पडे, ऐसे भाववाला लोकमे भी रहता, अपने ध्रुवस्वभावके लक्ष्यमे रहता। इसही भावकी करामात है कि गृहस्थीमे रहकर भी ४१ प्रवृत्तियोका सवर है। सम्यक्त्व होने पर प्रवृत्तियोसे भी अनत-ससार नही होता। ज्ञानी जीवकी शुभप्रवृत्ति व्यवहारधर्म कहलाता है। वहाँ ज्ञानीका क्या ध्येय है कहाँ लक्ष्य है इस रहस्यको न जान सकने वाला प्रवृत्तिमुग्ध प्राणी यदि शुभप्रवृत्तिको ही धर्म मानले तो इस भावसे वह धर्म शान्ति आत्मविश्राम नही पा सकता। जैसे कोई सेठ धान्य खरीदने गया। १४ रुपये मनमे धान्य खरीद लिया। एक मूर्ख जो धनी बननेको चाहसे सेठकी प्रवृत्तिको देख रहा था और सोच रहा था कि जो सेठजी करें वही हमे करना है। उस मूर्खने निश्चय किया कि इस मटमैले पदार्थोको १४ रुपये मनमें खरीद लो। वह मिलसे

गया और वहाँ पडे हुए चावल रहित मटमैले तुषको १४ रुपये मनमे खरीदनेकी कहने लगा। अधिकारियोंने सोचा कि यह मजाक कर रहा होगा किन्तु उसके बार बार हठ करने पर और मूल्य आगे धर देने पर विवश होकर दे दिया। अब आप यह सोचे कि वह मूर्ख धनी बनेगा कि गाँठ की रकम खोवेगा। इसी तरह जीवका निज ध्रुव तत्त्वपर लक्ष्य गया—इस ज्ञानी जीवसे कर्मविपाकवश शुभोपयोग कार्य हुआ, इससे भी दूर न रह सका। यह किस अवस्थामे किस दृष्टिमे उसके हुआ इसे अज्ञानी न पहचान सका और ऊपरी ही बात देख ली, ऊपरी प्रवृत्तिमे ही धर्म है इसे करनेसे ही कल्याण है—इस श्रद्धाको रखकर बाह्य प्रकृतिमे तन मन लगाने लगा तो क्या बाह्यप्रवृत्तिमात्रसे अर्थात् ज्ञानियोकी ऊपरी औपाधिक प्रवृत्तिकी नकलमात्रसे अज्ञानी अदरके वैभवको पा सकता है, धर्म शान्ति आत्मविश्वास कर सकता है या ससारका ही बंध करता है।

शुद्ध दृष्टि होनेपर व्यवहारकी भी सहायकता—सिर्फ दृष्टिका फेर है, व्यवहारका निषेध नही, यह व्यवहार धर्मका भी आचाराङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग विषय है। क्योंकि निर्मल अवस्थामे शुभ प्रयोगसे अलग रहकर तो स्वच्छद हो सकता है जीव, परन्तु इन कर्त्तव्योमे रहकर भी देखो अपने अतरङ्ग भावको। निज ज्ञानस्वभावको ही कारण बताकर अपने उपयोगकी पर्याय करो। देखो भैया! धर्मका मूल क्या? चौथे गुणस्थानसे लेकर अत्यन्त शुद्धपर्याय प्रकट होने तक यही होता, दूसरा काम नही। ज्ञानस्वभावका कारणरूपसे उपादान लक्ष्य, श्रद्धा, भावना, उपयोग परिणमन रहा। कही अनुभव हुआ तो कही परिणमन हुआ, परन्तु रहा सर्वत्र ज्ञानस्वभावका ही सम्बन्ध। ज्ञानस्वभाव तो वह कहलाता जो प्रत्यक्ष ज्ञानपर्यायमे रह सकता है व जघन्य परोक्षपर्यायमे भी रहता, सामान्यमे भेद कहाँ? ऐसा वह ज्ञानस्वभाव अर्थात् आत्मद्रव्य है तो अपने ध्रुव स्वभावसे रहता ही है। द्रव्यका स्वभाव ऐसा नही कि कही कम या ज्यादा रहे ऐसा रहने वाला तो स्वभाव ही नही, व्यक्ति है। वह स्वभाव निगोदमे अपूर्ण हो और केवलज्ञानमे पूर्ण हो नही क्योकि स्वभावकी अवस्थामे तो अन्तर होता किन्तु द्रव्यमे व उसके स्वलक्षणमे अन्तर नही होता।

आस्तिक्य—जो स्वभाव द्रव्यमे अनादिसे अनत काल तक पूर्ण है उस निज स्वभाव को जिसने नही जाना उसे कहते है परमार्थसे नास्तिक। उस स्वभावको जिसने जाना उसे कहते हैं आस्तिक। आस्तिक अन्तरात्माके अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावमे अनुभवसे परिणामोमे निर्मलता बढने लगती है तब श्रेणीगत अन्तरात्माके एक ही पदार्थमे एक योगसे ठहरे हुए ध्यानमे १२वें गुणस्थान तक वीतरागभाव था, सर्वज्ञता नही थी। १२वें गुणस्थान के अन्तमे ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्मका क्षय होते ही एक ही समयमे उस ज्ञानकी यह हालत होती है कि तीन लोकके तीन कालके सर्वद्रव्य गुण पर्याय एक साथ उस केवल-

ज्ञानमे आ जाते है, मानो उन सबका उस ज्ञानभूमिकामे एक ही साथ समाक्रमण हो जाता है। देखो भैया! १२ वे गुणस्थान तक तो सर्वज्ञता नही थी, फिर वह ज्ञान कितने रूप था, कैसे कर रहा था, किस पर केन्द्रित था, जो वहाँ एकके बाद एक समयमे एक साथ ऐसा हो गया। वह है निर्विकल्प ज्ञानानुभव। यह ज्ञानका स्वभाव है कि सबको जान, यहा अचानक यदि ऐसा कोई अद्भुत काम हो जाय तो घबराहट आजाय वहाँ अनन्तवीर्य प्रकट है, अनन्त-ज्ञान प्रकट है। इस केवली भगवान्के एक सस्यमाक्रान्त व समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव होनेसे समस्त सवेदनके आलम्बनभूत जो यह सर्व द्रव्य गुण पर्याय है वे सब प्रत्यक्ष हो जाते है। इस तरहसे गाथामे यह बात सिद्ध की कि केवली भगवान् का जो ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञानके परिणमन होनेके कारण सर्वका प्रत्यक्ष करने वाला हो जाता है। इस अद्भुत किन्तु सहज महिमाका उपाय क्या है? धैर्य धरो, जगतके पदार्थोको समझनेके लिये उतावली न करो, अपनेको समझो और अपनेसे भिन्न शरीर आदि है ऐसा समझो, इसमे ही सारा जगतका ज्ञान सामान्यरूपसे हो गया। अब उतावली न करो प्रत्येक भौतिक पदार्थके निरीक्षणकी। धैर्य धरो धैर्यका मीठा फल है। इच्छा न करो किसी अन्यके जाननेकी, इच्छा न करो किसी चीजके सम्बन्ध बढानेकी। इच्छा न करो किसी प्रकारसे किसीको प्रसन्न करनेकी। इच्छा न करो यश अपयशके होने व छुपानेकी। किसी इच्छाका आदर मत करो, अपने ध्रुव टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानस्वभावको देखो। वह स्वभाव अखड है। यद्यपि उसे खड ज्ञानरूप उपयोगमे ही देखते हो तथापि खडमे अखड विराजमान तो रहने दो, भूमिका भी अल्प समयमे पूर्व व्यापक अखड हो जायगी।

सत्की प्रमेयताका अप्रतिघात अभ्युदय—हम किसी भी पदार्थको पूर्ण तौरसे नही जान रहे। जो हम एकदेश देखते है उतने ही हम जानते है परन्तु शुद्ध आत्मद्रव्यका वह ज्ञान त्रिलोक सर्वका ज्ञाता होता है। द्रव्यदृष्टिसे तो वह देहाकार असख्यप्रदेशोमे ही बिराज रहा परन्तु भावदृष्टिसे देखो वह केवलज्ञान सर्वव्यापक है। वह इतना ही व्यापक नही कि लोक मे ही रहता हो, अलोकमे भी है। वर्तमानमे ही वर्तमानकी पर्यायोमे ही व्यापता हो ऐसा नही, किन्तु इसकी व्यापकता अतीतकालकी सर्व अनत पर्यायोमे है, भविष्यकालकी सर्व अनत पर्यायोमे है। कारण कि वह सत्सम्बन्धको जानता ही है चाहे वह सम्बन्ध पर्यायरूपमे हो या होगा या था। यह सम्बन्धकी बात पर्यायोके लिये कह रहे है। जो भाई केवलज्ञानको व्याप-कतामे प्रादेशिक जैसी दृष्टि लगाकर क्षेत्रसे ही व्यापक मानते है उनको केवलज्ञानके विषयके इतने ही आधारसे चलकर सर्वथा अद्वैतवाद जैसी श्रद्धा हो सकती है अर्थात् और कुछ नही है बस मात्र एक ज्ञान ही ज्ञान है। परन्तु पहिले यह निश्चय करके चलो कि केवलज्ञान भावदृष्टिसे व्यापक है और भावकी दृष्टिमे इतना ही व्यापक नही कि वह लोकमे ही वर्तमान

की पर्यायोमे ही व्यापक हो । वह तो त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य गुण पर्यायोमे व्यापक है । ये पर्याये कबसे है ? यदि कहो अमुक समयसे तो वह एक पर्याय आदिरूप हुई तो वह पर्याय किस सामान्यकी—द्रव्यकी तरग है ? उसका जो उत्तर होगा वह क्या पहिले निस्तरग था ? नही, तब पर्यायें अनादिसे है और अनत काल तक पर्यायें चलती रहेगी क्योकि यदि अमुक दिनसे ही चले, रहे तो किस हालतमे द्रव्य रहेगा ? इससे सिद्ध है भविष्य भी अनत है ।

केवलज्ञानका प्रताप—देखो केवलज्ञानीके प्रतापको कि सर्वपदार्थका ज्ञाता है, किन्तु वह हमारी तरह छाँट करके जाने तो उसको सर्वज्ञातृत्वसे स्तीफा देना पडे, किन्तु यह दोनो असभव हैं अर्थात् वह सर्वज्ञाता न हो यह असभव है और छाट याने विकल्प करके जाने यह भी असभव है । देखो केवलज्ञानीके तेजको, एक ही समयमे अनादिकालकी पर्यायोमे व्यापक हो गया, भविष्य अनतकालकी पर्यायोमे भी व्यापक हो गया । यह सब भावदृष्टिसे कसने पर सब सही उतरता है । मात्र क्षेत्रकी दृष्टिसे ही व्यापक मत देखो । ऐसा ज्ञानमे व्यापकत्व देखने पर कही गलती हो सकती है, उस गलतीका परिणाम अद्वैतवाद है । अद्वैतवाद सत्य है परन्तु वह अखड एक द्रव्यमे । इस तरह वह केवलज्ञान इतना व्यापक है । जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थको उस रूपमे जानो । यह बात इसलिये कही कि केवलज्ञानमे इतनी लम्बी व्यापकता समझमे आने पर यह बात सहज समझमे आयेगी कि केवलज्ञान जिस आत्मद्रव्यके आधारमे है वह आत्मद्रव्य पिण्डसे देहाकार निज प्रदेशोमे ही है । क्यो ? देखो यदि हम इस ज्ञानको क्षेत्रमे ही व्यापक माने तो यह प्रतीत हो सकता है कि केवलज्ञानका आधारभूत जो आत्मा है वह भी इतना ही फैला हुआ होगा । और जब केवलज्ञानकी व्यापकता भूतकालकी पर्यायोमे भी चली गई, भविष्यत्कालकी पर्यायोमे भी चली गई तो वह आत्मा पिण्डको छोड कर इनमे कहाँ कहाँ कैसे विचरता होगा, भविष्यत्कालकी पर्यायोमे व भूतकी पर्यायो आदिमे कहा जावेगा ? तब कमसे कम इतना तो निश्चित हो गया कि जितना केवलज्ञान व्यापक है उतना व्यापक आत्मद्रव्य नही है । द्रव्यदृष्टिसे पिण्ड दृष्टिसे इतना व्यापक आत्मद्रव्य नही है ।

ज्ञानपरिमाण व आत्मप्रदेशपरिमाण—देखो यह एक लक्ष्यकी बात बतलाई जा रही है तभी तो आगेका कथयिष्यमाण यह विरुद्ध नही होगा कि जितना बडा ज्ञान है उतना ही बडा आत्मा है । यदि ज्ञानसे कम आत्माको माने तो क्या दोष होगा ? ज्ञानको आत्मासे कम माने तो क्या दोष होगा ? समाधान देकर निर्णीत होगा कि ज्ञानप्रमाण आत्मा है । न यह कम है, न वह कम है । यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि देहसे मुक्त होनेपर वह आत्मा देहके प्रमाण क्षेत्रावगाही ही क्यो रहता है ? तब वह समाधान है जिस आकारमे अवस्थित आत्मा अन्तमे मुक्त होता है व देहसे अलग होता है, वह जितना था उतना ही रहा, घटा नही

बढा नही । इसमे तो हेतु आनेकी जरूरत नही किन्तु यदि घटे या बढे कुछ तो उसमें हेतु पूछा जायगा कि क्या कारण है जो बढ गया अथवा घट गया ? नवीन बात होनेमे हेतु पूछा जायगा । जो जैसा था वैसा ही रहा । इसमे क्या खोजनेकी व्यग्रता की जाय ? अपने व्यवहारमे भी देखलो, कोई मामला घरमे, सस्थामे आजाय जिसमे कुछ घटाया बढाया जाय, कुछ लोगो के खिलाफ हो तो निश्चय होता है कि जैसा है वैसा ही रहने दो उसमे कुछ अतर मत करो । वह अरहतकेवली जिस देहाकारसे मुक्त हुआ है उस देहाकारके प्रमाणसे आत्मा घट गया या बढ गया तो कारण बताओ । अत शुद्ध आत्मद्रव्य देहसे जब मुक्त हो जाता है तो जिस देहसे मुक्त हुआ उस प्रमाण वह सिद्धलोकमे भी विराजमान रहता है ।

देहप्रमाणसे आत्मप्रदेशोका न्यून आकार—यदि यह कहा जाय कि ऐसी भी कुछ प्रसिद्धि है कि पूर्व देहाकारसे कुछ कम आकार रहता है जो वैसा कम तो इस समय भी है, जो देहमे छिद्र है ऊपरको सूक्ष्म त्वचा है नख है बाल है वहाँ आत्मप्रदेश नही । फिर क्षेत्रकी दृष्टिमे विशेषता क्या रही ? अर्थात् जितने कम आकारमे रहेगे, रहते है, देहमें उतने कम आकारमे हम भी रहते है । अभी शरीरके ऊपरकी चमडी जो मक्खीके परकी तरह पतली है जिस पर कदाचित् जरा सी रगड़ लग जाय तो मैल ही निकले, किन्तु तकलीफ रच भी नही होती । यह त्वचा आत्मप्रदेशरहित है । यहाँ जितने बाल निकल रहे यह भी अग बन रहे, इनमे भी आत्मप्रदेश नही है, तभी देखो जब कोई कैंची आदिसे बाल काटे तो जरा भी हमे ख्याल नही रहेगा, रच भी दुःखका अनुभव नही होगा । यही बात इन नखोकी है, यह भी हड्डीका मलमात्र है जो ऊपर निकले है । तब जो जो इस आत्मप्रदेशसे बाहरकी चीज है अर्थात् जिनमे प्रदेश नही है वहाँ तो आत्मप्रदेश अब भी हमारे आपके नही है ।

केवलज्ञानकी निरपेक्षता व स्वाभाविकता—इस तरहसे देहप्रमाण क्षेत्रस्थ भी इस आत्मामे वह ज्ञान प्रकट होता, उस केवलज्ञानमे कोई भी प्रतीक्षा नही होती । भावदृष्टिसे वह इतना व्यापक है कि वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक है । इससे कहते है कि इस भगवान केवलीके अतीन्द्रियज्ञान होनेसे ही पूर्वज्ञान सुख है । 'ही' शब्द इसलिए कहा कि शकाकार कहता था कि जिनके इन्द्रिय नही उनके और आनन्द कैसे होगा, उसके लिये निर्णय हो पर कहा कि इन्द्रिय नही है इसलिए ही पूर्णज्ञान और सुख है जिसको कि किसीकी सहायता या प्रतीक्षा आदि नही करनी पडती । अब कहते हैं कि इस भगवान आत्माके अतीन्द्रिय ज्ञानमे परिवर्तन होनेसे ही कुछ भी नही रहता, अज्ञान नही रहता, इस बालको अभिप्रेति अर्थात् कहते है । यहाँ अभिप्रेति शब्द कहा जिसका रहस्य है कि आचार्य अपने मनका भिदा हुआ अभिप्राय कहते है अथवा यही इष्ट है उसकी शक्तिसे कहते है ।

णत्थि परोक्ख किंचिवि समत सव्ववखगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीन्दस्स सदा सयमेव हि णाणाजादस्स ॥२२॥

प्रभुकी समृद्धता—प्रभु समस्त इन्द्रियोके गुणोंसे समृद्ध है । देखो केवली भगवानका वर्णन चल रहा है । शव्द यह है कि जो समस्त इन्द्रियोके गुणोसे समृद्ध है—युक्त है, इन्द्रिय के ज्ञानकी वृत्तिसे युक्त नही, परन्तु इन्द्रियाँ जिन जिनको विषय करता था उन सबका ज्ञान तो पूर्णज्ञानी अक्षातीतके है ही, सो देखो इन्द्रियकी जो करामात है वह तो उनमे है परन्तु वहा उन विषयोका विकार स्वाद नही और विकल्प नही । क्योकि जिनके मोह व इन्द्रियज ज्ञान ही नही तो विकार स्वाद कैसे हो ? उन पदार्थोका भी जो भगवानको ज्ञान है वह भी ज्ञानकी स्वच्छतासे ही है । उस ज्ञानके लिये उन आत्माको कोई प्रतीक्षा नही करनी होती ।

ज्ञानसमृद्धि और उसके निरन्तर यत्नका कर्तव्य—केवली—जो इन्द्रियोंसे रहित ज्ञान वाला है सब आत्माके देशोमे सब इन्द्रियोके गुणके अथवा आत्मगुणोसे पूर्ण है, इन्द्रियज्ञानसे पूर्ण नही, किन्तु इन्द्रियावस्थामे जितना जानन हो रहा था वह तो उनको है ही, इससे भी अनन्तानत गुण ज्ञान हो गया ऐसा जो केवली भगवान है उनके ऐसा ज्ञान प्रकट होता कि जिसमे त्रिलोक त्रिकालके सर्वद्रव्य गुणपर्याय प्रकट होते ही है । हम देखते हैं अपने विकल्पके ढगसे कि सही क्या होगा ? परन्तु भैया ! विकल्पके होनेके अनुसार उनके ज्ञान नही, उनका ज्ञान निर्विकल्प होनेमे है क्योकि इस अवस्थाके होनेका कारण—मूल कारण निर्विकल्प ज्ञान स्वभावका लक्ष्य है यह बात इक्कीसवी गाथामे कही गई थी । उससे हमे यह शिक्षा मिलती है कि मेरा सत्यार्थ काम केवल अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावका लक्ष्य करना ही है । इस कामको करते रहो । जितने भी प्रयत्नमे रहो वह इस कामके लिये रहो तो कोई न कोई ऐसा समय आवेगा ही कि हम उस विशुद्ध स्वरूपके अनुरूप परिणम ही जावेंगे । कार्य बस यही है—ज्ञानस्वभावकी ही चर्चा, ध्यान रहे । एक जुलाहा था । उसे एक साहबने पतलून दिया इनाममे । वह उसे पहिनना नही जानता था । उसने कभी तो पतलूनको सिरसे बाँधा, कभी कमरेमे तो कभी उसमे हाथ डाले, अनेक उपाय किये, इसही मे कभी दोनो पैर डाल दिये तो वह पतलून फिट बैठ गई, तब समझमे आया यह यहाँ ही पहिननेकी चीज है । यह तो मात्र दृष्टान्त है । तात्पर्य यह कि हम भी तत्त्वस्वरूपपर एकाग्रध्यान बनाये रहते रहे, कभी वह ध्यान फिट बैठ जायगा । व्यवहारमे भी पूजा वदना चिन्तन आदि होते रहे व यहाँ भी अतरगदृष्टि ठीक रखनेका प्रयास रहेगा तब वह दिन दूर नही, जब इस ज्ञायक भावका स्थिर अनुभव होगा । अपना अन्तरग लक्ष्य न छोडो ।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी अभिप्रेतता—इस गाथाकी उत्थानिकामे "अब इस भगवान कार्य समयसारमय परमात्माके अतीन्द्रियज्ञानमे परिणत होनेसे कुछ भी परोक्ष नही है अस्पष्ट नही,

है ऐसा अभिप्रेति अर्थात् "कहते हैं" इन शब्दोंमे अभिप्रेति शब्दसे अभिप्राय ही बना दिया क्योकि जब कोई बात अतिशय कर उपयोगमे बैठ जाती है तभी वह अभिप्राय बनता है। कहते कहते तो बहुतसा समय व्यतीत हो जाता है परन्तु अभिप्राय बने बिना उसका लेश भी प्रयत्न नही हो सकता। आध्यात्मिक सूरिको मात्र कहना ही इष्ट नही होता उनका वैसा अभिप्राय होता है। ज्ञानकी ऐसी निर्मलता जिसमे सर्वद्रव्य गुणपर्याये प्रत्यक्ष हो, इसका ही अभिप्राय—अवलोकन बोधि प्राप्त पूज्य आत्माओंके रहता है जो कि उस पूर्ण व्यक्तिके मूल आधार ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यमें गर्भित है। यहा सर्व प्रत्यक्ष हो इस पर भी लक्ष्य नही है, किन्तु यह तो उस निर्मल ज्ञानकी पहिचानके लिये कहा गया जिसकी इस लक्षणसे पहिचान की उस निर्मलज्ञानका ही अभिप्राय है अथवा निर्मलज्ञान पर्यायपर भी दृष्टि नही है किन्तु अनादि अनंत अहेतुक असाधारण एक ज्ञानस्वभावपर ही दृष्टि है। जिसके लक्ष्य—अनुभव-परिणमनके प्रसादरूप जो निर्मल अवस्था होती है उसका प्रशसापूर्वक अभिप्राय व्यक्त किया जा रहा है। अभिप्रेति शब्दमे अभि प्र एति—ये तीन शब्द है, जिनके शब्दार्थ है चारो ओर प्रकर्षतापूर्वक गमन करता है, जिसका भावार्थ है अभिप्राय करता है अथवा इष्ट करता है। इस भगवान आत्माके कुछ भी वस्तु परोक्ष नही है।

प्रभुनामोंकी अन्वर्थता—इस आत्माका नाम ही भगवान है। भग याने ज्ञान उसका जो स्वामी होय वह भगवान् अर्थात् ज्ञानवान। यही चैतन्य चेतन आदि अनेक नामोसे पुकारा जाता है। जैसे—विष्णु—जो इस ज्ञानभावसे व्यापक होय सो विष्णु, आत्माका ऐसा ज्ञान जो लोकालोकमे व्यापक है विकास रूपमे ऐसा पूर्ण आ सकता है, आता है तब यही आत्मा विष्णु है। बुद्ध—जो जाने सो बुद्ध। हरि—जो पापको हरे सो हरि, पापोको कौन हरेगा? पापको मै ही हरूगा। यद्यपि भगवानके स्वरूपका लक्ष्य होनेपर वह आश्रय है तथापि उनका कोई अग गुण मेरे पापको हरनेमे समर्थ नही। मैं ही हरि हू। ईश्वर—जो निजके ऐश्वर्य का स्वतन्त्र स्वामी हो वह ईश्वर है। वह भी मैं हू। जिनका ऐसा काम है जिससे वे ही अपने आप अपने आपसे आपको करले उसे कहते है ऐश्वर्य। हम भी सारे काम अपनेमे अपने लिये अपनेसे अपने द्वारा करते है इस लिये मेरे कामका नाम ऐश्वर्य है। निज द्रव्यमे जो सत् शुद्ध है वह है ईश्वर, ईश्वरके भावका नाम ऐश्वर्य। स्वय यह कल्याणमय आत्मा पवित्र है आदर्श है, अनत सुखमय इसकी प्राकृतिक शक्ति है। सयोगाधीन दृष्टि छोडकर द्रव्यसे देखो मैं और भगवान एक ही बिरादरीका तत्त्व है। परलक्ष्य हटने पर आत्मा अनतसुखमय हो जाता है।

मतोंके नामोकी अन्वर्थतामे मूल एक लक्ष्य—देखो भैया! ऐसा परमपवित्र निज आत्मनिधानको भूलकर थोडे सुखाभास—जो सुखका विकृत अश है—के लिये वैभाविक सुख

के अर्थ परके लक्ष्यसे अपना विनाश कर रहे हो। देखो धर्म आत्माके स्वभाव रूप होता है तभी लोगो ने अपने अपने मतोका जो धर्मके लक्ष्यसे बननेकी बात थी—जो जो नाम रखा है वह ऐसा नाम रखा है जो आत्मस्वभावको छूने वाली बातको बतलावे। जैसे जैन—जो कर्मो को जीते सो जिन, उन्होने जो मार्ग बतलाया सो जैन, जो विषय कषाय कलकको जीतनेका मार्ग है सो जैन। वैष्णव—विष्णु नाम है ज्ञानका, जो व्यापक है, उस विष्णु तत्त्वकी बात को जो माने सो वैष्णव। आत्माके तत्त्वको बतावे वह धर्म है, उस समय जो हो सो भगवान आत्मा यह वैष्णव। मुसलमान—मुसले ईमान—जो अपने ईमानपर कायम रहे सो मुसलमान। आत्माका ईमान सत्य क्या है? ज्ञान स्वभाव व उसमे रहनेकी स्थिति उसमे दृढ रहना यह शब्द कहता है। पारसी—पार्श्वी। पारस–पार्श्व कहते है समीपको, जो समीपवाले की आत्माकी आराधन करे पारसी। सस्कृतमे पार्श्व नाम समीपका है। इस पारसकी बातको माने, अपने अन्दरकी बात देखे जाने उसका नाम पारसी। हिन्दू—हिन्दू जो हिंसासे दूर रहे सो हिन्दू। हिंसासे दूर रहना अथवा विशुद्धज्ञान स्वभावमे समवस्थित होना, विधि व प्रतिषेधमुखेन एक ही आत्मतत्त्वका बोधक है। ऐसे ही धर्मकी किसी भी भूमिकामे वे शब्द रखे जाते जो कि धर्मकी बातको प्रकट करे। निजधर्म करि विशिष्ट यह आत्मस्वरूप भगवान—इस भगवान आत्माके एक क्षेत्रावगाही समस्त आवरणोका क्षय होते ही उस ही क्षण ससारिक ज्ञानकी उत्पत्तिमे जबर्दस्त कारणरूप बनी रहने वाली इन्द्रियोंसे रहित अतीन्द्रिय परम केवल ज्ञानमय हो जाता है।

इन्द्रियोकी परिमित विषयता—ये इन्द्रियाँ इन अस्पष्ट अनर्थ व्यर्थ आदि अनेकविध बोधके उत्पन्न करनेमे आवश्यक कारण हमारे बेहोशपनसे बन रही है जो कैसी इन्द्रिया हैं कि परिमित विषयको ही ग्रहण करे। उन इन्द्रिय रूप आपदासे मुक्त अतीन्द्रिय ज्ञान है। यह जिसके प्रगट हुआ उसके कुछ परोक्ष नही है। इन्द्रियज्ञानमे ही सारी कैद है, इस विषयमे एक दृष्टान्त है—एक मनुष्य अपने ४–५ गामोको जाने वाला था कि विशिष्ट अधिकारीने हुक्म दिया कि तुम एक दिनमे एक ही गाँव जावो और इन ५ प्रतिष्ठित लोगोके ही साथ जा सकोगे। इस दृष्टान्तका प्रयोजन इतना ही है कि देखो उसको अपने काम करनेमे कितनी पराधीनता आई। इसी तरह इस पर्याय मूढ, बाह्यमूढ आत्माको ज्ञानमे कितनी परतन्त्रता है कि बन्धन कह रहा है कि तुम एक बारमे एक ही विषय जानो और अन्तरग बाह्य अनेक कारणोकी समग्रताको साथ पाकर ही जानो। सो देखो भैया! यह मनुष्यभवगत विशिष्ट भी आत्मा इन पाँच ५ इन्द्रियोका आस्रव रखकर जान पाता है। इसमे भी प्रकाश तदुरुस्ती आदि अनेक बाह्य साधन भी अपेक्षित है। इतने पर भी वह एक साथ सब विषयोको नही जान पाता है। जब सुननेका यत्न है तब देखने आदिका नही, इसी तरह ५ विषयोंके बाबत यही

बात है। इन सबका ज्ञान करने वाला यद्यपि आत्मा ही है तथापि निमित्तदृष्टिसे कथन यह हो रहा है।

इन्द्रियज ज्ञानोमें क्रमिकता व परतन्त्रता—शब्द रूप गध रस स्पर्श इनका काम क्रमशः कर्ण चक्षु घ्राण रसना स्पर्शन इन्द्रियाँ कर रही है अर्थात् इन विषयोको क्रम क्रमसे जाननेमे निमित्तस्वरूप काम कर रही है। ये इन्द्रियाँ एक साथ काम करनेको तैयार नही हैं। जल्दी जल्दी जानते है इससे भ्रम हो जाता है कि हम एक साथ कई विषय भोगते। चाहे इसे समझने के लिये तैलमे पकी हुई बेशनकी पूरी भी खाकर देख लो अर्थात् खाई हुई का दृष्टान्त लेकर देखलो। सब इन्द्रियाँ एक साथ ज्ञान करती हुई मालूम होती है। ख्याल हो रहा न ? नाकसे गध भी आ रही है, आँखसे उसे देख भी रहे हो, कानसे चुर्र चुर्र आवाज भी आती है, जीभमें स्वाद भी आ रहा है। कडी कडी भी लग रही है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है परन्तु वहाँ भी बात ऐसी नही है। उन इन्द्रियोका विषय उपयोग इतने जल्दी क्रमसे हो रहा है कि उस क्रमका पता नही रहता। इन पाँचो विषयोका ज्ञान बिल्कुल क्रम से होता है। यह इतना पराधीन हमारा ज्ञान है। हमारी आजादी सारी छीन ली विषय विकारके स्वाद ने। हम जगतमे आशा कर भिखारी रहे आये। परका लक्ष्य करके अपने आपको पतनकी ओर लेते गये परतु यह भगवान आत्मा इन इन्द्रियोसे अतीत है, ऐसे उपयोग मे ये सारी आपदायें समाप्त है। ज्ञान और सुख वहाँ परिपूर्ण है। विषयेच्छुवोको ही यह शका होती है कि जिनके इन्द्रियाँ नही होती उनके ज्ञान और सुख कैसे होगा ? किन्तु भाई इन्द्रिया ही ऐसे अवगुणमूलक है कि जिनकी लपलपीके कारण ही हमारा ज्ञान सुख स्वच्छ पूर्ण प्रकट नही हो पाता।

अतीन्द्रिय ज्ञानमे निर्विकल्प सर्वप्रत्यक्षता—इन्द्रियोसे जो अतीत है—दूर है उनके वह जानना नही मिट गया। जो इन्द्रियाधीन दशाओमे जानते थे, मात्र रागद्वेष नही है तथा उससे अनन्तगुणा और जान रहे है, इसीसे इन्द्रियोके व केवलज्ञानमे जातीयताका भी महान् अन्तर कहा गया है। क्योकि सर्व जानते हुये भी केवलीके वह अनुभव नही जो इन्द्रियोके भोगमे मूढको आता था। वह परिणाम न रहनेसे विषयस्वादी जन ज्ञान और सुखकी कल्पना तक भी केवलीमे नही कर पाता। इस तरह केवली इन्द्रियातीत है फिर भी स्पर्शका ज्ञान, रसका ज्ञान, रूपका ज्ञान, शब्दका ज्ञान जैसे कि अनेक द्रव्य गुण पर्यायो का ज्ञान वैसे ही निर्विकल्पतासे सर्वज्ञके हो ही रहा। अर्थात् सर्वज्ञ अमूर्त सर्व आत्मा अमूर्त धर्म अमूर्त अधर्म अमूर्त आकाश अमूर्त काल अमूर्त पुद्गल—इन सबके गुण अनन्त, इन सबकी अनन्त पर्यायें, भूत, भविष्य वर्तमान सबको केवली विकल्पन करता हुआ जान रहा है। कैसे ज्ञान हो गया ? स्वय ही समस्तरूपसे जैसा पर हैं वैसा अपनेमे ज्ञेयाकार द्वारा परका प्रकाश करता है व

अपना प्रकाश करता है ।

ज्ञानमे स्वपर प्रकाशकता—यहाँ पर भी हम सबका जो ज्ञान है जितने विकासको लिये हुये है, इस ही शैलीसे जान रहा है । जैसे पुस्तकका ज्ञान हुआ कि यह पुस्तक है । सो पुस्तकको जानने वालेके यह घबराहट नही होती कि जिस ज्ञानमे हमने पुस्तक जानी वह ज्ञान सच्चा है कि नही । यदि वहा असन्तोष हो जाय तो इसका निर्णय करना पडेगा । जिस ज्ञानके द्वारा हमने पुस्तकको जाना उस ज्ञानका निर्णय करो तो उसके लिये दूसरा ज्ञान पैदा करो, फिर द्वितीय ज्ञान भी सच्चा है कि नही इसके निर्णयके अर्थ तृतीय ज्ञान पैदा करो, उसको सच्चाईके लिये चौथा—इस तरह एक वस्तुके जाननेको अनगिनते ज्ञानोका सौदा ही करते रहो उन ज्ञानोका ही झगडा नही निपट पायगा । परन्तु यहा तो वस्तुस्वभाव कैसा प्राकृतिक अविरोधी है ? देखो जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञात किया कि यह पुस्तक है उसके ज्ञानका निर्णय स्वय है, चाहे वह ज्ञाता इन शब्दोमे नही कहे कि मेरा पुस्तकका ज्ञान करने वाला ज्ञान ठीक है तो भी वह समझता है कि ज्ञान ठीक है । यदि किसी ने कहा कि पुस्तक नही तो यह भी अवश्य कह देता कि मेरा ज्ञान ठीक है । ज्ञाताको दोनो जगहकी दृढताका निर्णय एक ज्ञानपरिणतिमे है । जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह भी ठीक और जिस वस्तुको जाना वह भी ठीक, अत ज्ञान स्वपरप्रकाशक है । जैसे दर्पणका यह स्वभाव है कि अपने आपकी भी झलक और प्रतिबिम्बकी भी झलक रख रहा । तात्पर्य–जैसे दर्पणमे ये दोनो चीजे है कि अपनी झलक भी रखता है और बाह्यकी झलक भी रखता, इसी तरह ज्ञानमे भी स्वतन्त्रता है कि अपना प्रकाश भी रखता है और परका प्रकाश भी करता है । ऐसा ज्ञान स्वभावत. व्यापक है । केवलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद कोई शक्ति ऐसी नही है कि जो उसे ढक सके । केवलज्ञान जैसी सर्वज्ञता—यदि यह केवलज्ञान विकसित है तो ज्ञानावरण आदि कोई वर्ग उसका आवरण करनेमे समर्थ नही ।

ज्ञानस्वभावकी सिद्धि—कल एक प्रश्न आया था कि वह ज्ञान स्वभाव क्या है जो कि सामान्य स्वरूप है, जिसकी केवलज्ञान मतिज्ञानादि अवस्थामात्र है । अच्छा ! देखो यह अगुली है इस समय सीधी है, अब अर्ध वक्र हुई है, अब टेढी हुई, अब मुट्ठीमे बना दी गई । सारी दशा इसमे होती है परन्तु जिसकी यह सारी दशायें होती हैं ऐसी यह एक दृष्टान्ताभिमत ध्रुव हर दशामे एक है, हर दशाओमे अगुली सामान्यपर दृष्टि डालकर देखो जिसकी ये दशायें हो रही है वह एकरूप बुद्धिमे मालूम पडती है । इसी तरहसे जिस ज्ञानस्वभावकी ये सारी तरङ्ग चल रही है मिथ्यात्वमे, मिथ्याज्ञान सम्यक्त्वमे सम्यग्ज्ञान, मति श्रुत आदि, देखो इन सारी तरगोमे अनादिसे रहा हुआ जो अनन्त काल तक भी रहेगा वह ज्ञानसामान्य है । जैसे प्रत्येक पर्यायमे वही वही एक द्रव्य है, द्रव्य अभेद विवक्षासे गुणभेद विवक्षासे है ।

अच्छी तरहसे सोचलें—कोई पर्याय है वह किसीकी अवस्था ही तो है जब वह अवस्था न रही तो उसकी दूसरी अवस्था हो गई, ऐसे सर्व अवस्थावोका अधिष्ठान तो एक ही है। जब जिन व्यक्तियोमे उसका विकास होता है तब यह कहा जाता है कि इसकी पर्यायका विकास है। ज्ञानसामान्यमे शक्ति विकासका प्रश्न ही नही। यदि मानो सर्व पर्यायोमे अनुगत जो एक तत्त्व है वह शक्तिरूप है तो इसकी एक विवक्षित पर्यायकी शक्तिरूप ही ज्ञानसामान्य नही होता या कहेगे कि सर्वपर्यायकी शक्ति। तो सर्व पर्यायकी शक्तियाँ क्या है वह तो एक शक्ति-मय है अत. शक्तिसामान्य कहलो। वस्तुत शक्ति रूप भेद तथा उसके विकासका भेद मिटा कर सब पर्यायमे अनुगत जिसकी यह तरङ्ग चल रही है वह तत्त्व देखो। जैसा यहा अगुलीमे स्थिर या वक्र आदि देखनेमे जो अच्छी तरहसे आये, यद्यपि उनसे अतिरिक्त नेत्रसे हमे कुछ नही दीखता तो भी उसे न देखो, ज्ञाननेत्रसे जिसकी ये सब अवस्थाये हो उस अगुलिमात्रको निरखो। उसके निरखनेमे जरा कठिनता है। आपको डरसा भी लगेगा कही समाप्ति प्रलयकी बात तो नही हो जायगी। ऐसी अगुलि हम आपसे कहेगे कि टेढी न देखो न सीधी, केवल अगुली देखो तो कठिनाई होगी। फिर आप कहेगे कैसे देखे ? तो ज्ञानसे ही यह समझ जावे। जब टेढी थी तब सत्। जब सीधी है तब भी वह सत्—वही अगुलि, अन्तरसे देखो। भैया ! यहाँ अगुलिका दृष्टान्तमात्र लिया है वैसे तो अगुलि भी पर्याय ही है। इसी तरह ज्ञानको पर्यायदृष्टि न डालकर देखो अर्थात् जिसकी अवस्था है वह है पर्याय।

आत्मस्वभावके दर्शनसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ—आचार्यदेव कहना है कि जीवके ससारमे भ्रमते-भ्रमते परपदार्थोका लक्ष्य करके अनन्त भव गुजर गये, परन्तु इस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका दर्शन नही किया। वैभव पर है, दूसरे आत्मा पर है, जिस शरीरमे अधिष्ठित है वह पर है। परका क्या सुधार बिगाड करेगा ? द्रव्यकर्मका भी तू सुधार बिगाड करने वाला नही। उनकी सयोगाधीन दृष्टि को छोड। वस्तुस्वरूपको देख। अच्छा और परीक्षा कर द्रव्य कर्मको निमित्त पाकर जो रागद्वेषादि विकृत तरङ्ग होती है वह भी पर है कदाचित् आवरणके क्षयोपशमवश जो आत्मामे अल्प अल्प, अपूर्व ज्ञान प्रकट होते हैं ऐसा ज्ञानविकास भी पर है क्योकि तू तो ध्रुव है। इन सब परद्रव्य परभावोसे अतीत भी ज्ञानका पूर्ण विकास शुद्ध तरङ्ग, अहो यह भी मैं नही, आत्मस्वभाव नही यह तो सादि पर्याय है। तब सब भेदोसे अतीत सब पर्यायोमे रहता रहने वाला जो ज्ञानसामान्य है जो दिखता तो नही परन्तु प्रज्ञासे ग्रहण किया जाता है उसे अनुभूत करो। धर्मके नाम पर अनेक लडाइया या व्यायाम करते हो, करलो परन्तु जिसके अन्तरमे शुद्ध ज्ञानभावका लक्ष्यमात्र भी नही हुआ तो कुछ भी कष्ट सह लो, कोई त्याग नही किया उल्टा विकल्पका परिग्रह ही रखा। हाँ विकल्पोकी जातिमे भेददृष्टिसे अन्तर हुआ, मोक्षमार्ग नही हुआ।

स्वयकी धर्मरूपता—निज अन्तरमे इस ज्ञानस्वभावको देखो—यह धर्मकी मूर्ति यही बिराजमान है, यह आत्मा ही धर्मरूप है। भगवानकी पूजा तो अपने पाप मिटानेके लिये है, भगवान्के स्वरूपका दर्शन अपने दु:खको मिटानेके लिये है। कही भगवान अपने रिश्तेदार या कुटुम्बी नही है जैसे कि यहाँ लोग कहा करते दादा बाबा आदि तो हमारे भगवान् दादा आदि कोई नही। वह तो साक्षी ज्ञाता द्रष्टा शुद्ध परमात्मा है। हम भी वैसे ही द्रव्य है। कोई हमारा ऐसा ठेका नही कि हम उसकी पूजा करते रहे और वे पुजते रहे! किन्तु है क्या? कहते हैं—भगवान्! जितने भव्य जीव आपकी शरणमे आते हैं वे आपके स्नेहसे नही आते क्योकि यदि स्नेहसे आवें, स्नेहके लिये आवे तो घरके पुत्रादिने क्या बिगाडा? वे सब ज्ञानी स्नेहसे आपके पास नही आते—आपकी जो पूजा वदना आदि करते है वे भव्य जीव आपके स्नेहसे या स्नेहके लिये नही करते, तो भगवान् मानो पूछते हैं कि फिर आते ही क्यो है? हमसे स्नह नही तो आते क्यो हो? तो भगवान् हमको निरुत्तर नही कर सकते, क्योकि भगवान्के शासनका ही शिष्य हू। हे भगवन! आपकी शरणमे आनेका कारण एक है वह क्या है? यह सारा ससार दु:खोसे भरा है। इस ससाररूपी दावानलमे जल रहे है लोग। ऐसे इस दु:खसे विह्वल होकर ससारसे भयभीत होकर उनको कोई सहारा नही दीखता इस दु:खसे बचनेके वास्ते। इसलिये भगवान जब कोई सहारा ही नही मिलता–दीखता इस ज्ञानी अवशिष्ट दु:खी को तो वह आपके गुण स्मरण रूप छायामे आ ही जाता और वह करता भी कुछ शातिका अनुभव।

भगवच्छरणग्रहणका प्रयोजन—जैसे कि कोई नगे पैर नगे सिर दोपहरीको ग्रैष्म धूपमे किसी सडक पर किसी ग्रामकी यात्राके निमित्त जा रहा हो। तब उसकी स्थितिको विचारो–पैर जल रहे है, सिर भी जल रहा है, कडी धूप भी लग रही है तथा रास्तेमे उस धूपको बर्दाश्त न कर सकने के कारण उपायकी खोजमे भी चित्त व्यायाम कर रहा है। उसे पासमे एक वृक्ष मिल गया तो वृक्षके नीचे छायामे पहुच गया। वहाँ कुछ समय ठहर गया। उसके भावको देखो, क्या वह वृक्षके प्रेमसे वृक्षके नीचे गया? वृक्षके प्रेमसे नही गया क्योकि थोडी देर बाद ही वृक्षको छोड देनेकी मनमे है और छोडेगा भी ऐसा कि फिर पीछे मुडकर देखेगा भी नही वृक्षको। फिर क्यो गया? वह यात्री कडाके की गर्मीको न सह सकनेके कारण सहायमात्र—आश्रयमात्र देखता था। अन्य कोई सहारा तो दीखा नही सतापको मिटानेका। यह ही दिखा सो वृक्षके नीचे छायामे पहुच गया। उसने शाति भी कुछ पाई। देखो भैया यह छाया भी उस ही पुरुषकी अवस्था है जो उस पुरुष पर है उसमे वृक्ष निमित्त-मात्र है। हाँ तो इस स्थितिमे आया वह। यदि वह वृक्षकी छायामे वृक्षके प्रेमसे गया होता तो वृक्षके नीचे ही उसे बैठे रहना चाहिये परन्तु २–३ घण्टे व्यतीत होते ही गर्मी कम होने

पर वृक्षको छोडकर आगे बढ जाता है। इसी प्रकार गतिके वैभाविक दुःखोंको न सह सकने वाले और आत्माके ज्ञानस्वभावको देख लेने वाले जो ज्ञानी है उन्हे यह बडी विपदा मालूम मालूम होती है। विषय कषायोमे सताप ही प्रतीत होता है। यह रागद्वेषके भावोमे लगनेका साधन है, इसका फल दु ख ही है। उन्हे ये बडे-बडे वैभव दुःख मालूम हो रहे है। उनमे यह नही फसना चाहता और विपदायें तो दुःख है ही। वह ससार–विभावके दु खसे सतप्त है, अत. शाँतिके लिये ही उद्योग करता है सो उसे मात्र शान्त आत्माके अतिरिक्त कही शातिका स्वरूप भी नजर नही आता। अतः शात शुद्ध आत्माके गुणस्मरण रूप छायामे विश्राम करता है।

गुणस्मरणरूप छाया किसकी—देखो भैया! यह गुणस्मरण रूप अवस्था उसही भव्यकी है उसमे आश्रयमात्र परमात्मा है। हाँ तो इस स्थितिमे आया वह। इस प्रकार ज्ञानी भगवान्की शरणको प्राप्त होते है। घरका सहारा लो, वहाँ भी कोई तत्त्व नही दीखता तो छोडो नेहको। किसका सहारा लू ? मित्रका लो, राजाका लो, कही भी इसे सहारा नजर नही आता। तो जैसे अपने ज्ञानस्वभावसे देखा ऐसा ज्ञान स्वभाव जिनमे प्रकट हो गया उस स्वरूपके स्मरण करने रूप छायाका उसे सहारा हो जाता है। हे भगवन्! यदि स्नेहसे भव्यजन आपके पास आये होते उन्हे भगवान्का स्मरण ही सदा ही करते रहना चाहिये था, उन्हीके पास सदा बना रहना चाहिये था, अनन्तकाल तक माथा ही रगडते रहना चाहिये था परन्तु ज्ञानके स्वभावसे सोचना—जरा कर्म शाँत हुए, शुद्धोपयोगका मार्ग मिला शुद्धतत्त्वके लक्ष्यको बनानेकी प्रक्रिया पर निर्विकल्प ध्यान हो गया तब उस भक्तिरूप वृक्षको छोडकर निर्विकल्पतत्त्वमे समा जाते है। यदि भगवान्के स्नेहसे भगवानकी पूजा की होती तो अनन्त-काल इस तरह जैसा पकडे रहनेकी भावना करते ? नही करते। जब ही विकल्पका दु.ख आत्मामे आता है तो भगवानके स्मरणकी छायामे पहुचते और जहाँ विकल्पकी गर्मी कम हुई तो गुणस्मरण रूप छायाको छोडकर निर्विकल्प स्वरूपमे स्थित हो जाते। देखो भैया! गुणस्मरणरूप छाया उसही भक्त पुरुषकी है उसमे परमात्मा तो विषयमात्र निमित्त है। तत्त्वस्वरूपको ठीक निरखना चाहिये। भगवानने जो कहा वही कहा जा रहा है।

प्रभुभक्ति द्वारा निर्भार होनेका अनुभव—आत्मसम्बोधनमे मेरे एक कल्पना हुई, जो अब आत्मसम्बोधनके भक्तिप्रकरणमे निबद्ध है कि हे नाथ! मैने अपना सर्व भविष्य आपको सौप दिया, मुझे अब क्या परवाह ? हाँ यदि मेरा पर्याय अशुद्ध झलका हो तो यह आपकी अशुद्धता मिट जावे। क्या मतलब ? भगवान् अशुद्ध नही परन्तु भगवान्के ज्ञानमे, हम यह सोचते है कि यह अशुद्ध पदार्थ ज्ञेयाकारसे पडा है तो वह झलक अशुद्ध तो उनके ज्ञानमे आ गया। तब देखो—अपने निमित्तसे भगवानको हम किस स्थितिमे छोड रहे है ? जहाँ यह

अशुद्ध झलक है, झलवसे आगेकी वात नही सोचना, सिर्फ उस दृष्टिकी वात जो भगवानके ज्ञानको ऐसी ज्ञानपर्याय रखना हो रही है। मै तो बडेका सहारा पाकर निश्चित हू, अब तो कुछ कह लो तो यह व्यथा है कि मेरे निमित्त भगवान्के ज्ञानमे इस प्रकार अशुद्धता न रहे। मेरे विषयक अशुद्ध ज्ञेय भगवानमे न झलके, इसका मतलव तो सही ही हो गया। यह भगवान्की भक्ति है। कही अशुद्ध पर्याय विषयक अशुद्ध ज्ञेय भगवान्के ज्ञानमे झलकता रहे तो केवली भगवानके हमारे जैसी बात नही होती, हमारा जैसा अनुराग उन्हे नही छूता। फिर भी भक्तकी भक्ति है। मानो ऐसी वात हो हमे तो भगवान् तुम्हारे भलेके वास्ते अनुराग रहा। जो ज्ञाताके स्वभावमे प्राप्त है भगवान्मे ऐसा अनन्य हो जाता है उसके लिये सारी वाते साफ हो जाती है। यो तो मेरी अशुद्ध पर्याय मिटने पर भी भगवानके ज्ञानमे तो वह झलकती ही रहेगी क्योकि ये वर्तमान मात्रको ही जाने ऐसा नही है और न ऐसा भी है कि केवली यह छाटनेका रोजगार करते रहे कि यह भूतमे पर्याय चली गई, अब यह वर्तमानमे आ गई आदि, फिर भी जिस क्रमसे पर्याय है उस क्रमसे व्यवस्थित पर्यायोको जानते हैं।

शुद्ध ज्ञानमे पदार्थोंकी अनिवार्य ज्ञेयता—हाँ तो ऐसा जो भगवान् आत्मा शुद्ध व स्वच्छ · जिनके लगा तार सदृश ज्ञान तरग शुद्ध प्रकट हो गये ऐसे उस आत्माके ऐसी उस ज्ञानपर्यायमे यह समस्त त्रिलोकवर्ती त्रैकालिक ज्ञेय एक साथ प्रकट प्रकाशमान होते हैं, क्यो कि ज्ञान स्वच्छ है। स्वभाव कार्य बिना खाली नही रहता। सन्दूकमे दर्पण रखा है तो यहाँ ही जो सामने है उसे झलकाता, वाहर निकालकर रखो तो ये सव पदार्थ एकदम झलक रूप हमला कर देते है। इसी कुछ प्रकारसे ज्ञानमे देखो, ज्ञान पर आवरण हो तो भी यह ज्ञान कुछ जानता और जब निरावरण हो जाता, तब वहाँ विश्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव सर्व रूपसे ज्ञेयहो जाता है। कही पदार्थ ऐसा हमला नही करते है कि अपना कुछ खो बैठे और दूसरे मे कुछ घटा देवें। परन्तु देखो तो जितना नाटक यहा हो रहा है वहा भी झलक रहा है, मानो उस सारे विश्वकी स्थिति दोनो जगह हो गई। तथा जैसे एक साथ ज्ञानमे द्रव्य ज्ञेय होता है वैसे क्षेत्र, काल, भाव भी। इसलिये जगत्का कोई भी तत्त्व उनके लिये परोक्ष नही रहता।· यहा ज्ञानका स्वभाव बतलाया कि भक्ति चल ही रही है जिसमे ज्ञानका स्वरूप बताया जा रहा है कि स्वरूप ऐसा है वहा लक्ष्य हो रहा है। इस ज्ञानके अन्दर जगत्का जो न आये वह कोई रूपसे नही होता अर्थात् असत् है कैसा ऐश्वर्य है मानो कहा जा रहा हो कि जो इस ज्ञानके दरबारमे न आवेगा उसकी सत्ता नही रहेगी। जैसे कि यहा ऐसा कहा जाय कि जो राजदरबारमे न आवेगा उसके घरबार सबको नष्ट भ्रष्ट कर दिया जायगा ऐसा राजका हुक्म हो तब वैसा ही यहा स्वाभाविक हुक्म है कि जो सर्वज्ञके ज्ञानमे न आया उसकी सत्ता नही। जिनको अपनी सत्ता रखनी हो वे ज्ञानमे पहुचे। न कोई पहुचने वाला

ग्रौर न कोई पहुचाने वाला । वहाँकी परिस्थिति जाननेके लिये चीज मात्र है ।

इन्द्रियज ज्ञान ग्रौर ग्रतीन्द्रिय ज्ञानमें ग्रन्तर—भगवानके ज्ञानमे, जो भी सत् है, पर्यायमे था, है, होगा, सब ज्ञेय है । इस प्रकारका लगातार ज्ञानतरग होता रहता है ऐसे शुद्ध ग्रात्माके कोई भी परोक्ष नही रहता । कहाँ तो इन्द्रियजज्ञानी ग्रौर कहा ग्रतीन्द्रिय स्वभाव वाले परमात्मा । कहा तो इन्द्रियोके सभाले वह ग्रौर कहा जो ग्रतीन्द्रिय हो गये, मात्र शुद्ध तरगकी सभली संभलाई सभाल जिनके है वह, देखो इन दोनोमे कितना ग्रतर है ? जैसे लोग कह देते जमीन ग्रासमान बराबर ग्रन्तर । ग्रसमान कहते किसे है ? जो समान न होवे वह ग्रसमान, ग्रासमान जो ग्रपनेमे चारो ग्रोरसे समान होवे वह । इस तरह इन्द्रियजज्ञानी कैसे ग्रतीन्द्रियकी बराबरी करे वह तो जमीनकी तरह नीचे है, ग्रतीन्द्रियज्ञानी ग्रासमान है ग्रौर ससारी विषय है । फिर भी द्रव्यको देखो ग्रासमान है, जो भगवान है सो मै हू । पर्याय दृष्टिसे ही उक्त महान् ग्रन्तर है । जिस भव्यने परसे ग्रपना लक्ष्य हटाया ऐसा ग्रात्मशक्ति मय ग्रात्मा इस द्रव्यसधिको बनाकर समीप ग्राता है तो वह परमात्मा हो जाता है । जैसे दीपकके पासमे पहुचा हुग्रा तेल दीपक बन जाता है । लौ के पास पहुची हुई बत्ती दीपक बन जाती है, इसी तरहसे शुद्ध ग्रात्माके गुणके पास पहुचा हुग्रा ग्रात्मा शुद्ध बन जाता है ग्रोर जैसे जगलके बासोमे रगड पहुचते ही ग्राग पैदा हो जाती है इसी तरह निज शुद्धस्वभाव ग्रात्माकी ग्राराधनासे शुद्धात्मत्व प्रकट हो जाता है । समस्त ग्रात्मा ग्रौर शुद्ध परमात्माके स्वरूपमे कोई ग्रन्तर नही है । व्यक्तिका भेद है । मै वह हू जो हे भगवान । जो मै हू वह है भगवान ।। ग्राप तो ग्रपने स्वरूपका निर्णय करो भैया ! ग्रोर भगवानके स्वरूपके निर्णयकी व्यवस्था कीजिये, यह ज्ञानी जीवकी कला है ।

ग्रात्मनिर्णय—ग्रपने ग्रापका जिसने निर्णय नही किया, ग्रपने ग्रापको जिसने नही समझा कितना ही बाह्य क्षेत्रमे परमात्मामे देखे, निजस्वरूप समझने मे न ग्रा पावेगा । वह तो ग्रपने ग्रापके ग्रनुभवमे दिख पाता । जिसने ग्रपने स्वभावको न देखा, ग्रपने स्वरूपका जिसने ग्रनुभव नही किया वह कितनी ही ग्रांख गडाकर परक्षेत्रमे भगवान देखे स्वरूपकी समझ होगी ही नही । ग्रापको ग्रपना स्वरूप समझमे ग्राया तब भगवानका स्वरूप समझमे ग्रायगा । तब हृदय बोलता है ग्रात्माका प्रतिनिधि बन कर मै वह हूं जो है भगवान, जो मै हू वह है भगवान । यहा विनय रखा है कि पहिले भगवानसे ग्रपनी उपमा की, फिर ग्रपने स्वभावसे भगवानकी उपमा की ।

ऊपरी ग्रन्तर—ग्रन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यह रागवितान ।। ग्रन्तर यहाँ वही है जो कि ऊपरी है । ऊपरी क्यो है तो देखो भैया ! २१ वी गाथाकी पक्ति परसो पढी थी, उसने तो ज्ञानस्वभावके ऊपर केवलज्ञान जैसी शुद्ध पर्यायका प्रवेश बतलाया । कहा था

कि अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे स्वीकार करके उसपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्मा स्वय परिणमता है । उस ज्ञानस्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञानको बताया । फिर जहाँ ज्ञानस्वभावसे अनुरूप होने वाली पर्यायके विषयमे भी स्वरूपकी दृष्टिसे स्वभावपर प्रवेश ही कहा वहा आत्मामे यह राग अन्तरमे हो जायगा क्या ? स्वरूपकी चीज हो जायगी क्या ? स्वरूपकी वस्तु बन जायगी क्या ? नही । अन्तर यही ऊपरो जान । ज्ञान सामान्य स्वभावके भीतरमे यह बात नही है इसलिये ऊपरी अन्तर है । क्या अन्तर है ? वे विराग यह रागवितान—शब्दका भाव यह है मैं राग नही हू किन्तु यहाँ रागका फैलाव है यह स्वभावसे रागवितान नही है । किन्तु यह जो आत्मा है, इन प्रदेशो मे वर्तमान रागका प्रसार है । विशेषतया आत्मामे ज्ञानस्वभाव, श्रद्धास्वभाव, चरित्रस्वभाव आदि अनत शक्ति है । सामान्यतया सर्व ज्ञानद्वारा अनुभूत होनेसे ज्ञानस्वभाव है तब जैसे ज्ञान शक्तिके ऊपर ज्ञानतरगका प्रवेश है वैसे उसही आधारमे चारित्रगुणके ऊपर वह रागप्रसार है । अब अभेद दृष्टिसे देखो चारित्र भी आत्मा ही है तब द्रव्यकी ओरसे कहा गया कि इस आत्मापर रागवितान है । ऐसा मानो कि मैं हू, परिणमता हू और प्रत्येक वर्तमान क्षण-मात्रमे एक ही तरग हू जिसकी तरग वह तो मै सामान्य स्वरूप है और जो तरग है वह व्यतिरेकी अन्य रही । तब जैसे एक मकान वह तो वहाँ ही है परन्तु आदमी आये और गये । एक दृष्टिकोणमे इसी तरह यह आत्मा सामान्य है और इसमे क्रोध आदि राग द्वेष आदि आये और गये, आये व गये । इसलिये यह रागवितान कहा है । परन्तु यह रागवितान इतना ही ऊपरी है । यदि रागस्वभावके भीतर आये तो फिर विरागता ही नही हो सक्ती। स्वभावमे औपाधिक भाव न आ जाये ऐसी ही द्रव्यकी द्रव्यता है ।

भगवद्भक्तिमे माधुर्य—भगवानके स्वरूपका स्मरण करने वाला भेदविज्ञानी व अभेद विज्ञानी अपने स्वरूपकी ओर, अपने भगवानके स्वरूपकी ओर दृष्टि करता हुआ भगवानसे अलग ही स्वमे आनन्द लिये हुए है । प्रत्येक जीव अपनी मानी हुई स्थितिमे आनन्द पाता है । जो स्वाभाविक स्थितिको अपनी समझे वह ज्ञानी है वह सहज आनद पाता है और जो वैभाविक स्थितिको अपनी समझे वह अज्ञानी है और आकुलतामय शान्त आनन्द मानता है । यो तो लोकमे भी कहा करते है, कोई कहता दधि मधुर है, कोई कहता शक्कर मधुर है, कोई कहता दाख मधुर है जिसका जहाँ मन लगा वह उसको मधुर कहता है । वस्तुत सहजज्ञानका सवेदन ही मधुर है । बाह्य भ्रमात्मक मधुरता तो विषय प्रसगकी बात है, अत जिसका जिस विषयमे मन लग गया उसको वही मीठा है । परन्तु ज्ञानकी बात तो निरपेक्ष है । जिसका भगवत् स्वरूपमे मन लग गया उसे भगवत्स्मरण ही मधुर है । इस मधुर स्थितिमे सत्यमधुरका निर्णय करलो । यह अकेलेका ही काम है निरपेक्ष काम है । भगवद्स्मरण निजशुद्धात्मचिन्तत

रूप आनन्द होता यह अकेले मेरा ही काम है, परिणमन है। इनमे पुत्र मित्रादि कोई साथ नही दे सकते।

सहजपरिणमन एक मात्र कृत्य—यह सहजपरिणमन अंतरग बाह्य सर्वत्र एकका ही काम है। परका इसमे भार नही। परन्तु जगतके जितने भी सुखविकार भार रखते है। इतने साधन चाहे, ऐसी इन्द्रिया चाहे, ऐसा लोक चाहे, अनेक प्रकारकी वहा परतन्त्रता है। फिर भी मिटता है और आकुलता रखता है। यदि विषयसुखसाधन प्रयोग सदा मनचाहे मिलते होते किञ्चित् भी अन्तर न आता, न दैहिक मानसिक आदि दुर्बलतायें न आती तो ऐसी प्ररूपणा हो सकती है कि आत्माका धर्म व सुखमार्ग विषयसेवन है। ऐसा कहना सकोचका भी काम न था, क्योकि आचार्यदेवको तो प्रयोजन यह है कि किसी प्रकार प्राणी शाश्वत सुखी हो जाय। यदि ससारमे विषय सुख साधन आदि शाश्वत रहे, एकरूपमे रहे निरतर बना रहे, शक्तिकी प्रबलता बनाये रहे, पूर्व आनन्द रखे रहे तो लो ऐसा ही करना धर्म है। क्या हर्ज था ? परन्तु विषय सुख तो क्षणिक है, पराधीन है, वहा सुखका नाम भी नही, विषयाभिलाप विषयानद अधर्म ही है। इसलिये जगत्के ये पदार्थ जिनको आश्रय बना कर मोह नाचता है जरा विचार करो, कुछ इष्टसे लगते ही उनमे न दौडो, अपनी शान्तिके मार्गका निर्णय करो। देखो अहो परकी इच्छामे ही सारा ज्ञान खो दिया, अपना स्वरूप बिगाड लिया। अपने आपके स्वरूपका निर्णय करो, अधिक समय लगाओ विचारमे। इसका निरपेक्ष स्वयका भाव क्या है ? अपने चरित्रके लिये पथगमनके लिये अपने निरपेक्ष स्वरूपका निर्णय करो, अपने ज्ञातृस्वभाव को पहिचानो। इसके पहिचाननेके अनन्तर ही यह बुद्धि जागेगी कि यहा मेरा ज्ञानस्वभाव विकसित होगा। नही तो जगतके जितने भी पदार्थ है यदि उनमें राग हो तो ज्ञान न जागेगा। कोई कहे कि परिवारको ठीक करके सन्यास लूगा तो यह बहानामात्र है। जो इनमे बोलता है लगता है वह फसता ही जाता है। अत भैया सर्व उपद्रवोसे बुद्धि हटावो, परमात्मस्वरूपको देखो। विशुद्ध दर्शनज्ञानस्वभावी निज परमात्मद्रव्य मे रुचि करो, स्थिर होओ।

ज्ञानकी ज्ञेयप्रमाणताका उपोद्घाटन—अब उस आत्माके प्रमाण आदिके विषयमे वर्णन करते है। आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है, इस प्रकार ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध करते है। ज्ञानकी दृष्टिमे आत्माको देखनेपर निर्विकल्पकताका मार्ग मिलता है, आत्मामे रहने वाले अन्य गुणोकी दृष्टिमे नही। निर्विकल्पता ध्यानका जहाँ वर्णन किया गया व स्वरूपाचरण चारित्रका जहाँ वर्णन किया गया वहाँ यह बात स्पष्ट कही गई है कि यह स्थिति वह है जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय वही एक है अथवा जहा ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयमे कोई भेद नही रहता जिस ज्ञानने ज्ञानकी स्थितिको ही जाननेका काम किया उस ज्ञानका ज्ञेय वही ज्ञान हो जात

है। इसके लिये ज्ञप्ति क्रियामे स्थिति जैसे आत्माका ध्यान हो वहाँ निर्विकल्पताका मार्ग मिलता ही है। यही कारण है कि आत्मामे अनन्त गुण होनेपर भी ज्ञानका वर्णन शास्त्रोंमे अधिकतया मिलता एव वही असाधारण लक्षण कहा गया है। मानो मालूम होता है कि ज्ञानकी सिद्धिके ही वास्ते अन्य गुण है, आत्मद्रव्य एक चैतन्यपुञ्ज है, उस चैतन्य गुणकी सेवामे ही मानो अनन्तगुण है। वे अनन्तगुण आत्माकी सिद्धिके लिये है। मानो इस पद्धतिसे उन अनन्तगुणोका समूह एक आत्मा है और आत्मा ज्ञानस्वभाव है। इस कारणसे अनन्त ज्ञानका प्रयोजन ज्ञानस्वभावकी आत्माकी सिद्धि है, इसलिये ज्ञानकी दृष्टिमे आत्माको देखा जा रहा है कि आत्मा कितना बडा है? आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान कितना बड़ा है? ज्ञान सर्वव्यापक है। इस बातको उद्योतयति अर्थात् प्रकाशित करते है, चमकाते हैं, तात्पर्य कहते है। उद्योतन करना तभी बनता है जब यह बात निज गुणके प्रकाशमे दृष्ट हो और बाह्यका भी प्रकाश देखा जा रहा हो। इस बातके वर्णनका प्रकाश करना वह जिस आत्मामे लक्ष्य है, उसी तरहका जिनको अनुभव है उनके कहनेका नाम उद्योतन करना है। देखो जैसे कहनेके अनेक शब्द है—कहता है, बोलता है, वकता है, भाषण करता है, व्याख्या करता है, हुवाता है, आलोचना करता है उद्योतन करता है आदि पर इन सबमे सूक्ष्मभाव एक नही है। इनके अर्थ अनेक है। जैसे–वक्ता है—निःसार कहता है, सुनने वाले सामने हो तो कहा जाता—बोलता है, भाषण करता है, स्पष्ट करके बोलता है, व्याख्या करता है, कोई एक विषयके आश्रयमे विवरण करता है, आलोचना करता है, गुण दोष दृष्टियोंके स्वरूप रखता है, आदि आदि। यहाँ उद्योतयति शब्द है, उद्योतयतिका अर्थ है—प्रकाश करता है ऐसे कहने का नाम जिसमे कुछ भी अनुभव करता है और वर्णन करता है। तब यहाँ आत्मा जो है ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है, इस प्रकारका वर्णन करते है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

द्रव्यकी गुणपर्यायप्रमाणता—आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है। इसलिये ज्ञान भी सर्वगत है। आत्मा गुणपर्यायके सम है ऐसा कहा, तब आत्मा ही क्या सर्व ही द्रव्य प्रत्येक अपने अपने गुणपर्यायके बराबर हैं। जितने गुण हैं जितनी पर्यायें हैं उन सबका जो समूह है वह द्रव्य है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि तब क्या द्रव्य एक समयमे नही होता? एक समयमे द्रव्य है परन्तु द्रव्य कितना होता, कबसे रहता, कब तक रहता? इन सब बातोका स्पष्टीकरण करने वाला उक्त परिभाषण है। जितनी पर्यायें हैं उनका समुदाय द्रव्य है। परन्तु प्रतिवर्तमानमे जो सामान्य रूपसे रह रहा वह द्रव्य नही है, इसका खडन नही है। किन्तु यह द्रव्य वर्तमानमात्र ही न रह जाय, आगे

रहने वाला है अनादिसे रहने वाला है— यह बात इसके रहती ही है, इसलिये अनतपर्याय जितना है वह एक द्रव्य है, वह अनतगुणोका समुदाय एक द्रव्य है, द्रव्य खंड रूप नही है, कभी पैदा हो कभी नष्ट हो जाय ऐसी भी व्यवस्था नही है। इसी हेतु यह सिद्ध है प्राकृतिक है कि द्रव्य गुण पर्यायके समान है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी ज्ञानप्रमाणताकी सिद्धि—अब कोई दृष्टि बनाकर आमका दृष्टान्त लो, उसे रूपकी दृष्टिसे देखो तो आम रूपमात्र है। यह रूपमुखेन वर्णन है। तब आम रूपप्रमाण है। उसे सूघें तो ज्ञान तो आपको आमका ही होगा किन्तु गधमुखेन होता है, वहाँ आम गध प्रमाण है। इस तरह जब रसनेन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव होगा जहाँ आमके स्वाद रसका ही बोध है वहाँ आम तो जाना परन्तु वह आम रस प्रमाण है ऐसा अनुभव रहा। जिस समय आप अधेरेमे आमको टटोल कर परीक्षण करते है तब आपको आम लगेगा—इतने आकार वाला ऐसा है, वहाँ आम स्पर्श आकार प्रमाण है। जिस गुणकी दृष्टिमे देखते है द्रव्य उस गुणरूप मालूम होता है। इस समय आत्मा अपने प्रधानगुण ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखा जा रहा है तो आत्मा ज्ञानप्रमाण है। आत्माको प्रदेश सयुक्त दृष्टिसे नही देखना, नही तो यह प्रकरण समझमे नही आवेगा कि वह प्रकरण किस बातको सिद्ध करनेके लिये है ? प्रदेशोकी दृष्टिसे न लेकर ज्ञानदृष्टिसे आत्माको देखने के लिये कहा गया है—आत्मा ज्ञानप्रमाण है।

यदि यह आत्मा ज्ञान प्रमाणसे कुछ कम मानो तो देखो विडम्बना। ज्ञान तो रहा बडा और आत्मा रहा छोटा तो इस आत्मासे बाहरका ज्ञान तो आत्मासे निराधार रहा अर्थात् ज्ञान तो रहा बडा और आत्मा रहा उससे कम तो आत्मासे बाहरका जितना ज्ञान है वह तो आत्माके आधारसे रहित रहा। जो ज्ञान निराधार है, चेतन द्रव्यके ससर्गको नही लिये हुए है तो वह नामका ज्ञान अज्ञान अचेतन हो गया। इसी तरह यदि ज्ञानसे अधिक आत्मा मानो अर्थात् आत्मासे कम ज्ञान मानो तो वह विडम्बना देखो! ज्ञान तो रहा छोटा और आत्मा रहा बडा। अब ज्ञानसे बाहरका जो आत्मा है वह ज्ञानशून्य रहा और जिसमे ज्ञान नही वह आत्मा नही। तब अधसूखे वृक्ष जैसा केवली हो जायगा कि आधा है हरा, आधा है सूखा कि आधा आत्मा ज्ञानवान है और आधा ज्ञानरहित है। जो ज्ञानरहित है उस आत्माकी शुद्धि क्या तथा वह तो दो द्रव्य हो गया ? जो तर्कसे बिल्कुल विरुद्ध है इसलिये आत्मा ज्ञानप्रमाण है। उसको न जरा कम समझो, न ज्यादह समझो ज्ञानसे। यह ज्ञानदृष्टि से वर्णन चल रहा है। ज्ञानके साथ न तो आत्मा हीन रूप परिणमता है और न अधिक विस्तार लेकर, अत आत्मा ज्ञानप्रमाण है।

ज्ञानमे ज्ञेयप्रमाणताकी सिद्धि—आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है परन्तु ज्ञान कितना बडा है यह तो बतलाओ, देखो जैसे दो हाथ लम्बी लकडीमे आग लगी, सारी लकडीमे आग लग रही

है । कोई पूछे वह आग कितनी बडी है तो कहेगे आग इस लकडीके प्रमाण है दो हाथ लम्बी आग है, परन्तु यहाँ आगका स्वरूप तो देखो, आगका स्वरूप क्या है ? जैसे कि लकडीका क्षेत्र है ऐसे इतने क्षेत्ररूप रहना ही क्या आगका स्वरूप है ? जैसे लकडी नापी जाती है, पकडी जाती है वैसे आगका स्वरूप पकडा जाता है, नापा जाता है क्या ? नही, आगका स्वरूप गर्मी गुणरूप है । वह गर्मी कितनी बडी है ? क्या गर्मीमे क्षेत्र है ? गर्मी तो भाव स्वरूप है, गर्मीमे लम्बाई नही, चौडाई नही, न अन्य आकार, फिर भी गर्मी ईंधननिष्ठ है । तब आधारके प्रदेशोको सयुक्त दृष्टिसे देखकर कहो तो जितना बडा ईंधन है उतनी बडी आग है । इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ अतज्ञेयनिष्ठ है । यहाँ विचार करें—वह ज्ञान क्या है जो जानन रखता है जिसके जाननपन है । वह जानता है ऐसा कहनेमे यह बात आ जाती है कुछ कुछ जानता है, किसीको जानता है, इस तरह जानता तो ज्ञेयको लिये हुए है, विषयको लिये हुए है । विषयके बिना, जाननेके बिना ज्ञान क्या चीज ? वह ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ मालूम होता है । जैसे आगको ईंधनके आधारमे बतलाया जायगा तब व्यपदेश होता आग इतनी बडी है । इसी तरह जब ज्ञान गुणसे बतलाया जावेगा तब ज्ञानके लक्ष्यसे बताया जायगा कि ज्ञान इतना बडा है । तब ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से ईंधनमे निष्ठ आगके ईंधन प्रमाणकी तरह ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण सिद्ध हुआ अर्थात् ज्ञान कितना बडा है । इस प्रश्नके होनेपर यह उत्तर आया कि वह ज्ञेयके बराबर है । ज्ञेय कितना है ? लोक अलोकके विस्तारमे फैला हुआ जो अनन्त पर्याय और उसमे अनन्त समस्त द्रव्य जो उत्पादव्ययध्रौव्यकर सहित है वे सबके ही सब द्रव्य ये ज्ञेय हैं अर्थात् केवलीके अनन्त ज्ञान अनत पर्यायमे सब ज्ञेय है अर्थात् इतना बडा है । जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है ।

प्रादेशिक और ज्ञायक दृष्टि—यह ज्ञान भी स्वय स्वयके लिये ज्ञेय है, ऐसे ऐसे अनत-ज्ञानी व उनकी पर्यायें भी प्रत्येक केवलीके ज्ञेय हैं । जब प्रदेशसयुक्तदृष्टि साथ काम कर रही है ऐसी दृष्टि बनाये तब आत्मा देहाकार प्रमाण है और देहाकार प्रदेशोमे आत्माके सर्वगुण है । किसी द्रव्यके कोई भी गुण द्रव्यके प्रदेशसे बाहर नही रह सकते, क्योकि गुणका समूह-मय प्रदेश है गुण ही रूपमे इस मात्र है, जिसे हम प्रदेश कहते है ऐसी प्रदेश सयुक्त दृष्टि होने पर और ज्ञानके स्वरूप लक्षणके कार्यको भी निहारने पर ऐसा ज्ञात होता कि यह ज्ञात होता कि यह ज्ञान आत्माके उन प्रदेशोमे रहकर सारी दुनियाको जान रहा है, यह है ज्ञानप्रकाश को प्रदेशके साथ देखकर समझनेकी दृष्टि । यहा प्रदेश सम्बन्धकी दृष्टि न रखकर ज्ञानके सम-झने की दृष्टि । यहा प्रदेश सम्बन्धकी दृष्टि न रखकर ज्ञानके समझने दृष्टि है । ज्ञान सर्वगत है । जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है । जैसे घटज्ञान घटमात्र घटप्रमाण है तब लोकालोकका ज्ञान लोकालोकमात्र लोकालोकप्रमाण है । फिर भी जो लोग इस बातको समझे हुए हैं कि

ज्ञान आत्मा सारे गुण आधारमे रहते है, इसका विरोध नही करता । परन्तु ज्ञानके स्वरूपमे तो ज्ञान ही प्रतीत है । इस दृष्टिके रखनेपर बीचमे अपेक्षा कहनेकी जरूरत नही पडेगी कि यह भावदृष्टिसे वर्णन कर रहे है, अत इस दृष्टिमे सर्वथा ऐसा समझकर ज्ञानदृष्टिसे निरीक्षण करने वाले ज्ञानियो ! अन्यदृष्टिको गौण करके उसकी बीचमे अन्यापेक्षा न लेकर जानने की दृष्टिसे, ज्ञानकी दृष्टिसे सवेदन करो, अनुभव करो तो ऐसा अलौकिक अपूर्व समस्त व्यापक आत्मा ज्ञान अनुभवसे बाहर न रहेगा । स्याद्वादीके किसी कथनमे सदेह नही होता और जिस समय जो कथन किया जा रहा है उस कथनमें समझमे खूब आगे बढनेमे सकोच नही होता । यहाँ ज्ञानदृष्टिसे वर्णन चल रहा है और उस वर्णनमे समझमे व्यवहार खतम होते हो तो होने दो । ये तो जब जिस दृष्टिके विषयमे लग रहा उस दृष्टिमे देखेगा । उसके विषयमें उस रूप संवेदन करेगा । ज्ञानी जिस दृष्टिको लेकर चल रहा है उस दृष्टिसे उसके रहस्यको पाता है ।

ज्ञानप्रकाशकी व्यापकता—इस हेतु ज्ञानी योगीन्द्र यह कह रहे है कि आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है । यह कैसे ? समस्त आवरणके क्षयके समयमे ही लोकालोकमे पडे हुए समस्त वस्तुवोके आकारके पारको प्रमाण करके वह केवली उस पदस्थितिसे च्युत नही होता । कारण—वह ज्ञान विपक्षरहित है, सर्वके जानने रूप रहता है, अत वह ज्ञान सर्वगत है । कमरेको देखनेपर अभी आप भी कहेगे कि मेरी दृष्टि इस समय सारे कमरेमे चल रही है । वह दृष्टि क्या है जो सारे कमरेमे चल रही है ? ज्ञेयको आश्रयमात्र करके बता रहे हो कि मेरी दृष्टि सारे कमरेमे जा रही है । उस दृष्टिको ज्ञानका क्षेत्र, या आकारसे बताया जा रहा है । आप कहते है कि मेरी दृष्टि तो सारे नगरमे है और बठे हो घरमे । दृष्टि को पहिचानो । उस दृष्टिसे सचमुचमे आपकी दृष्टि सारे नगरमे पहुच गई । वह दृष्टि क्या चीज है ? क्या वह पिण्डात्मक मिलेगा, आकारात्मक मिलेगा ? नही । तब वहाँ कहेगे कि वह दृष्टि प्रदेशापेक्षा रहित है, आकार रहित है, फिर ऐसी तो दृष्टि है जो सारे नगरमे फैली रहे । यह तो यहाँकी बात बतला रहे । इसी तरह परमार्थमे लगावो, जिनका ज्ञान समस्त लोकालोकमे व्याप्त हो गया उस व्यापक ज्ञानके चिन्ह व्यक्त करो तो वह स्वयके क्षेत्रसे नही बताया जा सकता, आकार रूपमे नही बताया जा सकता, प्रदेशके आधारकी अपेक्षामे नही बताया जा सकता । इसलिये यह ज्ञान निराकार है, निराधार है । जो ज्ञान सर्वव्यापक है उस ज्ञान स्वरूपसे जब आत्माके स्वरूपको कहे तो उनका भी ज्ञानस्वरूप देखने जाननेके कारण सर्वगत है । देखो यहा उस आत्माको भी प्रदेशसे भी छोड दिया तो वे प्रदेश सिद्ध लोकमे व केवलि दशामे देहके आकार प्रमाण है ऐसा होते हुए भी ज्ञान भावका वर्णन सोचते, चिन्तवन करते करते आत्माकी यह प्रदेशकी सीमा ज्ञानीके उपयोगमे खतम हो जाती है । यहाँ भी हम किन

किन आधार काल क्षेत्रमे बस रहे है ? यह खतम हो जाती है । वहाँ एक अद्वैत ज्ञान अपने आपको प्रतिभासित करता है ।

ज्ञानमुखेन आत्माका अवबोध—यहाँ यह प्रश्न होता कि जब ज्ञानका ही ऐसा वर्तन करना था तो केवल ज्ञानमयका ही वर्णन कर लेते, ज्ञानके साथ आत्माका वर्णन करनेका क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान यह है कि जैसे हम इन्द्रियोंके द्वारा एकदम पूर्ण प्रतीत हो ऐसे आमको नहीं जान सकते किन्तु आममे रहने वाले रूपको, रसको, गधको, स्पर्शको जान सकते है वहा केवल रूप आदिको भी नही जानते । वहा हम रूपके द्वारा उस पदार्थको जानते है इसी तरह हम ज्ञानकी दृष्टि छोडकर आत्माको नही जान सकते और आत्माकी श्रद्धा दृष्टि छोडकर आत्माके गुणको भी नही जान सकते । इस लिये जब हमे आत्मा जानना हो तो आत्माके गुणमुखेन आत्माका जानना होगा । कैसे जब हमे आमको जानना होगा तो रूप आदिके विस्तारमुखेन आमको जाना जावेगा वैसे ही आत्माके परोक्षको कभी सुख गुणके द्वारा देखो, कभी ज्ञानगुणके द्वारा, कभी दर्शनगुणके द्वारा । जो आत्मामे असाधारण गुण है वे उनके द्वारा जानो । वहा सर्वप्रधान ज्ञान है । अन्य जो गुण है वे भी अपना अनुभव करानेके लिये मानो ज्ञानका ही मुख ताकते है, ज्ञान द्वारा अनुभूत होनेपर तन्मय आत्माका ज्ञान होता है । जब हम आत्माको ज्ञानगुणके द्वारा जानेंगे तो ज्ञेय भी ज्ञान हो जाता है और ज्ञान भी ज्ञान रह जाता है । तब वह अनाकुलत्व लक्षण वीतरागस्वसवेदनरूप परमपदका अनुभव रहता है जो शान्तिस्वरूप है, सुखस्वरूप है । इसलिये हम ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय आत्माको जाननेका प्रयत्न करते है । यह शैली तो मोक्षमार्गमे चलनेके लिये तो उपदृष्टि ही है, आत्मा को जाननेकी भी अपूर्व शैली है ।

ज्ञानगुणमे सर्वात्मगुणोका गर्भ—यद्यपि ऐसा नही कि ज्ञानगुणको ज्ञेय करके उसके प्रथम आश्रयसे ही आत्माको जाने, आत्मामे रहने वाले और गुणके द्वारा आप जान सकते है परन्तु वह जानना तब तक परकी भाति है जब तक स्वसवेदनमे गर्भित होकर ही वे जाननेमे न आयें, क्योकि अन्य गुणोके बोधमे ज्ञानकी दृष्टि नही । आत्मामे रहने वाले अन्य किसी गुणकी मुख्यतामे जाना तो आत्माको उसे गुणमय जाना । जैसे सुख या वीर्य आदिके ज्ञानमे वह गुण झलका, इसलिये सुख, वीर्य आदिके द्वारा जब आपने जाना तो केवल सुख आदिको जाना, परतु ज्ञानमे आत्माके सब गुण प्रतिबिम्बित है। जैसे कि ज्ञानमे विश्व प्रतिबिम्बित है, इसी तरह आत्मामे ज्ञानमे अनन्त गुणका प्रतिबिम्ब है । तब ज्ञानके द्वारा आत्माके जानने पर सर्वगुणमय आत्माका जानना होता है, इसलिये ज्ञानगुणके जाननेका उपदेश है । ज्ञानगुणके अतिरिक्त आत्मामे रहने वाले और गुण, ज्ञानस्वरूप न होनेके कारण वे भी दीनसे हो रहे है कि हे ज्ञान ! तुम हमे मानो, प्रकाश करो, हमे भी अनुभवमे लो । ज्ञानराजासे आत्मामे रहने

वाले और गुण निवेदन कर रहे है कि हमे अनुभव किये बिना न रहने दो, नही तो सत्ता असत्ता मेरी बराबर हो जायगी। ज्ञान स्वय अपने ज्ञानस्वरूपसे ज्ञानमे अनुभव करता और अनन्त गुण भी ज्ञानके होते ही अनुभवमे आते। ज्ञानकी इतनी विशिष्टता है, ज्ञानका इतना विस्तार है इसलिये आत्माको जाननेके लिये ज्ञानस्वरूपकी प्रधानता ही है। यहा बताया कि समस्त आवरणोका क्षय हुआ था, उस क्षयके कारण सर्वलोक अलोकमे रहने वाली जो वस्तु है उस आकारके पार को पाकर अर्थात् सबको ज्ञान करके फिर उस सवेदनसे च्युत नही होते।

शुद्ध ज्ञानपरम्परामे उत्पादव्ययध्रौव्यकी सिद्धि—सर्व अर्थको—लोकालोकको एक समयमे प्रभुमे जाना, उसही सर्व लोकालोकको दूसरे समयमे भी जाना। उसीको तीसरे समय मे भी जाना। इसी तरह अनन्तकाल तक जानते ही रहते है। कितने ही लोग यह सकोच करते हैं—जितने लोकालोकको केवली प्रथम समयमे जान गये उनको ही दूसरे समयमे जाना, उन्हीको तीसरे समयमे जाना तो वहा उत्पाद व्यय ध्रौव्य क्या हुआ? परन्तु आप यह देखो पहले समयमे लोकालोकको जाना, वहा पहिले समयमे शक्ति लगाई कि नही और दूसरे समय मे जाना तब दूसरी शक्ति पर्याय लगी। समय समयमे शक्ति लग रही कि नही। जाननेकी शक्ति समय समयमे उस केवलीके लग रही। पहले समयका ज्ञान पहले समयमे लगाई हुई शक्तिसे हुआ, दूसरे समयका ज्ञान दूसरे समयकी शक्तिसे हो रहा है। जब भिन्न-भिन्न समय मे शक्ति लग रही है तो उसका जो परिणमन है वह उसमे तब तक है। जो पूर्व समयका परिणमन है वह उत्तर समयमे व्ययसे व्यपदिष्ट है और उत्तर समयका परिणमन उत्पाद है। जैसे एक दीपक जल रहा है और वह इतने बडे कमरेमे स्थित पदार्थोंको प्रकाशित कर रहा है, १० मिनट तक वह दीपक जला। १० मिनट तक उसने एकरूपसे प्रकाशित किया। वहा आप यह कहे कि जिस दीपकने पहिले मिनटमे जो प्रकाश किया जिसे प्रकाशित किया वैसे ही ९ मिनट भी प्रकाशित कर रहा तो उसने दूसरे मिनटमे किया ही क्या? अच्छा भाई यदि दूसरे मिनटमे दीपकने काम नही किया तो दीपकको खतम हो जाना चाहिये, कार्य-हीन हो जाना चाहिये। दीपक खतम हो जावे और काम होता रहे या काम न हो और दीपक बना रहे ऐसा माननेमे अनेक दोष आते है। अत· दूसरे मिनटमे भी दीपक वैसा ही प्रकाश करने वाली अपनी शक्ति लगा रहा है। तब परिणमन हुआ कि नही। सदृश परिणमन भी तो परिणमन है, व्यतिरेकी है। यही ज्ञानमे देखो वैसा ही जाना, परन्तु दूसरे समयमे दूसरी ज्ञानतरग है, पर्याय है। वस्तुमे वस्तुसे होने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यको देखो। परपदार्थके परिणमनके सम्बन्धको लेकर कहे जाने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यका मूल्य नही। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तो द्रव्यमे होते, फिर परद्रव्यमे निमित्त क्यो घटाया जावे? केवल यह शुद्धभावकी

वात है जो पर प्रत्ययक उत्पाद व्यय देखे जाते तथापि यह जो रागद्वेष पैदा होते हैं वहाँ भी वे परद्रव्यको निमित्त पाकर तो हुए सही, फिर भी स्वयमे घटावो—वहाँ परके कारण उत्पादव्यय नही किन्तु जो पूर्वराग है वह उत्तरकालमे व्ययरूप है और उत्तरराग उत्पन्न है उन सब अवस्थावोमे अनुगत तदभावोके अव्ययरूप ध्रौव्य है।

शुद्ध ज्ञानपर्यायके प्रसंगमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य—इसी प्रकार शुद्धज्ञानपर्यायकी वात है। वहाँ भी पूर्व उत्तरकालकी अवस्था उत्पादव्ययरूप है। उन सबमे ज्ञानसामान्यरूप भाव ध्रौव्य है। यदि परपदार्थके निमित्तसे ही उत्पादव्यय करे तब यहाँ यह आलोचना करना होगा कि क्या भगवान्के भी विकल्प उठते हैं? यह वर्तमान पर्याय है, यह भूतपर्याय हो गई यह अभी भविष्य है सो ऐसा विकल्प तो है नही। कदाचित् मान भी लो ऐसा विकल्प प्रकट न होकर अव्यक्तरूपमे ऐसा जान पडना हो तो भी उस अव्यक्तके फेरसे उत्पादव्यय ध्रौव्य सिद्ध करनेमे द्रव्यका मूल्य न आयगा। द्रव्यमे ही होने वाले स्वयके परिणमनमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य करनेसे द्रव्यका असली मूल्य प्रतीत होगा। हा तो इस तरहसे केवलीका ज्ञान उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त होता है व केवली भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होता है। जैसे कोई आदमी वजनदार वस्तुको एक शैलीसे उठा रहा है तो यहाँ देखो कोई यह कह बैठे कि वह तो जिस शैलीसे उठा रहा है वस्तु उठ रही है या वह उठा रहा है कि इसमे दूसरे समय भी काम क्या हुआ? तब कोई आपही उठाकर देखलो—दूसरे समयमे शक्ति लग रही या नही। अनुभव बताता है कि मैं प्रत्येक समयमे काम कर रहा हू। यहाँ तो हमारी खुदकी शक्ति लग रही ना। जिससे हमे विश्वास है कि प्रतिसमयमे मै काम कर रहा हू। हम ही प्रतिसमय एकसा काम करें तो हमारे यहा भी अनुभव है कि मैं नया-नया परिणमन करता हू।

केवलज्ञानकी सकलपारगामिता—इसी तरहसे केवलीमे देखे एकसा काम करते हुए भी केवलज्ञानोके प्रति समय नया काम हो रहा, इसी प्रकार जब शुद्ध आत्मामे ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अतराय चारो घातिया कर्म नही रहे उस समयमे अपने आप ही समस्त लोकालोककी वस्तुके आकारके पारको प्राप्त हो गये। इसका भाव यह है कि सबका ज्ञान कर लिया। जैसे कोई नदीके उस पारको पा ले तो उस पार पहुचनेपर यह कह देते कि नदी पार करली। उस पार करनेके मायने यह हैं सारी उस नदीका अवगाहन कर लिया। इसी तरहसे केवलीने समग्र वस्तुके आकारके पारको पा लिया, इसका यह भाव है कि केवली ने समस्त वस्तुवोको पा लिया, जान लिया। यहाँ यह शका उठती है कि जब भगवान सर्वज्ञने समस्त वस्तुको जान लिया तो इसमे तो पर्यायका अन्त आ गया। अच्छा भैया! पर्यायका अत आ जायगा इस डरसे हमे यह बतलावो ज्ञान कितनी पर्यायोको जानता है? शकाकार यह कहेगे कि मानो ज्ञानने १० के मानिन्दे अनगिनते को जाना जिनको सीमा है तो उन दस पर्यायोके

अतिरिक्त जो अन्य पर्यायें है उनके ज्ञानका आवरण हो गया, यही सिद्ध हो गया ना। क्यो कि यदि ज्ञान है तो आवरण नही, ज्ञान नही तो आवरण है। यदि ४० पर्यायको जाना तो जितनी पर्यायें जाननेमे न रहेगी उनका आवरण अर्थात् ज्ञानावरण आत्मापर रहा सो तो सिद्धान्त विरुद्ध है, वह शुद्ध द्रव्य कैसा ? भगवानने तो यही बतलाया कि आवरणका उनके लेश ही नही। जब आवरणका लेश नही तो यह कहा जायगा कि केवलीने सर्व जाना। सर्व कितना है जिसका अत नही इतना सर्व जाना। ज्ञान जब अपनी शुद्धावस्था पाता है आवरण का समूल नाश हो जाता है, तब उस ज्ञानके अदर सीमा नही रह सकती। फिर या तो उस ज्ञानमे यह मानो कि उसने परको नही जाना, केवल अपने आपको जानता। यदि परको जाना तो वहाँ पर सीमा नही लगाई जा सकती कि इतना ही जाने। ज्ञानका स्वभाव ही जानना है। आवरणका अभाव होनेपर जाननेकी सीमा सभव ही नही। ज्ञान स्वको भी जानता और परको भी जानता, अत. दोनो बातें निज-स्वच्छता, अतर्ज्ञेय व उपचारसे पर-पदार्थोंके जाननेकी बाते युक्त है। ऐसा वह ज्ञान जो लोकालोकमे विभक्त वस्तुवोके आकारके पारको प्राप्त हो गया फिर वह वैसे ही प्रकाश रूपसे होता रहता, च्युत नही होता, आगे चला ही जाता।

विश्वज्ञानाधिकारीका आनन्दाधिकार—अन्यच्च—इस विशुद्धज्ञानके साथ विशुद्धसुखका ही अनुभव होता है व वहाँ अनन्त शक्ति है। ऐसा नही है कि केवल जाने और सुख शक्ति आदि की बात ही न हो, क्योकि यदि अनन्त सुख अनन्त शक्ति आदि न हो तो वह विश्वपर ज्ञानका अधिकार भी नही रख सकता। जैसे किसी आफीसरको कोई अधिकार दिया तो उसके मात्र एक ही अधिकार न समझना, वहाँ सम्बधित अनेको अधिकार गर्भित है। यदि अनेक अधिकार न हो तो कामको नही कर सकता। यदि किसीको अधिकार दिया कि जिस पर शक हो उसे गिरफ्तार कर लो इस अधिकारमे जाँच करनेका अधिकार भी गर्भित है, किसीकी गवाही का भी अधिकार है, किसी अफसरको सूचना देनेका भी अधिकार है, अधीनस्थोको आर्डर देनेका भी आदि अधिकार गर्भित है। कितने अधिकार साथ है तब वह एक कामका पूर्ण अधिकारी है। इसी कुछ तरहसे प्रतीति कर ले—केवली भगवानको मात्र जाननका अधिकार है। इतना ही नही हैं, उनमे अनतशक्ति अनत सुख आदि अनेक शुद्ध परिणामाधिकार है। देखो जैसे केवलीको अनत सुखका अधिकार न दिया जाय तो जाननेका भी काम नही कर सकता। क्यो नही कर सकता ? आपको दुखी रखकर कोई क्या काम कर सकता है, नही ? वहाँ अनत सुख नही तो प्रतिपक्ष विधि किसकी हुई ? दु.खकी। तो दुखी होकर उत्कृष्ट निर्मल काम नही कर सकता या किसीको दुखी रख कर करवा सकता अथवा उस ज्ञानका लाभ क्या रहा व इसका ज्ञान निर्बाध कैसे रह सकेगा ? अतः सर्वगुण

शुद्ध परिणमते है।

कैवल्यमे अनन्त अधिकार—देखलो एक जाननेके लिये एक कामके लिये कितने अधिकार चाहियें, चीज वह एक है उसमे विलास कितना हो रहा है ? वह हो रहा है अनत। इसलिये एक आत्मद्रव्य कितना बडा है ? विचारो क्या भाव है ? इसको यदि देखो तो एक बडे भारी नगरकी तरहसे भी देख सकते। यह एक बडा भारी शहर है। इसकी तरह मानो यह आत्मा ही एक बडा भारी शहर है। इस शहरके अन्दर यह ज्ञान यही तो राजा है, यह ही मत्री है, यह ज्ञान ही कोटपाल है इसके अदर जितने गुण है वह सारी प्रजा है। नगरमे जो जो तत्त्व है उन सब जैसा आत्मामे घटा सकते है। यह तो नगरसे भी विचित्र बात है अभेद रूप वस्तुका अभिन्न इतना परिकर। इसका काम देखो तो जैसे किसी मिलको देखते है वहाँ सब अपना अपना काम कर रहे है। यहाँ सर्वगुण अपनी-अपनी जगह स्वलक्षण कार्य कर रहे है। देखो सिद्धका सुख कहा रहा ? मानो मै अनतसुखका परिणमन करता रहूगा, ज्ञान कहता है मैं सबको जानता रहूगा, वीर्य कहता है मैं उन कामोको पूरा कराऊगा यही इसका व्यापार हो रहा है तो दर्शन कहता है मै अपनेमे सामान्यरूपसे लोकालोकको अर्थात् अनन्त प्रतिभासको देखूगा। दर्शनने किया यह तो ज्ञान कहता है, तू अपनेमे सामान्यरूपसे लोका-लोकका प्रतिभास करले और मैं तुझे जानू तो सर्वज्ञ हो गया। इस तरह दर्शन भी कहता। देखो कितना चमत्कार है ? आत्मामे ज्ञान अपना काम कर रहा है और यहाँ शुद्ध अवस्था चल रही है। यहाँ ज्ञानका विस्तार भी अनत हो रहा है, यह है भावका विस्तार। क्षेत्रका विस्तार प्रदेशको लेकर होता है, भावका फैलाव प्रदेशको न जगाकर होता है। इसी लिये उसमे किसी सीमाकी सभावना नही, ऐसा वह ज्ञान केवलीके है। वह ज्ञान सर्वगत है। इस तरह २३ वी गाथामे आत्माको ज्ञान प्रमाण सिद्ध किया और ज्ञानको सर्वगत सिद्ध किया।

ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी एकतामे विडम्बनाकी समाप्ति—जो अपने आपको ज्ञानस्वरूपसे चलेगा उस ज्ञानस्वरूपके स्मरणसे आत्माकी अन्य झझटें इस ज्ञानमे न रहेगी और यह ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानमे ही अनुभव करेगा तो हमारी क्या पर्याय होगी ? वह पर्याय होगी जहा ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्प भेद नही, चैतन्यकर्ता वही कर्म वही करण वही क्रिया हो। यह दशा अनुभवनीय है। समयसारमे लिखा है—य' परिणमति स कर्ता य' परिणामो भवेत् तत्कर्म। या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया॥ परिणमन कर रहा है जो परिणमन हो रहा है, जो परिणमति क्रिया होती है ये तीनो वास्तवमे एक वस्तु है भिन्न भिन्न बात नही। ऐसा सुनकर आप कहेगे इस ज्ञानभावनामे विशेषता क्या ? वहाँ तो शुद्धता है सो प्रश्न वासना नही किन्तु यहाँ भी तो चाहे मोही हो सब कर्ता कर्म क्रिया एक ही है, यह तो वस्तुका स्वरूप है। फिर ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जाननेका उपदेश निर्विकल्पकताके लिये

युक्त है ही। जहाँ कर्ता भी ज्ञान है कर्म भी ज्ञान है, उस विषयमे क्या कहना है ? जो ज्ञान परपरिणतिके उपरागसे रहित है ऐसा ज्ञान ही सही ज्ञान है और जगह तो यह भी हो जाता है कि करने वाली यह ज्ञान है और ज्ञानका जो विषय है वह पर ज्ञेय है, ऐसा भी है तो भी एक वस्तुको देखो—कर्ता, कर्म, क्रिया एक ही है। निश्चयदृष्टिमे कर्ता, कर्म, क्रिया एक ही है, व्यवहार दृष्टिमे कर्ता, कर्म, क्रिया भिन्न भिन्न है। फिर जहा अन्तर्व्यवहारकी दृष्टिमे भी कर्ता, कर्म, क्रिया एक हो जाय उसका यह वर्णन है। वैसे तो ज्ञान, ज्ञानगुणकी क्रिया है ऐसा जानना तो हो रहा, पर जहा जानका विषय व्यवहार होकर ऐसा ही ज्ञान ज्ञेय हो, ऐसा ही वह अन्तर्व्यहारमे रहा। जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है उस एक ही बातको देखो, रहो फिर आपमे सब बाते आ ही जायेंगी।

एक उपयोगमे सर्वस्वसिद्धि—एक आदमी कुलदेवताको पूजता था—उसने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि जो तुझे मागना हो माग वह पुरुष घर आया स्त्रीसे कहा मुझे वरदान मिल रहा, बता क्या मागे ? वह बोली बेटा माँगना। फिर माँ के पास गया, पूछा क्या मागे ? वह अन्धी थी, उसने कहा मेरी आँख मागना। फिर वह पिताके पास गया तो उसने कहा धन मागना। वह विचारमे पड गया मै किसकी बात मागू और किसकी नही। इतनेमे उसे एक तरकीब सूझ आई और गया वरदान लेने, भक्ति की। नब कुलदेवताने कहा वरदान माग तो वह कहता है कि मैं चाहता हू कि मेरी माता अपने पोतेको सोनेके घडेमे दूध पीते हुवे देखे। तो देखो इस एक मागमे सोनेका घडा आ गया पिताकी इच्छा पूरी हुई। माता पोतेको देखेगी सो मा को आखे मिल गईं। पोतेको देखनेपर स्त्रीको बेटा मिल गया। एक माग करो। यहा भी आप अनेक कुछ न सोचो—एक अनादि अनत अहेतुक ज्ञान स्वभावको ही देखो। इस एक काम करनेमे सब काम आ जायगा। सब कामोकी कपाये न करो। एक काम करो मोक्षमार्गके लिये। वस काम क्या है ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका उपादान रूपसे कारण पाकर अपना इस एक लक्ष्य रूप महान् पुरुषार्थ। यही एक उपयोगमे लो। इस तरह ज्ञानदृष्टिसे आत्माकी सिद्धि बतलाई।

आत्माको ज्ञानसे हीनाधिक माननेपर आपत्ति प्रदर्शनका उपोद्घात—अब कहते है कि आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर क्या आपत्ति है ? इस विषयक पश्नपर दो पक्ष उठाकर दूषण देते है समाधान करते है। किन्ही दार्शनिकोके किसी दृष्टिके कथनको किसी जगह मिला देने पर यह अब हो गया था कि आत्मा तो एक सर्वव्यापक है, उसमे चित्तका मनका सपर्क होनेपर ज्ञान होता है और ऐसी अवस्थामे ज्ञान आत्माके बराबर नही माना जा सकता या आत्माको ज्ञान बराबर नही माना जा सकता है अर्थात् ज्ञान व्याप्य है। यहा किन्ही दार्शनिको को यह आभास हो गया कि ज्ञान चैतन्य एक ब्रह्म वह सर्वव्यापक है। उसके प्रकाशमे

इस जीवको देहमे अभ्यास होनेपर अपनी सीमितता जानी और वही सीमामात्र रहस्यका ज्ञाता होते ही आत्मा कहलाता है तब आत्मा व्याप्य चीज है, ज्ञान व्यापक है। इसी प्रकार अनेक विकल्पोमे भूलते हुए मुमुक्षुवोको प्रतिबोधनेके लिये भगवान् कुंदकुंदाचार्य दो पक्षोको उठाते हुए उपदेश करते है—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

आत्माको ज्ञानसे हीनाधिक माननेपर आपत्ति—जिस वादीके मतमे आत्मा ज्ञानप्रमाण नही है उसके मतमे वह आत्मा या तो ज्ञानसे हीन (कम) होगा या ज्ञानसे अधिक होगा। दोमे से कुछ एक निश्चित ही है। यदि वह आत्मा ज्ञानसे हीन अर्थात् ज्ञानप्रमाण न होकर उससे कम प्रमाणवाला है तब आत्मा तो हुआ छोटा और ज्ञान हुआ अधिक, तब आत्मासे बाहर रहा हुआ जो ज्ञान है उसका चेतनात्मक द्रव्य जो आत्मा है उससे सबध तो रहा नही तब उस आत्माका वर ज्ञान अचेतन हो गया, फिर जो अचेतन है वह जानेगा ही कैसे और जो जानता नही है वह ज्ञान ही क्या? यो तो ज्ञान असत् ही हो गया। यदि आत्माको ज्ञानसे अधिक अर्थात् ज्ञान तो छोटा है उससे आगे भी आत्मा है ऐसा मानोगे तब जो आत्मा अधिक है वह ज्ञानसे रहित है, जो अचेतन है। इस तरह अचेतन आत्मा जानेगा क्या? जो नही जानता वह तो पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल है इनसे अतिरिक्त अचेतन अन्य क्या? इस तरह आत्माका ही अभाव हो गया।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी ज्ञानप्रमाणताकी सिद्धि—जैसे अग्नि उष्णप्रमाण है। यदि वहा कोई कहे कि हम अग्निको उष्णप्रमाण नही मानते तब दो ही तो पृष्टव्य पक्ष होगे। क्रिया तो वह अग्नि उष्णतासे कम होगी या अधिक होगी। यदि अग्नि उष्णतासे कम है अर्थात् अग्नि छोटी है और उष्णता बडी है तब वह उष्णता जो अग्निसे अधिकमे है वह अपने आश्रयभूत उष्णात्मक द्रव्यके समवायमे तो रही नही, फिर आश्रयरहित उष्णता उष्ण न होकर शीतल ही रही सो अयुक्त है। इसी तरह यदि अग्निको उष्णतासे अधिक मानो तब जो अग्नि उष्णतासे आगे है अर्थात् उष्णताके स्वभावसे रहित है वह अग्नि शीतल ही हो गया। अब वह अपना काम जो दाह आदि है वह कैसे कर सकता? इस तरह तो अग्नि असत् ही हुआ। तब अनुभव युक्ति उपदेश पुस्तकोके मिलान करने पर यह ही बात निर्विवाद सत्य है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण ही है। कितने ही लोक आत्माको अङ्गुष्ठके पर्वके बराबर मानते है या वटवृक्षके बोजके बराबर सूक्ष्म मानते है। ऐसी क्या यह आत्मा दवाईकी गोली है क्या? अनुभव तो इसका मजाक ही करेगा।

आत्माकी अखण्डता व स्वव्यापकता—यहा आत्माके ज्ञानप्रमाणकी बात चल रही थी। वह भावकी अपेक्षा वर्णन था। अब कुछ समय थोडी देरके लिये जरा प्रदेशोकी अपेक्षा आत्मा कितना है—इस विषयको ही लीजिये। इस आत्माके बारेमे कितने ही लोग तो यह कहते है कि वह एक विश्वव्यापी है, उसके प्रकाशमे देह मन जुदे ही काम करते है अथवा एक आकाश है और जुदे-जुदे घटकी कैदमे घटाकाश न्यारे-न्यारे है तो यहाँ परीक्षा करें, जो वस्तु एक है वह अखड होती है। अखडमे यह प्राकृतिक चमत्कार है उसके किसी अवयवमे जो परिणमन हो वह पूरेमे परिणमन करता है परन्तु हम यहाँ देखते है एक देहधारी आत्मा सुखी है तो कोई दुःखी है, एक ज्ञानी है तो एक मूर्ख है और उसमे भी अनेक तरतमताके साथ। इससे यह आत्मा सर्व एकव्यक्तिरूप हो यह प्रसिद्ध नही होता। यदि यह कहो कि घटबद्ध आकाशकी तरह न्यारे न्यारे है तो देहबद्ध भी हो तब भी आकाशकी तरह सब आत्माओका तो एक परिणमन एक ही रहना चाहिये। तीसरी बात—देह मनपर आत्माका प्रकाश क्यो पडा, अन्यपर क्यो नही ? क्या देह या मन चेतन है इसलिये प्रकाश पडा तब देह मन स्वय ज्ञानवान हो गये तो वह चेतन आत्मा ब्रह्म आदि कुछ कहो, हो गया। इस तरह अनेक युक्ति अनुभवोसे यह ही सिद्ध होता है कि आत्मा अनेक है और वह देह व द्रव्य-मन रूप भी नही अर्थात् ये आत्माकी पर्याय भी नही है।

आत्माका प्रदेशपरिमाण—अब विचारना है कि प्रत्येक आत्मा प्रदेशापेक्षया कितना बडा है तो इसका सीधा उत्तर तो यह है कि जितनेमे आत्माको सुख है, दुःख है, अनुभव है उतना है और यह देहप्रमाण जैसे प्रमाणमे प्रतीत हो रहा है। हाँ देहमे जो ऊपर बाल निकले है नख निकले है या मक्खीके पर जैसी सूक्ष्म ऊपरी त्वचा है वहा आत्मा नही। कभी कभी आत्मा देहसे अधिक प्रमाणमे फैल जाता है परन्तु किसी भी स्थितिमे स्वप्रदेशसे बाहर हो ही नही सकता है। जिन परिस्थितियोमे आत्मा देहके प्रमाणसे अधिक क्षेत्रमे रहता है उन परिस्थितियोका नाम समुद्घात है। समुद्घात ७ होते है—१ वेदनासमुद्घात, २ कषायसमु-द्घात, ३ मारणान्तिक समुद्घात, ४ विक्रियासमुद्घात, ५ आहारकसमुद्घात, ६ तैजससमु-द्घात, ७ केवलिसमुद्घात।

वेदना, कषाय, मारणान्तिक व विक्रियासमुद्घात—जब देही किसी अधिक वेदनामे होता है, यदि पुण्योदय हो तब वह आत्माको न छोडकर देहसे बाहर फैलता है और औषधि का सूक्ष्म शरीरसे स्पर्श करके देहमे पूर्ववत् प्रविष्ट होता है। इस क्रियासे वह निरोग भी हो जाता है इसे वेदनासमुद्घात कहते है। कोई न भी स्पर्श करे व मात्र समुद्घात ही रहे। प्रत्येक समुद्घातोमे यह भाव नियमित लेना कि वह अन्य अपने मूल देहको न छोडकर बाहर विस-र्पण करता है। इसी तरह जब देही तीव्र कषाय करता है, अतिसक्लिष्ट होता है तब कुछ

ही अधिक देहसे बाहरके क्षेत्रमे फैलता है । इस विषयमे तो कई कहावतकी परम्परा भी चल रही है—जब कोई तीव्र क्रोध करता है तब उसे कहते है कि आप आपेसे बाहर क्यो होते जा रहे है । फिर थोडे ही कालमे सकुचित होकर पूर्ववत् रहता है । अब मारणान्तिक समुद्घातकी बात कहते है । जब देही मरणके समय विकल्पित होता है तब कोई कोई मरणसे पहिले ही जहाँ नव जन्म होगा उस क्षेत्र तक उस आत्माके प्रदेश फैलकर क्षेत्र छू आते है और वापिस पुन पूर्ववत् देह प्रमाण हो जाता है । इसी तरह देव नारकी या विक्रिया ऋद्धि वाले मनुष्य अपना विक्रियासे देह बढाते है या अन्य उत्तर देह बनाते, उस समय वह आत्मा मूल शरीरको न छोडकर उससे बाहर होकर उत्तर देहमे व बीचके क्षेत्रमे फैला रहता है । विक्रिया समाप्तिके बाद पूर्ववत् देहमे प्रविष्ट होता है । यदि कोई देव २—४ घन्टेको उत्तर विक्रिया करे तो वहाँ भी अन्तर्मुहूर्तमे नया प्रयत्न योग करना पडता है यह विक्रिया समुद्घात है ।

आहारक व तैजस समुद्धात—अब आहारक समुद्घात कहते है । आत्मज्ञानी बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह आरम्भसे रहित साधुके जब किसी विशिष्ट तीर्थवदना या तत्त्वचर्चणका परिणाम होता है तब आहारक ऋद्धिवाले साधुके ध्यानावस्थामे मस्तकसे एक हस्तप्रमाण धवलवर्ण आहारक शरीर प्रकट होता है । वह तीर्थ व तीर्थकर केवली श्रुतकेवली दर्शन कर वापिस देहमे विलीन हो जाता है और आत्मप्रदेश भी जो कि सूक्ष्मशरीरबद्ध होकर मूल शरीरसे बाहर गये थे वे देहमे प्रविष्ट हो जाते है । यह आहारक समुद्घात है । अब तैजस समुद्घात कहते है—तपस्वी साधुके तपोबलसे तैजस ऋद्धि प्रसिद्ध होती है । इस ऋद्धिके कार्य स्वरूप दो प्रकारके शरीर व्यक्त होते है—१ शुभ तैजसशरीर, २ अशुभ तैजसशरीर । जब साधुके प्रसाद होता है प्रजाके भले करनेका परिणाम होता है तब उनके दाहिने कधेसे शुभ-तैजस प्रकट होता है और वह चारो ओर बारह योजन तक फैलकर प्रजाके अन्तरग पुण्योदय से सुभिक्षका निमित्त बन जाता है । किन्तु जब साधुके किसी कारणसे क्रोधकी तीव्रता हो जावे तब बाये कधेसे अशुभ तैजसशरीर प्रकट होता है यह बारह योजनके भीतर जहाँ तक फैलता है वहा वे प्राणी गृह आदि सब जलजाने का निमित्त बन जाते हैं । यह तैजस शरीर मूलशरीरसे भिन्न दूसरा सूक्ष्मशरीर है, इसका आश्रयकर आत्मप्रदेश भी मूल शरीरसे बाहर फौरन जाते है और पुन अन्तर्मुहूर्तमे ही देहमे प्रविष्ट हो जाते है । अशुभ तैजसशरीर प्रकट करनेके निमित्तभूत कषाय तीव्रतासे साधु सम्यक्त्वसे भी च्युत हो जाता है ।

केवली समुद्धात—अब केवली समुद्घात कहते हैं—'कर्मक्षयके लिये अर्थात् विशुद्ध-चैतन्यसमवस्थितिके लिये उद्यत निष्परिग्रह अन्तरात्मा वीतरागस्वसवेदनपरिणामबलसे जब घातियाकर्मोंसे रहित हो जाता है तब अनतज्ञानी अनतद्रष्टा अनतसुखी अनतशक्तिमान् केवली

हो जाता है। इस केवली भगवान्के शेप बचे हुए वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघातिया कर्मों मे से जब आयुकी स्थिति थोडी और शेष तीनकी अधिक ऐसी स्थिति होती है तब आयुके बराबर सर्वकर्मोंकी स्थिति जिस क्रियामे हो जाती है वह केवलि समुद्घात है। केवलिसमुद्घातमे— केवलीके आत्मप्रदेश पहिले समयमे दडाकार होकर चौदह राजू ऊचे देहकी चौडाई से तिगुने प्रमाण चौडे फैल जाते है। दूसरे समय वे आत्मप्रदेश कपाटकी तरह चौडाईमे त्रसनाली तक फैल जाते है, तीसरे समयमे प्रतररूप अर्थात् चारो ओर मात्र थोडे वातवलयो को छोडकर सर्वत्र लोकमे फैल जाते है। फिर चौथे समयमे सर्वलोकमे फैल जाते है। फिर पाचवे समयमे सकुचित होकर प्रतररूप, छटे समयमे कपाटरूप, सातवे समयमे दडाकार व आठवें समयमे देहमे प्रविष्ट हो जाते है। इस व्यापारमे बडी स्थितिके कर्मोंकी स्थिति कम होकर आयुके बराबर होने लगती है। जैसे घरी किये हुए गीले कपडेको इकहरा फैला दिया जाय तो उसका गीलापन जल्दी नष्ट हो जाता है। इस तरह उक्त समुद्घातोमे तो आत्मप्रदेश देहसे बाहर भी कुछ क्षणोको हो जाते है। इनके अतिरिक्त सदा आत्मा प्रदेशापेक्षया देहप्रमाण ही है। यहाँ तक कि जो अष्टकर्मोंसे मुक्त हो गये ऐसे सिद्ध प्रभु भी यद्यपि उसके देह भी नही है तथापि पूर्व अर्थात् चरम देहके आकार प्रमाण ही रहते है।

ज्ञानप्रधानदृष्टिसे आत्माका परिमाण—अब आत्माको अपने प्रधान ज्ञान भावकी दृष्टि से देखें—तो यदि यह आत्मा ज्ञानसे कम माना जावे तो आत्मासे अतिरिक्त क्षेत्रमे पाया गया जो ज्ञान है वह अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यके समवाय—तादात्म्यका अभाव होनेसे अचेतन हो गया और वह रूप आदि गुणोकी तरह ही जड अचेतन होने पर वह जानना नही कर सकता, जैसे रूप, रस आदि गुण है वे चेतनद्रव्यके नाम ही ज्ञान तादात्म्यसे रहित है वे तो जानना नही रखते। फिर उसका नाम ही ज्ञान क्यो रखा? यदि आत्मा ज्ञानसे आगे भी हैं अधिक ऐसा हठ करो तो ज्ञानसे अतिरिक्त क्षेत्रमे व्याप रहा आत्मा ज्ञानसे तो रहित है अर्थात् अज्ञान है अचेतन है तब जैसे ज्ञानसे रहित घट पट आदिकी तरह हो गया और जैसे घट पट आदि ज्ञानशून्य होनेसे कुछ नही है, इसी तरह वह नाम मात्रका आत्मा कुछ जानेगा ही नही। ज्ञान बिना आत्मा क्या और आत्मा बिना ज्ञान कहाँ? इसलिये अनुभवमे भी अब आने वाला यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये।

ज्ञानस्वभावी सत्की सिद्धि—कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ है और मन भी एक पदार्थ है। दोनोका सम्बन्ध होनेसे ज्ञानरूप विद्युत उत्पन्न होती है ऐसा कहते है वे पृष्टव्य है कि वह विद्युत अर्थात् ज्ञान चाहे दोनोके सम्बन्धमे हो परन्तु है किसकी पर्याय? मनकी तो हो नही सकती, क्योकि मनको अचेतन माना है वह आत्माकी पर्याय है तब फिलहाल यह तो सिद्ध हो गया कि ज्ञानशक्ति आत्मामे हैं, चाहे मनके सम्बन्धसे व्यक्त हो। अब मनको देखें

मन क्या वस्तु है ? मन एक जड पौद्गलिक पदार्थ है, उसको आश्रय करके निमित्तमात्र पा करके आत्मा ज्ञानशक्तिके विकासरूप कार्य करता है। मन अतिन्द्रिय है या अन्त करण है, भीतर की इन्द्रिय है। यो तो इस अशक्त अवस्थामे स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण इन इन्द्रियो को भी आश्रय करके आत्मा जानता है तथा बाह्यमे प्रकाश आदि अनेकको निमित्तमात्र पा करके जानता है तो फिर आत्मा और अनेक पदार्थोंकी रगडसे ज्ञान बन बैठेगा। अत यह मानना चाहिये कि आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानमय है, परतु अनादिसे ज्ञानावरण सूक्ष्म कर्मस्कध के विपाकको निमित्तमात्र पाकर हीनज्ञानकी अवस्थासे परिणम रहा है और उस अवस्थामे इन्द्रिय व मनको निमित्तमात्र पा करके आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे यथायोग्य पर्यायरूप परिणमता है ऐसा न मानने पर अर्थात् इस दृष्टिसे आत्माको ज्ञानप्रमाण न मानने पर भी अनेक दोष उपस्थित होते है, अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये। देखो अज्ञानकी महिमा स्वय ज्ञानमय तो आत्मा है और अपने स्वरूपके ही निर्णय करनेमे बडा परिश्रम करनेपर भी सफल नही हो रहे है। अरे भैया ! सर्व इन्द्रियोको सयमित करके भेदज्ञानसे सर्वविश्वसे भिन्न निज ज्ञानमय आत्माको निज एकत्व — अभेद स्वभावसे ध्यान करके स्तिमित अन्य लक्ष्यसे रहित अन्तरात्मा होकर तुझे ही जो क्षण करके ही सही, जो दिखेगा अनुभव होगा वही तो आत्माका रहस्य है। वहाँ पता होगा कि आत्मा तो सहजज्ञान सुखमय है। अत आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानप्रमाण है।

आत्माकी ज्ञानस्वभावता—कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ है, ज्ञान एक पदार्थ है और ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी है ऐसा मानते है। वे कुछ देर सोचें कि जब ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी हुआ तो आत्मा तो स्वभावसे अचेतन अज्ञान ही रहा तो जैसे आत्मा है वैसे घट पट आदि पदार्थ हैं, फिर ज्ञानका समवाय आत्मामे ही क्यो होता घटादिमे क्यो नही होता ? इसके कुछ भी कारण खोजो। जैसे कि आत्मामे ज्ञान ज्ञान है यह प्रत्यय है सो वहाँ ही समवाय है आदि वहाँ भी यही प्रश्न है कि ज्ञानके स्वभावके अभावमे वहाँ ही ऐसा क्यो ? तथा ज्ञानसमवायसे पहिले आत्माकी क्या स्थिति है आदि अनेक दोषोसे दूषित होनेपर यही मानना युक्त है कि आत्मा स्वभावसे ज्ञानमय है। यहाँ आप यह तर्क कर सकते—जब आत्मा ज्ञानस्वभाव है तब आत्मासे यह ज्ञान कभी दूर होगा नही तब निर्वाण कैसे होगा ? परन्तु भाई ज्ञानका स्वभाव मात्र प्रतिभास है, जो उसके साथ विकल्प लगे हुए है वह तो औपाधिक दोष है, तुम्हारे मतमे शायद सकल्प विकल्पज्ञान ही ज्ञान होगा, ऐसा ज्ञान तो वहाँ नष्ट हो ही जाता क्योकि वह औपाधिक दोष है, ज्ञान तो वहाँ भी रहता है आवरणोके क्षय होने पर वह ज्ञान सर्वका ज्ञाता हो जाता। यदि ऐसा न मानो अर्थात् आत्मा इस दृष्टिमे व वैसी निर्वाण दशाको देखते हुए ज्ञानप्रमाण नही है ऐसी धारणा करो तो अनेक दोष उपस्थित

होते है । अतः आत्माको ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये ।

ज्ञानस्वरूप अनुभव करनेमे गौरव—देखो भैया ! अभी किसीसे कहो कि तू ज्ञानरहित है, अज्ञान है तो वह बहुत बुरा मानता है । क्यो भाई उनके वर्तमानको जब बताया जा रहा है, प्रशसा की जा रही है तो बुरा क्यो मानते ? और यह कहा जावे कि तुम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञानवत हो तो वह उसे रुचता, तो मालूम होता कि ज्ञान तो स्वभाव है और अज्ञान आत्माकी दुखावस्था है । जैसे किसीको कहा जाय कि तू क्रोधी मानी है तो वह सुनता नही चाहता और कहा जावे कि तुम बहुत शाँत हो तो वह ऐसी ही रुचि करता तो शाति स्वभाव ही है और क्रोध आदि विभाव है । यह विद्वानोकी बातमे की बात है, नही तो विषयी जीवोसे तुलना कर दोष देने लगो । सो ठीक नही अथवा विषयावस्थामे भी देखो तो स्वभावकी बात भीतरसे सुहाती है । बहुत विस्तार करके क्या ? आत्माके ज्ञान प्रमाणकी बात सर्वके अनुभव की वस्तु है । यह बात कहने सुनने से नही उतरती किन्तु अनुभवसे पूर्ण प्रमाणरूप होती है । जैसे मिश्री का स्वाद कहने सुननेसे नही आता वह तो चखनेसे ही आती है ।

ज्ञानानुभवमें तृप्तिका संदेश—अत हे मुमुक्षुजनो ! आत्माको ज्ञानमय ज्ञानप्रमाण मानकर श्रद्धा करके उसे स्वय पूर्ण अखड सर्व विश्वसे पृथक् एक वस्तुरूप निरखो, उसीमे रुचि करो, रत होओ, तृप्त होओ, स्वय ही महान अनुपम स्वाभाविक सुख प्राप्त होगा । यह आत्मा स्वय अचिन्त्यशक्तिक है । मात्र परके लोभ—सयोगाधीन दृष्टि रखकर ही स्वयके उपयोगमे हीन बन रहा है । भाइयो ! इस आत्मरहस्यकी बात अब न समझोगे तो और कब समझोगे ? आत्मा तो इस शरीरसे बिदा होकर नये शरीरमे बसेगा । यदि असज्ञी पर्याय पाई तब तो गये बीते ही हो गये, फिर क्या है ? कोई पूछने वाला ही नही । यह मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ पर्याय है । यदि मनका सदुपयोग नही किया तो कर्म मानो यह समझकर या जीव ही मानो यह समझकर इसे मनकी जरूरत नहीं तो क्षयोपशमके अभावसे आत्माकी अशक्ति से असज्ञी पर्याय ही तो फिट बैठेगी । अत भाइयो ! चेतो, इस ज्ञानमय आत्माके निर्णयमे लक्ष्यमे उपयोगमे भावनामे परिणमनमे परिणत होकर स्वय सुखी बनो ।

अब आत्माको ज्ञानप्रमाण सिद्ध करके तथा ज्ञानको पहिले ही सर्वगत बताया, सो सर्वगतज्ञान प्रमाण आत्मा होनेसे यह भगवान आत्मा भी सर्वगत न्यायसिद्ध है ऐसा अभिनन्दन करते है, वर्णन करते हुए स्वय आचार्य उस रुचिको दृष्टिको रखकर प्रसन्न होते है । आत्मा का सर्व व्यापकपना सिद्ध करते है ।

> सव्वगदो जिणवसहो सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
> णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

ज्ञानकी सर्वज्ञायकता—जिन वृषभ सर्वज्ञ भगवान सर्वगत है, क्योकि वे ज्ञानमय है

उस ज्ञानमे सर्व अर्थ दर्पणमे प्रतिबिम्बकी तरह व्यवहारसे पहुच गये है क्योकि वे सर्वपदार्थ उस स्वच्छ ज्ञानके ज्ञेय हो रहे है। जब जितना ज्ञेय हो रहा है उस अन्तर्ज्ञेयसे भिन्न ज्ञान क्या बताया जावे ? ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ ही है, ज्ञेयज्ञान बिना ज्ञान नाम क्या ? ज्ञान—जानता, तब क्या जानता, किसका जानना—ये सब भाव प्रश्नमे होते है तो जो उत्तर है वह यही है कि ज्ञान सर्वका जाननहारा है और इसी हेतु ज्ञान सर्वव्यापक है।

अपनी त्रुटि—ज्ञान किसी भी सकुचित सीमामे नही है इस बातको देखें कि ज्ञानका स्वरूप क्या है तब उक्त बात नि सदेह प्रतीत होगी ही। ज्ञानका स्वरूप है एक जानना मात्र, हमारे जाननेमे बहुत गलतिया है। जानते ही इष्ट अनिष्ट बुद्धिया चल उठती है जाननेका अर्थ है, यह ऐसा है यह इस प्रकार है ऐसा प्रतिभास, न कि विकल्प, क्योकि जाननेमे विशेष विकल्प नही आये तो वह ज्ञान है। यदि हमारे जाननेमे ऐसा आये कि यह अच्छा है और यह बुरा है, ऐसा बना खावे, ऐसा बना नही खावे, ऐसा पहिने और ऐसा नही पहिने तो यह अज्ञान है क्योकि इस जाननेमे विकल्प है वहाँ तो खाने पहिननेमात्रका भी विकल्प नही होता। जैसे तुरन्तका जन्मा बच्चा अपने कमरेमे बैठा सब चीज देख रहा है उसे अपनी आँखोसे यह दीखता है परन्तु यह अच्छा है यह बुरा है कई प्रकारकी ये ऐसी चीजे है आदि विकल्प उसके जाननेमे नही है और वह प्रतिभास स्वरूपसा रहता है इसी तरह तो क्या, वह तो दृष्टान्त मात्र है कुछ दृष्टिको लिये हुए है, जो सब पदार्थोको जानता है, परन्तु मात्र प्रतिभासस्वरूप ही रहता है वह है ज्ञानका शुद्ध परिणमन। स्त्री पुत्रका विकल्प हो, दुकान मकानका विकल्प हो, राग वैरागादिका विकल्प हो तो ज्ञानस्वभावके साथ विकल्प बना लिया। यदि ज्ञान स्वभावके साथ अन्याय होगा तो ज्ञानस्वभावका कैसे अनुभव होगा ? जिस पर्यायको लेकर हम बैठे है, जिन विचारोको लेकर हम बैठे हैं उन पर दृष्टि रहेगी तो ज्ञान स्वभावका कैसे अनुभव होगा ? जब तक अतरगमे यह विकल्प होगा कि मैं हू, ज्ञानका अनुभव नही होगा। जब यह समझने लगेगे कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका अभेद स्वभाव ही मेरा स्वरूप है ऐसा अतरगमे विचार होगा तो अनन्तर अभेदानुभवके समय जरूर ज्ञानका अनुभव होगा। ज्ञानका अनुभव जिसे जिस कालमे होता है उसका आत्मतत्त्व प्रसन्न रहता है ऐसा तत्त्व भाव जिसका रहना है उसके तत्त्वभूत ज्ञानका अभाव नही। निजस्वभावकी स्थिरतामे आविर्भूत आत्मामे रहने वाला ज्ञान सर्वव्यापक है।

सर्वगतता व अभीष्टसिद्धि—ज्ञान सर्वव्यापक है। ज्ञान जब सर्वव्यापक है तो ज्ञानमय होनेके कारण यह भगवान भी सर्वव्यापक है, अत इस भगवानको ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देख कर सर्वव्यापक कहा गया है। इस प्रकार जिसको ज्ञानस्वभावका पूर्ण निर्मल अनुभव है वह सर्वव्यापक है। सर्वगत ज्ञानका विषय होनेसे सर्व अर्थ भी सर्वगत- ज्ञानसे अभिन्न जो भग-

वान उसके ये विषय है अतः आत्मा भी सर्वगत है, यह कहा जा रहा है कि पदार्थ बोधके बिना ज्ञान है क्या एव सर्वगत ज्ञानके बिना भगवान है क्या और सर्वगत ज्ञानके बिना है क्या ? समस्त अर्थ या सर्व ज्ञेय ज्ञानके विषय है । ज्ञेय भी सर्वगत ज्ञानमे व्यापक हो जाता है तब विषयविषयी भावसे देखो तो ज्ञान अर्थगत है तो अर्थ ज्ञानगत है । एक काम देखकर और उसमे श्रद्धा करनेसे सारे अभीष्ट कार्य हो जाते है और जो दुनियाभरके काम देखेगा, दुनिया भरसे याचना करेगा तो उसका कोई काम सिद्ध नही होगा, अत एक निज ध्रुव-स्वभावको देखो सर्व अभीष्ट सिद्धि है ।

परमार्थ एकत्वके शरण ग्रहणसे लाभ व एक लोकदृष्टान्त—एक किवदन्ती है कि एक हिन्दु और एक मुसलमान एक नदी पार करते थे । दोनोने सोचा अपने-अपने भगवानका नाम लेकर नदी पार की जाय । हिन्दुने कहा हे ब्रह्मा मेरी रक्षा करो । ब्रह्मा आये तो उसने कह दिया कि हे विष्णु मेरी रक्षा करो । ब्रह्माको लौट जाना पड़ा । विष्णु आये तो उसने कह दिया कि हे महादेव मेरी रक्षा करो । विष्णु लौट गये और महादेव आये तो उसने कहा कि हे शीतला माता मेरी रक्षा करो, महादेव भी लौट गये और शीतला आई तो वह बोल उठा हे दुर्गा मेरी रक्षा करो । इस प्रकार देवता आते गये और लौटते गये और किसीने भी रक्षा नही की और वह डूब गया । उधर मुसलमानने केवल अल्लाका नाम लिया और उत्साहसे नदी पार हो गया । वहा उसके मनमे एक दृढ़ सकल्पने बल दिया । वस्तुत हिन्दू अपनी रक्षाके बारे मे शकित था इस सदेहने डुबाया । मुसलमानके भाव नि शक थे सो नि.शंकताने पार कराया । देवताका वर्णन तो नि शकता सशकताका अनुमान करनेके लिये अलङ्कार है । यह तो मात्र लौकिक कहावत है । इस प्रकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखना चाहिये । मूर्तिपूजामे भी ज्ञानदृष्टि, २४ तीर्थंकरोके नाम लेने मे भी ज्ञान स्वभावकी दृष्टि, पञ्चपरमेष्ठीका ध्यान करते समय भी ज्ञान स्वभावकी दृष्टि, व्रत, तप, अनशन, कायक्लेश सामायिक बाह्य धर्म आदि सबमे निज स्वभावकी दृष्टि रखना चाहिये । बिना ज्ञानदृष्टिके सहज सुख स्वरूप पीयूप या अमृत नही प्रगट हो सकेगा । ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखनेपर ही अमर आत्मा व्यञ्जनामे भी अमर हो सकता है ।

अमृत तत्त्व—देखो भैया ! अमृतको सब ललचाते अच्छा शर्बत पीकर मनुष्य कहता है कि यह तो अमृतसा मीठा है । पूछा जाय कि यह अमृत क्या है ? देवताओंके कठसे झरता होगा सो ही अमृत होगा ? क्या झरता होगा अच्छा पानी या अच्छा रस झरता होगा । उस रसके झरनेके बावजूद वह अमर नही रहता है । अमर कोई नही रहता है । जो जन्मा है उसकी कितने सागरकी भी भले ही उम्र हो, यह मरेगा अवश्य । पुराने जमानेमे आध्यात्मिक मनुष्य जन्मते थे । उनका सुख क्या होगा ? कल्पना करो वे छोटे छोटे घरोमे कुटियो

मे रहते थे । उन्हे किसी चीजका अभाव नही था । वे लोक परलोकको मानते थे । उस समय साधु सन्तोका सन्मान होता था । राजा महाराजा लोग अपनी वडी-वडी गुत्थियोको सुलझाने के लिये विद्वानोका आदर करते थे और उनसे राय लेते थे । सब लोगोको यह विदित था कि आत्माके अन्दर रहने वाला ज्ञान स्वभाव अमृत कैसे है ? जो नही मरे उसे ही अमृत कहते है । ज्ञानस्वभाव आत्माके अन्दर ऐसा है जो कभी नही मरता । यह सर्वपर्यायोमे एक स्वभावसे रहता है । ऐसे ज्ञानस्वभाव की दृष्टिको अमृत कहते है । ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका सुख और विज्ञानके लौकिक सुख क्या कही समान हो सकते है ? अब धीरे-धीरे लोक रहस्य को तो भूल गये और जो रुचा उसे ही अमृत कहने लगे । यह दृश्य कुछ भी अमृत नही । इस लिये यदि अपने को अमर होकर सुखी होना है तो ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको धारण कीजिये । ज्ञानस्वभावके धारणके बिना सुख शांति नही होगी ।

स्वदयाका अनुरोध—देखो यदि हमारे कहनेसे महिलाओके भय हो गया हो कि पुरुष ज्ञानी हो जायेंगे और हमारी उपेक्षा कर देगे तो क्या होगा, तो सुनो–महिलाओको भी चाहिये कि वे पुरुषोसे भी पहिले ज्ञानस्वभावको धारण करे । धर्मके मार्गमे साराका सारा परिवार लगे । जगतके पति इतने मुग्ध मत वनो और न यह शका किया करो कि अब क्या होगा ? जमाना बुरा आ रहा है अब क्या होगा ? ऐसा सोचो कि हमसे बुरे कितने ही अनगिणत लोग पाये जाते है, उनका क्या होगा ? उनपर दृष्टि नही देते और यह कहते हो कि मेरा क्या होगा ? चाहिये तो यह मात्र परपदार्थ परभावका लक्ष्य न रहकर सहज ज्ञान रहे । अरे उन सवका क्या हो रहा है ? चिन्ता अपने मस्तिष्कमे मत रखो । ज्ञानस्वभावकी दृष्टि किसी तरह पाली जाय तो यह सबसे बडा भारी काम है । अहो देखो स्वय ज्ञानमय होकर भी स्वयको नही परमार्थस्वरूप जानता और यह लोक इसी कारण बाह्यसे ज्ञान और सुखकी आशा करके बरबाद हो रहा है । भेदविज्ञानकी छेनीसे स्वभाव परभावका स्वलक्षण से भेद किया जावे तो अपने स्वरूप तक पहुचनेमे क्या देर लगे ? क्षयोपशम तो है ही उसे परोन्मुख करके दुरुपयोगमे डाला जा रहा है । वह स्वोन्मुख हो तब सर्व स्वेष्ट मिल जावे ।

यथार्थ ज्ञान होनेपर सर्व ज्ञानकी अनुकूलता—श्री पूज्य विद्यानन्द स्वामीजी अनेक वेद वेदान्तोके परिपूर्ण ज्ञाता और पाँचसौ विद्वान् शिष्योके गुरु थे । उनकी दृष्टि एकनयको लेकर बहुत गहरी विशाल थी किन्तु जब देवागम स्तोत्रके मननमे अनेकान्त दृष्टिकी साधकता ज्ञात हुई तो सर्वज्ञान स्वसाधकताको पुष्टिका निमित्त हो गया । इसलिये भैया स्वपरविवेक करो । परका तो अपने मे अत्यन्ताभाव है तथा परको निमित्तमात्र करके परलक्ष्यजन्य जो विभाव है यह भी स्वरूपमे नही है । मात्र सर्वशक्तियोके अभेद स्वभावमय निज अपनेसे राग-द्वेष क्रोध मान माया लोभ दूर करो । जगतके बाह्य रिश्तेदारोसे दृष्टि निजमे औपाधिक

उठने वाले रागादि विभावोसे दृष्टि हटावोगे तब इस आत्माको सुख शातका अनुभव प्राप्त होगा। इसलिये ज्ञानस्वभावकी दृष्टि सुखकी देने वाली है—यह नि.सदेह निर्णय करलो। सम्यक्त्वके बराबर दुनियामे तीनो लोकोमे तीनो कालोंमे सुख देने वाली कोई चीज नही। सम्यक्त्व नही है और वैभव है तो इससे सुख नही मिलेगा। यदि सम्यक् है तो यही सुखका स्थान है। सम्यग्दर्शन पानेका प्रयत्न करो। कितनी भी बाधा आये तो मनुष्यका साथ देने वाला कोई नही है, कोई भी पदार्थ उसके साथ नही जाता, किसी भी पदार्थसे उसका हित नही है। हित उसके ज्ञानके विकासमे ही है।

किसीके भी सहयोगी होनेका अभाव—बाल्मीकि ऋषिकी ऐसी एक कथा है। वे एक जगलमे छिप कर बैठ जाते थे और जो भी आदमी उस रास्तेसे गुजरता था उसका माल असबाब रखवा लेते थे। एक दिन एक साधु आसन, डडा और एक कमडल लिये उधरसे निकला। लुटेरेने कहा कि जो कुछ तुम्हारे पास है रख दो। साधुने कहा कि लो भाई, तुम कौन हो? उसने जवाब दिया लुटेरा हू। साधुने कहा कि लो भाई मेरा आसन डडा और कमण्डल सब ले लो परन्तु मेरा एक सवाल है उसका अपने परिवारवालोसे उत्तर पूछकर आओ और मुझे बताओ। बाल्मीकिने कहा कि बताओ क्या पूछकर आवें? साधु बोले उनसे यह पूछकर आओ कि मैं तुम्हारे लिये अनेक पाप करता हू, तुम्हे धन लाकर देता हू, इस पाप वृत्तिको लेकर मुझे जो पाप होगा उसमे तुम लोग भी हिस्सा बटावोगे कि नही। साधुजीका अपूर्व प्रश्न सुनकर बडी उत्कण्ठासे लुटेरा घर गया और परिवारवालोसे पूछा तो सबने उत्तर दिया कि नही बाबा, वह पाप तो तुम्हे ही भोगना पडेगा। यह जवाब सुनकर जब वह लौट रहा था तो रास्तेमे उसने सोचा कि मैं तो इन सबके लिये इतना पाप करता हू और इन सबने मुझे यह उत्तर दिया। इस प्रकार जगतमे मै अकेला, फिर मै क्यो उन सबके लिये इतना पाप कमाऊ? वापिस आकर उन साधुजीसे उसने कहा कि यह लो तुम्हारी सब चीजें तुम ही रखो और मुझे भी एक आसन एक डडा और कमडल दिलवावो। इस प्रकार वह भी साधु बन गया और इसी बाल्मीकिने आगे चलकर रामायण आदि लिखी। इसमे क्या बात जानना है? जो मनुष्य जो भाव करता है उसका परिणाम वहा मनुष्य भोगता है, अन्य कोई साथ नही देता।

ज्ञानस्वभावके माहात्म्यका गीत—अपने-अपने परिणामोको निर्मल बनानेकी चेष्टा कीजिये। निर्मलताके लिये द्रव्यदृष्टि स्थिर रखिये। ज्ञानस्वभावका स्वलक्षण मतिमार्गमे बना रहे। इस ज्ञानस्वभावका क्या महात्म्य है यह उसके विकासमुखेन इस गाथामे गाया है। यह ज्ञानस्वभावसे तो सर्वशक्तिमान है ही तथापि जब ज्ञान निरुपाधिक सहज निर्मल पर्यायकी निर्मलतासे रहता है तब त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायके रूपमे व्यवस्थित जो ज्ञेय उस समस्त

का बोध होता है वहाँ निश्चयनयसे तो अनाकुलतारूप सुखका स्वसवेदन हो रहा है सो उस स्वसवेदनके अभिन्न आधारभूत जो आत्मा है उसके प्रमाण ही ज्ञान है, वह निज क्षेत्रका परित्याग कैसे कर सकता है ? यदि स्वभावकी निज क्षेत्रसे वाहर कल्पना करो तो वह पुष्पकी तरह असत् है । अत निश्चयनयसे तो विश्वके ज्ञेयाकारोमे आत्मा जाता ही नही है फिर भी जो सर्वबोध है वह आत्माके ही सत्स्वभावका महात्म्य है जो घर बैठे ही ज्ञान सर्वगत है । इसी सम्बधको लेकर व्यवहारनयसे ज्ञान सर्वगत है और ज्ञानसे अभिन्न होनेके हेतु ज्ञान लक्षण लक्षित आत्मा भी सर्वगत है । देखो यह प्रताप उनके ही प्रगट होता है जो अखड निजद्रव्य पर दृष्टि करके अपने स्वभावमे रमते है । निज स्वभावसे च्युत होकर वाह्य अध्रुव विपयमे रमनेका फल दुर्गमन ही है ।

प्राय सारे मनुष्य मोहमे फसे है । जो मुख आपको सुन्दर लगता है उसी पर मोही रीझते हो, परन्तु उस ही सुन्दर मुखसे जव लार टपकने लगे तो ग्लानि पैदा हो जाती है । नासिकासे मल निकले तो ग्लानि पैदा हो जाती है, इसी प्रकार ये अग तो अशुचि है । यह अशुचि निजको और परको, सुन्दरता बुद्धिसे राग पैदा करने वाली है । इस तरह वह सौन्दर्य कितना अशुचि है ? इस सौन्दर्य नेहको छोडना चाहिये । घडी सुन्दर है, स्त्री बडी सुन्दर है । सुन्दर हर चीजको कहते तो हो, परन्तु सुन्दर शव्दका अर्थ क्या है ? व्याकरणमे सुन्दरका अर्थ है सु उन्द् अर्—यहा सु उपसर्ग उन्दी क्लेदने धातु है व अरच प्रत्यय है अर्थात् वह सुन्दर है जो तडफा तडफा कर मारे । दुनियाके लोग कहते है कि स्त्री बहुत सुन्दर है, हा बिल्कुल ठीक वह सुन्दर है क्योकि वह तडफा-तडफाकर मारती है । वह नही मारती, उसका विषय पाकर रागी स्वय मरते है । घडी बहुत सुन्दर है अर्थात् वह तडफा तडफा कर मारने वाली है । जगतके पदार्थ जो सुन्दर लगते है उन सबका यही अर्थ होता है । पदार्थ तो अपने आपमे मोजूद है, न वे सुन्दर है, न असुन्दर है, ऐसे जगतके बाह्यपदार्थका मोह ज्ञान स्वभाव की दृष्टिसे निकालकर ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको निर्मल करो । उस दृष्टिके निर्मल होते ही सारे काम जो होनेके होगे वे सब अपने आप हो जायेंगे । शुद्ध दृष्टिके फलमे अतिम स्वरूप क्या होता है, उस विपयका यहा विवेचन है, ज्ञान इस प्रकार सर्वगत हो जाता है ।

निश्चय, व्यवहारसे जगतकी ज्ञानगतताका निर्णय—यद्यपि निश्चयसे कोई अर्थ आत्मामे व आत्मस्वरूपमय ज्ञानमे नही पहुचता है तथापि ज्ञानमे वैसा ही तो ग्रहण होता है अत. विश्व भी ज्ञानगत समझिये, किन्तु निश्चय नयसे जगत ज्ञानगत नही है । व्यवहारनयसे जगत ज्ञानगत है । ज्ञान भी इसी प्रकार व्यवहारसे सर्वगत है । ज्ञान निजतत्त्वके आधारको नही छोडता अर्थात् निश्चयसे यह आत्मा अपने ही प्रदेशमे है और ज्ञान भी अपने ही प्रदेश मे है, इसलिये निश्चयनयसे ज्ञानने आत्माके प्रदेशको नही छोडा तो भी समस्त पदार्थोको

जान गया, ऐसे समस्त पदार्थोमे नही मिलते हुए भी समस्त पदार्थ उसके जानने मे आ गये। इसलिये ज्ञान सर्वगत कहलाता। हम भी कहते है हमारा ज्ञान इस कमरेमे है और यह कमरा कमरा हमारे ज्ञानमे है। निश्चय नयसे आकुलता या अनाकुलता जो कुछ भी हो रही है सो इस ज्ञानमे ही अभेद दृष्टिसे हो रही है। ऐसे अपने सुख दु:खके अनुभवमे रहने वाला यह अपना ज्ञान भी कमरेमे है, जगतके पदार्थोमे यह ज्ञान घुस नही रहा तो भी उन्हे जान तो रहा। इसलिये व्यवहारनयसे हमारा और तुम्हारा ज्ञान इस कमरेमे होते हुए भी सब पदार्थो को जानता है और निश्चयनयसे यह ज्ञान केवल उस आत्मामे लीन है। जैसे सूर्यकी चमक अपने आकारमे ही है परन्तु उसके निमित्तसे प्रकाश सर्व पदार्थोमे नही घुसकर भी पदार्थोमे प्रकाश आनेके निमित्त होनेके कारण यह कहा जाता है कि सूर्यका प्रकाश सर्व पदार्थोमे है। इसी तरह ज्ञान सर्वपदार्थोको जानता है, इसलिये व्यवहारनयसे सब पदार्थोके जानने कारण ज्ञान सर्वगत कहा गया है।

ज्ञानका ज्ञानस्वरूपमे मिलन—ज्ञान अपने आपके प्रदेशोको नही छोडकर भी सारे लोकालोकमे व्यापक है। सो यह ज्ञान मेरा मुझे ही मुझसे ही मिलता है—ऐसा मानकर ज्ञानस्वभावको पानेके लिये बाह्य पदार्थ खोजनेका प्रयत्न नही करना चाहिये। बाह्य पदार्थो को उन्हीके तन्त्र स्वभाव जानकर अपनी दृष्टि उनपर न दीजिये। ज्ञानस्वभाव अपने आप पैदा हो जायगा। यह ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञताको लिये हुए प्रगट होता है। इसलिये कहा जाता है कि ससारके सारे अर्थ भगवान्मे आ गये। अर्जुन कहता है कि कृष्ण हमारे भीतर रहते है, ठीक है, मैं अर्जुन अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि द्वारा ज्ञानस्वभावके विराटरूप को देख सकता हू। सम्यग्दृष्टी अर्जुनने इस कृष्ण परमात्मापदार्थ विराटरूप को अपने अतरगमे देखा जिसमे अर्जुन खुद भी समा गया। यह द्रष्टा भी समा गया। सिद्ध भगवानका भी ऐसा विराट रूप है। जिसमे ऐसे ऐसे विराट रूप धारण करने वाले समा गये अरे अब भी बहुत जगह है मानो उनकी चुनौती है कि ऐसे अनगिनते भी लोक हो तो उन्हे भी एक कोनेमे डाल दूगा। ऐसे विराटरूपको ज्ञानी सम्यग्दृष्टि यही अपनेमे दर्शन कर सकता है। उस समय यह पता नही रहेगा कि मै कहा क्या करता हू, कहाँ पर बैठा हू और क्या मुझे करना है? वहा भी ज्ञान आत्मामे ही है। यह स्याद्वादसे मुद्रित है, विश्वमे भी यही बात है, सर्वद्रव्य स्वतत्र है, विश्व निश्चयसे अपने ही स्वयके चतुष्ट रूप है, उसका द्रव्य या उसका गुण अथवा पर्याय कुछ भी उससे बाहर अन्य क्षेत्रमे नही होता। तब विश्वका एक अश भी सर्वज्ञमे नही पहुचा, फिर भी उस ज्ञानके द्वारा व्यवहारसे वह जाना तो जा रहा है। जैसा सत् गुण पर्याय यहा अर्थमे है उस प्रकारका वोध-ग्रहण तो ज्ञानमे है। इस प्रकारके ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धके कारण यह समझा गया है कि विश्व भी ज्ञानगत है। ऐसी परिस्थिति समभकर भी समभना

तो यही है कि सर्वद्रव्य अपने अपने स्वरूपमे निष्ठ है। वस्तु स्वभाव ही ऐसा है इसलिये यह सुप्रतीत है कि ज्ञान ज्ञेयमे नही चला गया और ज्ञेय ज्ञानमे नही चला गया। ज्ञानके आकार मे यह ज्ञेय प्रतिबिम्बित होता है। ज्ञानने अपनी शक्तिसे ज्ञेयको जान लिया तो कहा कि यह ज्ञेय ज्ञानमे गया, यहाँ भी मात्र ज्ञान स्वभावदृष्टि रखो।

प्रथम धर्मपालन—जो आपमे ध्रुव है वही धर्मका मूल है, धर्ममे बडा सुख होता है, धर्म उत्साहित होकर पालन करना चाहिये। वस्तुके अखडस्वभावकी दृष्टि आना प्रथम धर्म पालन है। घरमे भी जाकर व्यर्थ समय मत खोओ। इस समयमे भी हम कोई अच्छा लाभ निकाल सकते है। परिवारके लोगोसे कहो कि विषय कषाय, मजाक गपशप आदिमे समय खोनेसे अपने आपको बचाओ। इसमे ही सारा समय खोया तो अपना हमारा दोनोका जीवन व्यर्थ है। सो देखो भैया! अब तो उस ही आत्मस्वरूपको कहो, परस्पर उसकी चर्चा कर उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उस ही मे लीन होओ। इस ही उपायसे अविद्यामय स्वरूपको त्याग करके विद्यामय स्वरूपको प्राप्त होवोगे, स्वय जैसे निरूपाधिक स्वभाव है उस ही रूपसे हो जावोगे।

अब आत्मा और ज्ञानके विषयमे अपेक्षा द्वारा परस्पर एकपने और अन्यपनेका चिन्तवन करते है। यह एक विचार है जिसका ध्येय वस्तुके पूर्ण स्वरूपको जानकर फिर विकल्पसे हटकर निजका अनुभवन रह जाना मात्र है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य यही सिद्धान्त दिखाते है।

णाणं अप्पत्ति मद वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं 'वा अण्णवा ॥२७॥

आत्माकी भावाभावात्मकता—पहिले आत्मस्वरूपका विचार करो कि आत्मा कैसा तो अस्तित्व स्वरूप है और कैसा नास्तित्वस्वरूप है और ज्ञानका विचार करो कि वह किस स्वरूपात्मक है और अवशिष्ट किन लक्षणोंके अभावात्मक है? आत्मा तो चैतन्यप्रधान परिणामिक भावके साथ अनन्त धर्मोंका अधिष्ठानभूत है, वह समग्र आत्मातिरिक्त शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्योंके अभावात्मक है। आत्मा तो चैतन्य प्रधान पारिणामिकभाव के साथ अनन्तधर्मोंका अधिष्ठानभूत है। वह समग्र आत्मातिरिक्त शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश कालद्रव्योंके अभावात्मक है और ज्ञान समग्र अचेतन द्रव्योमे किसी भी वस्तुसे तादात्म्य न रखने वाला अर्थात् किसी भी अचेतन पदार्थमे न पाया जाने वाला किन्तु केवल आत्माके साथ अनादि अनत स्वभावसिद्ध तादात्म्यको रखने वाला अर्थात् आत्मद्रव्यका ही प्रधान शक्तिभूत एक गुण है। तब यह सुप्रतीत है कि भावापेक्षया आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है अर्थात् इस गाथामे आत्मा और ज्ञानके विषयमे यह बताया गया है कि आत्मा

ग्रौर ज्ञान भिन्न-भिन्न भी है ।

आत्माकी ज्ञानादिरूपता—पहिले कहा था कि आत्माको ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखना चाहिये तब ज्ञानके सिवाय आत्मा और कोई चीज नही । अब कहते है कि आत्मा और ज्ञान एक भी है और आत्मा और ज्ञान भिन्न भी है । ज्ञान मात्र आत्माकी रहस्यमय बात समझने से पहिले वस्तुका पूर्ण स्वरूप जानना परमावश्यक है । वस्तुकी एक दृष्टिकी मुख्यता से पूर्ण अवस्थाको पाया नही जा सकता, अत वस्तुको पूर्ण जाननेके लिये आचार्यमहाराज २७ वी गाथा कहते है । ज्ञान है सो आत्मा है । आत्माके बिना ज्ञान अपना स्वरूप कायम नही रख सकता । इसलिये ज्ञान आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है और आत्मा अन्य भी है क्योकि ज्ञान गुण ही हो और अन्य गुण न हो ऐसा नही हो सकता, क्योकि अन्य गुणके अभावमे ज्ञान भी नही रह सकता । इस तरहसे आत्मामे और ज्ञानमे एकत्व और अन्यत्व सिद्ध करते है । आत्मा किसे कहते है ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि असख्य गुणका पिड समूह आत्मा कहलाता है । ज्ञान आत्मा ही है परतु आत्मा ज्ञान भी है, आत्मा दर्शन भी है, आत्मा अन्य गुण रूप भी है । पहिले आत्मद्रव्यको पूरा पहिचानो, सर्व प्रकारसे आत्माको समझकर फिर ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे आत्माको देखकर आत्मकल्याणमे लगो तो खुद ही आत्माको पहिचानो । ज्ञान जगतकी सारी इतर वस्तु अ से सम्बन्ध नही रखती । ज्ञानका पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, द्रव्यमे तादात्म्य नही है । ज्ञानका अनतअनादि तादात्म्य सम्बध आत्मा से ही है, जैसे अग्निके बिना उष्ण कहाँ व उष्णके बिना अग्नि क्या ? अग्निका और उष्णका तादात्म्य सम्बन्ध है ।

द्रव्य गुण पर्यायके अवगमकी आवश्यकता—जगतके अंदर तीन तत्त्व है—द्रव्य, गुण और पर्याय । तीनो तत्त्वोको अच्छी तरह जाने बिना अध्यात्मशास्त्र जाना नही जा सकता । पर्याय उसे कहते है जो सदा नही रहता है अथवा जो नष्ट हो जाता है उसे पर्याय कहते है । सरल भाषामे पर्यायका यही अर्थ है । जो क्षणिक है और नष्ट हो जाती है उसे पर्याय कहते है अर्थात् पदार्थकी प्रति क्षण-क्षणकी जो अवस्था है उसे पर्याय कहते है । एक क्षणकी अवस्था दूसरे क्षणमे नही होती चाहे सदृश अवस्था हो या विसदृश । गुण वह कहलाता है जो तीनो काल रहता है और जिसकी कोई न कोई अवस्था रहती है उन गुणोका एक पिड अभेद वस्तु कहलाती है । देखो—क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब पर्याय है, क्योकि ये सदा नही रहते । जो चीज दिखती है, अथवा जो चीज नही दिखती परन्तु क्षणिक है वह पर्याय है, उन सब पर्यायोमे अनुगत एक जो हमारे ज्ञानके द्वारा गम्य है वह चीज कहलाती है गुण । शान्ति क्षणिक है यह भी पर्याय है, चारित्र गुणकी शुद्ध तरग है परन्तु शाति पर्याय सदृश होकर रहने वाली चीज है । कषाय और शातिके आधारमे रहने वाली जो एक चीज है गुण, उसे

चारित्र कहते है । कषाय और शाँति इस चारित्रगुणके विकार है । क्रोध, मान, माया, लोभ भी चारित्रगुणके विकार हैं, परिणय मन भी विकार है, देखो यहाँ विकारसें मतलब परिणमन का है, इसलिये स्वाभाविक परिणमन भी विकार है और वैभाविक परिणमन भी विकार है। किसी भी वस्तुकी अवस्थाएँ निराश्रय नही हुआ करती । अवस्था किसकी है, किसमे है ये प्रश्न अपने आप उठते है । उनका जो उत्तर है उसे गुण कहते है । चौकी किसकी पर्याय है ? अणुकी । परमाणुओके समूहसे होने वाली यह परिणति है, समानजातीय पर्याय है ।

पर्याय और गुणके विश्लेषणका उदाहरण—खम्भा सफेद है । यह सफेद पर्याय है क्योकि यह क्षणिक है । काला नीला सफेद आदि सब पर्याय है । परन्तु इस पर्यायका आधार क्या है ? वस्तुएँ आधारके बिना नही रहा करती । इसलिये इस पर्यायका आधार वह तत्त्व है जिसका कोई विशेष रग नही है और जो सदा रहता है । पर्यायका आधार किसी अन्य अवस्थाको तीन कालोमे नही पकडता और अवस्थाके बिना वस्तु नही रहती, यह बात आँखो से नही जानी जाती है, आँखसे तो खम्भे का रग ही दिखेगा, परन्तु ज्ञानसे उस रगका आधार उसका रूप जाना जा सकेगा । अत पर्यायका आधार जो चीज है वह कहलाता है गुण ।

गुण पर्याय व प्रदेशोके विवरणका एक दृष्टान्त—जैसे स्थूल दृष्टान्त लो उगली मुडती भी है, सीधी भी रहती है और हथेलीमे भी रहती है । ये सब उगलीकी अवस्थायें है, परन्तु इन सब अवस्थाओका जो आधार है वह उगली है । रूप गुण है वह अवस्था रूपमे आता है । वहाँ अवस्था तो पर्याय है व जिसमे यह अवस्थाएँ आती रहती है और विच्छेद नही होता उसे कहते हैं रूप गुण । खम्भेको रूपकी पर्यायसे देखा, अब इसे रसकी पर्यायसे देखे । परतु खम्भेकी रसकी पर्याय जल्दी प्रतीत नही होगी, इसलिये रसकी पर्यायसे किसी भोज्य पदार्थको देखो । आमको लो, शुरूमे कड़वा, फिर खट्टा, फिर मीठा, जब सड जाता है तब तीखा हो जाता है । ये सब आमकी पर्याय है । ये सब किस आधारपर है ? रसके । इसलिये वह आमका रस गुण कहलाता है । गन्धकी भी सुगंध और दुर्गंध पर्याय है । इन सुगन्ध अथवा दुर्गंध अवस्थाओका जो मूल होता है उसे गन्ध कहते है । यह गन्ध गुण कहलाता है ।

आत्माके गुण, पर्याय व प्रदेशोका विवरण—अब तीनोको आत्मामे घटाओ । राग, द्वेप, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्माकी सब अवस्थाएँ पर्याय है । परन्तु इनका आधारभूत चारित्र गुण है । स्त्री पुत्र और धनकी श्रद्धा व भगवानकी श्रद्धा या सिद्ध आत्मतत्वकी श्रद्धा ये सब पर्याय हैं और इन सबका एक रूप जो है वह है श्रद्धा गुण । दर्शनगुण ज्ञानगुण, चारित्रगुण ये आत्मामे अलग-अलग नही रहते । अगूठेसे लेकर सिर तक शरीरके सारे क्षेत्रमे आत्माके प्रदेश फैले है । इन सब प्रदेशोमे ज्ञान, दर्शन और चारित्र सब गुण रहते हैं । एक गुण जो मस्तकके प्रदेशमे रहता है वही गुण परके प्रदेशमे रहता है । यदि ऐसा नही

हो तो कई गुण हो जायें। जो ज्ञान आत्माके एक प्रदेशमे रहता है वही ज्ञान आत्माके सब प्रदेशोमे रहता है और जो चारित्र आत्माके एक प्रदेशमे रहता है वही चारित्र आत्माके सभी प्रदेशोमे रहता है इसलिये दर्शन, ज्ञान और चारित्रका अभेद्य रूप यह आत्मा है। जो प्रदेश ज्ञानगुणमे रहते है वही प्रदेश दर्शन गुण और चारित्रगुणमे भी रहते है। एक गुण सारे प्रदेशोमे रहता है और एक प्रदेश सारे गुणोमे रहता है। सारे गुण एक प्रदेशमे रहते है और सारे प्रदेश एक गुणमे रहते है। अर्थात् सारे ही प्रदेश सारे गुणोमे रहते है और सारे ही गुण सारे प्रदेशोमे रहते है।

आत्माके गुणोकी अभेद्यताका विवरण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि सब गुणोका एक अभेद्य रूप आतमा है, इस प्रकार द्रव्य गुण और पर्याय ये तीन तत्त्व है, शरीर पर्याय है और इसके आधारभूत द्रव्य परमाणु है, अनेक (अनत) परमाणुओकी स्कन्ध अवस्था है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव पर्याय है; इनकी आधारभूत आत्मा द्रव्य है जो ज्ञानके द्वारा गम्य है। यहाँ यह विचारना कि आत्मद्रव्यके साथ किसकी एकता है, परद्रव्यका तो अत्यन्ताभाव है उसके साथ तो अपनी एकता है ही नही, जो आत्मनिजक्षेत्रमे बात हो उसही मे अन्वेपण करना युक्त है। आत्मद्रव्यमे रागद्वेषमोह आदि जो नैमित्तिक भाव होते है उस का तो आत्मस्वभावके साथ कारण कार्यकी दृष्टिसे एकता है, व्यक्ति तो शक्ति नही है। इस ही प्रकार योग भी शक्ति तो है परन्तु कम्पनरूप व्यक्ति स्वभावके साथ ऐक्य नही रखता। अपूर्ण ज्ञानादि पर्यायें भी यदि स्वभावके साथ ऐक्य रखें तो स्वभाव सीमित हो जाय सो तो बात है नही, तब शेप रही शुद्धपर्याय, निरुपाधिक होनेसे सर्वथा निमित्तनिरपेक्ष होनेसे (काल द्रव्य तो समान सर्व परिणतिमात्र का निमित्त है ही उसकी अपेक्षाका प्रसग नही) द्रव्यके निरुपाधि स्वभावके अनुसार ही दशा है अतः ऐक्य (समानता) तो है परन्तु वह भी प्रतिक्षण-वर्ती पर्याय है क्षणिक है सदृश हे तथापि व्यतिरेकी है। तब शुद्धदृष्टिसे स्वभावकी स्वभावतासे एकता है और व्यवहारसे शुद्धपर्यायसे एकता है एव अशुद्धव्यवहारसे रागादिभावोका पर्याय कालमे आधार आत्मा हे, तो परन्तु तादात्म्य नही है, अविरुद्धता नही है। अतः जब भी आत्मस्वभाव जाननेका उपाय प्रारभ करते है तो अर्हत सिद्ध स्वरूपसे किया जाता है, इस उपायमे इसी कारण सुलभता है।

पर्यायमे आत्मबुद्धिका दुष्परिणाम--पर्यायमे अपनी बुद्धि मत लगाओ, आत्मद्रव्य ही स्वय एक ध्रुव है, उसकी रुचि अथवा दृष्टि पर्यायकी अशुद्धताके निवारणकी साधिका है उसको देखो पर्यायोपर धोखा न खावो। अपनी भूलसे धोखा खावे परका व्यर्थ ही नाम लगावे। इन पर्यायोपर आत्मदृष्टि होना यह तुम्हारी भूल है। आप यह सोचो कि यदि मैं रागद्वेप आदि भावोको अहितकारी पर्यायरूप क्षणिक मानूं तो क्या रागद्वेप मोह आदि भूल

कर भी मुझे सता सकते है । जब मै अपने आपमे इनका पुट लगाता हू तब यह बाह्य पदार्थ मुझे अपने वशमे कर सकते है ।

स्वप्नसुखकी मायारूपता—जम्बूस्वामी जब ससारसे विरक्ति पा रहे थे उस समय उनके चारो ओर उनकी स्त्रियाँ बैठी हुई ऐसी कथा उनको सुना रही थी जिससे विरक्तिसे उनका मन हटा लिया जाय । स्त्रियोने कहा कि यह विषयोका सुख इस ससारमे हमे मिला है ऐसा परम सुख छोडकर नग्न दिगम्बर रूप धारण करनेकी मूर्खता क्यो करते हो ? भाव उनका यह था, शब्द साम्य थे, गोदका बच्चा छोडकर पेटकी आश क्या करते हो ? जिस सुखकी आशामे यह परमसुख छोडकर तुम जाना चाहते हो उस सुखका पता भी नही कि वह कही है भी या नही ? फिर इस सुखको छोडना मूर्खता है । उस कथाके उत्तरमे जम्बूस्वामीने ऐसी कथा कही कि सबकी बोली बद हो गई । जो उन्होंने कथा कही उसका निष्कर्ष यह था कि जिस सुखको तुम परम सुख समझती हो वह तो स्वप्नके सुख है, स्वप्नका सुख तो क्षणिक सुख होता है जो आँख खोलते ही नदारत हो जाता है ।

भ्रम और अभ्रमकी अवस्थाका परिणाम—एक ब्राह्मणको स्वप्न आया कि किसी राजाने उसको ५०० गायें इनाममे दी, उसमे सब एकसे एक हृष्ट पुष्ट थी । गायोको देखकर वह बहुत सुखी हो रहा था । उसी समय एक ग्राहक आया और उसने कहा, मै कुछ गायें खरीदना चाहता हू । ब्राह्मणने कहा इन गायोमे से छाट लो । ग्राहकने उनमे से १०० गायें छाटली । ब्राह्मणने एक गायके सौ सौ रुपये माँगे । ग्राहकने पहिले ५० रुपये, फिर ६०) देना मजूर किया । बादमे ७०) पर बात छिड गई । ब्राह्मणने कहा कि मैं १०८) ही दूंगा और ग्राहकने कहा कि मै ७०) से ज्यादा नही दूगा । उनमे यह झगडा हो ही रहा था कि ब्राह्मणकी नीद खुल गई और उसे वे सब गायें और ग्राहक कुछ भी नही दिखाई दिये । फौरन उसने फिर आँख मीच ली और कहा कि अच्छा ७०) ही दे जावो, परन्तु नीद खुलते ही वह स्वप्न तो समाप्त हो गया, अब वह स्वप्न जैसी बात कहाँसे आ सकती है ? इसी तरह कषायादिक सारे सुख स्वप्नके सुख है । ये भी आँख खुलते ही समाप्त हो जायेंगे । वैभवका सुख, लडकोके सुख, यहाँ वहाँकी मान्यताके सुख दुनियाके सारे सुख कितने वर्षके है ? जब आँख खुलेगी अर्थात् जब यह मनुष्यपर्याय छूटेगी या ज्ञान जागेगा तब ये सुख कुछ भी नही दिखाई देंगे । और वस्तुत ये सुख ही नही आकुलता ही है । इसलिये जगतके वैभवसे दृष्टि हटाकर यह सोचो कि मैं आत्मा इस जगतमे स्वय एकाकी हू, जगतके इन पदार्थोके लक्ष्यको तोडकर अपने आपको यदि ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखो तो तुम्हारा कल्याण हो सकता है ।

हेय और आदेय भाव—हमारे लिये वे पर्याय क्या है, जिन्हें हमे छोडना है ? सारे

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव ये हमारा कोई साथ नही देंगे। इन सब ही मे आत्मबुद्धि हटाओ और आत्मामे आत्मबुद्धि करो। यह आत्मा गुणोका अभेद्य पिंड है उस पर आत्मदृष्टि हो तो पर्यायबुद्धि छूट जाती है और द्रव्यदृष्टि आती है और इस द्रव्यदृष्टिको सम्यक् दर्शन कहते है। यहाँ यद्यपि बताया गया कि ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान भी है और अन्य गुण रूप भी है तथापि अन्य गुणोंके ध्यानमे ज्ञाता ज्ञान है तो ज्ञेय ज्ञानातिरिक्त है और जब ज्ञानके द्वारा ज्ञानको ही जाना जावे तो वहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है, अत: साक्षात् ज्ञानमय भावनामे ध्येयपर आत्मा शीघ्र पहुच जाता है। अन्य पदार्थ गुणके विषयमे चिन्तवन किया गया अर्थ यदि विशुद्ध विकल्प अनुराग रहित हो तो उसका भी विशेष गौण होकर ज्ञानमय भावना रूपमे आत्मा अपनेको पा लेता। ज्ञानमे सर्व गुण पर्याय ज्ञेयाकारसे गर्भित हो जाते है, इसी कारणसे आत्माका लक्षण उपाय सब ज्ञानस्वभावसे अधिकृत है।

ज्ञानका स्वोन्मुख अनुभव—यहा ज्ञानको स्वोन्मुख करके ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञान स्वरूप हू, शुभ अशुभ भाव एवं अन्य वस्तु मैं नही हू, यही प्रतीति अनुभूति क्रमशः यथा शीघ्र उत्तरोत्तर निर्मलताका कारण बनकर कैवल्योपलब्धिका मूल बन जाता है। हमे प्रत्येक उपदेशसे धर्म लेना है। धर्म आत्मस्वभाव है, वह पुण्य पाप रहित अकषाय ज्ञानमय भाव है उसकी दृष्टि करना है, अतः इस प्रकरणमे धर्म यही प्रतिभात है कि आत्मा अनन्तगुणात्मक है उनमे प्रधान ज्ञानगुण है सो यद्यपि आत्मा अनंतगुणात्मक है तथापि पी लिया है सर्व धर्म गुण पर्यायोको जिसने, ऐसे ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्मानुभूति है। देखो भैया! इस गाथामे कहा गया कि आत्मा और ज्ञानमे एकपना भी है और अनेकपना भी है। ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु आत्मा अनन्त धर्मोका एक आधार होनेसे आत्मा ज्ञानरूप भी है। जब ज्ञान आधारके द्वारा विचारे तो ज्ञान है और अनन्तधर्मोके द्वारा विचारे तो आत्मा अनेक भी है, रूप पुद्गल ही है परन्तु पुद्गल रूप भी है, स्पर्श भी है, गन्ध भी है, रस भी है। इसी तरह ज्ञान तो आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है और चारित्र भी है। उसी आत्माको उसी आत्मामे रहने वाले ज्ञानगुणकी दृष्टिसे देखो।

एकके ज्ञानमें सर्वका ज्ञान—यह आत्मा मानो एक दर्पण है। जैसे दर्पणके पीछे चार लड़के खड़े है। दर्पणको देखकर यह कहा जाता है कि वह दात निकाल रहा है या जीभ निकाल रहा है आदि। दर्पणको देखकर सबका सब वर्णन किया जा सकता है। इसी तरह यह ज्ञाता द्रष्टा सर्वज्ञ एक ज्ञानस्वभावको जान रहा और उसे जाननेसे ही सारे लोकको जान गया। निश्चयसे जैसे वह दर्पणको ही देख रहा, परन्तु व्यवहारसे उन सब लड़कोंकी चेष्टाको भी देख रहा है। ज्ञानके जाननेसे ही सबका जानना आया। इसी कारण आत्माके ज्ञानगुणकी विशेषतासे आत्माका उपदेश दिया गया है। इस आत्माको ज्ञानगुणकी विशेषतासे जानने

का उपदेश दिया गया है । इस आत्माको ज्ञान गुणके द्वारा देखो । यद्यपि आत्मा ज्ञान गुण मात्र ही नही है, दर्शन गुण चारित्रगुणरूप भी है । समस्त गुणोका एक स्वरूप यह आत्मा है तथापि इस आत्माको ज्ञानगुणकी प्रधानतासे देखो । यह उपदेश इसलिये है कि यदि निर्विकल्प होना है तो वह स्थिति प्रयोगमे आवे । जहाँ ज्ञान, ज्ञान हो जाय, ज्ञाता भी ज्ञान हो जाय एव ज्ञेय भी ज्ञान हो जाय । अपनेको शरीररूप मत विचारो, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के रूप भी मत विचारो, मैं ऐसा हू, अमुक मुहल्लेमे रहता हू यह भी मत विचारो, मै मुखिया हू यह भी मत विचारो, मैं श्रावक हू या मैं त्यागी हू या मैं ब्रह्मचारी हू, क्षुल्लक हू, साधु हू, ऐलक हू—इन सबमे भी ज्ञान स्वभावकी श्रद्धा मत करो । यह सबकी सब पर्याय है । हाँ सिद्ध पर्यायमे परिणति स्वभावके अनुरूप है । सब पर्यायोंसे अपनी दृष्टि हटाकर सब गुणोके पिण्ड आत्मद्रव्यमे अपनी दृष्टि जमाओ ।

आत्माराधना—पर्यायोमे आत्मबुद्धि नही करनेको ही अर्थात् निर्विकल्प अखड निज स्वभावके अनुभवको ही मोक्षमार्ग कहते है । एक बार भी यदि आत्मप्रतीतिका अनुभव होगा तो इसके फलमे इसका सुख अनन्तकाल तक अनन्त सुखके रूपमे अविकल धारासे मिलेगा । सम्यक्त्वकी पाँच आराधनाएँ है—उद्योतन, उद्यापन, निर्वहण, साधन व निस्तरण । अपने निर्मल सम्यक्दर्शनको पैदा करो । जो सम्यग्दर्शनको निज आत्मामे मिला रहा, उसमे चमक दे रहा और फिर उसी अवस्थामे जिन्दगी भर निभाता रहा, कितनी ही विघ्न बाधाओसे नही डरा, उनकी साधना बनाए रहा और मरण समय आया तो इस भवके बाद अगले भवमे भी उसी क्रमसे चला तब यह धारा अमृतसागरमे ही मिलकर पूर्ण होती है, ये सम्यग्दर्शनकी पाँच आराधनाये है । सो भैया ! इसी आयुमे कुछ नही धरा है, यह बहुत दिनो तक नही रहती है, इससे आत्मबुद्धि हटाओ और निज आत्मामे आत्मबुद्धि करो, इसीसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होगी ।

ज्ञान ज्ञेयके परस्पर गमनके प्रतिषेधका निरूपण—अब ज्ञान ज्ञेयका परस्पर गमन होता है ऐसा यदि भाव आवे तो उसका खडन करते हैं । वस्तुत जो चीज है उसका खडन क्या और जो चीज नही उसका खडन क्या ? इस प्रकार न तो सत्का खडन हो सकता है और न असत्का खडन हो सकता है । तब वस्तु स्वरूपके विरुद्ध किसी का अभिप्राय हो तो उसका खडन हो सकता है, इस कारण ज्ञानके विषयमे कुछ भी खडन नही करना और ज्ञेयके विषयमे भी कुछ खडन नही करना है, किन्तु मात्र इस मान्यताका कि ज्ञान ज्ञेयमे जाता है अथवा ज्ञेय ज्ञानमे जाता है, इसका खडन किया जा रहा है अथवा यह खडन नही किया जा रहा है किन्तु अविवेकी किसी भी पुरुषकी विपरीत मान्यता दूर करके उसके स्वभावके उत्थानका मडन किया जा रहा है ।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स ।
रूवाणिव चक्खूण णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ।।२८।।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञान ज्ञेयके परस्पर गमनका प्रतिषेध—ज्ञानी तो ज्ञान स्वभाव ही है और पदार्थ ज्ञेय स्वरूप ही है ऐसा इन दोनोका भिन्न-भिन्न स्वरूप है। इस कारण परस्पर अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ होनेसे कोई किसीमे प्रवेश नही करता। यहा प्रश्न होता है कि ऐसा सशय क्यो हुआ ? जिसका विवरण करना पडा तो इसका उत्तर यही है कि ज्ञान ज्ञेयका ज्ञायक ज्ञेयमात्र सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा सभ्बन्ध बताया गया है जिससे कहा जाता है ज्ञानका ज्ञेय और ज्ञेयका ज्ञान। जैसे लौकिक जन कहते है कि पतिकी पत्नी और पत्नीका पति। जैसे पत्नीमे पतिका रूप नही चला गया और पतिमे पत्नीका रूप नही चला गया वैसे ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी ज्ञेय ज्ञानमे नही जाता और ज्ञान ज्ञेयमे नही प्रवेश करता। अन्य दृष्टात लो—जैसे पिताका पुत्र और पुत्रका पिता। यहाँ पुत्रका पिता कैसा, पिताका पुत्र कैसा ? क्योकि न पुत्रका रूप पितामे जाता और न पिताका रूप पुत्रमे जाता है, परन्तु पितृत्व और स्वामित्वसे पिता और पुत्रका तथा पति और पत्नीका नाता कहा जाता है। किसीने पूछा कि बताओ पिता पहिले उत्पन्न हुआ या पुत्र या पूछे कि पति पहिले हुआ या पत्नी ? मर्मके न जानने वालोके द्वारा पूछने वालेका मजाक उड गया और कहा गया कि प्रत्यक्ष है कि पिता बडा होनेके कारण पहिले जन्मा। परन्तु ज्ञानीने कहा कि पिता और पुत्र दोनो एक साथ उत्पन्न हुए। क्योकि जिस कालमे पुत्र उत्पन्न हुआ उसी कालमे वह पिता बतलाया गया। पुत्रके जन्मके पहिले तो वह पिता नही था। उसका पिता नाम पुत्र के जन्मके कालसे ही पडा। इस लिये कहा गया—पिता और पुत्र दोनो एक काल पैदा हुए। यही बात पति पत्नीके सम्बन्धमे लगा सकते। सस्कारके समय ही एक साथ दोनो हुए पति व पत्नी। इसी तरह ज्ञान और ज्ञेयका सबध है। फर्क इतना है कि वह वैकारिक है यह प्राकृतिक है। ज्ञानमे ज्ञेय नही गया और न ज्ञेय ज्ञानमे पहुचा। व्यवहारसे ज्ञान ज्ञेयमे आया और ज्ञेय ज्ञानमे गया।

ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध प्रसंगमें निश्चय व्यवहारका समन्वय—निश्चयनयसे ये ज्ञान और ज्ञेय अपने-अपने स्थानपर है, कोई किसीमे घुसा नही, फिर भी उनके सम्बन्धसे दोनो एक दूसरेमे गये। देखो भैया ! हमारी आँख अपने स्थानपर है और ये सब पदार्थ भी अपने-२ स्थानपर है परन्तु हमारी आँखोने इन्हे देखा और पहिचाना, इसलिए कहा जाता है कि यह सब पदार्थ हमारी दृष्टिमे आए और हमारी दृष्टि इन सब पदार्थोमे गई। यह न समझना कि हम कुछ नही देखते और न यह समझना कि हम परको देखते है। हमारी दृष्टि सबमे है परतु न हमारी आंखे सबमे है और न सब हमारी आँखोमे है। दृष्टि और आँखे सब पदार्थोमे गई

एवमेव ज्ञान ज्ञेय ज्ञायकका सम्बन्ध होने के कारण अन्योन्यवृत्तिका सम्बन्ध जो एक भावको लिये हुए था साधा गया। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध इसी प्रकारका है, इसलिए यह कहा जाता है कि ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरेमे पहुचते। वस्तुत· न ज्ञानमे ज्ञेय पहुचता और न ज्ञेयमे ज्ञान पहुचता।

ज्ञान ज्ञेयका सामर्थ्य व कौशल—ये पदार्थ ज्ञानीको अपना आकार सौपनेमे कुशल है और यह ज्ञानी उन पदार्थोका आकार ग्रहण करनेमे कुशल है। जैसे दर्पण है, उसके सामने कोई चीज रख दी तो चीज तो दर्पणको अपना आकार सौप देती और दर्पणने उसका आकार ग्रहण किया, हालाकि प्रत्यक्ष रूपमे न वह चीज दर्पणमे घुसी और न दर्पण उसमे। परन्तु वस्तुने अपना आकार सौपा और दर्पणने ग्रहण किया, जिसमे प्रतिबिम्ब पैदा हुआ। आकार भी उसने नही सौपा और न दर्पणने उसका आकार लिया किन्तु यह कथन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये ही प्रयोजक है। इसी प्रकार ज्ञेयने अपना आकार किया और ज्ञानने उसका आकार ग्रहण कर लिया। ज्ञेयपदार्थ तो अपना आकार सौपनेमे चतुर हो रहा है और ज्ञान उसका आकार ग्रहण करनेमे चतुर हो रहा है। तभी ज्ञानने ज्ञेयको जाना, ऐसा ज्ञान और ज्ञेयका सम्बध है कि ज्ञेय अपना आकार देनेमे समर्थ है और ज्ञान उनका आकार ग्रहण करनेमे समर्थ है। इस तरह दोनोमे सम्बध स्थापित हो गया। इस सम्बन्धमे मुनाफा किसे ज्यादा मिला ? किसीको भी नही और दोनोको तथा मुख्यतया ज्ञान को। प्राणीके परको जाननेकी चाह होती है, परके जानने मे तद्विषयक चाह मिट जाती है, यह जिज्ञासुओकी बात है तथापि वीतराग छद्मस्थोके जिज्ञासा न होनेसे आकुलता नही है फिर भी वह आकुलता विशद स्थायी रहे, इसलिये शुद्ध आत्माके इस विशिष्ट स्थिरतासे सर्वज्ञता आती ही है। जब सर्वको जाना अब आकुलताकी किसी समयमे भी सभावना नही अथवा ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है, विशुद्ध निर्मल होने पर स्वभावका कार्य होता ही है।

ज्ञान ज्ञेयके परस्पर सम्बन्ध और अत्यन्ताभावका रहस्य—यह ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध और अत्यन्ताभाव वाला रहस्य ज्ञानियोको सुप्रतीत है, इसमे शकाका स्थान नही। दोनो बातोकी दो दृष्टिया है अत इसका एक साथ विवेचन या विचार कठिन है परन्तु प्रतीतिमे दोनो बातें एक साथ है और भी देखिये किसी ने तुम्हे गाली दी, परन्तु गाली तुममे नही गई और तुम गालीमे नही गये। गाली भाषावर्गणाका एक परिणमन है जिसके मोही दो टुकडे कर देता—१ इष्ट, २ अनिष्ट। वस्तुत देखो तो कोई भी शब्द न इष्ट और न अनिष्ट है। शब्दो के अर्थसे भी देखो तो प्राय. जो गालियोके नाम है वे आदरका भाव रखते है। जैसे नगा अर्थात् जो नग्न पूज्य साधु हो। लुच्चा जो केशोका लुञ्च करे ऐसा आदर्श साधु। पुगा अर्थात् पुगव जो श्रेष्ठ हो, लफगा—लफ गये है अग जिसके वह लफगा है अर्थात् विनयशील।

छनार (क्षीणारि)—क्षीण हो गये है गुणघाती कर्म जिसके वह क्षीणारि जिनेन्द्र प्रभु इत्यादि रन्तु जिस पुरुषको ये शब्द कहे जावें वह पुरुष ऐसा उत्कृष्ट नही है तो वह गाली ही समझता है। खैर! प्रकृत यह है कि गाली स्वय इष्ट अनिष्ट नही। वह एक भाषावर्गणाका कंध है, उसका तुममे अत्यताभाव है, परस्पर गमन नही। इसी तरह ज्ञेयमे ज्ञान नही घुसता और ज्ञानमे ज्ञेय नही जाता, परन्तु फिर भी दोनोमे सम्बन्ध है मात्र ज्ञेय ज्ञायकपनेका। क्योकि ज्ञानने ज्ञेयको जाना। यहाँ वस्तुत अन्तर्ज्ञेयाकार ही जाना गया है। वह ज्ञेयाकार कहाँसे प्रगट हुआ है? ज्ञानस्वभावमे से। उस ज्ञान स्वभावके अवलम्बनमे रागादि होनेका पुरुपार्थ फिर जागृत होता है। उस ज्ञानस्वभावके अभेदरूप निजके जाननेसे तदनतर निर्विकल्प दशामे केवलज्ञान पैदा हो जाता है। आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमे प्रवेश नही करते, फिर भी आत्मामे पदार्थ आगये और पदार्थोंमे आत्मा चली गई। आत्मा और पदार्थोंका यह सम्बन्ध ज्ञानद्वारा हुआ क्योकि ज्ञान सर्वगत है, ज्ञान सब पदार्थोंमे पहुच गया। यहा इस ज्ञानभावको प्रदेश सयुक्त दृष्टिसे न देखें।

सकल तथ्यके परिज्ञानका अन्तिम लाभ—ज्ञानप्रमाण आत्मा है और ज्ञान ज्ञेयको जानता है, तब गुणगुणीके अभेद विवक्षामे आत्मा भी सर्वगत हो गया, तब लो यह आत्मा सर्व व्यापक है। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध आत्मा और ज्ञेयमे सम्बन्ध कराता है परन्तु ज्ञान अपने आधारमे रहता है और ज्ञेय अपने आधारमे रहता है। कई तरीकोसे पदार्थका ज्ञान करो, फिर पदार्थका अनुभव होने पर तरीकोकी आवश्यकता नही रहती, सर्व कुछ जानने पर तत्त्वभूत जान लेने पर क्या करना रह जाता है, ज्ञाता मात्र रहना रह जाता है। किसीकी परिणतिसे अन्य नही परिणमता है। इस स्थितिका बोध होनेपर क्षोभ ही नही है। पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है, तो द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, तीनो काल रहते हैं और स्वतन्त्र रहते, इसलिये नित्य है। परन्तु अवस्थाकी दृष्टिसे अनित्य है। शरीर क्या है वह भी अनित्य है, इस प्रकार अनेक दृष्टियोसे पदार्थको जाना और जाननेके पश्चात् निश्चयनयको भी मत देखा और व्यवहार नयमे भी मत पडो प्रमाणरूप अनुभवरूप रहो। व्यवहारनय भी छूटा और निश्चयनय भी छूटा और अनुभव चीज सामने आई।

ज्ञानपद्धतियोके द्वारा लक्ष्यका ग्रहण—निश्चयनय और व्यवहारनय तो उसको जाननेके तरीके मात्र हैं। तरीकोमे ही बुद्धि खर्चकी गई तो वस्तुका वास्तविक अनुभव नही हुआ। तरीकोके सहारे उस वस्तुको देखना चाहिये और केवल तरीकोको ही नही पकड लेना चाहिये। अगुलीसे मोटरकी तरफ इशारा करके उसे बताया गया कि मोटर वह खडी है। परन्तु अगुलीके सहारे देखकर अगुलियोको छोडकर दूरवर्ती उस मोटरको यदि नही देखा गया और मात्र अगुली ही को देखा गया तो मोटर कहा दीखी? इसलिये अगुलीको ही मत देखो,

बल्कि अगुलीके सहारेसे दूर देखो। तब ही मोटरका ज्ञान होगा। इसलिये तरीकेको ही न देखकर तरीकेके सहारे वस्तुका अनुभव करना चाहिये। व्यवहार और निश्चयनयकी दृष्टिसे यदि चीजका सर्व सम्यग्ज्ञान कर लिया तो अब व्यवहार और निश्चयको छोडकर उस वस्तु का अनुभव करने लग जावो अर्थात् विश्रान्त हो जावो, यदि व्यवहार और निश्चयनयको ही पकडे रहे तो वस्तुका अनुभव नही होगा।

वस्तुविज्ञानका क्रम—यहा यह क्रम समझना कि प्रथम उगत उपचारके सकल्पमे जुटा है। वह पहिले सत्य व्यवहार पहिचाने। सत्यव्यवहारकी पहिचानमे निश्चयका मतव्य निमित्त हो रहा है। सत्य व्यवहारके अनन्तर निश्चयनयके मन्तव्यमे व्यवहारके अविरोधेन दृष्टि जमावे, पुनः निश्चयनयके सूक्ष्मविकल्पको भी छोडकर अनुभव दशामे रहा जाता है। इसकी सिद्धिके प्रयोजनके लिये ज्ञानियोने वस्तुस्वरूपको व्यवहारका आलम्बन लेकर मात्र कहा है। सर्वपदार्थ अत्यन्ताभाव वाले है, परस्परमे किसीका समावेश नही है, अत आत्मा पदार्थमे नही जाता और पदार्थ आत्मामे नही जाता, परन्तु आत्माका स्वरूप ज्ञानस्वभावसे जो जाना गया है उससे हमने इस पदार्थका अनुभव कर लिया, केवल इस ज्ञान द्वारा जान लेनेसे हमने उन पदार्थोका मात्र जाननरूप अनुभव कर लिया। मानो उन ज्ञेय पदार्थोने अपना आकार आत्माको सौप दिया और आत्माने उनका आकार ग्रहण करके उनका अनुभव कर लिया। ज्ञान हो जाना और ज्ञेय हो जाना, यही देना और ग्रहण करना है। इससे तीनो लोको मे जितने पदार्थ है वे ज्ञानके साथ आत्माके सब प्रदेशोके ससर्गमे ज्ञेयमात्रसे आते है। केवल-ज्ञान सर्वज्ञपना है, उसके उपजने पर ज्ञानी सर्व ज्ञेयका आकार ग्रहण करनेमे समर्थ हो जाता है। यहाँ भी न ज्ञेय ज्ञानीमे जाते और न ज्ञानी ज्ञेयमे जाता। फिर भी ज्ञानीने ज्ञानसे उन को अपनी आत्मामे ग्रहण कर लिया।

निर्लेप अन्तस्तत्त्वकी भावना—यहाँ यह भावना करो, यह सोचो कि मैं स्वतन्त्र हू, मैं किसीमे प्रवेश नही करता, मैं तो एक स्वतत्र आत्मा हू, निश्चल, निष्काम सबसे पृथक् हू, मुझमे कोई चीजका प्रवेश नही हुआ। फिर क्या उन सबसे ससर्ग बनाता हूँ ? इनसे हमारे ज्ञानस्व-भावमे बडी बाधा पडती है। गृहस्थीके आश्रयसे जो बना यह विकल्प, वह आत्मासे नही छूटता हो, परन्तु इसको छोडना चाहिए। पदार्थ तो पहिले ही छूटे हुए हैं यह विकल्प नही छूटता, इस विकल्पको छोडना चाहिये। मनमे एक दफा यह उत्साह तो लाओ कि सचमुच जब मुझमे कोई पदार्थ नही आता, तो मैं ही उनका विकल्प क्यो आने दू ? उनसे अपना मोह छोडो।

धर्मरुचि व अधर्मपरिहारका सन्देश—देखो भैया ! अपने पुत्रसे मोह करते हो परन्तु दूसरेके पुत्रसे नही करते। तुमने जिस प्रकार दूसरेके पुत्रको ज्ञानसे जान तो लिया परन्तु तुम्हारा उससे मोह नही हुआ, उसी प्रकार तुम अपने पुत्रको चाहे जानते तो रहो, परन्तु उसमें

भी मोह मत लाओ। पुत्र अथवा स्त्री अथवा अन्य कुछ ये सब तो नष्ट हो जाने वाले सम्बध है, फिर इनमे क्यो मोह लाते हो ? कितनासा जीवन है इसे उधेडबुनमे ही लगाया तो मनुष्य होनेका लाभ क्या ? पर तो पर ही है, इसके आश्रयको बनाकर जो विकल्प रूपसे परिणमता है वह बडा कष्ट है। विकल्पोका भार ही तो अनादिसे अब तक बढाया, क्या महत्त्व पाया ? आत्माका महत्त्व हित सहज आनदरूप धर्ममे है। धर्म करनेके लिये आत्मस्वरूप जानना प्रथम कर्तव्य है। आत्मा ज्ञानमय है, समस्त परज्ञेयोसे भिन्न है, इस ज्ञानका स्वरूप क्या है ? जो अनुभवसे पहिलेकी पहिचान है इसका ही यह प्रकरण चल रहा है, वह ज्ञान अन्तर्ज्ञेयाकारमय है। अन्तर्ज्ञेयका आकार वैसा है जैसा कि सब सत् है, यह कैसा अलौकिक सम्बध है इसी प्रकारसे विपरीत पद्धतिसे भी देखो—जैसा सर्वमत् है वैसा अन्तर्ज्ञेयाकार है। यह अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञानस्वभावका ही तो परिणमन है, मै ज्ञानस्वभावमय ध्रुव हू ऐसा प्रतीत कर उसमे स्थिर होना सो धर्म है। ऐसी दृष्टि करना ही युक्त है। परिग्रह तो भार ही है, इसके आश्रय अपनेको मलिन मत करो।

अब मत चूको——एक राजा था, वह बडा कजूस था। एक बार उसके दरबारमे नट और नटनी नाचने और गाने आये। रातभर नट और नटनीका नाच और गाना ठाटसे होता रहा। राजाने उसे अब तक कोई परितोषिक न दिया। जब रातका आखिरी समय आया और दिन निकलनेमे थोडा ही समय रह गया उस ममय रातभर नटनी नाचते-२ थक चुकी थी। उसने कहा कि मै तो अब थक गई हू, अब धीमी ताल बजाओ। नटने यह सुना तो उसे चिता हुई और उसने नटनीसे दोहा कहा——"गई बहुत थोडी रही, थोडी हूतो जात। अब मत चूको नट्टनी फल मिलनेकी बार ॥" इस दोहेका तात्पर्य यह है कि समय बहुत व्यतीत हो चुका, अब समय थोडा ही है, यदि इस ही अतिम शेष समयमे चूक गये तो सब किया बेकार हो जायगा और इस समय सावधानीसे अपना प्रकृत उचित कर्तव्य करोगी, तो हे नटनी, इसका उत्तम फल पावोगी, फल मिलनेका समय तो यह ही है। इस दोहेसे नटनीका उत्साह बढ गया और उसने जोर-जोरसे नाचना चालू कर दिया। यह दोहा राजाके लडकेने भी सुना, तो सुनते ही उसने अपना एक लाख रुपयोका हार नटको दे दिया। राजाने यह देखा तो उसे बडा रज हुआ कि नाचका इतना बडा इनाम नही हो सकता। अधिकसे अधिक ५०) रु० इनामके दे दिये जाते, परन्तु मेरे लडकेने तो एकदम एक लाख रुपयेका हार दे दिया, वह इस प्रकार सोच ही रहा था, कि राजकुमारीने भी अपना एक लाख रुपयेका हार नटको दे दिया। अब तो राजाको और भी रज हुआ कि ये तो और भी गजब हो गया, इस तरह तो मैं लुट जाऊँगा. इसे अधिक दातव्य होता तो दो बारमे १००) रुपये दे दिये जाते ठीक थे, परन्तु यहाँ तो दो लाख रुपयेके हार दे दिये गये। इतनेमे ही वहाँ बैठे एक साधुने भी अपना ५००) रु० का

दुशाला नटको दे दिया। राजा सोचने लगा कि यह स्वप्न तो नही देख रहा, यहाँ तो सबको मूर्खता ही सूझ रही। इन ज्ञानी महात्माको भी यह क्या सूझी, उन्होने अपना दुशाला क्यो दे दिया ? नट तो बहुत सतुष्ट होकर खेल दिखाकर अपने घर गया।

शिक्षासे प्रभावित होकर समर्पणकी सभवता—अब खेलके बाद राजाने लडकेको अलग बुलाकर पूछा कि तुमने उस नटकी किस बातपर प्रसन्न होकर अपना एक लाख रुपयेका हार दे दिया ? लडकेने उत्तर दिया कि पिताजी ! मुझे इस नटसे इतना ऊचा उपदेश मिला कि सब कुछ भी देकर उऋण नही हो सकता था। मैने पहिले यह सोचा था कि आप ८० वर्षके हो गये, परतु आप अब भी अपना राज्य मुझे नही सौपना चाहते थे, इसलिये मैंने यह विचारा था कि मैं कलके दिन रसोईयासे मिलकर आपके भोजनमे विष मिलवा दूंगा, ताकि आपकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका मैं मालिक बन सकूं, परन्तु नट द्वारा कहे गये दोहेसे मुझे ज्ञान आ गया कि अब आप ८० वर्षके तो हो ही गये। कुछ दिनोंके ही और मेहमान है, आपके मरनेके बाद राज्यका मालिक मै ही तो होऊगा और कोई हो नही सकता। फिर मैं क्यो अभी ही आपकी हत्या करू ? इस ज्ञानके आ जानेसे आपकी हत्यासे मैं बच गया तो वह एक लाख का हार इस बातके सामने क्या चीज है ? यह बात सोचकर मैंने अपना हार नटको दे दिया। फिर राजाने अपनी लडकीको बुलाया और उससे भी पूछा कि तुमने अपका हार नटको क्यो दिया ? उसने उत्तर दिया कि हमारा अनुराग वजीरके पुत्रसे था। मैं उससे शादी करना चाहती हू, परन्तु वह गरीब है। अत आप उससे हमारी शादी नही करेंगे, क्योकि यदि आप उससे हमारी शादी करते हैं तो आपको उसे १० या २० गाव भी दहेजमे देने पडते, क्योकि आप अपने दामादको गरीब रूपमे कैसे देख सकते ? इसलिये आप उससे हमारी शादी तो नहीं करते। तब मैंने सोच लिया था कि कल रातको उसके साथ भाग जाऊँगी। परतु नटके दोहेसे हमको ज्ञान हो गया कि अब आप थोडे दिनोके लिये और जिन्दा है। आपके मर जानेके बाद भैया राजा बनेंगे और हमारी इच्छाके मुताबिक हमारी शादी उस वजीरके लडकेके साथ कर ही देगे, क्योकि उनकी हमारे ऊपर कृपा है। अत. पिताजी यदि मै भाग जाती तो आपको कितना कलक लगता ? उस दोहेने आपको और मुझको कलकसे बचा लिया। इस कलकसे बच जानेके सामने एक लाख रुपयेका हार कोई चीज नही, यह सोचकर मैंने अपना हार दे दिया। इसके अनतर राजाने साधुको बुलाया और पूछा कि महाराज आप तो ज्ञानी है, आप कैसे ठगाये गये, आपने नटको अपना एकमात्र दुशाला भी क्यो दे दिया ? साधुने उत्तर दिया कि राजा मेरी आपकी करीब ७५ सालकी आयु हो गई, इस उम्रमे हमने खूब ठाट-बाट देखा परन्तु जिस उत्तम बातका आज तक विचार भी न आया था, यह उत्तम विचार आज इस नट के उपदेशसे मिला। इस दोहेने हमको चेता दिया। हमने सोचा कि इतनेसे जीवनके लिये क्यो

इन चीजोसे मोह पैदा करें ? इतना अच्छा दुशाला अब नही रखना चाहिये, क्योकि अब तो फल मिलनेकी बारी है। थोडीसी ही तो आयु शेष है, शुद्ध भावोसे अपनी चर्या बनाकर आत्मोद्धारमे लगनेकी प्रेरणा आज मिली। इस बार मैं क्यो चूक करू ? राजन्! इस जीवने अनादिसे लगे हुए भ्रमणमे कितने ही भव ऐसे पाये होगे जहा वैभव साम्राज्य बहुत-बहुत पाया है किन्तु उससे संतोषकी बात तो दूर रही तृष्णा ही बढी। यहा भी जो कुछ पाया है उससे शान्ति तो नही किन्तु आकुलता ही बढी। नटके दोहेसे जो जागृति मिली उसका पारितोषिक दुशाला तो ना कुछ चीज है, फिर भी जो था सो दे दिया।

ज्ञानलाभमे घटनाका सहयोग—इन बातोको सुनकर राजाको भी ज्ञान उपज गया, उसने तुरन्त अपना राज्य अपने लडकेको सौप दिया, लडकीकी शादी उस वजीरके लडकेसे कर दी और और खुदने उन साधुजीसे सन्यास धारण कर लिया। इस प्रकार ज्ञान उपजनेपर ऐसे कजूसने भी अपना सर्वस्व त्यागकर सन्यास धारण कर लिया। इस दोहेसे सब भाइयोको शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए, किसीकी उम्रका कोई ठिकाना नही। २० वर्षका आदमी भी यह नही जानता कि अब उसकी आयुके कितने दिन शेष है, अत सबको अपना धर्म समझना चाहिये।

विकल्पोंकी निष्फलता—अपने आत्मतत्त्वको समझो और सोचो कि जगतकी किसी भी चीजसे हमारा सम्बन्ध नही, हम तो ज्ञाता मात्र ही है, सर्व पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे है व परिणमते है किसीके स्वरूपमे किसीके स्वरूपका प्रवेश है नही। इस प्रकार इस प्रकरण मे यह बात बताई कि ज्ञानमे ज्ञेय नही जाता और ज्ञेयमे ज्ञान नही जाता। वे तो जुदा-जुदा ही है। ज्ञानस्वरूप वह आत्मा अन्तमे एकाकी रह जाता परन्तु फिर भी भ्रममे पडकर विकल्पोमे फसता, अन्तमे व्याजमे क्या क्या मिलता ? दुर्गति। ठीक ही है विकल्पका फल तो आकुलता ही है, अधर्मका फल तो दु ख ही है, परद्रव्य पर ही है, उसका अपनाना चोरी नही तो क्या है ? इस ममत्वका फल ससारक्लेश ही है।

विकल्पोकी निष्फलताका उदाहरण—एक चोर एक घोडा कहीसे चुरा लाया। वह चोर किसी दूर गावके बाजारमे बेचने ले गया। कुछ आदमी उस घोडेको खरीदने आये तो उसने उसकी कीमत एक हजार रुपया बताई जब कि वह ज्यादासे ज्यादा २००) की कीमत का था, वे वापिस चले गये। एक बार एक दूसरा चोर भी उसे खरीदने को आया। उसे भी उसने वही कीमत बताई। चोर फौरन समझ गया कि यह तो चोरीका माल है तब ही यह कोई चोरीका न समझने पावे इससे इसकी इतनी कीमत मांगता है। उसने भी चालसे जान लिया और कहा कि अच्छा भाई तुम्हे १०००) ही देंगे, जरा उसे दिखाओ तो सही उसकी कला तो देखूं। इतने तुम जरा मेरे हुक्केको पकड लो। इस तरहसे वह घोडा लेकर भाग गया। फिर उसमे कुछ लोगोने पूछा कि तुम्हारा घोडा बिक गया क्या ? उसने कहा हाँ भैया

बिक गया। कितनेमे बिका है ? जितनेमे खरीदा था। कुछ भी नफा नही हुआ ? भाई नफेमे यह हुक्का मिला है। इसी तरह हम सब लोग जगतके बन्धन मुफ्तमे मिल गये, नफा क्या हुआ ? केवल दुर्गति। इस जगतमे हमारे साथ कुछ भी नही रहेगा। अत. इन सब बाह्य पदार्थोमे लक्ष्य छोडकर अपने आत्मकल्याणमे लगो। तब ही अनन्त सुखकी प्राप्ति कर सकोगे। जगतमे सर्व पदार्थ पर हैं, उनको अपना मानना ही आन्तरिक चोरी है। इस चोरीका त्याग करके अपने ज्ञान सुख वैभवसे सत्य गौरव अनुभव करो ? यही सुखका मार्ग है।

उक्त प्रकारसे ज्ञान व ज्ञेयमे दोनो बातें सिद्ध की गईं कि ये परस्पर मनन नही करते तथापि ज्ञान ज्ञेयाकारोको ग्रहण कर लेता है और ज्ञेय अपना आकार ज्ञानको समर्पण कर देता है तथा ये दोनो ज्ञेयाकारके ग्रहण समर्पण प्रवीण है तथापि कोई किसीमे नही है। इसी प्रकार गुणगुणीकी अभेद विवक्षामे ज्ञानी आत्मा पदार्थोमे वर्तमान नहीं है, तथापि ऐसी शक्तिकी विचित्रता है कि आत्मा सब देख जान लेता है। उसकी पदार्थोमे प्रतीति होती है। इसी शक्ति की विचित्रताको प्रकट करते है—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणादि पस्सदि णियद अक्खातीदो जगमसेस ॥२६॥

अर्थोंमे गमन किये बिना ज्ञानकी क्रिया—अतीन्द्रिय ज्ञानी अथवा इन्द्रियज ज्ञानसे अगम्य यह ज्ञानी प्रविष्ट भी नही, अप्रविष्ट भी नही, वह तो मात्र अशेष जगतको जानता है। जैसे कि चक्षु रूपको जानता है यह उदाहरण मात्र है। यहाँ भी जानने वाला आत्मा ही है। आजके प्रकरणमे बताया गया कि यह ज्ञानी ज्ञेयोमे प्रविष्ट नही है और प्रविष्ट नही है ऐसा भी नही है। ज्ञानी ज्ञेयोमे है और ज्ञेयोमे नही भी है। ज्ञान अपने प्रदेशको नही छोडता, फिर भी वह ज्ञेयको जानता। आख अपने प्रदेशको नही छोडती, परन्तु लोकदृष्टिसे पदार्थोंको जाननेमे वह काम आती और उनका आकार प्रकार जो भी है उसे स्वीकार करती। जिस तरह पदार्थों मे नही प्रवेश करती हुई भी चक्षु उनमे प्रवेश करती है इसी तरह यह आत्मा भी अपने स्थानको न छोडकर पदार्थोंको जानता है, यह आँख पदार्थोमे प्रवृत्ति नही करती। परन्तु आत्मप्रदेशमे रहते हुए भी यह आँख उन पदार्थोंके देखनेमे निमित्त है और यह पदार्थ आँख द्वारा ज्ञानमे आते है अर्थात् ज्ञान चक्षु द्वारसे स्वय जानता है, ज्ञानमात्र वर्तमान को ही नही जानता, किन्तु वह ज्ञानभूत और भविष्यको भी जानता। यदि "पदार्थको जानने के लिये ज्ञान पदार्थोमे पहुच सकता" ऐसी बात रखे तो भूत भविष्यमे ज्ञान नही पहुच सकता क्योकि ज्ञान घुसता तो वर्तमान ही मे, फिर भूत और भविष्यका परिणमन जो वर्तमान असत् है उसमे ज्ञान कैसे पहुचे ? तब भूत भविष्य अज्ञेय होनेसे असत् हो गये, फिर भूत और भविष्य भी वर्तमान मे कैसे आवें ?

ज्ञानतत्त्वका विचार—इसलिये यह ज्ञान आत्मामे रहते हुए भी क्षेत्रसे भी सर्व व्या-

पक और कालसे भी सर्वव्यापक है। यह बात तभी बनेगी। जब ज्ञान पदार्थमे पहुचकर जाने। यहाँ पहुचनेका अर्थ जानन व्यवहारसे है। इस प्रकार ज्ञानशक्तिकी ऐसी विचित्रता है। इस केवलज्ञानीके ज्ञानमे तीनो लोक और तीनो कालके पदार्थ क्रमसे आ गये। ऐसा मालूम होता है कि इस केवलज्ञानीने जगतके सारे पदार्थोको अपनेमें धर लिया। ज्ञानने सारे पदार्थोको जाना, फिर भी वह ज्ञान अपने आपके प्रदेशोको छोडकर जाता भर नही। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान अर्थोमे प्रवेश नही करता और करता भी है इसका नयविवरण इस प्रकार है, निश्चयनयसे तो प्रवेश नही करता है। व्यवहारनयसे ज्ञान ज्ञेयमे और ज्ञेय ज्ञानमे प्रवेश करता है। व्यवहार कथन आरोपित होता है। किसी प्रयोजनसे दृष्टिसे सम्बध माना जाता है। यह सर्व निमित्तनैमित्तिक भावोकी तरह अथवा उससे अधिक विशद स्फूर्तिदायक सम्बन्ध असम्बध का विवेचन विवेचनके हृदयको पार करता हुआ है। ज्ञानके स्वरूपका विचार ज्ञानकी निर्मलताका पूर्ववर्ती है, प्रयोजन निर्मलता है। जैसे किसी विवाहमे गृहस्थका एकमात्र प्रयोजन यह होता है कि दूल्हाकी भावर पड जाय, परन्तु उसके फेरे पड जानेके लिए उन्हे पचासो काम करने पडते है, जैसे—न्योते देना, जीमन करना, निकासी करना आदि, इसी तरह अपना सुधार करनेके लिये हमारा एक लक्ष्य बताया गया है कि हमारी ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर हो जाय।

आत्मसुधारका एकमात्र काम—भैया! देखो लौकिक काम तो ऐसे है कि एककी सिद्धिके लिये बीसो काम करने पडते किन्तु आत्मसिद्धिके बाबत तो बात ही निराली है, जिसके लिये हमे पचासो काम नही करना चाहिये। जहाँ एक काम होगा वहाँ उसकी व्यवस्था आसानीसे बन जाती है। आत्मसुधारके लिये ५० काम नही करना बल्कि एक ही काम करना, वह है ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर करना। ऐसे प्रयत्नशीलके बीचमे जो शुभ पराश्रित भाव होते है उनमे नही अटकना। आत्माका यह सुधार हमे सम्यग्दर्शनमे प्रवेश कराता है अथवा सम्यग्दर्शनका प्रवेश आत्मसुधार है, तुम चिन्ता करते कि ये दुनियाके सुख, ये दुनिया की सारी चीजे हमसे न छूट जाये, अरे ये सारी बाते छूट रही है, तो छूट जाने दो। ये तुम्हारे साथ है कब? ये तो पहिले ही छूटी हुई है। ये तुममे ठुसी हुई कहाँ है, तुम ही इन्हे विकल्प से पकड रहे थे, तुम इन्हे पकडनेमे मत लगो बल्कि अपनी ही तरफ दृष्टि रख उस अमर अवस्थाकी तरफ दृष्टि करो ताकि तुम अमर हो जावो।

पराकर्षणमे अनर्थ—अपने आपमे लीन हो जाने वालेको यदि ये बाह्य पदार्थ दृष्टिमे आकर वशमे कर लेते है तो वह अपने आपमे अच्छी तरह नही लग पाया। जैसे किसी योगी की साधनामे विद्यानुवाद पूर्व सिद्ध हो रहा है, वहाँ अनेक विद्यायें आती हैं। सभी विद्याओंने आज्ञाके लिये प्रार्थना की यदि वह किसी या सभी विद्याओमे लग गया तो एक विद्यामे जिसमे वह लगा हुआ था उससे वह दूसरी तरफ चला गया। आत्मोपयोगसे जो छूट गया, बाह्यमे

दृष्टि आ गई तो उसके ज्ञानस्वभावका वास्तविक स्वरूप छूट जाता है । मै दुनियाका काम कर दू सर्व मुझे भला देखें, जगतमे मेरी श्रेष्ठता रहे आदि कहनेको तो भले लगते, परतु इन अभिप्रायोमे अगृहीत मिथ्यात्व बसा ही हुआ है ।

स्वतत्त्वचिन्तनकी स्मृति—हे आत्मन् ! परके विकल्प तो बहुधा करता है, क्या कभी ऐसी भी स्फूर्ति आई कि मै एक अकेला हू, किसीकी कुछ भी परिणतिसे मेरा कुछ नही होने का, सर्व लोकके द्वारा भी प्रशसा किये जानेपर भी मेरी कौडी भी नही उठती । अहो, मुझे कोई न जाने, कोई न माने, मानता भी कौन है ? मै अपनेमे ही गुप्त हूँ, रहू । यद्यपि यह भी विकल्प है किन्तु यह है तो निवृत्तिके सन्मुख । तुम किसी भी परिस्थितिमे गुजरो उनका उपयोग करके मात्र ज्ञानस्वभावमे रत रहो । जैसे कही आग लग गई उसमे तुम्हारी कोई जरूरी वस्तु रह गई, वह आग बढती जा रही है, परन्तु तुम उस आगकी परवाह न करते हुए बडे वेगसे ऐसे आगमे जाकर उस चीजको उठा लानेकी कोशिश करते हो । उसी तरह किसी बाह्य की परवाह न करते हुए ज्ञानस्वभावकी भी प्राप्ति करनेकी कोशिश करो । तुम्हारे समागममे जो बाह्य पदार्थ आ गये है तथा उनमे जो रागरूपी आग पैदा हो गई है और दिनपर दिन बढती जा रही है उसकी परवाह न करते हुए भी तुम ज्ञानस्वभावरूपी वस्तुको उसमेसे गुजरकर भी प्राप्त करनेकी कोशिश करो । जगतकी सारी वस्तुओसे राग हटाओ । यह राग उसी भयकर आग के समान है । अपने आपको अकिंचन विचारो तो तुम्हे ज्ञानस्वभावकी वह विधि दिखेगी कि जिसका उपयोग अनत सुखमय है ।

निधिकी बेसुधीमे दैन्यका अनुभव—जैसे किसी गरीबके घरमे धन गडा हुआ है परतु उसे उसकी खबर नही थी कि उसके उस कमरेमे उस जगह इतना धन गडा है । अपनेको गरीब समझकर वह अपने विकल्पोमे दुखी हो रहा है । परन्तु जब वह अपने बाप दादाकी बहियोमे देखता है और उसको लिखा मिलता है कि फलानी जगह इतनी दूर फलानी दिशामे इतने हाथ नीचे एक लाखका घडा गडा हुआ है तब वह उस बहीको देखते ही उस धनके गडे रहनेका दृश्य पूराका पूरा उसकी कल्पनामे अकित हो जाता है । कल्पनाका वह बडा सुख उसे बहीको देखते ही हो गया और उसने कुदालीसे उस जगहको खोदी तो उसे अशर्फियाँ दीख जाती और वह अपार सुखमे गर्त हो जाता है । इसी तरह इस आत्मामे ज्ञानस्वभावकी जो निधि पडी हुई है और तुम्हे मालूम नही है, अत तुम इस ससारके असख्यात विकल्पोमे दुखी हो रहे, तो उस निधिको खोजो । वह निधि तो तुम्हारी ही आत्मामे विद्यमान है । ये शास्त्र भडार हमारे ज्ञानी सत् बाप दादाओके द्वारा लिखी गई बहिया है, जिनमे लिखा हुआ है कि तुम अपनी आत्मनिधिको प्राप्त करनेके लिये इस दशामे जावो, वहाँ जावो, यह करो, वह करो तुम्हे वह निधि मिल जायगी । जिस समय हमने इन बहियोको पढा उसी समय हमे अपने

आपमे सब कुछ झलकने लगा, अपने अनन्तरमे सारी चीज दीखने लगी । अब तो भगवानके गुण स्मरणका हथियार लेकर फिर ज्ञानानुभव रूपी कुदाली लेकर हमे उस निधिको लेकर खोजना निकालना है । ज्ञानस्वभावकी वह निधि प्राप्त होते ही हमे जगतका भेद मालूम हो जाता है ।

ज्ञानतत्त्वकी विविक्तता व स्वरसनिर्भरता—जब हम सोचते है कि ये वस्तुयें जुदी है, मैं जुदा हू, आपसके सम्बन्ध जुदे हैं, मेरे साथ लगकर रहने वाला मेरा यह शरीर भी मुझसे जुदा है तब ऐसे निश्चयके बाद जब ऐसे जगतके भेदको मैने अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे जाना इसके जाननेमात्रसे जो सुखका अनुभव होता है उसे ज्ञानी ही समझता है ऐसी अक्षय निधि हमारी ही आत्मामे छिपी हुई है । उसके पानेका उपाय स्वयं स्वयके द्वारा होता है । यह कार्य पराधीन नही है परवस्तुका सयोग पराधीन है, पराश्रयताका क्लेश मिटते ही यह स्वरूप अनुभूत हो जाता है । यहाँ ज्ञान ज्ञेयकी पराश्रयताका निषेध हमे सभी पदार्थोकी पराश्रयताके निषेधका सकेत करता है । अहो देखो तो सही निर्मल ज्ञान द्वारा समस्त विश्वके जाननका भार होनेपर भी वह निर्भार है स्वरसका निर्भार है । केवलीके देव भी आत्मद्रव्य है हम भी आत्मद्रव्य है । जैसे वे परका परस्पर गमन न करते हुए ही जान रहे है इसी प्रकार हम भी परस्पर गमन न करते हुए जान रहे हैं । तब इतना जाननेपर भी उनमे विकृति नही होती तो हम क्यो विकृत होते ? यह जाननेका अपराध नही, स्वरूपदर्शन न हो रहे का अपराध है । आत्मा ज्ञानस्वभाव है रागस्वभाव नही । जो स्वभाव नही और फिर भी रहे तो उसकी स्थिति स्वरूपसे बाह्य ही रहती है तब वह विभाव मुझ द्रव्यपर तैरता है उसे जो अपनावे वही दुखी हो जाता है । भैया ! अपने ज्ञानस्वभावपर दृष्टिपात करो वह अविकारी सहज भावमय है । तुम राग, द्वेष, मद, मोह, लोभ आदिके परिणामोमे अपनी बुद्धि लगा रहे हो और तुम्हे उनके अलावा कोई दूसरी बात ही नही सूझती और वही राग तुममे लगा हुआ है । परन्तु उस रागसे अपनी बुद्धि हटाओ तभी तुम्हारा कल्याण हो सकता है ।

जीवमे अपराध होनेपर पदार्थोकी विकृति—देखो भैया ! ये पदार्थ अपनी सत्तासे सुन्दर पडे है परन्तु जीवकी इनके भोगनेकी नियत हुई, उनमे जीवने प्रयत्न करना चाहा कि वे पदार्थ विकृत हो जाते है । जैसे थालीमे लड्डू रखा है, बडा सुहावना लग रहा है, जब तुमने उसे खाया तो तुम्हे वह बडा मीठा लगा । आत्मा उस लड्डूको न खा सकता और न उसका मधुर रस आत्मामे चिपटता । यह सब मोहकी प्रेरणापर ज्ञानका नाच है खानेका । विकल्प यह आत्मा करता है और मीठा लगा यह विकल्प भी कर डालता है । जिसे स्वरसका स्वाद नही वह इसी प्रकार भिखारी होता है । उस तरह तुमने लड्डूमे राग तो रखा और वहा क्या हुआ, वह ज्यो ही गलेके नीचे आया तो माटी हो गया । जब तक लड्डू थालमे था बहुत सुहावना

लगता था, मुहमे पहुचकर उसकी दशा घिनावनी हुई और पेटमे उतरनेके बाद वह माटी हो जाता है। कहावत भी है—"घाटी नीचे माटी।" उसका असली स्वरूप पेटमे जानेपर तो क्या मुँहमे आनेपर ही बिगड जाता है। विश्वास न हो तो दर्पणमे चबाये हुए लड्डू भी देख लो तो कै हो जाती है। भ्रमसे सुख मालूम होता है। अतः इन पाचो इन्द्रियोके विपयोको छोडो, इनमे अपनी बुद्धि मत लगाओ, स्पर्शन और रसना इन्द्रियोके विषयोका नाम है काम और घ्राण, चक्षु और कर्णके विषयोका नाम है भोग। जिस चीजको बिगाडकर काममे लावें उसे कहते है काम और जो चीज बिना उसके स्वरूपको बिगाडे ही काममे लावें उसे कहते है भोग। तुम इन सब इन्द्रियोके वशमे पडकर अपने ज्ञानस्वभावको भूल जाते हो। तुमने जहा-जहा जिस-जिस वस्तुमे राग पैदा कर रखा है उससे अपना लक्ष्य हटाओ, वे सब हमारे कुछ भी सगे नही है। तुमने अपने सुखका विश्वास करके मोहके पदार्थोके पास जाते और वहासे उल्टा यह फल मिलता कि तुम अपने दुःखको बढा लेते। मोही जीव अपना आराम पानेके वास्ते जहा-जहा और जितना-जितना मोह उसे मिलता, उसको भोग-भोगकर और उन्हे देख-कर सुखी होता है परन्तु एवजमे उसे उल्टा दु.ख ही मिलता है।

शान्त अन्तस्तत्त्वमे प्रवेशसे कल्याण—ये जगतके बाह्य पदार्थ सब धोखा हैं, इनमे राग मत करो। अपना निर्णय आप करो कि तुम क्या हो? इन्द्रियोके विषयोमे आसक्तिसे घुसने वाले हे प्राणी तू क्या चाहता है? शाति चाहता हू। देख शाँति चाहता है तो शान्त आत्माओमे घुस, अशान्त आत्माओमे घुसकर और रहकर तू शात नही हो सकता। तू शात आत्माओमे घुसकर शाति शाति देख। उस परमशाँतिको बताने वाले ये शास्त्र और ये मूर्तियाँ तथा साधु सत दीपक है। इनके उजालेमे तू शान्तिका मार्ग देख। शुद्ध आत्मा मात्र ज्ञाताद्रष्टा है उनके अतर्ज्ञेयाकार तो है, परन्तु वे किंचिन्मात्र भी विकल्प नही करते, न उनमे रागद्वेष है और न कुछ करने भोगनेका भी विभाव होता है। इसी प्रकार सर्व आत्माओका स्वभाव है। तू भी ऐसा है, मैं भी ऐसा हू, आप सब भी ऐसे ही हैं। जिसकी मति ऐसे ज्ञानस्वभावमे उन्मुख हुई वह इस ही दृष्टिके अमोघबलसे सर्वविकल्पोका निषेध कर देता है, पृथक् भी कर देता है।

प्रकाशमे निर्बाध पथगमन—यह भेदविज्ञानका प्रकरण, यह विचार अपूर्व है निःशक श्रद्धा रखो कि एक वस्तुका अन्यके साथ अल्प भी सम्बन्ध नही है। यह मोक्षका मार्ग और शाँतिका मार्ग पाप रूपी घोर अन्धकारोसे ढका हुआ है। जैसे यहासे खानिया जाना है, रात्रिका समय है, घोर अन्धकार है, रास्ता विकट है, उसमे नाना प्रकारके गड्ढे हैं, जाना आवश्यक है, सो जब तक हमारे हाथमे लाइट नही हो तो हम आसानीसे वहा नही पहुच सकते और घोर अन्धकारके कारण गड्ढोमे गिर जायेंगे। यदि लाइट हमारे हाथमे होगी तो

हम आसानीसे उसके सहारे गड्ढोसे बचकर इष्ट स्थान पर पहुंच जायेंगे । इसी तरह शाँति के मन्दिरमे जाना तो आवश्यक है, परन्तु उसका जो मार्ग है, बडा विकट है । उस मार्गमे पापोका तीव्र अन्धकार है । जिससे शातिका मार्ग दिखाई नही देता । उस पापरूपी अन्धकार से हमारा मार्ग ढका हुआ है । क्लेशके गड्ढे बीच बीचमे हैं, यदि हाथमे सम्यग्ज्ञानमय लालटेन नही होगी तो उनमे गिर पड़ेगे । जीवनमे जो क्लेश आऐंगे, उपद्रव आयेंगे, उनमे गिर पडेंगे और धर्मको मूलसे भुला देंगे । इसलिये शातिके मन्दिरमे पहुचनेके लिये हम वहा तव तक नही पहुच सकते, जब तक हे भगवन आपकी वाणी रूपी दीपक हमारे हाथमे नही आये । यहा हाथ तो उपयोग है जो सदा है, वह जब तक सम्यग्ज्ञानकी लाइटसे खाली था, भव भवनिमे घूमे, भ्रम आपदाके अनेक गड्ढोमे गिर पडे । अब तो इतनी सामर्थ्य आ गई कि उपयोगमे सम्यग्ज्ञान (वस्तुस्वरूप) आ सकता और विवेककी आखसे सर्व यथार्थ पृथक् स्वरूप वाले देखे जा सकते है ।

धर्मसेवाके उत्साहका अनुरोध—मनुष्य भव दुर्लभ है अथवा ऐसा सामर्थ्य लाभ दुर्लभ है, यहा स्वरूपजागृति कर लो, सदा सुखी रहनेका उपाय हो लेगा । एक आदमी सोचता है कि मुझे धर्म करते ४० वर्ष हो गये और न तो मेरे दूसरा लडका ही हुआ, न मेरी कम्पनीमे नफा हुआ, इतना टैक्समे चला गया, इतना घाटा पड गया और मेरे इस धर्म करनेका कोई फल ही नही हुआ । अत. ससारमे धर्म कर्म कुछ नही है । मैंने वृथा ही इसमे अपना समय खोया । यह समझकर वह जितना धर्म करता था उतना भी छोड देता, उसे वहाँ करना क्या चाहिये था ? ऐसे ही एक किस्सा लेकर देखो—एक राजा था, वह शत्रुओके आक्रमणोसे रक्षा करनेके लिये अपनी सेनापर कई करोड रुपया खर्च करता था, फिर भी उसपर शत्रुका आक्र-मण हो गया । अब यदि वह यह सोचे कि मैने इस सेनापर इतना रुपया खर्च किया । उससे कोई फायदा ही नही हुआ और शत्रुका आक्रमण हो गया । अत इस सेनापर रुपया खर्च करना बेकार है और यह समझकर वह अपनी सेनाको नष्ट कर देता है । तो विचारो उचित है या अनुचित ? उसका यह काम बिल्कुल भी ठीक नहीं है । हर कोई कहेगा यह तो उसकी बेवकूफी ही है । इतना रुपया खर्च करनेपर भी यदि शत्रुका आक्रमण हो गया तो उसे और रुपया खर्च करना चाहिये और वह अपनी सेनाको उत्साह देकर आगे बढाना चाहिये । परन्तु यदि वह अपनी सेनाको ही नष्ट कर देता है तो वह शत्रु बिना किसी अडचनके ही राज्यमे घुस आयगा । उसे जो थोडी बहुत सेनासे युद्ध भी करना पडता वह भी नही करना पडेगा । अत इस प्रकारकी दुर्बुद्धि नही लानी चाहिये, यह लौकिक बात है । जरा इसे प्रकृत निजमे घटाइये—धर्म हमारी सेना है, उसकी तुमने बचपनसे रक्षा की, कितने ही पदार्थोंका त्याग किया । धर्मकी सेवा तन, मन और धनसे सेवा की तो ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे ही होती, पुनरपि

जो निवृत्तिके लिये प्रवृत्ति होती है वह भी सेवा कही जाती है, फिर भी क्लेशोंने तुमपर आक्रमण कर दिया तो तुम धैर्य रखो। धर्मकी सेनाको और उमग वढाओ कि हे धर्म तुम दृढतासे मेरेमे आओ, उसमे तीव्र बुद्धि लगाओ। यह हो नही सकता कि धर्ममे तुम पूर्ण बुद्धि लगाओ फिर भी क्लेश आवे। इसलिये धर्ममे अपनी प्रवल बुद्धि लगानी चाहिये। धर्म क्या है, अनादि से अनन्तकाल तक बिना हेतुके सदा प्रकाशमान आत्मामे रहने वाले ज्ञानस्वभाव जो कि सब तरगोमे रहते हुए भी स्वतत्र है, उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि धर्म है। जरा गम्भीरतासे विचार करो—तुम्हे बस ससारसे एक दिन जाना है अपने आपमे इस बातको दोहराये रखो कि मुझे तो धर्ममे ओतप्रोत होना है।

अन्तिम रसके नाटककी दिदृक्षा—मै तो राग, रग, क्लेश, स्त्री, पुत्र, बन्धु, सस्कार आदि सबसे अलग हू, ६ रसोमे सबसे अन्तिम रस शाति है। मैने सब रसोका नाटक तो देखा अब इस अन्तिम रसका नाटक और कर देखूं। शान्तिरसमे आकर शान्तिरसके अतिरिक्त और कोई रस नही आता। अपने-अपने अधिकारमे अपनी आत्मा होती है, सबकी आत्मा अपने-अपने अधिकारमे है। बाहरकी चीज मत सोचो और बाहरका सत्यस्वरूप जानो। ये स्त्री और पुत्र यह कहते कि तुम हमसे दूर क्यो रहते हो ? तो उनको उत्तर दो कि मैं तो अपने शरीर तक से भी दूर हू। तुममे मोह कैसे रख सकता हू, जब कि मै अपने शरीर तकसे भी मोह नही रखता तो ये तो सब बाह्य पदार्थ है। उनमे मेरा मोह क्यो रहेगा ? यदि तुमसे मेरा मोह रहेगा तो शरीर तकसे भी तो मोह रह जाता। उनसे यह कहो कि तुम भी इसी तरह अपना मुक्तिका मार्ग अपनाओ।

शुद्धात्मत्वके दर्शनमें हित—तुम एक धर्मका ही अपना काम रखो, जो ससारके दुखो से छुडाकर आत्मसुखमे लगा देता है वही असली धर्म है। मिथ्यात्व छोडो, उपन्यासोंसे चित्त हटाओ, देवशास्त्र गुरुमे अपना विश्वास पैदा करो। गुरु कौन है ? जो सर्व प्रयत्नसे अर्थात् अतरगमे ज्ञानस्वभाव दृष्टिकी स्थिरतारूप विशिष्ट ध्यानोसे और बाह्यमे इस योग्यताके होनेपर अवश्यभावी बाह्य स्थितियोके प्रचलनसे बाधारहित होकर निरतर ज्ञानाराधना करते है वे गुरु है और इसी ही ज्ञानस्वभाव अकषायभावके आदेशका जहा आदेश हो, उसके विरुद्ध विषय कषायोसे निवृत्तिका जहा आदेश हो वह शास्त्र है और जो गुरुराज स्वभावमे लीन हो गये कर्मसे रहित हो गये, अनत चतुष्टयमय हो गये वे देव है। वस्तुत ऐसे निज ज्ञानस्वभावकी परखसे ही देव शास्त्र गुरुकी ही प्रतीति होती है। अपने स्वभावको जानकर इससे मेल खाने वाले इस मार्गमे उन्नत पुरुष इसके विश्वास्य और आदर्श हो जाते है। जिस ज्ञानस्वभावमय हो उसका स्तीफा बुद्धिसे मत दो, व्यवहारके काम व्यवहारसे होगे ही, परन्तु धर्मकी ओरसे

तुमारी दृष्टि नही छूटनी चाहिये । सोचो कि मेरा जगत कोई हितकारी नही है, अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी यह मैं ही केवल स्वय सुखमय हू, परलक्ष्यरूप ही क्लेश ही अहित है । अत: परमे हित प्रतीति रुचिके क्लेशमय भावसे मुक्त होकर निजबुद्धिमे ही स्वाभाविक ज्ञानोपयोग द्वारा स्वतत्रतासे विहार करो वही हित है । अब इस प्रकरणमे ज्ञान पदार्थोमे रहता है, इस प्रकारका वर्णन कर रहे हैं ।

रदणमिह इदणील दुद्धज्झसियं जहाँ सभासाए ।
अभिभूय तपि दुद्ध वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी अर्थव्यापकताका कथन—जिस रूपसे ज्ञानका परिणाम उस विशेषज्ञका है वह उसका उस कालमे ही है । उसकी व्यक्ति भी सदा उसकी नही होती, जब ऐसा वियोग है तव तो मात्र ज्ञानस्वभाव ही ध्रुव रहा, वही आत्मस्वभाव रहा, उसे पहिचाने बिना उसके आश्रय बिना अर्थात् निजके आश्रय बिना पर्यायकी निर्मलता नही वास्तविक शिवमार्ग नही मिलता, अब ज्ञान सर्वस्वको देखकर विचारो । जैसे एक गिलास दूधमे इन्द्रनीलमणि डाल दिया, परिणामस्वरूप जितने परिमाणमे वह दूध है उतने परिमाणमे वह दूध उस इन्द्रनील की कान्तिसे नीला हो गया । दूधके रूपको भी दवाकर अपनी कान्ति द्वारा इन्द्रनीलने दूधको नीला कर दिया, वस्तुत: इन्द्रनीलमणि जो कुछ भी कर सकता अर्थात् परिणाम कर सकता वह अपनेमे ही कर सकता । मणिक्षेत्रसे वाहर मणिकी गुण पर्याय प्रभाव आदि कुछ भी नही है । यहा निमित्त सम्बन्धकी अपेक्षा यह कथन है । इन्द्रनीलमणिके सान्निध्यरूपको निमित्तमात्र करके दूध स्वय ऐसा प्रतिभासित हो रहा है जैसे कि आत्मा कर्मोदयके योगको निमित्तमात्र करके स्वय रागी द्वेषी आदि प्रतिभासित होता है, ऐसे उपचारदृष्टिको लेकर अभी कथन है तो कहा गया कि इन्द्रनीलने दूधको नीला कर दिया । इसलिये इन्द्रनीलकी कान्ति सारे दूधमे व्यापक है । इसी तरह ज्ञान और ज्ञेयसे आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण यह कहा जाता है कि सारे ज्ञेय पदार्थोमे आत्मा व्यापक है ।

परमार्थत: ज्ञानकी स्वव्यापकता—कहा जाता कि ज्ञान पदार्थोको अपनेमे व्याप्त कर रहा है और ज्ञानरूप यह आत्मा है । अत ज्ञानके द्वारा ये सारे पदार्थ आत्मामे व्याप्त हो रहे हैं । केवलज्ञानी ऐसी शक्ति रखता जो अपनेको भी जानता और सारे ससारको भी जानता और सारे अज्ञानरूपी अधकारको दूर करके अपने ज्ञानसे सारे पदार्थोमे रहा । ज्ञानमे जो ज्ञेयाकार परिणति हुई उस ज्ञेयाकार परिणतिमे यह ज्ञान पूरा व्याप रहा । अज्ञानी ज्ञेयमे ऐसा लुप्त हो जाता है कि जिससे वह अपने आपको वाह्य ज्ञेयसे पृथक् नही कर पाता । परन्तु ज्ञानी जीव स्पष्ट इस बातको समझता कि ज्ञान ज्ञानमे वर्त रहा और ज्ञेय ज्ञेयमे वर्त रहा । वास्तवमे यह ज्ञान तो ज्ञानका ही हुआ है, ज्ञेयका ज्ञान नही हुआ । ज्ञेय हमसे कितनी दूर है, यह चौकी

हमसे कितनी दूर है ? फिर भी हम कहते है कि ज्ञेयका ज्ञान या चौकीका ज्ञान। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ज्ञान है। चौकी ज्ञानने अवश्य जानी, परन्तु वह ज्ञान आत्माका ज्ञान ही कहलायेगा।

ज्ञान और ज्ञेयका परस्पर अस्वामित्व—देखो भैया ! ज्ञायकस्वभावकी पहिचानके लिये अतर्ज्ञेयाकारके स्वरूपसे भी पृथक् ध्रुवस्वभाव देखा जाता है, यहाँ फिर बाह्य ज्ञेयका तो प्रश्न ही क्या, अवसर ही क्या ? तथा इस ही प्रकार दर्शन सुख वीर्यके विपरीत परिणमन का ज्ञान स्वभावसे मेल नही खाता, सो इनसे भी ज्यादा परखना है और फिर सर्व गुणोंके स्वभाव परिणमनका जहा अभेद हो जाता है ऐसे ज्ञायकस्वभावको लक्ष्यमे लेना है। उस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावके बलसे ऐसी ज्ञान व्यक्ति प्रगट होती है कि जहाँ सर्व ज्ञेय जैसे है, वैसे उनका पूर्ण जानन हो जाता है। उस स्वरूपका ही यह विवेचन चल रहा है। यहाँ इसकी परख करो कि ज्ञानका ज्ञेय हो सकता है या नही और ज्ञेयका ज्ञान हो सकता है या नही। इसके उदाहरणमे एक दृष्टान्त लो—जैसे भीतपर हरा रग करा दिया। देखो यह कहा जाता कि यह हरा रग भीतका है, परन्तु वह रग तो रगका है, भीतका नही है। रग तो भीतसे बिल्कुल भिन्न है। इसी तरह यह ज्ञान सारे विषयोसे भिन्न है। फिर भी यही कहा जाता है कि ज्ञेयका ज्ञान चौकीका ज्ञान, परन्तु परमार्थसे किसी वस्तुका अन्य कोई कुछ नही है। इसलिये ज्ञानी जीव कहते है कि ज्ञान इन बाह्य पदार्थोका नही है। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ही है।

कारकोका पृथक् पृथक् स्व स्वमे कारकत्व—प्रश्न—इस रगको इसी भीतका रग क्यो कहते ? दूसरी भीतका क्यो नही कहते ? उत्तर—इनमे बाह्य आधार भाव ऐसा है, जिससे कहा कि यह रग इस भीतका है। यह रग पर्यायरूपसे इस भीतपर है और इस रग की ऐसी पर्याय होनेका आश्रय मात्र यह भीत है। भीतके आश्रयमात्रपना होनेपर भी यह रग भीतका नही है, वहाँ यह जानना कि यह रग भीतका नही है, यह तो रगका रग है। इसी तरहसे चौकीका ज्ञान, चौकी ज्ञानका विषय हुआ। इसलिये चौकीका ज्ञान प्रतीत होता है। वास्तवमे यह चौकीका ज्ञान नही है। अब आगे बढो। ज्ञानसे ज्ञानी अभिन्न है तो यह ज्ञानी चौकीका नही है। यह ज्ञानी ज्ञानका है चौकीका नही है।

अन्तर्ज्ञानके स्थैर्यका श्रेय—लोग कहते है—अणुविद्याका ज्ञानी, हवाई जहाजका विशेषज्ञ आदि। परतु आत्मा अपने ज्ञानका विशेषज्ञ है, उस हवाई जहाज या अणुविद्याका विशेषज्ञ नही है। जिस रूपसे ज्ञानका परिणमन उस विशेषज्ञका है वही उसका उस कालमे है। वह व्यक्ति भी सदा उसकी नही होगी। जब ऐसा वियोग है, तब तो मात्र ज्ञानस्वभाव ही ध्रुव रहा, वही आत्मस्वभाव रहा, उसे पहिचाने बिना उसके आश्रय बिना अर्थात् निजके आश्रय

बिना पर्यायकी निर्मलता नहो, वास्तविक शिवमार्ग नही मिलता । उस ज्ञान व्यक्तिमे भी जब ज्ञानस्वभाव पृथक् लक्षण वाला है तब ज्ञेय और ज्ञान भिन्न-भिन्न है, इसके समझनेमे तो कोई अडचन ही नही, ऐसा सर्व जगतसे न्यारा इस शरीरसे भी न्यारा । शरीरका अर्थ उर्दूमे बदमाश होता, उससे भी न्यारा यह ज्ञानी आत्मा है । इस शरीरको कितना भी मलो, धोवो, सब कुछ करो, फिर भी पसीना ही निकलता है । रोग बुढापा आता ही है । गाली गलौज अपमान आदि सुनकर आग बबूला, इसके निमित्त जीव होता, ऐसे इस अशुचि शरीरसे भी न्यारा, २४ घन्टे जो कलाएँ सबको सूझती है—रागद्वेषकी उन सब कलाओसे भी न्यारा, ऐसा ज्ञान-स्वभाव इस आत्माका सबसे भिन्न स्वरूपी होता है । इसको स्थिर करने वाला ज्ञानी ऐसे ज्ञान को पाता है, जो ज्ञान तीनो लोको और तीनो कालोको जानता है । लोकमे कहते है जो गम खाता है उसको सबसे पहिले फल मिलता है । हम तृष्णाके वश अधीर होकर दौड रहे, इस भागदौडमे गाठकी ही रकम खोये जा रहे है, बाह्य पदार्थोके लिये उनसे सुखी होनेके लिये लिये दौड मत लगाओ, अपने आपमे स्थिर रहो, अपने आपमे लीन रहो और देखो कि तुम क्या हो ? तब यह ज्ञान और तब यह सुख अनन्त सुखमे परिणत हो जायेगा ।

इच्छाके अभावमे सम्पन्नता—जो बाह्यमे लगा रहेगा, उसे बाह्य भी नही मिलेगा और जो बाह्यसे अलग होकर रहेगा उसके चरणोमे बाह्य लौटेगा और विशेषता तो उसकी आत्मवैभवकी ही है । एक लखपति आदमी जो था, अपने पलगके नीचे चादी सोनेका पीकदान रखता था और उसीमे पीक थूकता था । एक गरीब आदमी वही बैठा था, वह उसे देखकर पीकदानसे कहता है कि तुझे यही थुकानेमे मजा आता तो तू यही रह, मुझे तेरी आवश्यकता नही है । जो चाहता है उसे शक्ल भी नही दिखाना चाहती और जो नही चाहता और जिसके काफी ऐश्वर्य है उसका पीक भी उसीमे थुकवा लेती है । यही ससारका गोरखधन्धा है । जब हम सारे जगतको जाननेके लिये तडफते, तो सारे जगतको नही जान पाते और जब हम सारे जगतको जाननेकी इच्छा ही समाप्त कर देते है, तो यह ज्ञान और सुख अपने आप प्रगट हो जाता है । जब हम उस चाँदी सोनेके पीकदानकी इच्छा ही मिटा देते है तो वह पीकदान हमे तडफा नही सका, पीकदान माने सारी लक्ष्मी ।

भगवती प्रज्ञाका प्रसाद—भेदविज्ञानकी अपूर्व महिमा है । इसके बिना तो लोकमे भी आराम नही । पर्यायविशिष्ट ससारी जीवोमे मोही ही अपनी रागकलाओकी प्रतिष्ठा रखना चाहता है । वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टिमे यह कुछ रुचनेकी बात तो दूर रही, इसके विषयमे विधि निषेधकी कल्पना भी उसे नही सुहाती । बाह्य वैभव तो प्रगट जुडे है । उनमे मोह होना तो महामोह है ही । किन्तु निज क्षेत्रमे उद्भूत रागादि विभावोसे पृथक् अपने ज्ञानस्वभावको न पहिचान सकना भी महामोह है । हे आत्मन् ! विवेकरूपी छेनी ले और जहाँ जरासी भी जड

चैतन्यकी सधि प्रतिभासित हो वही इसे लगादे और अभ्यासका प्रहार कर। अपने स्वरूपको निश्चयसे पावेगा, फिर उसीमे रत होकर अनन्तकाल सुखी रहेगा। प्रज्ञा भगवतीके प्रसादसे ही हमे ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम सुखका अनुभव करते, परतु हम वास्तवमे करते क्या? हम अपनी इच्छाको समाप्त करनेके स्थानपर दुनियामे अपने आपके आराम और सुखके लिये दुनियाकी देखादेखी करते है और जो दूसरे करते है वैसा ही करना चाहते है।

एकत्वदर्शन—हमे इस प्रकार सोचना चाहिये कि मै तो इस दुनियामे एकाकी हू, ये जगतमे जो सुख दु:खके बहानेसे रहते है, मैं उनपर क्यो जाऊ? मेरी अपने आपकी आत्मा ही मे कल्पनाके बलपर जगतके दु ख सुख हो रहे है। अब खूब सोचकर अपने मार्गका निर्णय करो कि तुम्हे करना क्या है? यह सम्मति आज्ञा भगवानने दी कि अब तो यही करो कि इन बाह्य पदार्थोसे परिणति हटाकर ज्ञानस्वभावमे बुद्धि लगावो, तभी पर्याय कुछ भी रहे उस पर्यायकी परवाह न करके भी तुम्हारे अन्तरमे आकुलता न रहेगी। यह सोचो कि मैं अपने अन्तर्ज्ञेयमे व्यापक हू; इतना ही मात्रमे अपनी सत्ता रखता हू, जगतकी कोई सत्ता मेरी आत्मा मे नही है। जितना परिचय और समागम और इस ससारसे हुआ ये कोई भी मेरी रक्षा करने वाले नही है। झूठे मित्रोकी सम्मति तो मोही रुचिसे सुनते है किन्तु ज्ञानी भगवानकी ही सम्मति सुनते है।

उपेक्षाभावमे ही शान्ति—एक साधु जी थे। उनके पास एक राजा आया और कहने लगा महाराज आप इतना दु ख क्यो पाते हो, आप मेरे घर चलो और नग्न घूमनेकी बजाय अच्छे कपडे पहिन लो। साधुजी ने कहा, राजन् अच्छा! किन्तु कपड़ा पहिनना तो तभी शोभा देगा जब उसपर आभूषण भी पहिनें। राजाने कहा आपको आभूषण भी मिलेंगे। साधु जी ने कहा परन्तु आभूषण तो जब ही शोभा देंगे जब कि नौकर और नौकरानियाँ भी हो, फिर मोटर और उसके साथ पेट्रोल, उसके साथ ड्राइवरकी भी आवश्यकता होगी और उनको चलानेके लिये रुपयो पैसेकी भी आवश्यकता पडेगी। राजाने कहा, महाराज आपको सब कुछ मिलेगा। तब साधुजीने कहा कि जब हम इतने ठाट-बाटसे रहेंगे तो हाथसे खाना बनाकर खावें तो वह क्या अच्छा लगेगा, इस कारण हमारी शादी भी होना जरूरी होगा। राजाने कहा महाराज आपकी शादी भी आपके इच्छानुसार हो जायगी। फिर साधुजी बोले कि शादी होनेके बाद बच्चे कच्चे भी होगे। उनके लिये भी धनकी आवश्यकता पडेगी। यदि लडकी हो गई तो उसकी शादी भी करनी पडेगी और उसके लिये भी धन जुटाना पडेगा। लड़का हुआ तो उसकी पढाई आदिमे खर्च करना होगा। राजा ने कहा कि आप महाराज फिक्र क्यो करते हैं, मैं सब ठीक कर दूगा। तब साधु जी ने कहा—राजन्! यदि लडका मर गया तो रोना भी पडेगा। राजा एकदम बोला—बस महाराज रोना तो आपको ही पडेगा।

मैं तो केवल आपके आरामकी हर तरहसे व्यवस्था कर सकता हूं, फिर भी जो दुःख होगा वह दुःख तो आपही को भुगतना पडेगा। यह मेरे वशकी बात नही है। साधुजी ने उत्तर दिया—राजन् जिस कपडेमे साथ लगते-लगते रोनेकी नौबत आजायगी तो हमको उस कपडे की जरूरत नही है। इसी तरह भगवानका उपदेश कहते हैं कि इस मनुष्यभवमे आकर रोना नही चाहते हो तो इन सब वाह्यपदार्थोसे अपनी परिणति हटाओ। इष्ट वस्तु मिल जानेपर मुख मत करो। यदि सुख करोगे तो जब उस वस्तुका वियोग होगा तो तुम्हे रोना पडेगा। यदि लक्ष्मी चाहते हो तो लक्ष्मीसे दूर रहो। परन्तु यदि तुम यह कहो कि दूर इस लिये रहता हू कि मुझे लक्ष्मी मिले, तो तुम दूर कहाँ रहे? ऐसा चाहकर कोई दूर रहा तो वह दूर ही कहाँ रहा?

स्वपरिचयके बिना समृद्धिका अभाव—ये वैराग्यकी बाते हमारे मूलमे तब तक नही आ सकती, जब तक कि ज्ञानस्वभावको नही पहिचानो। अतः ज्ञानस्वभावको पहिचाननेकी कोशिश करो। अपने दैनिक जीवनका कुछ समय अपने मननमे खर्च करो। आत्मस्वभावके निरीक्षणके बिना मन कहाँ लगेगा? जहाँ जिसका परिचय होगा। परिचय तो है परपदार्थो का और चाहे निज मुख? बेजोड बात है। अरे भाई परका परिचय तो यथार्थ नही, जैसी कल्पना की वैसा परिचय किया और कल्पनाके अनुसार ही परका परिणमन चाहा, परन्तु यह त्रिकाल भी अभीष्ट सिद्ध नही होगा। यदि तुझे अपने ज्ञानके अनुसार परका परिणमन देखना है, तो एक वार सवको भुलाकर अपनेको जगाकर ज्ञानस्वभावमे स्थिर हो जा। तव ऐसा कैवल्य जागृत होगा कि जो तू जानेगा सो ही परिणमन होगा, अरे जाननेके अनुसार ही सब परिणमेगा, हा, हा क्यो कि जैसा जो परिणमेगा वैसा तू जानेगा। इस महत्त्वके लिये उदार वननेकी आवश्यकता है। देखो भैया! यहा कुर्सीवाजीकी कपायमे ११–१२ दिनकी हडताल रही। उन दिनोमे या तो हडतालका ही काम जैसे सत्याग्रह आदि ही करते या फिर धर्मशास्त्रमे ध्यान रखते। क्योकि तुम्हारा व्यापार तो वद पडा था, कुछ भी तो करते, क्या किया जाय? गप्प और रागकी आदत भी तो बुरी है। इन दिनोमे कितनोके अतरगमे यह इच्छा हुई कि हम अपना यह समय धर्मसाधनमे लगावें। हो कैसे?

धर्मसाधनके विना नरभवकी असफलता—धर्मसाधनोमे प्रवृत्ति मनकी इच्छासे होती है। मनकी इच्छा नही हो तो फुर्सत नही होनेकी वात आती है। कहते हैं मुझे फुर्सत नही मिलती, अरे धर्मके लिये तुम्हे समय नही मिलता, परन्तु क्या मरनेके समय भी तुम्हारी समय न मिलनेकी वात चल सकती है? यमराज (आयुक्षय) को तो उस समय नही कह सकते कि ५ मिनट ठहरो, अभी मुझे समय नही। गृहस्थीकी व्यवस्थाके लिये नियत ही समय रखो तो अवकाश धर्मको मिल ही जायगा। अतः धर्मके लिये भी अपना नियत समय करो। गार्हस्थ्य

व्यवस्थाके लिये नियत ही समय रखो, तो अवकाश धर्मको मिल ही जायगा। जैसे आफिसका समय नियत रहता है और वहाँ देर तक ठहरनेकी बात नही हो सकती। उसी तरह घरको भी आफिस बनाओ। घरकी व्यवस्थाका अपना समय निश्चित कर लो कि जो भी तुम्हे करना है उसी समयमे करो। प्रतिदिन ही घरको उलझनोमे सारा समय दोगे तो कैसे काम चलेगा ? यह समय चला गया तो फिर क्या हाथमे आएगा ? मनुष्यजीवनमे कोई पुरुषार्थ नही किया तो इससे अच्छा तो यह था कि मनुष्यजन्म ही न लेते, तो यह नम्बर तो आपका सुरक्षित रहता। देखो भैया ! गन्नेमे नीचे रस नही, ऊपर रस नही, मध्यमे कीडा लगा, उस गन्नेके भोजनमे क्या कुछ लाभ है ? उसे तो बोनेमे लाभ है, इसी तरह मनुष्यकी बालक वृद्ध अवस्थामे धर्म प्राय नही होता व जबानी विषयोमे खोई तो सब व्यर्थ हुआ। इस मनुष्यभव को धर्ममे लगानेसे लाभ है, परन्तु मोही क्या करे ? क्योकि उसमे विषयोका कीडा लग गया। भाई सम्यग्ज्ञानसे कही कोई आपत्ति नही आती, विषयकषायोमे रहकर अनत ससारकी आपत्ति क्यो बढा रहे ? ज्ञान ही एक शरण है, ज्ञानसे इस लोकमे भी विपदा नही रहती और न अन्यत्र। हमे यदि कोई शरण है तो वास्तवमे आत्मस्वभाव ज्ञान। यह बडा उत्कृष्ट है। मित्र कहो, पिता कहो, बन्धु कहो, सर्वस्व अभिन्न यह ही है आत्माका। ज्ञानके रहनेपर आपत्तिका भय भी नही। विशुद्ध ज्ञानमे तो आपत्ति है ही नही, किन्तु यदि लौकिक ज्ञान भी होवे तो भी लोकमे निरापद देखा जाता है।

ज्ञानसे संकटका निरसन—एक बार एक बूढा, उसकी बूढी स्त्री, उसका जवान पुत्र और बहू चारोके चारो किसी गाँवमे जा रहे थे। जब गाँव तीन मील दूर था तो रात पड गई और वे सब रास्तेमे ही रुक गये। कुछ मुसाफिर और मिले। उन्होंने उन्हे वहाँ रुकनेसे रोका और कहा कि यहाँ मत रुको, यहाँ एक भयकर राक्षस आता है वह मिलने वालेसे एक सवाल पूछता है और उत्तर न मिलनेपर उसे खा जाता है। बूढा बोलता है—अच्छा हम देखेंगे कि वह कैसा भयकर राक्षस है ? उन्होने रात भर बारीसे जगना तय किया, पहले पहर मे बूढा जागेगा, दूसरेमे बुढिया, तीसरेमे लडका और चौथे पहरमे बहू जागी।

जब बूढा जाग रहा था, तो राक्षस आया और उसने उससे प्रश्न किया—"एको गोत्रे।" यह व्याकरणका सूत्र है, फिर भी बूढेने इस प्रश्नका उत्तर नैतिकतामे दिया—"एको गोत्रे भवति स पुमान् यः कुटुम्ब विभर्ति" अर्थात् गोत्रमे वही पुरुष श्रेष्ठ कहा जाता है जो सारे परिवारमे रहते हुए सारे परिवारका पोषण करता है। उत्तरसे राक्षस सतुष्ट हुआ और उसे खानेके बजाय उत्तम आभूषण आदि इनाम और दे गया।

दूसरे पहरमे जब बुढिया जागी तो वह राक्षस फिर आया और बुढ़ियासे प्रश्न किया—

"वृद्धो यूना ।" यह भी व्याकरणका सूत्र है, परन्तु बुढियाने उत्तर दिया कि—"वृद्धो यूना सह परिचयात्त्यज्यते कामनीभि." अर्थात् वृद्ध पुरुष हो और जवान स्त्रीसे शादी हो जाय । यदि उस जवान स्त्रीकी किसी जवान पुरुषसे प्रीति हो जाय तो यह जवान स्त्री वृद्ध पुरुषको छोड देगी । राक्षस उत्तरसे सतुष्ट होकर फिर चला गया ।

तीसरे पहरमे लडका जगा, राक्षसने आकर प्रश्न किया—"सर्वस्य द्वे ।" इस सूत्रका नीतिरूपमे लडकेने भी उत्तर दिया कि—"सर्वस्य द्वे सुमतिकुमति सम्पदापत्तिहेतू" अर्थात् जीवोके सुमति और कुमति रहती है, उसमे सुमति सम्पदाका कारण है और कुमति विपत्तिका कारण है । कहा भी है—"जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना । जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निधाना ।।" इस उत्तरसे भी राक्षस सतुष्ट होकर चला गया ।

चौथे पहरमे बहू जागी, उससे भी राक्षसने आकर प्रश्न किया—"स्त्री पुवत् ।" इसका बहूने उत्तर दिया कि—"स्त्री पुवत् पभवति यदा तद्धि गेह विनष्टम्" अर्थात् जिस कुटुम्बमे स्त्री पुरुषके समान उद्दड हो जाती है वह घर बरबाद हो जाता है । स्त्रीका काम घरको सम्हालना है । पुरुष उसमे नही समभता । हाँ यदि स्त्री तग करती है तो वह सारी तनख्वाह उसको देकर कह दे कि चलाओ तुम खर्च । धर्मके लिये कुछ भी रखना हो, वह पहिले ही रख ले और बाकीका सब खर्च चलानेके लिये स्त्रीको दे दे कि अब बजट चलाओ । तभी उसका पता चलेगा और उसकी दिन प्रतिदिनकी नित्य नई माग खत्म हो जायगी । अस्तु, तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुषकी तरह उद्दड हो जाय तो वह घर बरबाद हो जाता है । वह राक्षस चारोसे ठीक उत्तर पाकर उल्टा बहूमूल्य आभूषणका उपहार देकर चला गया और उन्हे खा न सका ।

ज्ञानकी आत्मसहायकता—जरा सोचो और जानो कि ज्ञान आत्माका कितना सहायक है । ज्ञानके अतिरिक्त सब असार है । दुनियामें मेरा कोई सहायक नही, न यहाँ मेरा कुछ और न वहाँ मेरा कुछ । जहाँ जैसा-जैसा है उनसे मुझे कुछ नही मिलता । मैं विचार करके ज्ञानसे जगतके स्वरूपको देखता हू तो पाता हू कि मेरा कुछ भी नही । मेरी आत्मा ज्ञानसे अधिक कुछ भी नही, मेरा ही ज्ञान लखपतिपना है और करोडपति है । यदि तृष्णा बढ जाय तो वह सुख और करोडपति या लखपतिपना क्या है ? मेरा ही ज्ञान वैभव है, धर्मकी लगन होनी चाहिये । जिसकी धर्ममे लगन है वह मोहके साधनोमे सदा नही रहता, जिसको लगन होगी वह कभी-कभी मन्दिरमे जायगा, जगलमे जायगा, एकान्तमे जायगा झगडनेकी वजहसे नही, यदि किसीका घरके किसी आदमीसे झगडा हो गया तो उस वजहसे वह मदिरमे या जगलमें या एकान्तमे नही जायगा, परन्तु उसे ज्ञानस्वभाव की स्वाभाविक शांति कैसे प्राप्त हो, इसके लिये कभी एकान्तमे जाता, कभी सत्सगमे जाता, कभी मदिरमे भी आता । ऐसी उसकी चेष्टाएँ होती है, ज्ञानस्वभाव ही उसमे रमता है,

ऐसी अन्तरगमे प्रवृत्ति हुई तो जानो कि हमको यह बात लग गई । इस बातको अपने अन्तरग मे लगाओ । यह लगन रखो, इस लगनमे रहे बिना इस ज्ञानस्वभावकी रति हुए बिना आत्मा साफ नही होगा । यदि ज्ञानस्वभावपर दृष्टि दोगे तो यही तुम्हारा साथ देगी और तुम्हारी परभव और इस भवमे रक्षा करने वाली होगी । ऐसा समझकर बाह्य पदार्थोंमे से मन हटाओ और निज स्वभावके आश्रय परिणत होकर सर्व आपदाये समाप्त करो ।

इस गाथामे यह बताया है कि यह ज्ञान आत्मासे अभिन्न होनेसे स्वय तो कर्ता है और करण ज्ञान है ही, सो स्वय करण है । अब वह इसके उपचारके आश्रयभूत बाह्य अर्थोंके उपचारसे कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोको व्यापकर बर्तता है । इसलिये कार्य कारणका उपचार करके यह कहा जाता है कि ज्ञान अर्थोंको व्यापकर बर्तता है । यहाँ भी परमार्थसे जो वस्तु-स्थिति है उसकी पहिचानसे अखण्ड विभक्त एकत्व परिणत निज ज्ञानस्वभावको देखना । उक्त कथन ज्ञानस्वभावकी पहिचानके लिये है । सो ज्ञानस्वभावको पहिचानकर सर्व विकल्प त्याग कर उसमे ही रत रहना, यह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी परिपूर्ण एकता का होगा ।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि ज्ञान अर्थोंमे रहता है । अब आगे कहते हैं कि इस ही प्रकार अर्थ ज्ञानमे रहते हैं ऐसी सभावना करते है । यहा सभावयति शब्द उत्तम है जिससे यह ध्वनित है कि निश्चयत· तो ज्ञान ज्ञानमे ही रहता है और अर्थ अर्थमे ही रहते हैं तथापि जिस दृष्टिसे ज्ञानका अर्थोंमे व्यापना कहलाया, उस दृष्टिसे अर्थोंमे ज्ञानका रहना कहा गया है ।

जदि ते ण सति अत्था णाणे णाण ण होदि सव्वगय ।
सव्वगय वा णाण कह ण णाणट्ठिया अत्था ॥३१॥

ज्ञान ज्ञेयमे सम्बन्धका मन्तव्य—यदि विश्वके समस्त पदार्थ अपने ज्ञेयाकारके अलौकिक समर्पणके द्वारा उस केवलज्ञानमे न हो तो वह ज्ञान सर्वगत नही कहला सकता । जैसे दर्पणमे सम्मुखस्थित पदार्थ अपना बिम्ब समर्पण कर देते है । यद्यपि पदार्थ या पदार्थका गुण या पर्याय उस दर्पणमे अथवा दर्पणके गुण या पदार्थमे नही पहुचता फिर यह तो आखो सामने की बात है कि पदार्थ जो झलकनेके योग्य है उनके निमित्तको पाकर दर्पण उस पदार्थके अनुरूप अपने बिम्ब बना लेता है । वैसे ही तत्त्वत जगतका कोई पदार्थ अथवा पदार्थोंका गुण या पर्याय ज्ञानगुण या पर्यायमे अथवा आत्मामे नही पहुचता फिर भी कुछ तो यही प्रगट सिद्ध है कि हम जितने पदार्थोंको जानते है वे अथवा उनके गुण या पर्याय कुछ भी मुझमे अथवा मेरे गुण या पर्यायोमे प्रवेश नही पा रहे है तब यही स्वभाव सिद्ध बात केवलीमे भी है । परन्तु व्यवहारसे यदि सम्बध नही अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावरूप बात न हो तो ज्ञानकी अर्थक्रिया का अभाव होनेसे ज्ञानका ही अभाव हो जायगा और ज्ञानका अभाव होनेसे आत्माका अभाव

होगा और आत्माका अभाव होनेसे इन सब पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकायरूप पुद्गलोका अभाव हो जायगा, क्योकि जो कुछ पुद्गल द्रव्य दीखते है उनका यह आकार प्रकार जीवद्रव्यके द्वारा निमित्तरूपसे वर्गणाओके ग्रहण बिना नही हो सकता था। जब इन दो का ही अभाव हो गया फिर दुनिया ही क्या ? किन्तु दुनिया सब प्रकटसिद्ध है। अत. ज्ञान व्यवहारनयमे सर्वगत है और ज्ञान सर्वगत तभी है जब सर्व ज्ञानगत हो।

निर्मल ज्ञानकी भावना—भैया ! यहाँ निर्मल ज्ञानकी महिमा तो देखो, जगतमे जो भी सत् है वह निर्मल ज्ञानसे बाहर नही है। सर्व अर्थ अवश झलकते है। अहो कैसा स्वभाव है, इस जीवने अपने ऐसे उत्कृष्ट वैभवको तुच्छ बातोके प्रसगमे आकर ढक दिया है ऐसे जीव दयापात्र है। देखो तो कठिन बात सरलसी हो गई और सरल बात कठिन हो गई है। नित्य अन्तरगमे प्रकाशमान यह स्वभाव इतना गुप्त हो गया जो अपनी ही बात अपनी समझमे न आवे। इस स्वभावसे ही तो सारा काम चल रहा है, बिना देखे भी और। देख लेनेपर इस ही स्वभावसे सारा काम चलता है मोक्षका।

अन्तर्दृष्टिके प्रोग्राममे कल्याण लाभ—भाइयो ! अब दूसरा प्रोग्राम छोडो, आत्मकल्याणका ही प्रोग्राम बनावो, जो कमी है और बाधा है उन्हे बाधा समझो। हम आप ज्ञानमय है। ज्ञानका बडा प्रभाव है, ज्ञानीके ललकारके आगे विषयचोर नही ठहर सकते है। जैसे बडी शिथिल बुढियाके घर यदि पहलवान चोर भी घुसे तो भी बुढियाको यदि खासी आ जाये तो खासीकी आवाजसे ही चोरोके पैर उखड जाते है। भैया ! सब जाना, धन कमाया अनेक खटपट किये, यदि स्वयका स्वभाव न पहिचाना तो व्यर्थ, आयुक्षय बराबर चल रहा है। वह दिन समीप है जब मनुष्यभवका आखिरी होना है। अत चेतो, बाह्यदृष्टि छोडकर अन्तर्दृष्टि करो। देखो अपना स्वभाव जो अनादि अनंत अहेतुक असाधारण है। इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके बलसे हुई आत्मनिर्मलता उस परिणतिको पा लेती है, जहाँ सारा विश्व बिना चाहे अवश झलकता है। बडा गोरखधन्धा है, जब जाननेकी चाह करो तो ज्ञान नही होता, जब चाह ही न करो, आत्मविश्राम करो तो सारा विश्व ज्ञानमे आ जाता है।

ज्ञानविलासमें क्लेशका अभाव—प्रश्न हम लोग तो थोडेसे ही जाननेमे बडे दु:खी हो रहे है। सर्वज्ञानका हम क्या करे ? उत्तर—यहाँ हम सबको जो दु:ख है वह ज्ञानका नही है किन्तु इष्ट अनिष्ट भावका है। जो रागद्वेषरूप विकार है इन्ही विकारोके कारण हमारे ज्ञान का विकास भी रुका हुआ है। जहाँ मोह भाव क्षीण हुआ कि अल्प अन्तर्मुहूर्तमे ही सर्वज्ञान हो जाता है। रागके क्षय करनेके अतरग परिश्रमकी थकानको वह अन्तर्मुहूर्तका विश्राम पूरा कर देता है, जिससे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख व अनन्तवीर्यका विकास हो जाता है। इस अन्त:प्रकाशमान स्वभावपर दृष्टि दो। लोग कहते हैं—आजकल जमाना कमजोर है, घर

छोडकर कुछ नही सधता, प्रथम तो यह बात पूर्ण सत्य नही है किन्तु अतरगमे धर्मरुचि उत्कट न हुई हो, इच्छाओकी आधीनता बन रही हो तो घर छोडना विडम्बना ही है। तो भैया! हम घर छोडनेको तो नही कह रहे, घर तो आपमे प्रविष्ट ही नही है, घरको तो आप पकड ही नही सकते, छोडनेकी बात क्या? यहा तो जो जैसा पदार्थ है उसे वैसा मान लिया जाय, न कम न ज्यादह इतना ही बडा पुरुषार्थ है, यह तो सबसे पहिले करना ही पडेगा। इसके फलमे भविष्यमे क्या वर्तमान बनेगा, उसीकी यह यथार्थ महिमा गाई जा रही है।

व्यवहारसे ज्ञानकी सर्वगतता—सर्वज्ञदेव मात्र व्यवहारसे सर्वगत है अथवा सर्व अर्थ व्यवहारसे केवलज्ञानगत है। इस व्यवहारका मूल कारण ज्ञानकी शक्ति और महिमा ही तो है। विश्वकी परिच्छित्तिके आकार जो ज्ञान परिणाम जाता है और परिणमता भी सहज और अवश होकर, यह शुद्ध आत्माका ही प्रभाव है। इस तरह ज्ञान सर्वगत है तो इस ज्ञान की भूमिमे अवतीर्ण हुए जो ज्ञेयाकार उसके विषयरूप कारण तो ये पदार्थ है। तो इस परम्परासे तो यह निश्चय ही कर लेना चाहिये कि उन उन ज्ञेयाकारोके कारणभूत ये पदार्थ ज्ञानमे स्थित हो गये।

विवेकमे ही लाभ—देखो भैया! विवेक सब कथनोमे जागृत रखना। निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनो का एक साथ बोध ज्ञानी के रहता है। सामान्य विशेष दोनो एक साथ रहते है, निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनो एक साथ है, निमित्तकी उपस्थिति और उपादानकी तैयारी दोनो एक साथ है, द्रव्य और पर्याय दोनो एक साथ है परन्तु ऐसी पर्याय होनेमे जहा कि द्रव्य, उपादान स्वतन्त्र सत्ता व सामान्य इन पर अभेददृष्टिसे उपयोग परिणति हो वहा कल्याण अवश्य है। भैया! धर्म यही वीतरागदृष्टि ही तो है सो धर्म तो स्वयमे है परन्तु पता पहिचान न होनेसे बाहर खोजकी भागदौड हो रही है। एक सेठ था वह अपनी बहीमे लिख गया था कि पुत्रो! जब तुम्हे निर्धनता सतावे तब थभसिहसे धन ले लेना। पुत्र निर्धन हो गये और सेठ तो पहिले ही मर गया था। पुत्रोकी दृष्टि उस बहीके लेखपर पड़ी तो पुत्रोंने थभसिह की बडी खोज की। कई गाँव ढूढ डाले परतु थभसिह न मिला। उन पुत्रोको व्यग्र देखकर एक बुद्धिमान सज्जनने उन्हे समझाया कि भाई वह थभसिह कही बाहर नही है वह तो तुम्हारे ही घरमे होगा और जाकर परीक्षा करके उसने बताया कि यह थभा ही तुम्हारा देनदार थभसिह है। उन्होने उस थम्भेको खोदा तो वहासे काफी धन निकला। इसी तरह हम धर्म करने या सुख पाने के लिये दुनिया भरमे भटक रहे है। जिन ज्ञेयोको निमित्त पाकर हम अपनी कल्पनायें बना लेते है और कुछ सुखाभास अनुभव करते है उन्ही ज्ञेय जड-पदार्थोकी ओर झुके जाते हैं। परतु जरा धीरतासे देखो तो सही, वह ज्ञान किससे आया—किसकी परिणतिसे

वह भरा, कहा था–कहासे निकला ।

ज्ञानस्वभावालम्बनसे शाश्वत सुखकी सिद्धि—भैया ! यह सब अपने सुख स्वभावके परिणमन है । यह स्वभाव इतना उदार है कि मिथ्याबुद्धिमे उलटे चलनेपर भी यह सुख स्वभाव अपना कुछ न कुछ काम कर ही देता है यदि मिथ्याबुद्धि छोड दी जावे और सुख स्वभाव जो ज्ञानका अविनाभावी है । जो अनादि अनत अहेतुक है उस स्रोतपर यदि दृष्टि जावे, तब तो अनन्त सुखका अनन्तकालके लिये अनन्त विकास हुए बिना रह नही सकता । सो भैया ! धर्म–सुख–ज्ञान सब कुछ कल्याण निजमे है परन्तु पर या मोहके पुछल्ले से सब हैरान हो रहे है । अब तो गई सो गई अब राख रही को, जो समय गया सो गया अब आगे क्या करना—इसे देखो । करना केवल यही है—अपने को सब दृष्टियोसे सब प्रकार निश्चय करके पूर्व अखड निज सत्को अभेदस्वभावसे अनुभव करना । जिन्होने ये पुरुषार्थ पहले किये वे पहले सिद्ध हो गये है जिन्होने अब किये वे अब सिद्ध हो रहे है, जो अब आगे करेंगे व भविष्यमे सिद्ध होवेंगे । जिनकी ऐसी महिमा इन प्रकृत गाथाओमे चल रही है, वे अनतानत-काल तक प्रभुतासे सम्पन्न अर्थात् अनतज्ञानी और अनन्तसुखी सर्व बाधाओसे विमुक्त रहेगे ।

विविक्तभावना—इस प्रकार ज्ञानी आत्माका ज्ञानका पदार्थोके साथ अन्योन्यवृत्तिपना कहा अर्थात् ज्ञानमे विश्व और विश्वमे ज्ञानका कथन किया । निमित्तनैमित्तिक भावसे व्यवहार से यह बात भूतार्थ है तथापि कोई द्रव्य किसी द्रव्यको न ग्रहण कर सकता है और न छोडने का परिणमन कर सकता है, क्योकि सभी वस्तुये अपने ही चतुष्टमे परिणमन करती है, अतः सर्वविश्वको देखते और जानते हुए भी ज्ञानीको सर्व विश्वसे न्यारा दिखाते है । वह ज्ञानी तो सर्व विश्वको देखता जानता हुआ भी सर्वविश्वसे अत्यन्त विविक्त है—इस बातको दिखाते है अथवा इस परिणतिको अपनेको हुवाते है अथवा निमित्त बनकर परको हुवाते है । कहना वही सार्थक है जहा करना भी हो । इस भाव भावनोमे स्वयपर तो प्रभाव रचयिताका तो है किन्तु इस वैरायग्पूर्ण कथनके निमित्त बनकर परके उपकारी भी श्री गुरु है । यह केवली भगवान्का प्रकरण है, अत केवली सर्व तत्त्वको इस शैलीसे स्वतत्र देख रहे है किन्तु यही शैली हम लोगोकी भी है । हम भी जानते हुए देखते हुए भी ज्ञेयोसे सर्वथा विविक्त है । हम लोग भी जितना जानते है वह भाग अपना परिणमन करके स्वज्ञेयकारको जानते है परन्तु किसी भी बाह्य अर्थको न ग्रहण करते है और न छोडते है, केवल अपने परिणमनको प्रति-क्षण ग्रहण करते है और छोडते जाते है ।

प्रश्न—यह बात तो अत्यन्त प्रसिद्ध है, फिर इसपर अधिक जोर देनेका प्रयोजन क्या है ? उत्तर—भैया ! वस्तुस्वरूपका सत्य विज्ञान पाना इस जीवको सरलका ढग होते हुए भी कुछ कठिन हो रहा है । जगतके ये पदार्थ कैसे उत्पन्न हो जाते है—इस समस्याका हल प्रारभ

मे बडा दिमाग चाहना है । सो लोग किसी अद्भुतकी खोज करनेमे लग जाते है तथा वस्तु-विज्ञानकी जब यह वार्ता सुनते है प्रभु सर्वज्ञेयोमे है और समस्त ज्ञेय प्रभुमे है तव प्रभुके साथ समस्त जगतका पूरा सम्वध जोड बैठते है । इसके फलस्वरूप इस धारणाका उत्कृष्ट प्रचार हो गया है कि समस्त जगतको हमको आपको सबको बनाने वाला प्रभु है । बस अब क्या है इस धारणाके पश्चात् विज्ञानघन सहजानन्द निजस्वभावमे स्थिर होनेकी दृष्टिसे भी वञ्चित हो गये । अपनी वास्तविक स्वतत्रताकी विभूति उपयोगमे हीन हो गये । यह अकल्याणका दृढ गढ है और साथ ही प्रभुके स्वरूप सहज आनन्द कृतकृत्यपने का घात बुद्धिमे कर देनेसे प्रभुका भी बडा अपमान कर बैठते । इस अनर्थसे बचनेके लिये प्रकृत बातको विस्तारपूर्वक कहना लाभदायक है ।

अब उक्त प्रकरणके सम्बन्धमे यह स्पष्ट करते है कि प्रभु क्या तो करते है और क्या नही करते है—

गेण्हदि णेवण मुंचदि ण पर परिणमदि केवली ।
पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्वणिरवसेस ।।३२।।

केवली प्रभुके परके ग्रहण त्यागका अभाव—केवली भगवान न तो परपदार्थको ग्रहण ही करते है और न छोडते ही है । छोडना कहलाता है—ग्रहण किए हुए पदार्थका त्याग करना । कोई कहता कि तुम्हारा बाप कैदसे छूट गया तो तुम कहते मेरा बाप कैदमे गया ही कब था जो छूट जाता । इसी तरह जो पदार्थ ग्रहण ही नही किया उसे छोडना कैसा ? भगवान केवली परपदार्थको न तो ग्रहण ही करते है और न छोडते ही है । किन्तु समस्त आत्मप्रदेशोमे सर्व पदार्थोको निर्विशेष जानते है । केवली भगवान पर्यायमे भी विकल्परहित है, अतः केवलीकी बात कही, वस्तुत तो यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहणरूपसे या त्यागरूपसे परिणमता नही है । परद्रव्य क्या-क्या चीज है ? अन्तरगमे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव ये सब निजमे हैं । जो आत्मा इन्हे ग्रहण ही नही करता वह उन्हे छोडता भी है क्या ? यहाँ आत्मस्वभावका जिक्र चल रहा है । स्वभावसे यह आत्मा न परद्रव्यको ग्रहण करता और न छोडता ही अथवा द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यका जो विपक्ष है वह पर्याय कहलाता । तब द्रव्य जो कहलाता है उससे भिन्नस्वरूपी पर्याय हुआ परपदार्थ । अब द्रव्यमे ही वह ज्ञान जो प्रगट हो गया है, केवलज्ञान आदि ज्ञान । सो वह किसी भी परपदार्थका ग्रहण त्याग नही करता । ज्ञान भी बाह्य पदार्थोको ग्रहण नही करता और परके निमित्तसे अन्तरगमे जो कालिमा आती उसको भी ग्रहण नही करता । वह तो आत्मस्वभावको ग्रहण करता । उसके लिए दुनियाके पदार्थोंमे कोई चीज ग्रहण करने योग्य रही ही नही ।

आत्मज्ञानीका पौरुष—यह आत्मज्ञानी हाथपर हाथ धरकर नही बैठा । बल्कि ग्रहण

करनेकी क्रियाको छोडकर अपने आपमे रस होकर बैठ गया। ज्ञानीने क्या देखा ? उसने देखा कि जगतकी सत्तासे उसकी सत्ता अत्यन्त निराली है। मै निमित्तको भी परिणमा नही सकता, जगतके सब पदार्थ अपनेमे सुरक्षित है ऐसे ही सुरक्षित जगतके सारे पदार्थ जो है इनमे क्या परिणम सकता हू ? इनका चतुष्टयरूप होनेमे मेरी शक्ति काम नही करती। मेरी योग्यता और मेरा काम तो केवल मेरे ही परिणममे होता। यदि अपने ही द्रव्यके ग्रहणमे अपना ज्ञान मे लगा देता तो परद्रव्यके ग्रहण और मोक्षके परिणमनके योग्य नहीं होनेसे मै केवल अपने निज तत्त्वज्ञानमे ही परिणमता रहता। मैं परद्रव्यको परिणमाता, ऐसी बुद्धि होनेके कारण आत्मामे कालिमा आई, कर्म बन्धन हुए। यह सब चीज परपदार्थोमे निज बुद्धि लगानेसे हुई। जैसे कोई साधु जो लगोटी मात्र अपने पास रखता है, उस लगोटीमे भी अपनी बुद्धि रखता है, उसको मोक्षमार्गका प्रारम्भिक ज्ञान हो जाता और शाति उसके पास नही आ पाती। उसी तरह ये परद्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे विद्यमान है तो मेरे ज्ञानका इनमे लगनेका कारण है भेदविज्ञानका अभाव। इन सब परद्रव्यमे क्यो ममत्व हुआ, क्यो इनमे आत्मबुद्धि पैदा हुई ? यह सब आत्माकी मलिनता और कलुपताके कारण है। जब तक यह भ्राति नहीं मिटती तब तक आत्मामे शान्तिका भाव नही आ सकता। शान्तिके लिये केवलज्ञानीको पहले भेदज्ञान हुआ, भेदज्ञानके बाद सम्यक्त्व हुआ, उसके बाद निर्विकल्पकी भावना हुई। उसके बाद स्वय निर्विकल्प हुआ, उसके बाद ४ घातिया कर्मोका क्षय हुआ, अनन्त ज्ञानादि प्रगट हुए, ज्ञानमे अनन्तज्ञान पैदा हुआ, दर्शनमें अनन्तदर्शन हुआ, शक्तिमें अनन्तवीर्य प्रगट हुआ और सुखमे अनन्तसुख प्रगट हुआ और बादमें अघातिया कर्मोंका क्षय हो चुकते ही सिद्ध पर्याय हुई, तब वह केवलज्ञानी भगवान अशरीर सिद्ध हुए।

चित्स्वभावके लक्ष्यका परिणाम—प्रभुमे भी जिसमें पर्यायें प्रगट है वह एक चैतन्यमय द्रव्य है, उसका सर्वस्व जो चैतन्यभाव है जब तक उसका अभेद अनुभव नही है आराधक मे सम्यग्ज्ञान पैदा नही होता। अतः सर्वोपरि चीजपर लक्ष्य रखें तो यह जीव इस लक्ष्यके कारण अपने ज्ञानमें उसे अभेदरूप स्वीकार कर उसके कारण उस लक्ष्य तक पहुच जाता है। मकानका लक्ष्य किए बिना कोई क्या मकानपर पहुच सकता है ? छतका लक्ष्य किए बिना मनुष्य छतपर कैसे पहुच सकता है ? उस लक्ष्यके बिना वह सीढीको चढकर छतपर पहुच ही नही सकता। सीढियोपर चलकर सीढियोका त्याग करता रहे तभी वह छतपर पहुच सकता है। अत· हमारा लक्ष्य वहाँ होना चाहिये जहाँ चैतन्यभावके अनुरूप पर्याय प्रगट होती है। ऐसी चैतन्य अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जिसको कि वह आत्मा परिणमता है ऐसे चैतन्य भावका लक्ष्य है, वह निजमे आने वाली अपूर्ण निर्मलताओमे बढते हुए, अपूर्ण निर्मलताओके

भावको छोडते हुए पूर्ण निर्मल अवस्थामे पहुच जाता है। ये अपूर्ण निर्मलताके भाव उस पूर्ण निर्मल स्थितिपर पहुचनेके लिये सीढियोपर चढते हुए, उनका त्याग करते हुए उस पूर्ण दिशा पर पहुच जानेके लिये है। सीढियोपर चढते हुए और बिना सीढियोका त्याग किये छतपर पहुचा नही जा सकता। इसलिये ज्ञानी जीव अपने उस चैतन्यस्वभावपर जो घट घटमे अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान है, उसपर मजबूत दृष्टिवाला रहता। वह चैतन्य भाव उपयोगमे स्थिर हो जाय तो वहाँ क्रोध, मान माया, लोभ आदिका कर्ता नही रहता। एक इस चैतन्य भावके अनुभवमे आनेपर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दृढतापूर्वक नही रह पाते और वे अपने नियमसे शिथिल हो जाते।

प्रभुका सामन्तिक ज्ञान—जो ज्ञानी ज्ञान सुधारसका स्वाद करते हुए अपने आपमे निज भावको प्राप्त करता है, अपने निजतत्त्वरूप केवल ज्ञानरूप हो होकर परिणमन कर रहा है तो उसके ज्ञानकी ज्योति निष्कम्परूपसे प्रगट होगी। जैसे दीपककी ज्योति प्रगट हो जाय और हवासे उसमे शिथिलपन रहता है तो कहा जाता कि दीपक निष्कम्परूप नही है। यदि दीपककी वहाँ ज्योति प्रगट भी है और निष्कम्प भी है, तो यह कहा जाता कि पदार्थ ठीक प्रकाशमे आ रहे है। भगवानका ज्ञान भी ऐसा ही निष्कम्प है। ऐसा वह ज्ञानरूप ही होकर सर्व आत्मप्रदेशोमे दर्शनज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान होती। वर्तमानमे यह जीव आँख द्वारा वह ज्ञान करना चाहता था और चाहता भी हो तो ये सब उसकी निष्फल कामना है। हमारा ज्ञान अनेक झझटें रखता परन्तु भगवान केवलीके चारो ओरसे बिना आँखसे देखे ही दर्शन-ज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान है। हम देखते है कि रसका जानना तो इस तरह हुआ कि खानेपर यह पता लग जाता कि यह बडा मीठा होता है। परन्तु केवलज्ञानीको विकार स्वादका अनुभव नही चलता है, फिर भी रसका ज्ञान आ जाता। हम भी कई बार बिना स्वाद लिये भी जान जाते कि इस चीजका स्वाद कैसा है? नीबूको जब देखते हैं तब नीबूके रसका ज्ञान हो जाता कि इसका स्वाद खट्टा है। वहाँ भी विकाराभिमुखता है। परन्तु भगवान तो केवल ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप ही रहते, वे इन विकारोमे स्वादका अनुभव तो नही करते, फिर भी समस्त द्रव्योको आत्माके द्वारा आत्मामे जान लेते। भगवानने निश्चयसे आत्माको ही जाना और व्यवहारसे, याने उनकी पर्यायका विषय क्या है, इस दृष्टिसे विचारे तो यही सिद्ध है कि वे सबको जानते। निश्चयसे वे केवल अपनी आत्माको ही जानते और व्यवहारसे सबको जानते। खासियत केवल केवली भगवानमे ही नही है, हममे भी है।

निश्चय और व्यवहारसे ज्ञानका काम—निश्चयसे हम अपने आपको ही जानते, और व्यवहारसे इन पदार्थोंको जानते, इसका क्या भाव? यह आत्मा अनत गुणोका पिण्डसमूह है।

इसमे एक ज्ञानगुण भी है वह भी आत्मप्रदेशमे ही है। ज्ञानगुणकी जो क्रिया होगी वह आत्मामे ही होगी। उसकी क्रिया चलना नही, बैठना नही, उसकी क्रिया जानना मात्र है। ज्ञानगुण आत्मप्रदेशमे ही है। अतः जितनी भी उसकी क्रिया है, वह सब क्रियावानमे ही रहेगी और ज्ञानके प्रयोगसे ज्ञानकी क्रिया आत्मामे पडी। ज्ञानके द्वारा ज्ञानीने चीजको ही जाना। परन्तु वह ज्ञान किस विषयक है? वहाँ यह कैसे जाना कि यह ज्ञान पदार्थोमे जाता? इस विषयक यह है, यह अपेक्षा लेते है तो कहते कि यह ज्ञानकी सीमा है, इस तरह परको जाना। सम्यक्‌दृष्टि और मिथ्यादृष्टि सबके यही बात है। परन्तु मिथ्यादृष्टि इस भेदको नही जानता, पहिचानता। वह बाह्य पदार्थोमें ही दृष्टि रखता है और कहता कि मै तो बाह्य पदार्थोंको ही जानता हू। मै परद्रव्यमें परिणमन कर सकता हू। इस प्रकारका मिथ्यादृष्टि विकल्प रखता और परद्रव्यका कर्ता कहा जाता है। परन्तु कोई भी परद्रव्यको कर ही नही सकता। यदि ऐसा हो सकता तो वह ज्ञानीसे भी बढकर होता। परद्रव्यको अज्ञानी और ज्ञानी दोनो ही नही कर सकते। अज्ञानीको परद्रव्यका कर्ता कहना उसके मनका विकल्प बताना है। इसीलिये कहा जाता है कि हे अज्ञानी! तू परद्रव्यका कर्ता क्यो बना? परद्रव्यको करना रूप जो उसका विकल्प तूने कर रखा, यह विकल्प दूर कर। उस विकल्पका निषेध करनेके लिये कहा जाता। इसका मतलब यह लगाना कि परद्रव्यके कर्ताभावके विकल्पको तू क्यो करता? इसी तरहसे यह ज्ञान घटपट आदिका ज्ञाता नही बनता। यह ज्ञान अपनी ही ज्ञानतरगोसे अपनी ही आत्माका ज्ञाता बना है। परन्तु ज्ञानके विषयमे ज्ञानका सम्बन्ध छोडकर उपचारसे कहा जाता कि मै घट पटका ज्ञाता हू। परन्तु वह तो केवल अपनी आत्माका ज्ञाता है, न स्त्रीका ज्ञाता है और न पुत्रका, बल्कि अपना ही ज्ञाता हो रहा। अज्ञानी विकारीरूपसे और ज्ञानी अविकारी रूपसे ज्ञाता कहा जाता। विकारी रूपसे ज्ञाता जो है वह मिथ्यादृष्टि कहा जाता, क्योकि वह विशुद्ध ज्ञाता न रहकर विकारमे जुड गया।

विकल्पत्यागके लिये बाह्यका त्याग—देखो भैया! तुम अपनेको अपनी गृहका स्वामी कहते हो परन्तु गृह स्वामी तुम कैसे हो सकते हो? तुम तो केवल अपनी आत्माके ही स्वामी हो, इसी तरह सब पदार्थोमे भेद समझना। यह बात समझ लेने पर ही मोक्षमार्गका विकास हो जाता। प्रत्येकको स्वतन्त्र देखो, इसमे स्व पर दोनोका हित है। वस्तुतः कोई किसीका कुछ नही करता। न कोई किसीका त्याग करता, मात्र अपने विकल्पका उत्पाद व्यय करता, बाह्य तो निमित्त है। अतः इन सब चीजोका भेदज्ञान करो। चीजोका त्याग चीजोके त्यागके लिये नही है, परन्तु चीजोका त्याग अपने विकल्पके त्यागके लिये है। जिसने चीजका त्याग करके भी विकल्पका त्याग नही किया, तो उसने चीजका त्याग नही किया। बाह्य वस्तुओका त्याग इन वस्तुओके विषय मात्र पद्धतिसे विकल्पके त्यागके लिये है। दूसरी और

वस्तुके वातावरणमे भी रहकर जिनके विकल्प नही है वे भी उच्च आत्मा है, परन्तु जिनकी प्रवृत्ति उनमे न रहकर भी उन्हीके रागमे दृष्टि पडी हो, उनको यह कैसे कहा जा सकता कि इनको उनका विकल्प नही है। तो भी बाह्य त्यागकी पद्धति ठीक है, क्योकि जिन्होंने इनका त्याग ही कर दिया वहाँ आश्रय अवसर न होनेसे उनका विकल्प भी नही रहता। फिर भी वस्तुओंके त्यागका एक ओरसे निर्णय नही हो सकता कि बाह्य त्यागमात्रसे इनमे उनका विकल्पका त्याग हो गया। परन्तु जिनका विकल्पका त्याग हुआ उनके पास बाह्य प्रवृत्तियाँ नही रहती। इसलिये कदाचित् अवसरकी कमी आदिसे उनका बाह्य त्याग नही भी हो पाये तो भी उनके विकल्प तो नही रहता।

परप्रभुताके भावमे विरागताका अभाव—सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मस्थिरतासे निर्विकल्पकता होती है। ऐसा होते ही वे अपने आपको जानते। अपने आपको जानते ही एक ही साथ समस्त पदार्थ समस्त पदार्थोंके सम्बन्धसे समान रूपसे हृदयमे साक्षातकार हो गये। इस प्रकार तरह तरहके पदार्थोंमे ज्ञानके बदलनेकी बात ही नही रही। जहाँ ज्ञानके बदलने की बात आती वहाँ दु ख आता। भगवान अनन्त सुखी इसलिये ही है कि उनमे ज्ञानके बदलने की प्रवृत्ति नही है। पूर्ण व्यक्त ज्ञानका परिवर्तन नही होता। यदि ऐसा हो तो वहाँ कोई न कोई न्यूनता आ जाती है, यह अनिष्ट प्रसग हो जायगा। केवलज्ञानीने अपने ज्ञानसे जो जाना वह अनंतकाल तक रहेगा। ज्ञानसे जो जाना अथवा जो ग्रहण किया उसमे राग नही रहता। गृहस्थोंके भी और नही तो ग्रहण करनेकी यह क्रिया कमेटीसे ढगसे हो तो उसमे राग नही रहता। जैसे किसी कमेटीमे किसी वस्तुको तोड देनेका प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हो जाय तो मन्त्री उस वस्तुको तुरन्त तोड देता है, उसमे उसका राग नही रहता, और यदि उस कमैटीका मन्त्री अकेला स्वामी बना काम कर रहा हो तो उसके कार्योंमे उसका राग रहता और वह क्लेश पाता।

अप्राकरणिकतामे क्लेशका अभाव—किसी वस्तुको जानने जानने और उसको करने करनेमे कितना भेद होता? मुनीम अपने सेठके लाखो रुपयोंके कारोबारकी व्यवस्था कर रहा है, फिर भी उसके उसमे राग नही है। यदि उसको राग है तो केवल अपनी १००) रुपये महीनेकी तनख्वाहसे है। उसमे ही उसको राग रहता है और लाखो रुपयोंके उस कारोबारसे उसको कोई राग नही। परन्तु इसके विपरीत सेठको उस कारोबारसे राग है। यदि उसके पास टेलीफोनसे खबर आ जाती कि एक लाखका नुकसान हो गया तो उसके मनमे खलबली मच जाती। कमसे कम सिरदर्द तो तुरत करने लगेगा। रागके कारण सेठको तो खलबली मची, परन्तु मुनीमको उससे कोई खलबली नही मची। उसको तो अपने सौ रुपयेकी खलबली मचती, कामकी खलबली नही मचती। लडकी मायकेसे ससुराल जा रही है। पहली

बार ही नही, जब जब भी वह ससुराल जाती है, खूब रोती है। रोती भी ऐसी है कि दूसरा देखे तो उसे भी रोना आजाय। परन्तु उसके मनमे कोई आकुलता नही। ससुराल जाते वक्त उसके मनमे तो एक प्रकारकी उमग उठती है। बाह्य प्रवृत्ति ऐसी होनेपर भी उसके मनमे आकुलता नही होती। लडकेकी बारात चल रही है, पडौसनियोको गीत गानेके लिये बुलावा देकर बुला लिया है, वे नाना प्रकारके गाने गाती है, वे गाती हैं—'मेरा दूल्हा बना सरदार' परन्तु क्या वे श्रद्धासे गाती है? यदि दूल्हेके जरा भी लग जाय तो क्या उनके अन्तरगमे जरा भी दु:ख होगा? परन्तु उसकी मा, जो जरा भी गा नही रही है, और कामकाजमे फसी हुई है, उसके मनमे तो यही श्रद्धा है कि आज उसका पुत्र दूल्हा बना है, और जरा भी बाधा आजाने पर उसके अन्तरगमे बहुत दुख होता। बुलावेसे आने वाली पडौसनिया तो केवल पावभर बताशोके लिये यह गाती है, उन्हे दूल्हा बने सरदार' से कोई मोह नही। परन्तु उस माकी ममताके कारण उसके मनकी खुशीको देखो। यह सब ममताकी नीवपर चढा हुआ ठाटबाट है।

ममताका फंसाव—जो भी फसता है वह अपनी ममतासे फसता है। इच्छा ही अनेक विपदाओकी जड है। इच्छा मात्र ही तो दुख है। देखो भैया! रहना जाना तो कुछ नही केवल विकल्प करके ससारमे फस रहे। अपने दोपका तो विचार हो नही करते, बाह्य वस्तुओ का उलाहना देते। कुछ आदमी एक गावमे गए। वहा एक बगीचेमे एक चिडीमार ने अपना जाल बिछा रखा था। कुछ चिडियां उसमे फँसी हुई थी। उनमे से एकने यह देखकर कहा कि बगीचा कितना हत्यारा है जो चिडिया फसाता है? दूसरा बोला—नही, यह बगीचा हत्यारा नही है, यह पुरुष चिडिया फसा रहा है, अत यह हत्यारा है। तब तीसरा बोला कि न तो यह बगीचा हत्यारा और न यह पुरुष, हत्यारा तो यह जाल है, क्योकि यही चिडिया अपनेमे फसा रहा है। चौथा बोला—नही, इनमे से कुछ भी हत्यारे नही है, हत्यारे तो ये चावल और गेहूके दाने है जिनके कारण कि चिडिया जालमे आ जाती है। तब उनमे जो ज्ञानी था वह बोला कि इनमे से कोई भी चीज हत्यारी नही है, वास्तवमे हत्यारा तो चिडियाके अन्तरगका तृष्णाभाव है। उन चावलो और गेहूके दानोंके प्रति उनके अन्तरंगका तृष्णाभाव ही उनको फसवा रहा है। अतः हमे भी इस दुनियामे फसानेवाले कोई पदार्थ नही है, फसाने वाला तो निजका ममत्वभाव ही है, दुनियाके बाह्य पदार्थ हमको नही फसा सकते। वस्तुस्वरूप समझकर श्रद्धा सच्ची दृढ बनाओ।

साक्षीका ठाट-बाट—भगवानका ठाट-बाट देखो। उनके ज्ञानकी ऐसी जाननेकी शक्ति होते हुए भी उनके ज्ञानको यह सोचनेकी आवश्यकता नही पडी कि मैने यह जाना, इसे भी जानूं। ऐसे ज्ञानका सामर्थ्य मिला तब केवली अनन्तसुखी है। जहाँ ज्ञान पूरा हो जाता है,

वहाँ कुछ भी इच्छा नही रहती कि मैने यह जाना, मै यह भी जानूँ । जब ज्ञान पूरे विकाससे पैदा हो ही नही पाता, वहाँ ही यह इच्छा हो सकती है । परन्तु उनके तो सब इच्छाये पहले ही मर गई थी । ज्ञानका पूर्ण विकास तभी हुआ । ज्ञानका पूर्ण विकास होनेके पश्चात् उस इच्छाके दुबारा आनेका प्रश्न पैदा नही होता । इसको ग्रहण करू और इसको छोड़ू, यह भाव ज्ञान पूरा आ जानेपर नही आता, तभी ससारसे विरक्त होना कहा जाता है । सांचा सुखी तो ज्ञाताद्रष्टा साक्षी पुरुष ही है । "विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति' विषयस्पृह । साक्षी रक्तो विरक्तो न स्या स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।" विरक्त किसे कहते है ? जो विषयका द्वेषी हो उसे विरक्त कहते है । हम वस्तुको नही देखेंगे, नही जानेंगे, नही चखेंगे, स्वाद नही लेंगे, इन्हे दूर हटावो । इस तरह जिसने विषयोंसे द्वेष कर रखा है उसे विरक्त कहते है । जिसने इनमे इच्छा कर रखी उसे रक्त कहते है । मेरी आत्मा साक्षी है । जो साक्षी है वह न तो रक्त है और न वह विरक्त है । मै न रागी हू, न द्वेषी हू, ऐसा साक्षीपन मेरा ही तो स्वभाव है । ऐसे ज्ञानस्वभाव रूप निज आत्मामे आत्माके लिये आत्मा ही से अपने आप स्वतत्र सुखी होऊ । सुखी होनेके लिये परद्रव्योको खोजनेकी आवश्यकता नही । जैसे केवली भगवान सुखी रहते है, ऐसे ही मै भी अनन्त सुखी होऊ । मेरी आत्मा सुख शान्तिके स्वभावसे ओतप्रोत है । अत. ऐसी शाति पानेके लिये काम एक ही करना चाहिए । जिन पदार्थोके सम्बन्धमे परिणमन आ आकर मिटता जाता है उन परिणमनोपर दृष्टि न देकर, जिसकी कि यह अवस्था होती है, ऐसा वह सामान्य ज्ञायक भाव, जो ज्ञान द्वारा इस ज्ञानमे गम्य है, केवल अनुभवसे ही पाया जा सकता है । ऐसी चीजको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो और सर्व पदार्थोके मात्र साक्षी रहो ।

आत्मसामान्यकी सम्हालमे कल्याण—सदा अपनेमे सामान्य भावको सम्हालो । एक सामान्य भावको सम्हालोगे तो सब कुछ आ जाएगा । पर्याये तो अनन्त है और सामान्य भाव एक है । एकपर दृष्टि रखनेसे सब कुछ प्राप्त हो जायगा । अनेकपर दृष्टि रखनेसे कुछ नही मिलेगा । जैसे यात्राको जाती हुई महिलाओने अपनेमे विचार कर लिया कि रेलमे चढते और उतरते समय अपनी-अपनी अपनी पोटलियोपर दृष्टि रखना और सम्हालकर साथ रखना, इस दृष्टिसे सबका समान सभल जायगा । यदि दूसरोकी पोटलीको सम्हालने लगो और अपनीको न सम्हालो तो किसीकी भी पोटली नही सम्हल सकती । इसी तरह अपने-अपने ज्ञायकस्वभावको सम्हालो तो सभी सम्हल गए । सबको सम्हालो और अपनेको न सम्हालो तो न तो सबको सम्हालनेकी बात ही तुमसे बनी और न खुदको ही सम्हालनेकी बात बनी । सब अपने अपनेको सम्हालने लगे तो सभी सम्हल गए । खुदको सम्हाला तो धर्मका मूल यही प्रगट हो जाता । सबपर दूसरोपर दृष्टि रही, अपनेपर दृष्टि न रही तो कुछ नही होगा । सबका सम्हा-

लनेका विकल्प होनेपर एक भी नही सम्हला और धर्म भी नही सम्हला। एक निज ज्ञायक भाव आत्मतत्त्वको सब लोग अपनेमे प्रगट करो तभी उद्धार होगा। दुनियामे हमारी कोई रक्षा नही करेगा। भगवानका ध्यान कर, भगवानका ध्यान करनेसे जो उपयोग होगा उस उपयोगसे अपने मनको निर्मल बनाना और उसके निर्मल बनानेमे बाह्य साधन हो तो भी बाह्य पदार्थोपर दृष्टि न डालो और एक ज्ञानभाव ही स्थिर रखा तो कल्याण हो गया। बाह्य पदार्थोंपर दृष्टिकी बात तो दूर है, जब भगवानके ध्यान करते हुए भी उसमे भगवानका अवलम्बन नही रहता, वहाँ निराकुल सुखमय ज्ञानका सत्य अनुभव होता। ऐसे सिद्ध ज्ञान स्थिति का नाम शिव है। इस नरभवका लाभ यही है, अन्यथा यह ससारी दीन दुःखी ही रहकर ससारमे ही डोलेगा।

एक राजाका दरबार भरा था। उसमे एक समस्याकी पूर्ति करनी थी। वहाँ एक कवि और उसका बाप भी बैठा था। राजाने कविके बापसे उस समस्याकी पूर्तिके लिये कहा, परतु यह तो आवश्यक नही कि कविका बाप भी कवि ही हो, उसे समस्याकी पूर्ति करना नही आता था। उसने अपने लडकेसे कहा—"पुरारे बापारे" हे लडके! तू इस समस्याकी पूर्ति कर, देखो भैया! यह शब्द ही देहाती व अशुद्ध है। लडकेने इसकी पूर्ति इस प्रकार की कि पिता के शब्दोसे वह पूर्ति शुरू हो और समस्याकी पूर्ति भी हो जाय। उसने जो समस्याकी पूर्ति की वह यह है—पुरारे वापारे गिरिरतिदूरारोहशिखरे, गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनजालव्यतिकरः। धनु पाणि पश्चान्मृगयुशतक धावति भृश, क्व याम: कि कुर्म हरिणशिशुरेव विलपति ॥

इसका भाव इस प्रकार है। रेवा नदीके एक किनारे पर एक हिरनका बच्चा खडा था। उसके पीछे १० शिकारी धनुष बाण लिये लग रहे है। जहा वह हिरनका बच्चा खडा था उसके दोनो ओर आग लग रही थी। सामने नदी थी, दोनो तरफ आग लग रही थी और पीछे शिकारी लग रहे थे। अब वह हिरनका बच्चा विचार कर रहा है कि मैं कहा जाऊ, क्या करू? इस तरह वह विलाप कर रहा है। इसी तरहकी बात हमारे प्राणोकी है। सामने आकुलता रूपी नदी है। इधर उधर विषयकषायोकी आग लग रही है। पीछेसे यमराज लगा हुआ है। अब सोच रहे कि मै क्या करूं, कहा जाऊ? तो ज्ञानी आत्मा कहते—अरे! जहा है वही अपने आत्मचिन्तनमे लग जा। आगेकी, इधर उधरकी और पीछेकी कुछ चिन्ता मत कर। विषय कषायोके भावोको अपने हृदयसे हटाओ, विषयके भाव निर्बलताये है। इनसे अपना चित्त हटाकर स्वतन्त्र मार्गसे चलो। यही शातिका मार्ग है। विकल्पोमे मत पडो, तभी अनन्त शान्ति मिल सकेगी।

स्वपरोपादानहानकी शैलीका काम—देखो भैया! भगवानकी तरह काम करते न

बने तो कमसे कम उनके कामकी शैली तो अपने आपमे समझ लो। केवली प्रभु न किसीको ग्रहण करते, न किसीको छोडते, न किसी रूप परिणमन करते, फिर भी देख लो सबको जानते है अर्थात् उनके ज्ञानका विषय सारा विश्व बन रहा है। इसी तरह हम भी किसीको न ग्रहण करते, न छोडते, न अन्य किसी रूप परिणमते है, फिर भी देख लो हम जान रहे हैं अर्थात् जितनी वर्तमान योग्यता है उसके अनुरूप हमारे ज्ञानका विषय यह विश्व बन रहा है। भैया ! केवली भगवानने इस ससारके गोरखधधासे निकालनेकी जो अनुपम चतुराई की वह भी तो निरख लो—वही किया जैसा कि अब भी बडे-बडे ज्ञानी जन यहाँ करते हैं। प्रभु काम क्रोधादि विकारोको ग्रहण नही करते, रच भी सूक्ष्म परिणमन रूपसे भी स्थान नही देते तथा निज स्वभावके अनुरूप प्रकट हुए। अनन्त चतुष्टयको छोडते नही है। यही कारण है कि यह उत्कृष्ट आत्मा एक साथ सबको जानता हुआ भी किसी भी विकल्प रूप नही परिणमता और वस्तुत केवलज्ञान ज्योतिसे स्वय ज्योतिर्मय होकर अपनेको अपने द्वारा अपनेमे अनुभवन करता है। ज्ञानी पुरुष भी यहाँ क्या करते है—काम क्रोधादि विकारोको ग्रहण नही करते, श्रद्धासे नही पकडते, उसमे नही जुटते और निर्विकल्प स्वभावकी प्रतीतिसे जो सम्यक् ज्ञान दर्शन, शक्ति सुखरूप सहज भाव प्रकट हुआ, उस स्वरूपाचरणको नही छोडते। यही कारण है कि यह अन्तरात्मा भी बाह्य पदार्थोंको जानता हुआ भी किसी भी विकल्परूप अनुभव नही करता। अहो ! श्रेष्ठ मनका पाना बडा कठिन है। उसे पा लिया तो सर्व यत्नसे उसको ऐसा सदुपयोग करो कि फिर किसी इन्द्रियकी आधीनता ही न रहे। इस प्रकार इस गाथामे ज्ञान ज्ञेय रूपसे नही परिणमता है। ऐसा वर्णन किया।

अब जैसे केवलज्ञानीकी स्वरूप महिमा गाई वैसे ही यहाँ श्रुत केवलीकी महिमा गाते है, इस महिमा द्वारा कार्यकी शैलीकी अपेक्षा केवली और श्रुत केवलीमें समानता दिखाते हैं— जैसे केवली भगवान सकलज्ञान द्वारा अपना अनुभव करते है, वैसे श्रुत केवली भगवान भी सम्यक् विकलज्ञान द्वारा अपना अनुभव करते है। इस प्रकार केवली और श्रुतकेवलीमे अविशेषता दिखाकर विशेष जाननेकी इच्छाका क्षोभ नष्ट करते है—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणग सहावेण।
त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

केवलीका स्वसचेतन व श्रुतकेवलीका स्वसवेदन—केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी, इन दोनोमे ज्ञानकी क्रियासे अन्तर नही। आत्माके द्वारा आत्मामे आत्माका केवलज्ञानी सचेतन करते और श्रुतज्ञानी द्वारा आत्माका आत्मामे सवेदन करते। दोनोका काम एक ही है, ज्ञानकी अन्तरङ्ग क्रियासे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमे कोई अन्तर नही रहा। जितना काम केवलज्ञानी कर पाता है उतना ही काम श्रुतज्ञानी भी कर लेता है। फिर ज्यादा आकाक्षा या जिज्ञासाका

क्षोभ हम अपनेमे क्यो लावे ? केवली उपचारसे सारी दुनियाको जानते है, एक अपने द्वारा अपनेमे अपनी आत्माका सचेतन करते तो श्रुतकेवली सम्यग्दृष्टि भी अपने द्वारा अपनेमे अपनी आत्माका सवेदन करते । केवली आत्माके द्वारा आत्माका आत्मामे सचेतन करते और सम्यग्दृष्टि भी आत्माके द्वारा आत्मामे आत्माका सवेदन करते । सचेतन तो प्रत्यक्ष जाननेको कहते और सवेदन परोक्ष जाननेको कहते । सम्यग्दृष्टिने आत्माके द्वारा आत्मामे सवेदन किया ।

स्वसंचेतन और स्वसंवेदनका विवरण—भगवान तो केवलज्ञानके द्वारा सचेतन करते है और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानके द्वारा सवेदन करते है । एक आदमी लखपति हो गया और एक आदमी गरीब है । वह लखपति क्या करता ? कपडे पहिन लेता और आधसेर भोजन कर लेता । और वह गरीब आदमी क्या करता ? वह भी कपडे पहिन लेता और आधसेर भोजन कर लेता । इस प्रकार जो लखपति करता वही गरीब भी करता । इसी तरह केवली ही और अन्य क्या कर लेते ? सम्यग्दृष्टि और केवली, दोनो ही आत्माका ज्ञान करते । एक केवलज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता और दूसरा श्रुतज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता । यह ज्ञानकी अन्तरग क्रियाके द्वारा वर्णन है । केवलीने केवलज्ञान द्वारा केवल आत्माका सचेतन किया। केवलका कैसा स्वरूप है ? अनादि, अनिधन, अहेतुक, असाधारण जो एक निज आत्मा है, उसमे ही चेतनेमे आने वाला जो चैतन्य सामान्य वह है महिमा जिसकी तथा चेतक स्वभाव के द्वारा एक स्वरूप है, ऐसा वह केवल है । ऐसी आत्माका आत्मामे आत्माके द्वारा संचेतन किया, ऐसा वह केवली कहलाता है । जैसे केवलीने यह काम किया, उसी तरह सम्यग्दृष्टि मनुष्यने भी आत्माका आत्माके द्वारा आत्मामे सचेतन और सवेदन दोनो किया । अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा तो सचेतन और मति श्रुति पर्यायो द्वारा सवेदन, दोनो किया जाता । परन्तु सिद्ध के तो केवल सचेतन ही कहा जाता ।

शैलीकी समानता—कैसा है वह केवलज्ञान कि एक साथ ही परिणमित हो गए समस्त चैतन्य विशेष जहा पर । चैतन्यकी विशेष अश पर्यायें भी सबकी सब एक साथ आ गई, ऐसा वह केवलज्ञान है । कैसा श्रुतज्ञान कि क्रमसे परिणमित हुए है कुछ चैतन्यके विशेष अश पर्याये जहा पर । केवलीके ये सब एक साथ परिणमित हुए और श्रुतज्ञानीके क्रमसे कुछ परिणमित हुए । केवलीने अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैतन्यसम्बन्धकी महिमाको जाना और श्रुतज्ञानीने भी अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैतन्य सामान्यकी महिमाको जाना । धनी और गरीब दोनोंने आधासेर रोटी खाई । धनीने अच्छे-अच्छे मसालोंमे खाई और गरीब ने साधारण साग सब्जीसे रोटी खाई । देखो श्रुतज्ञानीने भी खुदका खुदमे प्रयोग किया और केवलज्ञानीने भी खुदका खुदमे प्रयोग किया । ज्ञानकी जो निज क्रिया है उसके द्वारा समानता बताई गई है, केवलज्ञानको स्वरूपसे समझनेके लिये यह समानता है । यह ज्ञान दृष्टिसे कथन है

व्यवहारकी बात व्यवहारमे है ।

स्वाचरणका कर्तव्य—आत्माको सरल होना चाहिये । कोई बात बनाना नही चाहिए । जैसी स्थिति है उस स्थितिसे बात करना चाहिये । हम बात बनायें तो हमारे सहयोगी कोई नही है । हमारा यदि अशुभोपयोगमे ज्यादा चित्त रहता है तो हमको चाहिये कि शुभोपयोगका ध्यान करके अशुभोपयोगसे दूर रहे और शुभोपयोगमे रहकर आत्माका उत्थान करे और यदि शुभोपयोगमे हमारे चित्त रहता है तो शुद्धोपयोगका ध्यान करके शुभोपयोग से दूर रहनेका प्रयत्न करे । जैसे कहा जाता कि तुमसे रातमें कुछ भी खाना न छोडा जाय तो कमसे कम अन्न तो रातमे मत खाओ । परन्तु ज्ञानीजन यह कहते है कि रातको जैसे अन्न खाया तैसे मिठाई खाई, दोनो बराबर है । अथवा शुद्धोपयोगमे कहते कि शुभोपयोगमे या शुभोपयोगमे बुद्धि करदी तो दोनो ही बराबर है । जो कुछ नही छोड सकता था उसे तो कहा गया कि वह कुछ तो छोडे, कुछ तो कम करे । किन्तु यहा तो ज्ञानीकी बात है स्वरूपसे देखो कुछ ऐसे हैं कि नही ? वहाकी दृष्टिसे देखो, उसी ज्ञानीकी दृष्टिसे देखो कि जैसा वह है वैसा ही यह । सो जैसा आत्माका परिणमन चल रहा है उसके अनुसार ही चलना चाहिये ।

केवली और श्रुतकेवलीका शब्दार्थ—यहाँ केवलीका नाम भी केवली है और श्रुतकेवलीका नाम भी केवली है । फिर केवलीका नाम केवली ही क्यो रहा और श्रुतकेवलीको श्रुतकेवली कहनेमे क्या हित था ? श्रुतज्ञानके द्वारा जो केवलको जाने वह श्रुतकेवली कहलाता और जो केवलज्ञानके द्वारा केवलको जाने वह केवलकेवली कहलाता । परन्तु केवलकेवलीमे तो केवल और केवली दोनो शब्द समान हो जानेके कारण और व्याकरणकी ऐसी ही व्यवस्था होनेके कारण केवली ही रख दिया और केवलका लोप कर दिया, परन्तु श्रुतकेवलीमे तो दोनो नाम असमान होनेके कारण दोनो ही को ही रखना आवश्यक हुआ । इसीलिए केवलकेवलीका केवल लोप करके मात्र केवली रखा गया ।

क्षोभका अनवसर—भगवानने केवलज्ञानके द्वारा केवल आत्माको जाना, श्रुतकेवलीने श्रुतके द्वारा केवल आत्माको जाना, अन्य ज्ञानियोने भी केवल आत्माको जाना । इस तरहसे दोनोंने केवल एक ही काम किया । इसके अतिरिक्त और कोई कुछ कर भी नही सकता, फिर विशेष जाननेका क्षोभ क्यो करते ? केवली भी केवल आत्माको जानते, तुम सम्यग्दृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा केवल आत्माको ही जानते, फिर विशेष आकाक्षा या क्षोभ क्यो करते ? जब तक विशेष जाननेका क्षोभ रहता है तब तक मोक्षमार्ग नही चलता । जो बाह्य ज्ञानमे विशेष ललचाये तो समझो आत्मामे आत्मतत्त्वका अवलोकन अभी नही हुआ । इसके जाननेमे विशेष जाननेका क्षोभ नही होता । यह यदि श्रुतज्ञानीके यह क्षोभ नही रहा तो उसे केवलज्ञान ही

हो जाता । जब तक यह क्षोभ होता तब तक केवलज्ञान नही होता । सम्यक्दृष्टि जाननेकी तृष्णाको छोड देता । जो जाननेकी तृष्णा छोडेगा उसके ही आत्मीय आनद होगा । सम्यक्दृष्टि अधिक जाननेकी इच्छा कुछ ही रहा करता । उसके तो सब पर्यायें स्वय ही हुआ करती है । उसका भीतरी पुरुषार्थ बडा है । जिससे उसकी ज्ञानकी भी तृष्णा नही होती । ज्ञानकी तृष्णा कितना दु:ख देती है, ज्ञान दुःख नही देता, इसका अनुभव भी किया जा सकता है । ज्ञानकी तृष्णाको दूर करनेके लिये केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमे अभेद बताया है कि जो यह करता है सो तुम भी करते हो, इसलिये आगे क्षोभ क्यो करते हो ? जाननेकी इच्छाओका क्षोभ भी जहाँ बुरा वहाँ अन्य इच्छाओमे तो महा अनर्थ है ही । कोई भी आकाक्षा मत करो ।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी स्वप्रकाशताका समर्थन—केवलीने केवलज्ञान द्वारा केवल अपनी ही आत्माको जाना और श्रुतकेवलीने भी श्रुतके द्वारा केवल अपनी ही आत्माको जाना । जैसे दीपक अपने आपमे ही जलता रहता है, परन्तु उसका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ प्रकाशित होते है । अथवा सूर्य पदार्थोंको प्रकाशित नही करता, केवल वह तो अपने आपमे ही या अपने आपके प्रदेशमे ही चमचमाता है और दुनियाके बाह्य पदार्थ उसके निमित्तमे आकर प्रकाशित हो जाते है । निश्चयसे दीपक और सूर्य अपने आपको ही प्रकाशित करते । इसी तरह केवलीने भी अपने आपको ही जाना और श्रुतकेवलीने भी अपने आपको ही जाना, परन्तु दुनियाके बाह्य-पदार्थ उनके निमित्तमे आकर जाननेमे आ गए । फिर हम भी केवलज्ञानीकी तरह ही काम कर रहे है, अतः विशेष जाननेकी इच्छा या विशेष जाननेकी इच्छाका क्षोभ क्यो ? जैसे धनी भी आधा सेर भोजन खाता और गरीब भी आधा सेर खाता, फिर धनी होनेकी आकाक्षा क्यो करते ? काम-चलने लायक पुण्य तो सद्गृहस्थके है ही, नही तो सद्-गृहस्थ ही कैसे बन पाता ? इसी तरह केवली भी अपने आपकी आत्माका सचेतन करते और श्रुतज्ञानी भी आपकी आत्माका सचेतन करते, तो दोनो ही अपनी आत्माका सचेतन करनेके सिवाय दुनियामे और करते क्या है, फिर हमे विशेष इच्छा करनेसे लाभ क्या है ? आत्मसचे-तनके लायक ज्ञान तो अन्तरात्माके है ही अन्यथा इस भावनाका पात्र कैसे होता ?

स्वसंचेतनकी महत्तरता—यह निश्चयदृष्टिसे वर्णन चल रहा है । इस अविशेषताकी बातको सुनकर कोई चौक भी सकता है कि केवली और श्रुतज्ञानीकी समानता बताकर केवल-ज्ञानकी महत्ता ही घटा दी, भगवानकी सारी महत्ता ही घटा दी । व्यवहारदृष्टि वालोको ऐसा विरोध जचता है । लोग कहते है कि मुझे ज्ञान बढाना है । भैया काहेका ज्ञान बढाना है ? परविषयक ज्ञानका ही । दुनियाके लोग कहते है कि मुझे ज्ञान बढाना है, परन्तु बाह्य पदार्थों का ज्ञान बढाओगे कैसे ? जब उनका तुम्हारे साथ सम्बध ही नही तो उनका ज्ञान बढानेका मतलब ? तुम तो केवल अपने आपको ही जानते हो, इसी तरह केवली भगवान भी अपने

आपको ही जानते है, वे बाह्य पदार्थोको नही जानते । निश्चयदृष्टिसे उन्होंने अपने ज्ञानका ही ज्ञान किया । पदार्थ तो उसके निमित्तमे आकर आपही जाननेमें आ गए । वे बाह्य पदार्थोका ज्ञान नही करते, इसलिये बाह्य पदार्थ तो उनके लिये कूड़ा करकट हुए । उनके जानने या नही जाननेका उनसे क्या सम्बध ? इसी तरह हम भी केवल अपने आपको ही जानते हैं और बाह्यपदार्थ हमारे लिये अप्रयोजक है । इस प्रकार केवली भी अपने आपको ही जानता और श्रुतज्ञान भी अपने आपको ही जानता । वे दुनियामे अपने आपको जाननेके सिवाय और कुछ भी नही कर सकते । निश्चयदृष्टिसे केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञान-स्वभावरूप आत्माका सचेतन किया और श्रुतज्ञानी, जो कि छद्मस्थ कहा जा सकता है उसने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावरूप आत्माका सवेदन किया ।

प्रभु और अन्तरात्मामे अन्तःक्रियाकी समानता—श्रुतकेवलीका अर्थ है जो श्रुतके द्वारा केवल अपनी आत्माको जाने और केवलीका अर्थ है जो केवलज्ञानके द्वारा केवल अपनी आत्माको जाने । जब सम्यक्दृष्टिको ध्यानमे ले रहे है तो अच्छासे अच्छा ज्ञानी श्रुतकेवली लिया, इसलिये यहाँ श्रुतकेवलीकी अपेक्षासे वर्णन है, भाव तो सभी सम्यग्ज्ञानियोके लिये है, निश्चयसे आत्मा परको नही जानता, क्योकि ज्ञानगुण आत्माके प्रदेशमे है, इससे बाहर नही है । इससे बाहर हो तो बिना प्रदेशके ज्ञानगुण कैसा ? ज्ञानगुण आत्माके प्रदेशमे है तो ज्ञान का प्रयोग अपने प्रदेशमे ही हो सकता, बाहर नही हो सकता । इसलिए ज्ञान परमे नही जा सकता । आत्मा परको नही जानता, वह तो केवल अपने आपको ही जानता । केवली और श्रुतकेवली केवल अपनी आत्माको ही जानते । फर्क इतना ही है कि केवलीको प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा हो जाता है, और श्रुतकेवलीको परोक्ष ज्ञान पैदा होता है, लाइन दोनोकी एक है । जैसे दो कलाकारोकी लाइन कलाकी एक ही होती है, परन्तु एक ज्यादा कला जानता है और दूसरा कम जानता है । इसी तरह केवली और श्रुतकेवली दोनोका रास्ता एक ही है । परन्तु हम लोग नाना आरम्भोमे व्यस्त होने वाले सन्देह करने लगते है कि ऐसा कैसे होगा ? केवली तो केवली ही है, श्रुतकेवली श्रुतकेवली हो है, दोनोमे समानता कैसे हो सकती, परन्तु सम्य-ग्दृष्टिका क्या परिणमन है, उसकी दृष्टिसे देखो, वह भी निश्चयसे आत्माका परिणमन करता, और केवलज्ञानी भी निश्चयसे आत्माका परिणमन करता । जैसे दीपक और सूर्य केवल अपने को ही प्रकाशित करते, इसी तरह केवली भी निश्चयसे अपनी आत्माका ही सचेतन करते, और श्रुतकेवली भी निश्चयसे अपनी आत्माका ही सचेतन करते । जब मै अपनी आत्माके सचेतनके अलावा कुछ कर ही नही रहा, तो विशेष इच्छाका क्षोभ करनेसे फायदा ही क्या ? इच्छाका विनाश करनेके लिए ऐसा उपदेश देते है । जब हम बाह्यमे कुछ कर ही नही सकते, तो उसकी इच्छामे क्षोभ करनेसे लाभ ही क्या ?

केवली, श्रुतकेवलीके ज्ञानमे समानता व अन्तरका विवरण—केवली तो केवलज्ञान के द्वारा अपनी आत्माको जानता और श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता। फर्क इतना ही है कि केवलीमे तो एक साथ ही सारे चैतन्यविशेष प्रगट हो गए और श्रुतज्ञानीमे क्रमसे कुछ कुछ चैतन्यविशेष प्रगट होते। दोनोने जाना किसको ? केवलीने केवलज्ञानसे अनादि अनन्त अहेतुक अपने आपके द्वारा ही सचेतनामे आने वाला चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी, ऐसी निज आत्माको जाना और श्रुतज्ञानीने भी श्रुतज्ञानके द्वारा अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण खुदके द्वारा सवेदनमे आने वाला चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी ऐसी उस आत्माको जाना। दोनोमे सचेतन और सवेदन, अथवा प्रत्यक्ष और परोक्षका फर्क पड गया। परन्तु दोनोने अपनी आत्माको ही जाना। श्रुतज्ञानी केवल आत्मा का सवेदन करनेके बाद जब ज्ञानका व्यापक रूप जानता है तो उसी आत्माका सचेतन करती। यद्यपि यहा ज्ञान मनके निमित्तसे प्रगट होता है, परन्तु फिर मनकी आवश्यकता नही होती है और केवल आत्माके द्वारा आत्माका आत्मामे ही ध्यान करने लगता है। जब आत्माका सचेतन करता है तब श्रुत उपाधिकी भी आवश्यकता नही रहती। परन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उसमे रहता अवश्य है। जैसे कि ज्ञान पैदा हुआ, पैदा होनेकी अपेक्षासे देखो तो वह मतिज्ञान रहेगा और फिर उस निमित्तकी आवश्यकता नही रहेगी। जैसे इजनकी ठोकर से रेलके डिब्बे चलने लगते है, परन्तु बादमे इजनकी ठोकरकी आवश्यकता नही रहती। इसी तरह ज्ञान मनके निमित्तसे पैदा हुआ और पैदा होनेके बाद अब मनकी ठोकरकी आवश्यकता नही रही। इन्द्रियोके ज्ञानसे मतिज्ञान पैदा हुआ, और सम्यक्त्व अनुभव भी मनसे पैदा हुआ, परन्तु निर्विकल्प आत्मामे अब मनकी आवश्यकता नही। मनके निमित्तसे सम्यक्त्वका अनुभव पैदा तो हुआ, परन्तु अब मनकी आवश्यकता नही। इसी तरह श्रुतकेवली आत्माके सवेदनके बाद सचेतन करते।

आन्तरिक रहस्य—यह प्रकरण बडा रहस्यपूर्ण है और आगे भी कई गाथाओमे भिन्न-भिन्न तरहसे ज्ञानका रहस्य समझाकर भव्य जीवोको शान्ति मार्गमे सहायता पहुचाई है। यद्यपि इस गाथामे यही लिखा है कि जो श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञानमय आत्माको जानता है, उसे गणधर आदिक श्रुतज्ञानी कहते है, जो निर्विकार शाश्वत रूप स्वभावसे ज्ञानमय आत्माको जानता उसे श्रुतकेवली कहते है। परतु गाथाकी टीकामे श्री अमृतचन्द जी सूरिने इसका जिक्र ही नही करके एकदम यह बता दिया कि केवलज्ञानी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानते है, और श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानते है। आत्माको ही केवलज्ञानीने जाना और आत्माको ही श्रुतज्ञानीने जाना, तो फिर विशेष जाननेकी इच्छासे फायदा क्या ? केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनो ही आत्माको जाननेके सिवाय कुछ कर ही नही

सकता । इस प्रकार मालूम होता कि ये दोनो पुराण पुरुष कुन्दकुन्द स्वामी और अमृतचन्द सूरि दोनोमे ऐसा सहयोग हो गया कि जैसे बडा भाई किसी दूसरे आदमीसे अपनी वस्तुको हाथमे लिये उसके लिये लड रहा हो और छोटा भाई उसे लडते हुए देख रहा हो तथा मौका पाकर उस वस्तुको हथियाकर अपने कब्जेमे कर लेता और भाग जाता । बडे और छोटे भाई वा इसी प्रकारका सहयोग कुन्दकुन्द स्वामी और अमृतचन्द सूरिका भी मालूम देता । टीकामे लिखा गया कि स्वभावसे ज्ञायक आत्माको केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनो जानते, इसलिए केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमे अविशेषपता है ।

आन्तरिक रहस्यका उद्घाटन—देखो भैया ! कुन्दकुन्दस्वामी तो और कुछ शब्दोमे कह रहे थे और सूरि जी को उस रहस्यका पता था, उनसे रहा न गया व झट रहस्य खोल बैठे । कोई आदमी दिनमे सूर्यके कारण जानता, कोई आदमी रात्रिमे दीपकके द्वारा देखता है, पर देखनेकी विद्या और देखनेका विषय वही तो है जो दिनमे सूर्यके प्रकाशके द्वारा देखा जाता और रात्रिमे दीपकसे देखा जाता । जिस चीजको दिनमे सूर्यके प्रकाशसे देखा, रात्रिमे भी दीपकके द्वारा उसी प्रकार उसी चीजको तो देखा, वस्तुत तो आत्मासे ही वह देखा जाना गयाकी पद्धति तो देखनेकी एक ही है । इसी तरह मोक्ष पर्यायमे केवलज्ञानके द्वारा केवलीने आत्माको जाना और यहाँ ससारमे हमने श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जाना । फिर भी आत्मा को जाननेकी, उपादेय प्रयोग ज्ञान द्वारा स्वयसे होने वाली तरगका विकास दोनो जगह समानतासे ही तो है । आत्माको ही मोक्ष पर्यायमे जाना जाता और आत्माको ही ससार पर्यायमें गुजरकर भी सम्यग्दृष्टि द्वारा जाना जाता । तो विशेष इच्छा करनेसे फायदा क्या ? ऐसी दृढतम भावना हो जानेपर अपनी बाह्य आकाक्षा कुछ भी नही रहती, ऐसी निर्मल पर्याय एक दिन भी प्रगट होनेपर केवलज्ञानकी वह पर्याय इसीके बलसे प्रगट होती है, जो तीनो लोकोमे सबको एक साथ उपचारसे जान जाती ।

कैवल्यका महत्त्व—यहाँ अभी प्रश्न उठ खडा हुआ कि जब केवलज्ञानके द्वारा केवलज्ञानी आत्माको ही जानता और श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानी भी केवल आत्माको ही जानता, फिर इस कथनको कर चुकनेके बाद यह कथन नहीं करना चाहिए कि केवलज्ञानकी ऐसी पर्याय पैदा हो जाती है कि वह तीनो लोकको जान लेता है । समाधान ठीक है, यहाँ यह चर्चा ही नही करनी चाहिए और न गाथामे इस चर्चाका जिक्र है, मै तो केवल आप लोगोकी तरग देखकर यह चर्चा कर बैठा । केवलज्ञानका महत्त्व परपदार्थोके ज्ञानसे लगावें तो इस तरहके महत्त्वको लगाने वाला न केवलज्ञानके वास्तविक महत्त्वको ही जान सकता, और न मोक्षमार्गकी तरफ ही चल सकता, और न अपनी शाति ही कायम कर सकता । निश्चयनयके द्वारा ज्ञानका जो विशेष स्वरूप है, उसपर विशेष बल देना चाहिए । केवलज्ञान क्या काम

करता ? वह आप अपने द्वारा अपने आपको जानता है। निश्चयसे केवली केवल आत्माको जानते है, और उपचारसे सर्वज्ञ है। शान्ति और परमसुखका बीज वह आत्मा स्वय ही है। जिन उपायोसे यह आत्मा अपने आपके समीप पहुचता है वे उपाय शातिको आत्मामे पैदा करते है। इनके अलावा आत्माको कही शान्ति नही मिल सकती। कोई आत्मा इनके बिना शान्ति नही पा सकता। परपदार्थका लक्ष्य करते हुए कोई आत्मा शान्ति नही पा सकता। परलक्ष्य ऐसा ही है कि वह कभी शान्तिके मार्गमे अनुकूलता नही पैदा होने देता।

सब जीवोमें वस्तुतः अन्तःकार्य—आत्माको ही श्रुतज्ञानी जानता और आत्माको ही केवलज्ञानी भी जानता। मिथ्यात्वी भी आत्माके सिवाय और किसीको नही जानता। परन्तु यह आत्माको विकृत रूपसे जानता। मैं मनुष्य हू, त्यागी हू, मुनि हू, ब्रह्मचारी हू, इतना ज्ञान वाला हूं, और मै बडी साधना करने वाला हू, इस प्रकारसे मिथ्यात्वी मिथ्यादृष्टिका अनुभव करता। परन्तु इन पर्यायोंके अनुभवसे वह केवल आत्माका ही तो अनुभव करता। आत्माके सिवाय उसने और किसको जाना ? आत्माके सब गुण आत्मामे ही रहते तो आत्मा के प्रदेशको छोडकर और कही जाय कैसे ? कोई विकृत रूपसे आत्माको जानता, क्योकि पर्यायोमे इस प्रकारसे दृष्टिमे जाना आत्माको जाननेका विकृत रूप ही तो है। किन्तु सम्यग्दृष्टिके ये पर्यायबुद्धि नही हुआ करती, वह कहता यह सब मैं कुछ भी नहीं, जिसने ध्रुव ज्ञायकस्वभावका स्वभाव लिया, वह ज्ञानी कहता है कि मैं एक शुद्ध ज्ञानरूप ही हू। पहली अवस्थामे ऐसा सोचा जाता है कि साधु परमेष्ठी मैं ही तो हू, उपाध्याय भी तो मै ही हू। कही यह पदार्थ तो उपाध्याय नही बन जाता। इसी आत्माके विकासस्वरूप अरहत सिद्ध मै ही तो हू। मत्र भी कहा जाता सोह, सोह अर्थात् वह सब कुछ मै ही तो हू। पहली पदवीमे जब कि उसे सगुण परमात्माका ध्यान रहा करता था, पचपरमेष्ठीका ध्यान रहा करता था और आत्मामे इतना बल नही था कि वह अशुभोपयोगसे सहज ही विरक्त रह सकता हो ऐसी हालतमे उसका शीघ्र परमेष्ठीमे ध्यान जाकर ऐसा ही विचारा जाता था। किन्तु अनन्तज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे कहते कि साधुपर्याय उपाध्यायपर्याय। आचार्यपर्याय आदि पर्यायें बीचमे आती रहती और कुछ समयमे नष्ट हो जाती। परन्तु सिद्धपर्याय अनन्तकाल तक रहती है। फिर भी वह तरग ही है, फिर ऐसो तरग रूप क्या मै हू ? क्या परिणमन की अवस्था रूप हू ? मैं तो अनादि अनन्त ज्ञायक स्वरूप हू, मै त्यागी भी नही हू, मै मुनि भी नही हू, मैं साधु भी नही हू—इन सब पर्यायरूपमे नही हू, ऐसे ज्ञानस्वभावको जिसने देखा वह श्रुतज्ञानी कहलाया। जो श्रुतज्ञानी ऐसे ज्ञानस्वभावका सचेतन करता उसको विशेष आकाक्षाकी आवश्यकता नही।

आत्माकी अन्तःक्रियाके विवरणका प्रयोजन—इसमे प्रयोजन क्या निकला ? एक

तो यह प्रयोजन निकला कि ज्ञानकी असलियत जानी कि वह ज्ञान जिसके लिये दुनिया भागती है, दौडती है पर लक्ष्यको करती है, वह ज्ञान ज्ञानी अपनेमे ही प्रयोग करता है, बाहर नही करता। तो यह काम तो हम अभी कर रहे हैं, आगे भी यही करेंगे। चाहे उस काममे उज्ज्वलता आती रहे, परन्तु काम तो एक ही रूपसे कर रहे है। नाना कर्मोका क्षोभ यहा खत्म कर दिया गया। किन्हीको यह शका हो जाती है कि आत्मा तो परोक्ष है फिर इसका ध्यान कैसे किया जाय ? भाव—शुद्ध गुणोके द्वारा निर्विकार है सो निर्विकारस्वसवेदन ज्ञानके द्वारा इस आत्माका ज्ञान किया जाता। आत्मा प्रत्यक्षसे समझनेमे आता, जिनके और कही दृष्टि नही पली उनके लिये आत्मा इतनी दूर नही है कि न समझी जा सके किन्तु जिनकी दृष्टि और कही पली उनके लिए आत्मा इतनी दूर है कि समझमें नही आ सकती। यह भी नही कहा कि उससे भी सर्वथा दूर है। केवल बाह्यरुचिसे घटमे रहते हुए भी इतनी दूर हो गई कि आत्माके अनभिज्ञ पुरुषको मालूम ही नही पडती। परन्तु अभिज्ञ कहता यही मैं हू तो आत्मा उसके लिये बिल्कुल नजदीक क्या वही आत्मा है, नजदीकमे तो फिर भी अन्तर आ जाता। मैं ही ज्ञान हू, वहा तो मै ही ज्ञानमय हू, अत दूर अथवा नजदीक क्या ? परन्तु जहाँ ये कहा कि मेरा ज्ञान किताबमें है, वहा तो दूरी आगई। जिन्हे आत्माका ज्ञान है उनके लिये आत्मा दूर अथवा नजदीक नही। इस तरहसे परोक्ष होते हुए भी इस आत्मा का निर्विकार सवेदन रूप द्वारा ध्यान किया जा सकता है।

इस प्रकार सवरतत्त्वको पुष्ट करने वाली ज्ञानस्वरूपकी अविशेषता बता करके अब चौतीसवी गाथामे एक बडे महत्वकी चीज बताते है।

सुत्त जिणोवदिट्ठ पोग्गलदव्वप्पगेहि वयणेहि।
त जाणणा हि णाण सुत्तस्स य जाणणा भणिया ।।३४।।

ज्ञानमे साधनकी उपाधिका प्रतिषेध—हे भाई! श्रुत ज्ञानके द्वारा तुम आत्माको जानते हो तो जो विषय हुआ आत्मा वह विषयभूत आत्मा निर्विकार अखड ज्ञानस्वभाव सहित है। तो विषय तो ठीक बता दिया, पर तुमने उस विषयको जानने वाले साधनका भेद क्यो पाल रखा ? श्रुतज्ञानके द्वारा जाना, इसमे श्रुतके भेदको नष्ट कर दो ताकि मात्र ज्ञान ही रह जाय। उस हालतमे यहाँ भी जीवज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध हो जायगा और वहा मोक्षपर्यायमे भी जीव ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध हो जायगा। यहा भीतरी वैभवकी सदृशता बतला रहे है। जैसे लाइट जल रही है। हरे रगका बल्ब लगा दिया तो हरा प्रकाश हो गया। उस समय हरी लाइटसे जानते। हरी ज्योतिसे दीखता। परन्तु ज्योतिका निजका क्या काम है ? क्या यह काम है कि हरा रहना ? क्या यह हरा रूप प्रकाशका कार्य है। प्रकाशका काम यह नही है, प्रकाशका काम प्रतिभास

स्वच्छ उजाला करना है। हरा कम और नीला तो उजाला की उपाधि है। अभी देखो कि मसाला लगाकरके सफेद लाइट करदो और बडा सफेद प्रकाश होने लगता। वह सफेदी भी उजाले का स्वरूप नही रही, उजालेका निजका काम क्या ? प्रकाश। वह रग तो उस प्रकाशमे मिल गया। प्रकाशमे हरा नीला आदि उपाधि नही लगी। इसी प्रकार ज्ञानमे भी उपाधि नही लगती। जैसे श्रुतज्ञानमे श्रुतकी उपाधि नहीं लगती। हरे किस्मके द्वारा केवल जाननेका काम करते है और नीले अथवा सपेद किस्मके प्रकाशके द्वारा भी केवल जाननेका कार्य करते है। इसी प्रकार सब ज्ञानोके द्वारा हम केवल जाननेका काम ही करते है। परन्तु उस जाननेमे ज्ञानकी उपाधि क्या ? श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माके ज्ञेयाकार स्वरूपको जानना। इस ज्ञानमे श्रुतकी उपाधि क्यो ? वह स्वरूप तो ज्ञानसे ही जाना गया। जिस ज्ञानसे जाना गया उस ज्ञानमे उपाधि नही होती। हरा है सो प्रकाश नही और प्रकाश है सो हरा नही। इसी तरह श्रुत है सो ज्ञान नही और ज्ञान है सो श्रुत नही। केवलीने केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जाना और श्रुतकेवलीने श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। फिर उस ज्ञानके केवल और श्रुतकी उपाधि क्यो ?

ज्ञानका प्रयोग—ऐसा देखें कि मोक्षमे भी जाकर ज्ञानके द्वारा आत्माको ही जानते और संसारमे भी ज्ञानके द्वारा आत्माको ही जानते। ऐसी निर्मल आत्मामे मेरा प्रवेश हो जाता तो फिर मेरे लिए कोई बाधा ही नही रहती। श्रुतकी उपाधि भी हटाओ। चश्मेके द्वारा ही देखा, यहाँ भी तत्त्वसे चश्मेके द्वारा नही देखा, आँखके द्वारा ही देखा, परतु आँख भी उपाधि है इसलिये आँखके द्वारा भी नही देखा, परतु आत्माके अपने ज्ञानगुणके द्वारा देखा। देखना ज्ञानगुणका काम है, इसके मायने जानना है। देखना तो ऐसी एक अन्तरङ्गकी चीज है जिसे कोई बाहर प्रगट नही कर सकता। किसीसे लडाई हो जाय, तो ऐसा कहते—अच्छा दोस्त, हम देखेंगे दो तीन दिनमे। उसका क्या मतलब ? कहनेका मतलब यह है कि उसके अनुकूल अपनी शक्तिको सम्हाला, उसकी शक्तिपर प्रयोग होगा और उसपर आक्रमण किया जायगा। यहाँ देखेंगे, वह देनेसे यह भाव निकला, ज्ञानगुण भावके लिये होता। यह देखना सब कुछ है, ऐसा कहनेका यह प्रयोजन नही कि मूर्तिकी तरह सामने बैठाकर आँखोसे देखेगा, ऊपरी देखनेको भी जानना ही कहते। जैसे आँखसे देखते है तो इसका गुण है दर्शन। कानसे सुनते, इसका भी गुण बताओ, इसका श्रवणगुण नाम रखो। तो फिर इस तरह आत्मा को ६ गुणोमे विभक्त करो—ज्ञान, स्पर्शन, घ्राण, दर्शन, श्रवण और स्वाद गुण। परतु नही, पाचो इन्द्रियो द्वारा जो काम होता वह एक ज्ञान ही है। चक्षुदर्शन चक्षुके निमित्तसे होने वाले ज्ञानसे पहले जो आत्मामे दर्शन होता है, उसे कहते है चक्षुदर्शन। तो दर्शन जैसे आत्मामे ही प्रयोग करता प्रयोग करता इस तरहसे यह ज्ञान भी आत्मामे ही और श्रुतज्ञानके द्वारा

जाना । यहाँ भी श्रुत जो उपाधि है यह ठीक नही, उपाधि होनेपर भी उपाधिरहित जो ज्ञान है उस ज्ञानके द्वारा ही जाना जाना । ज्ञानके निज कार्यमे उपाधि नही, श्रुत सूत्रकी उपाधि तो उपचारसे कारण रूप बताई गई है ।

निरुपाधि अन्तःक्रिया—अब यहाँ श्रुतज्ञानमे श्रुतकी उपाधिका भेद खतम करते है, अर्थात् श्रुत कहलाता है सूत्र । जो पौद्गलिक दिव्यध्वनिके द्वारा जाना जाय अर्थात् उसके द्वारा जिसका जानना कहा गया उसे कहते है सूत्र । उस सूत्रका जो जानना सो कहा गया है श्रुतज्ञान अथवा सूत्रज्ञान । वहाँ जो सूत्रज्ञान होता है सो कही श्रुतकी उपाधि लिये हुये नही है, वह ज्ञान तो ज्ञान है । उस ज्ञानका आधार श्रुत होनेसे उसको श्रुतज्ञान कहते हैं । श्रुत तो ज्ञानका निमित्त कारण होनेसे उपचारसे कहा जाता श्रुतज्ञान । परन्तु वह तो ज्ञान है । ज्ञान ज्ञान ही है । वह अनादिसे अनन्तकाल तक अपनी तरङ्ग आप लिये हुये चलता है । जब उसका विषय श्रुत होता है तो उसे कहते है श्रुतज्ञान और जब उसका विषय मति होता है तो उसे कहते है मतिज्ञान । पर ज्ञानमे स्वयमे कोई उपाधि नही लगी । इस हालतसे सूत्र अथवा श्रुत तो उपाधि रही । जो उपाधि होती है, वह आदरके योग्य नही रहती । उसमेसे उपाधिको निकाल दो तो शेष ज्ञप्ति रह गई ।

जैसे प्रकाश हो रहा है, लाइटमे हरा कागज लगा दिया तो हरे कागजकी उपाधिसे वह प्रकाश हरा होता । उस हरे प्रकाशमे हरी उपाधि हटा दे तो शेष चीज प्रकाश है । उपाधिके खतम हो जानेके बाद जो खालिस रह जाये, उसे शेषकी चीज कहते है । इसी तरह ज्ञानमे से भी उपाधि खतम कर दी जाय तो शेषकी चीज रही ज्ञप्ति, अर्थात् जानना मात्र । केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनो ही आत्माका सचेतन करते है, तो वहा भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई, और यहाँ भी श्रुतज्ञानीके भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई । इसलिये ज्ञानमे केवल और श्रुतकी उपाधिका फर्क नही है । वह तो केवल ज्ञान ही है ।

ज्ञानस्वरूपकी अविशेषता—पहले तैंतीसवी गाथामे बताया कि दोनो केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीके विषयमे फर्क नही है और यहाँ चौतीसवी मूल गाथामे बताया कि ज्ञानका भी दोनो स्थानोपर फर्क नही रहा । विषयका तो फर्क तो यो नही है कि केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमय केवल आत्माका संचेतन किया और श्रुतकेवली अथवा सम्यग्दृष्टिने भी अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावमय केवल आत्माका ही सचेतन किया । इसलिये तैतीसवी मूल गाथामे बताया कि दोनो स्थानोपर विषयका फर्क नही है । जो भगवान करते है वह तुम अब भी कर रहे हो, जो तुम करते हो वही भगवान भी करते है । फिर जगतमे मुझे यह काम करना है, मेरे लिये बहुतसी झझटें पडी हुई है, ऐसी इच्छा अथवा इनका क्षोभ

करनेसे क्या फायदा ? इस तरह जीव आत्माको जाननेके अतिरिक्त और कुछ करनेमे समर्थ नही है। केवली और तुम दोनो एक ही चीज तो कर रहे हो। इस तरह सम्यग्दृष्टि और केवलीमे अविशेषता दिखलाई।

आपने प्रवचनसारके द्वारा ज्ञान जाना। तो साधन यहा प्रवचनसार हुआ और काम ज्ञप्तिका हुआ। प्रवचनसार तो परपदार्थ है। यदि स्याहीके अक्षरोको लें कि इनसे ज्ञान हुआ तो ये अन्य पदार्थ हैं, और यदि शब्द भी लें, जो बोले और सुने जाते है, तो शब्द भी अन्य पदार्थ है। तो ये सब तो मात्र उपाधि ही रहे जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान। ज्ञानरूपसे देखो। प्रवचनसार तो उपाधि था, उसका तो आदर नही, अब केवलज्ञान ही शेष रहा, ज्ञप्ति ही शेष रही, वह ज्ञान अथवा ज्ञप्ति ही जाननेका काम करती रही, प्रवचनसार जाननेका काम नही कर रहा। प्रवचनसार तो उपाधिमात्र है। शुद्ध ज्ञान ही काम कर रहा है, वहा दूसरी उपाधिया काम नही करती। किन्तु ज्ञान ही काम करता है। ऐसा वह ज्ञान उपाधिसे भी रहित है। इसलिये ज्ञानमे श्रुतकी उपाधिका भी भेद नही होता।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी अविशेषताका समर्थन—ज्ञानकी अविशेपताके समर्थनमे कल दृष्टान्त दिया था, यह आधा ही रह गया था। सफेद प्रकाश, हरा प्रकाश, नीला प्रकाश, लाल प्रकाश आदि कहते हो। यहाँ विवेकसे सोचो तो प्रकाश हरा, नीला आदि तो नही है और जो हरा नीला आदि है वह प्रकाश नही है। हरा, नीला, सफेद वगैरह ये पुद्गल द्रव्यके रूप गुणोकी पर्याय है। प्रकाश किस गुणकी पर्याय है ? प्रकाश वस्तुके रूप गुणकी पर्याय नही है। किन्तु इसको बतलाया कि यह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। प्रकाश पुद्गलकी पर्याय है, पुद्गल द्रव्यके रूप गुणकी पर्याय नही किन्तु स्वय पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। हरा, नीला आदि प्रकाश नही और प्रकाश हरा नीला आदि नही है। प्रकाशका तो और ही स्वरूप है, जैसे प्रतिभास, चमक आदि। हरी तो उसमे उपाधि लग गई। वह चमक, वह प्रकाश, जैसे चर्म चक्षुसे दीखने वाला हरा प्रकाश दीखता है, उसमे वह हरी उपाधि रहित है। उसी तरह से यह ज्ञान मति श्रुत उपाधियोसे रहित होता, इसलिये कहा है कि ज्ञान उपाधियोसे रहित है और वह एक मात्र ज्ञप्ति है। केवलीने भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना और सम्यग्दृष्टिने भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। उसमे श्रुतकी उपाधिका भी भेद नही है। वहाँ साक्षात् कार्य हो रहा है। जिस समयकी स्थितिकी बात बतला रहे वहाँ उपाधि उपयोगमे नही लगानी चाहिए। यदि उपाधिको इस उपयोगमे देखते रहे तो सम्यक्त्व अनुभवकी बात नही आती। इस प्रकार सिद्ध किया कि केवलीका और हमारा, दोनोका अतरविषय भी एक और साधन भी एक है।

ज्ञानका ज्ञप्तिमात्र कार्य—सम्यग्दृष्टि जनो, तुम्हारेमे गरीबी किस बातकी है ? आचार्य

बतला रहे कि तुममे कल्पनाकी गरीबी हो गई, और जो तुम करते हो सो जिसके द्वारा वे करते, उन्हीके द्वारा तुम भी करते । मात्र चारित्र मोहका उदय है । जिससे इसमे स्थिरता नही हो पाती, तो और रागी द्वेषी कई कषायो वाला हो करके अपने अन्तरङ्गसे दृढताको देते हैं । इसीसे यह भेद किया कि स्वयका कार्यका, विषयका प्रश्न जहाँ तक है, वहाँ तक यह बताया कि श्रुतकेवली और केवलीमे कोई विशेषता नही है । जैसे कहा यह घटज्ञान है । घटज्ञानके द्वारा इसने घडेको जाना । घटज्ञान जो यहाँ हुआ तो क्या इस ज्ञानमें घटकी उपाधि मिली हुई है ? घटज्ञान जैसा जो ज्ञेय ग्रहण, क्या इस ज्ञेयग्रहणरूप अन्तरग उपाधि भी ज्ञान मे मिली है ? वहाँ भी घट इस उपाधिको दूर करके, (घट ज्ञेय इस उपाधिको दूर करते तो शेष रहा ज्ञान) इस ज्ञानके द्वारा वह घटको जानना है । घट तो उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है । इसी तरह श्रुत आदि ज्ञानकी उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है । इतने पदार्थो का ज्ञान करते हुए भी पदार्थका यह उपाधि ज्ञानके लग गई तो ज्ञान केवल ज्ञप्तिरूप नही हुआ । ज्ञान तो केवल ज्ञप्तिरूप ही है, जानना इतना ही मात्र है । इन्द्रियज्ञान आदि ज्ञान नही है । चक्षुसे उत्पन्न हुआ ज्ञान, यह निश्चयत अयथार्थ बात है । चक्षुसे ज्ञान उत्पन्न नही हुआ । चक्षु जड है, पुद्गल है, पुद्गल द्रव्यसे ज्ञान नही होता । उस जाननेके कालमे चूकि यह ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है उस समय वह उपाधिको नही रखता, केवल अपने-अपने काममे पूरा लगाना है । जैसे बारूदका गोला आग लगती है तो फट जाता है, आग लग गई, इसलिए अब तो फटनेमे स्वतत्र है और पूरी शक्तिसे फट जाता है, और अपना काम कर जाता हैं । जब काम का समय है, जिस समयमे जानना हो रहा है उस जाननेके स्वरूपको देखो तो वह स्वतन्त्रता उपाधिकी अपेक्षा नही रखकर हो रहा है ।

वस्तुपरिणमनकी उपाधिसे अनुद्भव—भैया ! बाह्य चीजके देखनेसे ज्ञानमे अन्तर मालूम देता है । केवल उस ज्ञानके स्वभावपर दृष्टिपात करो तो ज्ञानसे स्वतन्त्ररूपसे जाना वहाँ उपाधि नही लगती है । ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है । उपाधि तो बाह्यपदार्थ रख के है । ज्ञानके स्वरूपमे बाह्य पदार्थ नही है । ज्ञानके द्वारा जैसे केवली आत्माको जानते, वैसे ही ज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली भी आत्माको जानता । इसलिए ज्ञानमे श्रुत आदि उपाधिका भी नही होता । एक दृष्टात और लीजिये । सूर्यका काम प्रकाश करना है और वह प्रकाश करता ही है । यदि मेघ पटल नीचे आ गये उसी समयसे अधेरा हो गया । कुछ मेघ पलट नीचेसे दूर हुए तो २०–३० मीलपर प्रकाश हो गया । वह भी प्रकाश हुआ तो दुनियाको तो ऐसा मालूम होता कि मेघ फटनेकी वजहसे यह प्रकाश इस उपाधिसे फैला है । किन्तु प्रकाश-प्रकाशके स्वरूपसे प्रकाशको देखो तो मालूम होता कि मेघपटलके हटनेसे वह नहीं हुआ है । वह तो प्रकाशकी प्रकाश वृत्तिसे स्वय स्वतन्त्रतया विकसित होना है । इसी तरह ज्ञानका स्व-

भाग समस्त लोकालोकके जानने मात्रसे है। कर्म पटल आये, जिसकी वजहसे ज्ञानका आवरण होता, अब जितना आवरण हटा उतना ही जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञानका आत्माके व्यपदेश हुआ। ज्ञान एक ही था। ज्ञानका काम केवल जानना ही था। वह केवल प्रकाशक ही था। कही ऐसा नही होता कि श्रुतज्ञानसे जाना या मतिज्ञानसे जाना, तो उसके जाननेकी शैली केवलीके या केवलज्ञानसे जाना तो उससे जाननेकी शैली परोक्षज्ञानीके समान है। ज्ञान का तो जानना ही काम है, चाहे यहाँ जानो चाहे वहाँ जानो। केवल जानना ही तो है। वहाँ मति श्रुतिज्ञानका व्यपदेश है तो रहो। ज्ञानकी तरंग या विकासका प्रकाश या जानन ही तो काम होता। वहा उपाधि नही लगती। ज्ञानका उदय उपाधिसे रहित है। ज्ञानका काम जाननमात्र है। ज्ञान ज्ञायक है। जिसका ज्ञान ज्ञायक है, जिसका काम ज्ञान होता उसमे पर के कारणसे हम विशेपता लगादें, परन्तु ज्ञानका काम तो जानना मात्र है।

ज्ञप्तिक्रियाका एक ढंग—जैसे १० आदमी यात्राको जा रहे है। किसीके अच्छे पैर हैं तो वह जल्दी जल्दी चल रहा और कोई बालक है तो धीरे-धीरे चलता, किसीके पैरमे चोट लगी तो वह लकडीके सहारे चलता परन्तु चलना तो एकसा ही हो रहा। उस तीर्थके लिए ही तो सब जा रहे है। कहीं ऐसा तो नही हो रहा है कि कोई घूम कर जा रहा है या किसीने पूर्वकी बजाय पश्चिमकी ओर मुह घुमाया। जितने भी लोग जा रहे है सबका कैसा काम चल रहा है और पैरोके द्वारा हो रहा है, इसी तरहसे ज्ञानका भी एकसा काम चल रहा है। उसमे उपाधिका भेद नही है फिर बाह्य द्रव्योसे उसमे उपाधिका भेद हो रहा है। ज्ञान आत्माका ही होता। आत्माका ही गुणरूप पर्यायज्ञान है, जिस ज्ञानमे सूत्र या श्रुत विपय पड़ा उसको अशुद्ध ढगसे कह देते, उस उस सूत्रका ज्ञान, उसे कह देते कि सूत्रज्ञान या श्रुतज्ञान, सो यह भी ज्ञान है और हमारी आत्मामे जो ज्ञान पैदा हो जाता है वह भी ज्ञान है। प्रवचनसारके द्वारा जो ज्ञान हुआ वह प्रवचनसारका तो ज्ञान उपचारसे कहा जायगा। इसी तरह श्रुत उपचारसे है। वास्तवमे तो जिस आत्मामे वह ज्ञान प्रगट होता, वह ज्ञान ही श्रुत है। श्रुतज्ञानकी पूजा करो, ऐसा कहनेपर लोगोके एकदम बुद्धि श्रुतमे पहुचती। परन्तु यह सूत्र अथवा श्रुत तो श्रुतज्ञान उपचारसे है। श्रुत कारण होनेसे ज्ञानरूपसे उपचार किया गया। श्रुतकी जो ज्ञप्ति है उसे श्रुतज्ञान कहते है। वहा श्रुत तो उपाधि है। वहा तो एक ज्ञप्ति ही रह जाती कि जानना मात्र। वह जानना मात्र उपाधिरहित है उसकी पूजाके लिये कहा गया।

कार्यमें निमित्तका अकार्य—लोग कहते हैं कि यह आंखने जानने वाला ज्ञान है, परन्तु ज्ञानके वर्तनेमें आंख निमित्तकी आवश्यकता नही। उत्पत्तिकालमे ज्ञानको इन्द्रियोकी अपेक्षा हुई। परन्तु जब अपेक्षा हुई तो ज्ञान उत्पन्न ही नही है और जब ज्ञान है उस समय

मे अपेक्षा उत्पन्न ही नही होती। जब उसका प्रयत्न चल रहा है उस समयमे ज्ञान उत्पन्न ही नही रहता है, जिस समयमें ज्ञान है उस समयमे इन्द्रियोकी उत्पत्तिकी भी अपेक्षा नही होती। जिस समयमे इन्द्रियोके द्वारा ज्ञानके उत्पन्न होनेका प्रयत्न हो रहा है उस समयमे वह ज्ञान नही हो रहा है जिसके द्वारा हम जाने, तो ज्ञानके सम्बन्धमे तो वह ज्ञान स्वतत्र है। हमारे वह श्रुतज्ञान और मतिज्ञानके सम्बन्धमे ज्ञान स्वतत्र है। कितनी स्वतन्त्रता इस ज्ञानमे है ? हम उस ज्ञानके पूर्वकाल आगामीकाल व इस कालकी सत्ता विशेषता स्वीकार न करके ऐसा कह देते है कि ज्ञान इन्द्रियोके आधीन है। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ज्ञान है, परन्तु जिस समयमे इनकी मदद है उस समयमे विवक्षित ज्ञान है भी नही। छत बिना सीढीकी है। सीडीकी मदद है जब तो छत भी नही मिलेगी।

निमित्तके अभावसे स्वकार्यकी प्रचुरता—प्राय दुनियामे ऐसी निमित्त चीजें बहुत मिलेगी, जिनके अभावसे कार्य मिलेंगे जिनके निमित्तका नाश ही निमित्त है ऐसी बहुत चीजें मिलेगी। निमित्तकी उपस्थिति ही निमित्त नही है। हमारे सुख दुःखमे भी वही बात है। कर्मनिमित्तका नाश हमारे सुख दुःखका कारण होता। देखो भैया ! दुःख भी कर्मके नाशसे होता है तब कहो कि हे कर्म निमित्त तुम बने रहो, इसमेसे कम नही होओ। हे कर्म यदि तुम्हारा नाश नही होय तो हम सिद्धकी तरह सुखी हो जायें। हे कर्म, तुम रच भी मिटो मत, फूलो फलो, दूध नाहो, ऐसे कर्म तुम बने रहो तो भी हम सिद्धकी तरह सुखी हो जायेंगे नष्ट मत होओ। नष्ट होते हो तो हम दुःखी है क्योकि उदय (नाश)मे ही दुःख है। सो भैया ! यह बात आदरणीय नही क्योकि कर्मके उदयरूपसे नाश होना दुःखका निमित्त है। इसमे तो उदयका ताता रहेगा। सर्वथा नाश तो आत्मीय सुखका कारण होगा। इस तरह कितने ही काम ऐसे होते कि निमित्तका सम्बन्ध छूटने पर वे पैदा होते। क्षण क्षणके ये जो ज्ञान पदार्थोंके हो रहे हैं ये भी प्रकाश आदि सारी बातोकी अपेक्षा छोडकर ही होते है। जो ज्ञान की तरग चली है, जब ज्ञान पैदा हो गया, तब राजा हो गया, तब उसे किसीकी अपेक्षाकी जरूरत नही रही, ऐसा वह ज्ञान स्वतन्त्र है। इस ज्ञानमे उपाधिका फर्क नही रहा। तब फिर जगतको जाननेकी इच्छा अथवा इच्छाका क्षोभ व्यर्थ है। इसी बातको दोनो गाथाओंमे सिद्ध किया। यह जीव अखड ज्ञानस्वभावी है, इसलिये अपने स्वरूपमे निश्चल रहो, कुछ बाहरी उपयोग मत करो। बाहर और कोई चीज मत देखो। यहा ज्ञानका प्रकरण चल रहा है करीब २० गाथाओमे अब भी चलेगा, करीब २० गाथाओसे यह चल भी रहा है। इसी तरह आनन्दका प्रकरण आयेगा तो उसमे भी इसी तरहकी निज आनन्दकी बात आयगी, अभी ज्ञान की बात चल रही है।

कर्ता करण आधारका अभेदकथन—इस प्रकार ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता

है—यह सिद्ध करके अब ज्ञानके आधारकी ओर आते है। ज्ञानका आधार है आत्मा। यह आत्मा ज्ञानसे अभिन्न है। कही ऐसा नही है कि ज्ञान भिन्न हो व आत्मा भिन्न हो। तब ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है। इसका वाक्यान्तर यह भी हो सकता है कि आत्मा आत्माके द्वारा आत्माको जानता है परन्तु यहाँ विचार करिये कि आत्मा तो अनन्तगुणोका पिण्ड है। वह मात्र जानता ही तो नही है, जैसे जानन परिणमन करता वैसे अन्य भी अनन्त परिणमन करता है। जितने परिणमन यह आत्मा करता है आत्मामे उतनी ही शक्तियाँ है तो आत्मा जानता है तो ज्ञानशक्तिसे, आत्मा देखता है तो दर्शनशक्तिसे, आत्मा सुखी होता है तो सुख-शक्तिसे, यहा जाननेका प्रकरण है आत्मा जानता है तो किससे जानता है? ज्ञानशक्तिसे जानता है। यहाँ कर्ता आत्मा हुआ, ज्ञान हुआ करण, क्रिया "जानता" है हुई। अब कर्ता करणके सम्बन्धमे यह विचार करते है कि कर्ता करण अभिन्न ही है, यहां आत्मा और ज्ञानमे कर्तापन और करणपनेका भेद खतम करते है।

जो जाणदि सो णाण ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाण परिणमदि सय अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे॥३५॥

जो जानता है वह ज्ञान होता है। यहाँ आत्माको कही ज्ञानके कारण ज्ञायक नही समझना अर्थात् किसी भिन्न ज्ञानद्वारा आत्मा ज्ञायक नही है, आत्मा स्वभावसे ही ज्ञायक है, ज्ञान भी स्वभाव है, ज्ञान स्वय परिणमता है तब वहा विपय भावकी अपेक्षासे देखो तो सब अर्थ ज्ञानमे स्थित है। सभी विवेचनोकी दृष्टिरूप नय अवश्य समझना।

ज्ञानमे परके हानोपादानका अभाव—पहले तो यह बतलाया था कि ज्ञानी परपदार्थों को न तो ग्रहण ही करते और न छोडते है। सम्यग्दृष्टि, मैं भी ज्ञाता हू, इसलिये न परपदार्थ को ग्रहण करता और न छोडता। केवली वह भी सम्पूर्ण ज्ञानी है, इसलिये वह भी पदार्थको न ग्रहण करता और न छोडता ही है। परपदार्थको मैं कुछ भी नहीं करता। अपनी आत्मा मे रहने वाले गुणोंके द्वारा परका कुछ नही करता, अपना ही करता, केवलज्ञानी अपने केवल-ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता है, परको तन्मयतासे नही जानता। उपचारकी दृष्टि बहि-र्दृष्टि है। वस्तुत वह न परको ग्रहण करता है और न छोडता ही है। इसी तरहसे तो मै भी हुआ। मैं भी तो अपने श्रुतज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता ही तो हू। इसके अतिरिक्त पर का कुछ प्रयोग नही करता। फिर इस निश्चयकी क्रियाकी दृष्टिसे केवली और श्रुतकेवलीमे कोई भेद नही रहा।

ज्ञानमे उपाधिका अभाव—इसके बाद यह बतलाया कि केवली केवलज्ञानके द्वारा जानता और श्रुतकेवली श्रुतज्ञानके द्वारा जानता, ऐसे आत्मामे और कौनसे गुण आ गए, कौन सी बातें आ गईं कि जिसमे एक श्रुतज्ञान भी रखा है? निश्चयसे वह तो ज्ञान ही है। केवली

भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता और श्रुतकेवली भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। दोनों ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानते है। वहाँ ज्ञानके उपाधि नही लगती। यह आत्मा ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता है। इतना ही यह जीव जगतमे काम कर रहा है और कुछ भी नही कर रहा है।

आत्माकी ज्ञानस्वभावमयता—आज बतला रहे कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता, यह बात भी सुहावनी नही लगती। वह आत्मा और ज्ञान क्या अलग-अलग है, जिसके द्वारा आत्माको ज्ञान जानता। क्या वह ज्ञान आत्मासे जुदा है, क्या ज्ञान आत्मासे अलग चीज है, जिसके द्वारा वह आत्माको जानता है ? नही, आत्मा और ज्ञान बिल्कुल अभिन्न है। तो फिर यह क्यो कहते कि ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता ? कहो कि ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय निज को जानता है। वह ज्ञान ज्ञानको ही जानता है, ज्ञान और आत्मामे कर्ता और करणका भेद मत लाओ। फिर ज्ञान जानता है, ज्ञान है और जानता है या तो ज्ञान इतना ही कहो या जानता इतना ही कहो। वहा ज्ञान और जानता दोनो शब्द नही सहन हो सकते। ज्ञान जानता है, ऐसा कहनेमे भी एक कर्ता है और उसने कोई काम किया ऐसा भेद हो गया। वहाँ ज्ञान तत्त्व लक्ष्यमे नही रहा। ज्ञान ज्ञानके द्वारा जानता, यहाँ ज्ञानकी स्वाभाविकता ज्ञात नही हुई। ज्ञानका निज तत्त्वरूपमे भेद नही होता, कर्ता और करणका भी भेद मत डालो।

स्वकार्यमें कर्ता करणकी अभिन्नता—पहले तो केवली और श्रुतकेवलीका विषय एक बताया, फिर साधनको एक बताया, फिर यह कहते कि कर्ता और साधन अलग-अलग चीज नही है, वे एक ही चीज है अर्थात् अपनी तरङ्गसे वर्तमान अर्थात् ज्ञप्तिक्रियामे निरन्तर प्रवृत्त ज्ञान वह वह ही है, वहाँ ऐसा भेद मत करो कि ज्ञान ज्ञानद्वारा आत्माको जानता है, वह तो केवल जाननरूप है। जैसे अग्नि अपनी गर्मीके द्वारा ईंधनको जलाती है, ऐसा कहते—इस बात को निश्चयनयसे देखना है कि क्या यह बात नही है ? तो पहली बात तो यह कि ईंधन क्या ? जो जल नही रहा है वह या जो जल रहा है यह आग है। पहले तो हमारी यही बात खडित हो गई कि आग गर्मीके द्वारा ईंधनको जलाती। आग गर्मीके द्वारा ईंधनको जला ही नही सकती। आग गर्मीके द्वारा तो केवल अपने आपको ही जलाती है। जिस समयमे जलने लगता और वह भी गर्मी रूप हो जाता, उस समयमे वह ईंधन नही कहलाता। निश्चयनय से ऐसा कह रहे है। इसलिये पहले तो विषयका खडन किया कि अग्नि गर्मीके द्वारा ईंधनको नही जलाती, किन्तु अपने आपको जलाती है। वह तो खुद जलती और राख हो जाती। यहा भी जो राख है वह आग नही थी, आगका आश्रयमात्र था, राख हो जानेपर भी वह अग्नि नही रही। तो क्या बात ठीक रही कि अग्नि गर्मीके द्वारा अपने आपको जलाती है। फिर कहते कि अग्नि अपनी गर्मीके द्वारा अपने आपको जलाती, तो यहाँ अग्नि और गर्मीका यह

भेद सहन नही हो सकता। वह अग्नि अलग क्या चीज है जो अपनी अलग गर्मीके द्वारा जलती है ? अग्नि तो स्वय गर्मीमय है। अग्नि अपने अभिन्न स्वभावसे जल रही है, जला किसीको नही रही, वह तो अपने ही स्वभावसे जल रही है, यहाँ तक बात आई। इस तरह साधन भी मिट गया।

पदार्थमे क्रियाका अभेद—अग्नि जल रही है, इस कथनमे भी ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई बैठा हुआ आदमी उठ रहा है। अग्नि पहले तो नही जल रही थी, परन्तु अब जल रही है। पहले तो समाधिमे थी और अब जलनेकी क्रिया कर रही है, सो ऐसी बात नही। अग्नि तो वही है जो अग्निके जन्मकालसे ही उसमे जलनेकी क्रिया चल रही है। इसलिये 'अग्नि' इतना ही कहो, इसी तरह केवली ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है, इसका सूक्ष्म रूप आ आकरके इतना ही रूप रह गया 'ज्ञान'। केवलीने ज्ञानको अविशेष बना करके अपने आपको ज्ञानमय अनुभव किया। यह निश्चयदृष्टिसे वर्णन है। यदि हम अपनी निश्चयदृष्टिको छोडते और व्यवहार दृष्टिपर आते है तो अनेक आकुलताए पैदा हो जाती है। इसलिये अपने को ऐसा कौतूहली बनाना चाहिये और ऐसी लीला वाला होना चाहिये कि हर लक्षणोमे निश्चयतत्त्वको खोजें। निश्चयकी दृष्टिसे देखो कि वस्तुका कैसा स्वरूप है ? निश्चयसे जो स्वरूप समझमे आयेगा वह निर्विकल्प शांतिका आधार होगा और जो व्यवहारदृष्टिसे स्वरूपको देखता है तो वह विकल्प, उलझन और भिन्न-भिन्नरूपसे अपनेको देखेगा। ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है, जानता नही है कहते तो अभेदसे, अभेद क्रिया कह दो कि ज्ञप्तिरूप होता है। ज्ञान, ज्ञानका काम जो भी है सो ही कर रहा है। निश्चयसे जानना क्या है, वह तो तरग है, एक द्रव्य है और द्रव्यकी तरग है। जितने दुनियामे अनन्त द्रव्य है सभी इसी तरह से है, याने द्रव्य है और उनके तरग है।

परविविक्तता—समयसारमे लिखा हुआ है कि जगतके अन्दर जितने द्रव्य है, अनन्त द्रव्य है, सबके सब द्रव्य अन्दर रहने वाले गुणोका चुम्बन करते है और उन्हींमे तन्मय रहते है, परपदार्थके किसी भी गुणको छूते नही, सबके सब आपमे ही प्रयत्नशील हो रहे है। जगत के जितने जीव है सब अपने-अपने उपादानसे परिणमित हो रहे हैं। यह वस्तुका निजस्वभाव है। जगतमे द्रव्योकी व्यवस्था इससे भिन्न नही हो सकती, किसी द्रव्यरूपसे कोई द्रव्य नही परिणम सकता। अपने प्रदेशमे सारे गुणोके परिणमनके अतिरिक्त और कुछ परिणमन कर ही नही सकता। यहाँ सब अपने-अपने विकल्पोके स्वामी बनते है, कोई किसी पदार्थके स्वामी नही होते। हमारे और आपके विनाशका कारण बाह्य पदार्थोमे परिणति रखना है। हम अपने आपको मोहवश बाह्य पदार्थोंके कर्ता मानते, विकल्पमे ऐसा मानते है कि परपदार्थका जो कर्म है उसको विकल्पमे मानते कि मै सबको करता, परन्तु वास्तवमे तो वह अपने आपमे

जानन गुण रहता है ,उसीको करता है। पर्याय दो होती है, स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। मनुष्य परका क्या कर सकता है।

परका त्रिकाल अकर्तृत्व—निश्चयका प्रकरण चल रहा है। गाँधीजी ने इतना देश को उठाया, पर निश्चयसे किया क्या ? निश्चयसे यही किया कि अपने आपमे जितनी दया पैदा हुई उसकी ही तो चेष्टा की। वस्तुको उसके स्वतन्त्र रूपसे देखो। उस वस्तुको स्वातन्त्र्य रूपसे देखकर यह बतलाया कि द्रव्य अपने आपको ही कर सकता है, पर पदार्थका कुछ भी नही कर सकता। केवली भी अपने आपको ही कर रहे। उनमे अनन्त शक्ति है, परन्तु फिर भी खुद ही को उस अनन्त शक्तिसे किया कि वे अपने स्वभावसे च्युत नही होते। वे अपने आपमे ही ज्ञानका परिणमन कर रहे है उसके अलावा और कुछ नही कर रहे है। केवलीके बारेमे हम यदि आलोचना कर रहे है तो केवली उसे जान तो रहे है। फिर भी वे मेरा कुछ नही कर रहे है। परन्तु इस ज्ञानसे मैं केवलीके स्वभावका वर्णन कर रहा हू और यह उनकी उत्कृष्टता बतला रहा हू परमे तो कोई कुछ करता नही है, किन्तु जो विकल्प भी छोड देता वह ऐसा महान् बन जाता। देखो केवलीका कितना स्वातन्त्र्यमय द्रव्य है कि अपने आपमे ही परिणम रहा और अपने आपके अतिरिक्त बाहरमे किसीमे भी नही परिणम रहा। उन्होने जाननेका जो विषय है उसे ही जाना। हमने भी ऐसा ही किया, परन्तु मोहसे कहा जाता कि मैने परको जाना। निश्चयसे तो कोई परको जानते ही नही। केवली भी परको नही जानते, वे तो केवल ज्ञानको ही जानते। हम भी केवल ज्ञानको ही जानते।

परमार्थतः स्वका स्वमे प्रयोग—जैसे हरे रगको चौकी पर पोत दिया। हरे रगने किसको हरा किया हम यह समझते कि उसने चौकीको हरा किया, परन्तु निश्चयसे हरे रग ने चौकीको हरा नही किया, हरे रगने तो अपने हरेको ही हरा किया। हरे रंगके भीतर भी चौकी उसी रूपसे रही। इसी तरह प्रत्येक ज्ञानीने अपने ज्ञानके द्वारा अपने आपको जाना, परको नही जाना अपने आपको जाननेकी तरग जो है। ज्ञान ऐसी स्वच्छताको लिये हुए है कि उसका विषयभूत पर पदार्थ ज्ञेय कहलाते इसलिए कहा जाता कि हमने ज्ञेयको जाना। कहते घडीको जाना। परन्तु ज्ञान उसका नही है। ज्ञानकी तरग ज्यादासे ज्यादा क्या कर सकेगी ? जिसकी तरग है अथवा जिस द्रव्यकी तरग है उसको कर सकेगी ज्यादासे ज्यादा। इससे बाहरको क्या कर सकेगी। द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हुआ करती। ज्ञानकी तरग घडीको कहाँ टच कर गई। उस आकारक जो समझ है उस समझमे तुम यह कहते कि मैने घडीको देखा। परन्तु मैंने तो केवल अपने आपको ही जाना। भगवान जो सारे विश्वको जानते हैं वे सारे विश्वके कारण विश्वको नही जानते किन्तु वे उनके निज स्वच्छ स्वरूप प्रकार ही ऐसे है कि सारे विश्वके विषयोको जान जाते। किन्तु वह ज्ञान किसीको जानता है ऐसी बात नही। जानता है, के क्या मायने ? जैसे चौकीको हरे रगने रगित कर दिया

तो हरे रगने केवल अपने आपको ही तो रगित किया। इसी तरह ज्ञानने जो जानन किया वह अपने आपका ही तो जानन किया। उसके विषयभूत जो पर पदार्थ है उनके कारण उपचारसे कह रहे कि परपदार्थको जान रहा।

निश्चयसे कारकोकी अभिन्नता—निश्चयसे वह ज्ञान तो ज्ञान रूप ही रहता निश्चय से वह पर पदार्थको नही जानता। निश्चयसे कर्ता, कर्म करण आदि कारक वहीं हुआ करते उससे भिन्न नही हुआ करते। तो ज्ञान जिससे जानता वह भी वही, जिसके लिये जानता वह भी वही, जिसमे जानता वह भी वही और वह ज्ञान स्वय भी वही। कारक क्या कहलाते ? जैसे कुम्हारने दड चक्रके द्वारा अपनी कुटीमे पैसे उत्पन्न करनेके लिये लौदेसे घडे बनाये। तो इसमे छहो कारक न्यारे-न्यारे है कुम्हारने लौदेसे घडोको कुटीमे, पैसोके लिये, चक्रके द्वारा बनाए, ये सब कारक अलग अलग है। ये वृक्ष अपनी शाखाओमे अपने फूलोसे अपने भारके लिये फल रहा है, ऐसा कहा तो सारी की सारी चीज वृक्षकी ही आई। ये ६ कारक जैसे अभिन्न होते है वैसे भिन्न भी होते है। निश्चयसे छहो कारक अभिन्न होते और व्यवहारसे छहो कारक भिन्न होते। इस तरहसे ज्ञान खुद पकाश-रूप होता, खुदको ही जानता, खुदके लिये ही जानता, खुदसे ही जानता, और खुदमे ही जानता। ज्ञानीके सभी गुणोका प्रयोग निश्चयसे स्वयपर ही होता है। बाह्य पदार्थोपर नही हो सकता। वह केवल खुद ही को तो जानता है खुद ही दुखी सुखी होता है दूसरेको सुखी दुखी क्या कर रहा है। मैं खुद ही विकल्पक बनता हू। परपदार्थ पैसे धन आदिको मै क्या पैदा कर सकता हू। वे तो सब स्वतन्त्र है। उनको मैं क्या कर सकता हू ? दुनियाँमे कोई निमित्त अपनी परिणति से किसी द्रव्यको परिणमा नही देता। आत्मा और ज्ञानमे करता और करणका भेद नही। यहाँ कर्ता और करणका भेद भी दूर करते।

ज्ञानकी स्वसंवेद्यता—जो जानता है सो ज्ञान है ऐसा नही है कि वह आत्मा किसी भिन्न ज्ञानके द्वारा जानने वाला बनता हो। कितने ही लोग ऐसा मानते है कि एक ज्ञान जानता है तो उस ज्ञानको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान पैदा करना होता है जिस तरह हम पहले यह न जान जाय कि कदाचित् यह घड़ा है ज्ञानके द्वारा घडेको जाना, परन्तु "घडेको जाना" यह ज्ञान सही है या नही ? उस ज्ञानको सही करनेके लिये दूसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर दूसरे ज्ञानकी बात भी सही करनेके लिए तीसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर तीसरे ज्ञानकी भी बात सही करनेके लिये चौथे ज्ञानको पैदा किया जाय और इस तरह तो दुनियामे ज्ञानोके ढेर लग जायेंगे और पहले ज्ञानको सही करनेके लिये दूसरे ज्ञान उत्पन्न करते सारी जिन्दगी लगा दो तो जगतके तो अन्य कोई काम ही नही हो सकते और न उस घडेका ही ठीक ठीक ज्ञान समझ सकते। देखो भैया! कैसे कैसे सिद्धान्त निकल आते कि

व्यवस्था ही नही बन पाती । घडा दूर रखा है परन्तु जान लिया कि घडा है । घडेका ज्ञान ठीक नही है, फिर भी उपचारसे ठीक है । फिर घडेमे ज्ञानको सही बनाना चाहिए सही बनाना तो एक ही दफामे हो गया । दूसरे ज्ञानको पैदा करनेकी आवश्यकता नही है । दशायें दो होती है अभ्यस्त दशा और अनभ्यस्त दशा । अनभ्यस्त दशामे ज्ञानको सही करनेके लिए दूसरा ज्ञान लाते है पर उसीमे ही सारा काम पूरा हो जाता है । अभ्यस्तज्ञानको जान लेनेके लिए फिर ज्ञानकी आवश्यकता नही होती । जैसे कि हम कही जा रहे है, रास्तेमे हमने सोचा कि वहाँ कुआ है । कोई कहता कि वहाँ कुआ बुआ कुछ नही तुम्हे भ्रम हो गया है तो इस ज्ञानको सही बनानेके वास्ते अनुमान ज्ञान प्रयोगमे लाना पडता है निर्बलको सबल ज्ञान बनानेके लिए । वह परिचित अभ्यस्त है तो उसके लिए अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही । यदि ऐसा ही माने कोई कि प्रत्येक ज्ञान ऐसा ही है कि खुदको नही जानता, पर दूसरे ज्ञान के द्वारा जाननेमे आता । तो एकके बाद एक ज्ञानसे जाननेके लिए वह अपनी जिन्दगी इसी काममे निकाल देगा । इसमे तो यह मन्तव्य निकाल बैठेगा कि ज्ञानमे स्वय जडपनेका स्वभाव है तभी वह किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाननेमे आता । कभी ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञान ही सही नही है तो उस ज्ञानके भ्रमको मिटानेके लिए एक ज्ञान और खडा करना पडता उसी ज्ञानकी सचाई सिद्ध करनेके लिए हम एक ज्ञान और प्रगट कर रहे है । परन्तु वह ज्ञान स्वय जड है, अपने आपको नही जानता ऐसी मान्यता आ जाना मिथ्या है ।

अभिन्नसाधनता—आत्मा कर्ता है और ज्ञान करण है, आत्मा और ज्ञान अलग अलग चीज नही है । आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता परतु वे अभिन्न है । जानना आत्माकी तरग है, प्रकाश है, स्वच्छता है, ऐसा नही है कि आत्मा किसी भिन्न ज्ञानके द्वारा जानने वाला कहला रहा है । ज्ञान स्वय ऐसी स्वच्छतासे परिणमता कि जिसमे विश्व विषय बन जाता है । जैसे साक्षात् तो दर्पणको ही देखा जाता पर व्यवहारसे सबके सब जड पदार्थ जाने जा रहे है । इसी तरह आत्मा निश्चयसे अपने आपको ही जानता है और व्यवहारसे सब पदार्थो को जान रहा है । जानना यही उसका काम है, इससे बाहर कुछ नही होता । इसके जानने मे ही ऐसी विशेषता है कि सारे विश्व विषय कहलाते उस समय यह कहा जाता कि ज्ञान ने सारे विश्वको जाना । वह ज्ञान आत्मासे अभिन्न वस्तु है । वह सारा ज्ञान आत्मा ही है । आत्मा और उसकी तरग ऐसी हो रही है । जितने जीव है सब स्वय चैतन्य भगवान् स्वय ज्ञानवान् सब परमेश्वर सबके अन्दर अनन्तज्ञान स्वभाव मौजूद है, पर कषायोके कारण अपने ज्ञानको तिरोहित किये रहता है । परन्तु मै पर पदार्थका कुछ भी नही कर सकता हू । पुण्य, पाप, सुख, दुःख, अमुक आत्माको कर सकता हू, ऐसे बाह्यदृष्टिके यह सब कथन एक बार भी 'यह भ्रम है, समझ हो जाय और निश्चयसे आत्मा कर क्या सकता है यह

समझ ले तो इसका ससारभ्रमण नष्ट हो जाय और अपने आपको परमेश्वरके रूपमे प्रगट पा सके।

वस्तुस्वातन्त्र्य—जैसे एक अणु पाँच डिगरीके स्निग्धवाला और दूसरा अणु तीन डिगरीके रूक्ष वाला हो दोनोका मेल हुआ तो दोनो स्निग्ध बन जाते। तो वह ५ अंश वाला परमाणु अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे है, दूसरा रूक्ष परमाणु बदलकर स्वय स्निग्ध अवस्थामे आ गया। वे अन्य स्निग्धकी परिणतिसे स्निग्ध नही बने। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कभी नही बन सकता। एक अणु दूसरे अणुको नही परिणमा सकता किन्तु दूसरे अणु का प्रभाव ऐसा पडा कि उसका सग पाकर स्वय रूक्ष भाव छोडकर स्निग्ध भावमे आगया। वह भी मात्र निमित्त हुआ और अपने आप अपनेमे अपने रूपसे परिणम गया। सब जीवोकी सब द्रव्योकी सब अणुओकी यही व्यवस्था है। मोही जीव ऐसा मानता कि इसकी वजहसे ही सब कुछ होता। उसकी वजहसे ही ससारका पालन होता है। इसलिए ही वह दुखी होता है। ज्ञानके अतिरिक्त दुनियाँमे सुखका कर्ता कोई नही है। ज्ञान वही है जो वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपको प्रतिभासित करता है। केवलीके तीनो लोकका भी ज्ञान आ गया फिर भी पूर्ण अपने आप रूप है परोक्षमे नाना प्रकारसे तीन लोकका भी ज्ञान करो और वहाँ उस ज्ञानमे स्वतन्त्रताका बोध नही है तो वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नही है जो शाति दे सके। विद्या पढने वालोके वस्तुस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा नही हो तो तभी इस तरह झगडा लट्ठबाजी हो जाती। क्या बात है ? जहा वस्तुकी स्वतन्त्रताका बोध है वहाँ ही शान्ति है। वस्तुकी स्वतन्त्रताके बोध के बिना विडम्बना पैदा होती है। स्वातन्त्र्य जाननस्वरूप निश्चलताकी भावना रहती और यही प्रयत्न होता है अपने सम्बन्धमे खूब मनन करो कि मैं अपने जानन अनुभवके अतिरिक्त कुछ भी नही करता हू।

कर्ताकरणकी अभिन्न शक्ति—आत्माकी जो कर्ता और करणकी अभिन्न शक्ति है वही है परमेश्वरता सदैव इस परमेश्वरतासे सहित रहने वाला आत्मा परमेश्वर है। ऐसा परम ऐश्वर्य है कि इसको अपना काम करने के लिये दूसरी वस्तु आवश्यक नही होती। वह अपना ही काम करता, खुद ही करता, खुदके लिये करता और खुदमे करता, लोकमे भी कहते कि वह गाँवका जमीदार अथवा गाँवका ईश्वर है। जमीदार वह है जिसे अपनी पूर्तिके अर्थ परकी अपेक्षा नही करनी पडती जो भी उसकी आवश्यकताए होती है वह अपने खेतसे पैदा करके निकाल लेता है। उसीको लोकमे जमीदार या ईश्वर कहा करते है। इसी तरहसे यह आत्मा निश्चयसे अपना काम अपने द्वारा अपने लिये अपनेमे ही करता है, इस आत्माको अपना काम करनेके लिये परपदार्थ की अपेक्षाकी आवश्यकता नही होती। इसलिए आत्मामे परम ऐश्वर्य पाया जाता है। आत्मा अभिन्न है, कर्ता भी है और करण भी है। सब कुछ

शक्ति वह एक ही है । यहाँ भी आत्मा द्रव्य तो एक है और पर्याय की जो तरगे होती है उसीमे छहो कारक लग जाते हे । इसलिए आत्मा जो खुद जानता है वही ज्ञान है । उसमे कर्ता और करणकी भिन्न प्रसिद्धि नही है ।

ज्ञानका व्यपदेश—आत्मामे जाननेकी खूबी होनेके कारण आत्मामे ज्ञानका व्यपदेश होता है । आत्माका काम जानन है । आत्मामे जाननेकी क्रिया पाई जाती है । इसलिये ऐसा व्यपदेश करते है कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता । वह ज्ञान आत्मासे अलग नही, परँतु आत्माकी एक जाननेकी क्रिया देखकर यह कहा जाता कि आत्मा ज्ञानसे जानी जाता । आत्मामे जाननेकी क्रिया देखकर यह कहा जाता कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता । परन्तु जैसे भिन्न दाँतलीसे द्वैत बासको काटनेका काम होता है इसी तरह भिन्न आत्माके स्वभावसे ज्ञायक होता है यह बात नही है । वह तो स्वय ही काम करता है । वहाँ ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना यह कथन सहन नही हो सकता । आत्मा है जानता है, जाननेकी आत्माकी क्रिया देखकर यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है । अग्निकी जैसे गर्मीकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि गर्मीके द्वारा जलाता । उसी तरह आत्मामे स्थित ज्ञानकी जाननेकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता । परन्तु आत्मा और ज्ञान जुदा जुदा तो नही है यदि ज्ञान अलग चीज मान ली जाय और आत्मा भी अलग चीज मान ली जाय, और आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता यह बात भी मानली जाय, तो आत्मा अलग और ज्ञान अलग है इसलिए आत्माके बिना ज्ञान अचेतन और ज्ञानके बिना आत्मद्रव्य अचेतन, अर्थात् आत्मा तो ज्ञानके बिना अचेतन हो गया और ज्ञान आत्माके बिना अचेतन हो गया परन्तु यदि दोनो अचेतनोका सम्बन्ध भी कर दिया जाय तो भी कभी जाना ही नही जा सकता इसलिए ऐसी बात नही कि आत्मा और ज्ञान अलग-अलग चीजे है ।

कल्पनामे भेदकी नियामकताका अभाव—कभी कभी अपनी बुद्धिके द्वारा यह जीव कल्पनाए कर लेता परन्तु उस कल्पनासे द्रव्यमे भेद नही पडता । जैसे कहते है कि एक समय मे परमाणु १४ राजू गमन कर जाता है, वहाँ भी ऐसा लगता कि उसने एक साथ ही सारे क्षेत्र नही छुये और क्रमश उठ उठकर ही गया होगा तो उसमे कितने ही समयोके द्वारा हिस्सा हो गया पर वहा ऐसी बात नही । समयसे कोई कम काल नही होता । जैसे कोई एक घटेमे १० कोस जाता और कोई एक दिनमे दश कोस जाता । जैसे १० कोस जानेमे घन्टा भी लग गया और एक दिन भी लग जाता, इसी तरहसे अन्तर्मुहुर्तमे भी चला जाता और एक समय भी १४ राजू जानेमे लग जाता । इस तरह बुद्धिमे कल्पनाभेद होने पर भी समयके टुकडे नही होते । इसी तरहसे आत्मा और ज्ञानमे भी गुण और गुणीकी कल्पना होने पर भी गुण गुणीके टुकडे नही हो जाते कि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हो जाते हो-

यदि ये अलग अलग हो जाते तो एक दूसरेके बिना दोनो अचेतन रह जाते और दोनो अचेतनो के सयोग हो जानेपर भी काम नही हो सकता। जैसे यदि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हो और वह आत्मा ऐसे ही ज्ञानके द्वारा जाना करता हो तो फिर ये घट पट आदि चीजें भी क्यो नही जाननेका काम करती। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मासे जुदी चीज नही। इसलिये आत्माको अधिकार है कि वह ज्ञानके द्वारा जाने। घटपट आदि इसलिये नही जानते कि वे ज्ञानसे आत्मासे जुदा है। ज्ञान इस तरहसे आत्मासे अलग नही है, तब आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है यह भेद बिल्कुल नही सहन होता ऐसा आचार्योंने बताया क्योकि वहा कर्ता और करणमें कोई भेद नही है। आत्मा तो अपने द्वारा जानता भी क्या? परिणमता है। अपनेमे अपनेको जानता है, वहा और कोई दूसरी चीज ही नही हो सकती।

वस्तुकी शुद्ध निजरूपता—जैसे अग्नि जलती है। अग्निकी जलनेकी क्रियाको देख कर यह व्यपदेश किया जाता है कि वह अग्नि अपनी गरमीके द्वारा जलती परन्तु वह अग्नि और गर्मी अलग अलग नही है। साधन तीन होते है कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन ज्ञानमे यह तीनो साधन वर्तमान है जो जानता सो ज्ञान, जिसके द्वारा जानता सो ज्ञान और जो जानना है सो ज्ञान। यह सब कहनेपर आत्मा ही पकडमे आता। वह आत्मा एक जगह कर्ता एक जगह करण और एक जगह भावकी मान्यतासे ऐसा कहा गया। आत्मा और ज्ञान अलग अलग माना जाय तो कोई बात ही नही बन सकती। जो कुछ जानन है सो वह आत्मा ही है परन्तु उसको समझानेके लिये ऐसा कहा गया कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। आत्माको तो देखो उसमे कुछ जोडा तोडा कि अशुद्धता आ गई जैसा कि विकल्प रूप अनुभव मे नही आता। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शुद्ध आत्मा क्या है? शुद्ध आत्मा क्या इसके उत्तरमे कहते कि जो यह आत्मा स्वतः शुद्ध है अनादि है अनन्त है नित्य प्रगट है चैतन्य-स्वरूप है वह आत्मा है। इस आत्मामे रहने वाला जो ज्ञान सामान्य है वह तो नित्य प्रगट है। ज्ञानसामान्यको यह जरूरी नही कि शुद्धपर्यायमे था व ऐसा ज्ञान रहा तो उसका नाम यह कहलाया। वह तो अनादि अनन्तके सारे ज्ञानपर्यायोमे एक तत्त्वसे रह रहा तो उसे ज्ञान सामान्य कहते है। ज्ञान सामान्य जिसका कि दर्शन करनेसे हममे सम्यक् दृष्टि पैदा होती है वह ज्ञान सामान्य प्रकृतिसे घट घटमे अब भी राबके मौजूद है, जिसके दर्शन करनेसे आत्माका भ्रम दूर हो जाता है अनन्त ससार मिट जाता है, ऐसा वह ज्ञानसामान्य भगवान सबके अन्दर सदा प्रगट है जो स्वत सिद्ध है, अनादि अनन्त है, नित्य प्रगट है ऐसा जो ज्ञायक भाव ज्ञान सामान्य ससारके सब प्राणियोमे अवस्थित है यद्यपि अनादि कालसे कर्मबद्ध होनेके कारण भ्रममे पड़ा है फिर भी द्रव्यके स्वभावसे वह शुद्धरूप या अशुद्धरूप नही परिणमता है। वह परिणामिक वस्तु है उसे कषायसहित या कषायरहित

भी नही कहा जा सकता । वह ज्ञानस्वभाव अन्यव्यपदेश रहित है । यह तो जो है सो ही है ज्ञान सामान्यमे व्यपदेश नही लगते यह ज्ञान सामान्य आत्मा ही शुद्ध आत्मा कहलाता ।

ज्ञेयनिष्ठताके कारण भी ज्ञानमे अशुद्धताका अभाव—किसीने पूछा यह ज्ञान ज्ञेयमे रहता इसलिए तो अशुद्ध होगा जैसे अग्नि ईंधनमे रहती है तो नाना प्रकारकी लम्बी, गोल, आदि हो जाती है । इसी तरह यह आत्मा ज्ञेयोमे रहता है । जैसे ईंधनके सम्बन्धसे अग्नि नाना रूप हो जाती है और अशुद्ध हो जाती है, उसी तरहसे यह ज्ञान जब ज्ञेयमे जाता है तो वह ज्ञान भी अशुद्ध हो जाता होगा । परन्तु कहते है कि नही । अग्नि भी अशुद्ध नही होती और ज्ञान भी अशुद्ध नही होता अग्नि कितनेका नाम है ? जो गोल गोल है लम्बी है सो अग्नि नही है, अग्नि तो उष्णत्व धर्म करके समवेत जो वस्तु, सो अग्नि है । यह लम्बाई चौडाई है सो तो परकी है, अग्नि तो स्वय अग्नि स्वरूप है । अग्निमे भी अशुद्धता नही । इसी तरह ज्ञानका स्वरूप केवल प्रतिभास है । उस स्वरूपसे ज्ञान भी शुद्ध है । आत्मा विश्वको ज्ञेयकी अपेक्षासे नही जानता इसकी तरगमे या स्वभावसे ही अन्तरगमे विश्वके सारे ज्ञेय जाननेमे आ गए । परन्तु वह ज्ञान तो शुद्ध है ।

विविध गुणोकी प्रतिष्ठासे अशुद्धताकी असंभावना—फिर इस जगह प्रश्न किया जा सकता कि आत्मामे दर्शन भी होता, ज्ञान भी होता और चारित्र भी होता, इस लिए भी तो आत्मा अशुद्ध है । दर्शन, ज्ञान, और चारित्र, इन तीन गुणो वाला यह आत्मा है, इससे तो आत्मामें अशुद्धता आ गई । जो एक नही रहे और उसमे दूसरी बातका सम्बन्ध आजाय तो उसे अशुद्ध कहते है । इसलिए आत्मामे एक गुण नही रहा और तीन गुणोका सम्बन्ध हो गया, इसलिए यह बिल्कुल अशुद्ध हो गया होगा । तब उत्तर देते कि नहीं, व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता कि आत्मामे ये तीनो गुण विद्यमान हैं । निश्चयनयसे तो सम्यक्त्वानुभव द्वारा अनुभवसे जो समझमे आये, उस निश्चयकी दृष्टिसे इस आत्मामे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की भी अशुद्धता नही है ।

अभेदानुभूतिमे स्वभावानुभव—आपको आत्माका अनुभव करना है तो जब तक आपमे आत्माके सम्बन्धमे यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिकी भेदबुद्धि रहेगी तब तक आत्मा के निर्विकल्प स्वभावका अनुभव नही होता । जहाँ इनकी कल्पना भी दूर हो जाती है और केवल सवेदन भाव रहता, ऐसी हालतमे कहते है कि आत्माको जाना । जैसे हलुआ बना उसमे पानी, घी, शक्कर, आटा, आदि वस्तुऐं पडी । जब तक आप घी, पानी शक्कर, आटा, आदिपर दृष्टि डालते रहो चर्चा करते रहो तब तक आपने मानो हलुवा खाया नही और खाया भी तो हलुवेका जैसा स्वाद आना चाहिएं था वह स्वाद नही आया । जिसकी आटेमे अलग घीमे अलग, पानीमे अलग, सिकनेमे अलग दृष्टि है, उसको हलुवेका स्वाद नही आता और

जिस समयमें एकचित्त होकर आँखे मीचकर स्वादमे ही आसक्त हो गये उस समयमें केवल स्वादका ही अनुभव है और सब अन्य चीजोमे उसका अनुभव नही है उस समय उन सब चीजोकी छाँट नही होती। हलवेके पूरे स्वादके समय छाँट नही होती इसी तरह आत्माके पूर्ण अनुभवके समयमे आत्माकी छाँट नही होती। आत्मानुभवके समयमे ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक अन्तस्तत्त्वका अनुभव रहता जिसमे अनत आनदका अनुभव सहचर है।

गुणोकी व्यवहारनयसे सिद्धि—व्यवहारनयसे बतलाया गया कि आत्मामे सब गुण है परन्तु निश्चयसे दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण भी आत्मामे नही बतलाये, निश्चयसे आत्मा अनन्तगुणात्मक नही है, वह तो एक अद्वैतरूप है। व्यवहारसे आत्मा अनन्त गुणात्मक है। आत्माका निश्चयसे एक अद्वैतरूप है। अनन्तगुणात्मक आत्मा होते हुए भी उसमे निश्चयको ढूढ रहे है। सम्यक्त्व अनुभवके कालमे जो स्थिति होती उसमे बुद्धिको ले जाना निश्चयनयका प्रयोजन है। इस वजहसे कह देते कि आत्मामे न दर्शन है, न ज्ञान है, और न चारित्र है। आत्माके स्वादमे आत्माके अनुभवमे विभाव पर्यायोकी तो चर्चा दूर रही, अशुद्धता यह कहना तो दूर रहा, उसमे तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोके भेदरूप अशुद्धता भी नही बताई वह तो दर्शन ज्ञान और चारित्रकी कल्पनासे रहित शुद्ध है। इन गुणोके निषेधसे आत्मामे निश्चयनय आ गया और इनको कहनेसे व्यवहारनय आ गया।

यथावत् स्वरूपकी अवक्तव्यता—जैसे खेल देखकर आये तो उस खेलका वैसे ही वर्णन करो, वैसाका वैसा ही बताओ। जिससे वैसा ही हमको भी समझनेमे आवे। भारी प्रयत्न करते और बता नही सकते। उसी तरह आत्माकी भी वही चीज बतलाओ, जिसमे बहुत काल तक भूलते रहते हो, परन्तु काफी प्रयत्न करनेपर भी आत्माका स्वरूप ठीक तरह नही बता पाते। आत्माकी ऐसी स्थिति बतलाई कि वहाँ तो एक अभेद स्वाद ही है, आचार्य ऐसा कहते कि वहाँ तो केवल अनाकुल सवेदन है, आत्मामे वहाँ तो केवल अनाकुल सुखरूप सवेदन है और कुछ नही।

शुद्धात्मानुभवका हितकर्तव्य—तब अपनेको आत्माके अनुभवके लिये क्या करना है? अपनेको शुद्ध आत्मारूप अनुभव करना है, तो धन वैभव आदिसे अपनेको कुछ नही समझना। इनके कारण तो यह आत्मा कुछ भी नही है। इनसे कुछ बननेकी तो बात जाने दो, इनसे कुछ नही हो रहा है, इनके सम्बंधसे अपनेको बिल्कुल अलग रखना, ऐसा जानकर जितने भी परपदार्थ हैं, धन वैभव आदि सबसे न्यारा मै एक अलग ज्ञानमय हूँ, आत्मा हू, पहले तो ऐसा विचार करो, फिर यह विचार करो यह एक ऐसा पिड है जो शरीरके छूट जानेपर भी उसमे एक तैजस कार्माण लिये हुए होता है, वह मुक्तिसे पहले नही छूटता, वहाँ उसके अदर अनादि अनत ज्ञानस्वभाव पृथक् है, यो मुझमें तैजस कार्माण शरीर भी नही रहा। शरीर दो होते हैं—

सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर जिस समय छोड गया, उस समय सूक्ष्म शरीर तैजस कार्माण रूपसे रहा, परन्तु अनादि अनन्त ज्ञानसामान्यके जाननेके बाद वह सूक्ष्म शरीर भी अब नही है और आत्मामे अनन्तगुणोका पिंडरूप एक मै रह गया। वहांपर कर्मकी पर्याय भी मै नही हू। रागद्वेष आदि पर्याये भी नही है। इनसे अपनेको जुदा करनेपर मति श्रुतज्ञान रह गया। श्रुतज्ञानकी गुणोके स्वभावरूप अधूरी अधूरी पर्यायें भी जो है इनसे भी अपने आपको अलग करके इस रूपमे भी नही हू इनसे भी न्यारा आत्मतत्त्व है। तब केवल ज्ञानरूप उसकी स्वभाव पर्याय कहलाई यहाँ भी केवल तरग बता दी। केवलज्ञानकी पहिलेसे सत्ता नही थी। केवलज्ञान हुआ तो क्या जबसे सत्ता हुई ? सत्ता तो मुझमे पहले भी मौजूद थी इसलिए केवल ज्ञानकी पर्याय रूप भी मै नही हू। दर्शनज्ञानचारित्र आदि जो गुण तीन काल चलते है इन गुणोके रूप भी मैं नही हू क्योकि ये गुण तो कल्पनासे न्यारे न्यारे कर लिये गये है, चीज तो एक है। एक चीजकी तरगसे चल रहे है। उस एक चीजको बतानेके लिए आचार्योने यह बताया कि आत्मामे ज्ञानशक्ति दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति मौजूद तो है परन्तु वह भी कल्पनामात्र है क्योकि आत्मा तो एक निर्विकल्प द्रव्य है उसके एक स्वभावके ये भेदमात्र है आचार्योने व्यवहारसे भेद करके एक अभेद स्वरूप समझानेका प्रयत्न किया। मैं तो एक ज्ञायकरूप हू, एक ज्ञानस्वभाव मैं हू, ऐसा वह मैं शुद्ध हू, इस शुद्धताका लक्ष्य आ जानेसे पर्यायमे निर्मलता आती है। बाह्यपदार्थोंका अनुभव करनेसे निर्मलता नही आती। इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिके भेद भी अनुभव मत करो। इन सबकी घाटीको पार कर एक अद्वैतरूप उपयोग रहता तब यह आत्मा शान्तिका स्वरूप होता। उन सबकी छाटसे या अपनी छाटसे यह स्वरूप हुआ।

द्रव्य एक, काम एक—यहाँ तो यह बात बतलाई कि मैं वह हू जो है भगवान, अर्थात् जो मैं हू सो केवली है और जो केवली है सो मैं हू। प्रकृतमे यहा मै के मायने श्रुत केवली लगाया। केवली और श्रुतकेवलीमे कोई अन्तर नही। निश्चयदृष्टिसे ही ऐसा है। निश्चयसे देखो तो केवली भी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानता और मै भी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी आत्माको वह भी जानता और अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी आत्माको मैं भी जानता। काम एक है, केवल आत्माको जाना। दोनो ही इसके आगे कुछ भी काम नही कर सकते। केवली अनन्त शक्तिमान है तो भी अन्य कुछ भी नही कर सकता। वह पर पदार्थोंमे अपने ज्ञानगुणका पयोग नही कर सकता, वह तो केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करता, इसी प्रकार हम भी केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करते और परपदार्थोमे अपने ज्ञानगुणका प्रयोग नही कर सकते। केवली के केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करनेके कारण उसके जाननेमे विश्व आ जाता। इस

तरह ज्ञानके आधारभूत निज आत्मापर ही सबका प्रयोग होता, यदि विकल्प अतत्त्वको छोड दे तो वही स्वच्छता, सर्वज्ञता आ धमकेगी। मै भी क्या करता ? खुदको ही प्रयोज्य मानकर ज्ञान कर पाता हू। निश्चयसे मै भी और केवली भी परिणतिविधिमे समानता रखते है।

स्वरूपनिर्णय—केवली केवलज्ञान द्वारा जानता और मै श्रुतज्ञानके द्वारा जानता। ऐसा कहनेमे तो बडा भारी फर्क आ जाता है। दोनो ही जाननेके द्वारा जानते है। फिर यह श्रुतकी उपाधिसे भेद क्यो पड गया ? क्योंकि निश्चयसे ज्ञानमे श्रुतकी उपाधि भी नही। इससे यह मतलब निकला कि केवली भी ज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता और मै भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। केवली और मै दोनो ही ज्ञानके द्वारा आत्माको जानते, ऐसा कहनेमे भी वह ज्ञानका साधकतम लग गया। परन्तु वह ज्ञान तो आत्मासे अलग कोई साधन नही। आत्मा और ज्ञान अलग अलग नही है। इसलिए वह आत्मा अपने ही तरगसे अपने आपको जान रहा। परन्तु जान रहा ऐसी अलग कोई किया भी नही है तो। वह तो अपने आपको जानने वाला हो रहा है। वह तो अपने ही द्वारा अपनेको अपने लिये अपनेसे अपनेरूप काम करता। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कौन है इसकी कल्पना करना भी ठीक नही ज्ञान तो जो है सो ही है। स्वरूप जाननेका निश्चय रहना चाहिये और कल्पनामे नही पडना चाहिये। आत्माके अनुभवसे पराङ्मुखकी काल्पनिक सब दशाए है।

संतोकी वाणीमे स्याद्वाद हितवाद—आचार्य महाराज इतने दयालु है कि कोई भी वर्णन करनेपर निश्चयकी हद हो जाय, तो व्यवहारकी पुट लगा देते है। व्यवहारका वर्णन करते-करते जब बहुत उलझनकी बात हो जाती है, तो वहाँ भी एक निचश्यकी बात लगा देते है। समयसारमे एक जगह पूछा कि आत्मा करता किसे है ? जैसे समुद्रमे लहर उठी तो वहाँ पूछते है कि समुद्रकी लहरका कर्ता कौन है ? यद्यपि लहरके कर्ताका उत्तर देगे तो दो उत्तर आएगे कि समुद्रकी लहरका कर्ता एक तो समुद्र है और दूसरी हवा है, दोनो उत्तर आएगे। जब यह सिद्ध करना है कि समुद्रको लहरका कर्ता समुद्र है तो कहते कि यद्यपि हवाके निमित्त से समुद्रकी लहर उठती है, तो भी हवाका समुद्रसे व्याप्य व्यापक भाव नही है, इसलिए कर्ता कर्मपना उसमे नही हुआ। जल ही लहरका कर्ता है यह सिद्ध किया। पर पहले तो यह कह दिया कि यद्यपि हवाके निमित्तसे वह लहर होती है तो भी जल ही लहरका कर्ता है और जब यह सिद्ध करना है कि हवा ही लहरका कर्ता है तो कहते कि यद्यपि उपादानसे जलमे ही लहर उठती है तो भी हवाके बिना लहरकी क्रिया नहीं हुई, इसलिए हवा ही लहरका कर्ता है। यह ही आचार्योंका हाल रहा कि पहले तो एक बातको कह देते कि यद्यपि ऐसा है, फिर दूसरी बातको सिद्ध कर देते, परन्तु ऐसा होनेसे ऐसा ही है। ये दोनो बाते असिद्ध नही है एकमे अन्तर्दृष्टि है, दूसरेमे व्यवहारदृष्टि है। अभी तकके वर्णनको सुनकर यह बात समझमे

आई कि आत्मा अपने द्वारा जानता और अपनेको जानता, बाहरी कोई काम नही करता । अब कहते है ज्ञान सर्वगत है ज्ञान सर्व पदार्थोंमे रहकर भी उनसे जुदा होता । निश्चयके वर्णनमे व्यवहारका पुट लगा दिया । इसी तरहसे निश्चयके द्वारा उसी द्रव्यका एक अभिन्न स्वरूप बताया जा रहा है उसके बतानेसे व्यवहार मिट रहा है तो मिट जाओ उसकी अभी परवाह नही, काममे निश्चयनयके द्वारा वस्तुके अभेद स्वरूपको पकडे रहो । इस स्वरूपको पकडनेके बाद कहते कि इसमे तो व्यवहारका नाम उड जायगा, किन्तु यह विचार लाओ, वस्तुके निश्चय स्वरूप जाननेकी ड्यूटीमे हो तो वही करो ।

स्वयंपरिणमनकी दृष्टि—अपनेसे भिन्न जो ज्ञेय पदार्थ दुनियाभरके है, उनके आकारके समान परिणमित हुआ यह ज्ञान, इस ज्ञानमे गर्भित जो ज्ञेयाकार समस्त ज्ञेय है, उन समस्त ज्ञेयोके आकारमे परिणत हुआ ज्ञान, सो ज्ञान तो स्वय परिणम रहा । इसका कार्य क्या हुआ ? यहीके रहने वाले ज्ञेयाकार याने इन पदार्थोंके कारण हुए ज्ञेयाकार । फिर उसकी आकृतिसे यह बतलाते है कि ज्ञानके कार्यके बाह्य कारण होनेके कारणसे ऐसा कहा जाता कि सारे पदार्थों को ज्ञान पहिचान गया । ज्ञानके कार्यके कारण होनेसे यह सारे पदार्थ ज्ञानमे आ गए । निश्चय से तो ऐसा ही है कि ज्ञान खुद काम है, और कोई बातें मत कहो । ज्ञाता और ज्ञान इसके विभाग करनेका क्लेश उद्योग कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? केवल अपने ज्ञानस्वभावको देखो, निरखो, अनुभव करो और सब प्रकारके विकल्पो और वासनाओंको न करो । ऐसी अवस्था होनी पडती है, वहाँ शातिमार्ग है, जिनकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंमे पडी हुई है, उनका तो कुछ ठिकाना ही नही । अद्वैत परमशान्तिके वास्ते ज्ञानके विभाग नही करना चाहिये । शातिका यह मार्ग निर्णीत होनेपर जान ही गये होगे—बाह्य पदार्थोंसे कुछ नही आता जाता । जैसे सब आदमी चाहे लखपति हो, चाहे गरीब हो, वे आधा सेर अन्न ही तो खाया करते है, इसी तरह केवली और श्रुतकेवली दोनो ही एक कार्य करते हैं । तो बाह्य पदार्थोंमे इतना विकल्प दौडाने से कोई सिद्धि होनेकी नही । इसलिये सब तरफसे अपना उपयोग हटाकर एक इसी आत्मस्व-भावमे बुद्धि लगाना है । मुझे अब बाह्य ज्ञानकी आकाक्षा नही । अब मैं मोही नही रहना चाहता, ऐसा सोचो, किसीसे ऐसा कहनेकी भी जरूरत नही । ज्ञानके अन्दर अपने आप दृढ हो जाओ उस अमृतको अपने आपमे बढाते रहो और अपनेको निर्बाध शातिके मार्गपर लगाओ ।

अब ज्ञानके बारेमे अनेक विचार कर लेनेके बाद यह बतलाते है कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ?

तम्हा णाणं जीवो णेय दव्व तिहा समक्खाद ।
दव्वति पुणो आदा पर च परिणामसबद्ध ॥३६॥

ज्ञान और ज्ञेयका विभाग—जिस कारण कि ज्ञानके रूपमे परिच्छेदकके रूपसे स्वय हो

परिणाम परिणाम करके आत्माके स्वतन्त्र स्वरूपसे ही यह जीव जानता है। इसलिए जीव ही ज्ञान है। क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है? इस बातका वर्णन करते है कि ज्ञान तो जीव है और ज्ञेय जीव स्वय भी है और सारे जगतके पदार्थ भी है। जीव ही ज्ञान है, जो जाननरूपसे स्वय परिणाम परिणाम करके स्वय ही जानता है, स्वय स्वतन्त्र होकर जानता। घटपट आदि पदार्थ तो ज्ञान नही है। केवल जीव ही ऐसी विशेपता रखता है कि वह स्वतन्त्ररूपसे परिच्छेदरूपसे परिणमता स्वय जाननरूपसे परिणमता रहता और ऐसे परिणमनमे वह स्वतन्त्र है। अपनी ही परिणतिसे जानने वाला यह जीव है, इसलिए यह जीव ही ज्ञान है। अनन्त द्रव्य जो ससारके है, ये कोई भी द्रव्य जाननरूपमे नही परिणम सकते और जब जाननरूपसे परिणमनेमे असमर्थ है, तो वे नियमसे अजीव अज्ञान अचेतन कहलाये। जीव ही केवल जानने वाला है, जानन क्रियासे अभिन्न स्वरूप जीवका ही है, परपदार्थोका जानन स्वरूप नही है। रेडियो या रिकार्डोमे कितने ही शब्द भर दो, पर जाननकी ताकत वहा भी नही है, यदि रैकार्डसे प्रश्न करो और वह उसका उत्तर दे दे तो देख लो, जाननकी बात उसमे कुछ भी नही आती इसलिए वह अजीव है। उसमे शब्द वर्गणा ऐसी ऐसी भरदी जिसके निमित्तसे उसकी बोली निकलती है वह बोलने वाला तो मालूम पडा फिर भी उसमे जाननेकी शक्ति नही। केवल अमूर्त जीव द्रव्य ही जाननेमे समर्थ है और कोई पदार्थ जगतमे जानने योग्य नही, जीव जाननेसे पृथक् कोई चीज होती ही नही। जाननका जिसमे स्वभाव या स्वरूप ही नही वह जीव ही क्या? जीव ही ज्ञान है और कोई पदार्थ ज्ञानरूप नही हो सकते।

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध—ज्ञेय कौन है? जाननेमे आने वाले पदार्थ ही ज्ञेय है। जो हो चुका है जो हो रहा है जो होवेगा ऐसे नाना पर्यायोकी परम्परामे चलने वाले जितने द्रव्य है वे सब द्रव्य ज्ञेय पदार्थ है। ज्ञेय दो प्रकारके होते है एक तो जीव खुद द्रव्य है इसलिए वह ज्ञेय और जगतके अन्य पदार्थ द्रव्य है, इसलिए वे भी ज्ञेय अर्थात् ज्ञान तो हुआ यह स्वय आत्मा और ज्ञेय हुए यह आत्मा स्वय और जगतके अन्दर रहने वाली अनन्त आत्माए और अनन्त पुद्गलद्रव्य आदि परन्तु जानने वाला केवल मै ही हूँ। ज्ञानका आलम्बन पाकर यह पदार्थ ज्ञेय कहलाता और ज्ञेयाकारको आलम्बन पाकर यह जीव ज्ञान कहलाता इसी तरहसे ज्ञान और ज्ञेयका ज्ञायकज्ञेय सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमे ज्ञान तो एक ओर रहा और जगतके सारे पदार्थ और स्वय जीव ज्ञेय एक ओर रहे। इन सारे पदार्थों और इस ज्ञानके साथ ज्ञाता ज्ञेयका सम्बन्ध चल रहा है। यह ज्ञान स्वय ज्ञेय बन रहा है और जगत पदार्थ भी ज्ञेय बन रहे है।

कर्ताकर्मकी अविशेषता—यहाँ यह शका की जा सकती है कि पहले तो अभेददृष्टिकी बात चल रही थी—कर्ता और करणमे भी भेद नही, आत्मा और ज्ञानमे भी भेद नही, चर्चा

चल रही थी, फिर यह बतलाते कि ज्ञान और ज्ञेय क्या है ? ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जगतके पदार्थ है । इतनी भी मोटीसी बातके वर्णन करनेकी बात क्यो चल रही है ? इसका उत्तर देते कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ? यह बतानेमे यहाँ एक भारी बुद्धि और महत्त्व की बात भी निहित है । वहा ज्ञान और ज्ञानीमे अविशेषता दिखलाई, ज्ञान और कर्तामे भी अविशेषता दिखलाई, यहा ज्ञान और कर्ममे अविशेषता दिखा रहे है, वही एक जीवद्रव्य स्वय ज्ञान भी है और स्वय ज्ञेय भी है । ज्ञान भी स्वय है, और ज्ञानका प्रयोग जिसपर हुआ, वह ज्ञेय भी स्वय है । कर्ता और कर्मका अभेद दिखानेका इस वर्णनमे प्रयोजन है, इसलिए प्रकरणके विरुद्ध यह गाथा नही, वस्तुत तो ज्ञानका ज्ञेय, ज्ञानके परिणमनको छोडकर अन्य पदार्थ होते नही है, किन्तु जिन पदार्थोंके आकारवत् ज्ञानमे ग्रहण हुआ, उन्हे ज्ञेय उपचारसे कहते है ।

परमार्थतः स्वकी क्रियाका स्वमे ही प्रयोग—अब यहाँ शका उपस्थित होती है कि यह ज्ञान स्वय जानने वाला है, और यह ज्ञान स्वय जाननेमे आ गया यह बात समझमे नही आई । खुदकी क्रियाका प्रयोग खुदमे हो रहा है, ऐसी बात तो उदाहरणमे भी नही मिलती । कुल्हाडीका काम लकडीको काटना है, परन्तु उसका यह काम तो नही होता कि वह खुद ही के दो टुकडे कर दे, इसी तरह ज्ञानकी क्रियाका काम जानना है, तो वह खुदमे जानन कर दे, यह कैसे हो ? खुदमे खुदका प्रयोगका क्या मतलब ? खुदकी क्रियाका काम खुदमे नही हो सकता, तब फिर यह ज्ञान आत्माका परिच्छेदक कैसे है ? यह जीव स्वयका जानने वाला कैसे है ? इस शङ्काका उत्तर देते है कि यह आत्माका जो जानन-काम है, वहाँ क्रिया क्या है, और विरोध क्या है ? क्रिया है जानना, तब विरोध क्या है ? जो विरोध करे, ऐसी क्रिया उत्पत्ति रूप है या ज्ञप्तिरूप ? कोई बात पैदा की, यह आत्माकी क्रिया है या प्रतिभास हो गया, यह आत्माकी क्रिया है ? जीवने अपनेमे अन्य उत्पन्न कुछ नही किया, किन्तु उसकी जाननरूप ज्ञप्तिरूप तरग हुई, यह जो तरग है वह तो प्रकाशन क्रिया रही तो प्रकाशन क्रिया मे क्या विरोध ? कुल्हाडीका काम दो टुकडे करना लगाते तो वहाँ विरोध होता, परन्तु कुल्हाडीका काम अपनी सत्तासे रहना है । काठके टुकडे करना तो निश्चयसे कुल्हाडीका काम ही नही, कुल्हाडीका परिणमन उसका काम है, क्या सत्तात्मक रहना । तो कुल्हाडीके इस कामको कुल्हाडी करती, यहाँ तो विरोध नही हो सकता । इसमे क्या विरोध है, इसी तरहसे काम यदि यह रखा कि आत्मा कुछ अपनेमे नवीन वस्तु पैदा करे, 'नवीन बात पैदा करे, तब तो विरोधकी बात है, किन्तु जब आत्माकी क्रिया केवल प्रकाश ही रखे, केवल जानन ही काम बतलाया तो याने उसमे जानन मात्रमे फिर क्या विरोध आया ?

स्वकी क्रियाका स्वमे प्रयोगका अविरोध—जो दीपक है, उसको खुदको प्रकाशमान

करनेके लिए दूसरे प्रकाश नही ढूढे जाते । अत: जहाँ भिन्न काम है, उस भिन्न काममे तो विरोधका प्रश्न हो, परतु अभिन्न काममे यह प्रश्न नही हो सकता, और फिर देखो भैया भिन्न काम तो उपचारसे माना है । वस्तुत: वस्तुका काम वस्तुसे अभिन्न ही होता । दीपक घटपट आदि पदार्थोको प्रकाशित ही नही करता, केवल खुदमे ही प्रकाश करता है, ज्ञान दूसरेका भी जानन करता और अपनेका भी जानन करता, ऐसी उसमे शक्ति है । दीपककी वह प्रकाशन क्रिया जैसे दूसरो और खुदपर भी अपना प्रयोग करती है । इसी तरह ज्ञानकी जानन क्रिया भी दूसरो और खुदपर भी प्रयोग करती है । जैसे कि दीपकका मतलब प्रकाशन किया, उसकी प्रयोग क्रिया खुद दीपकपर भी हो जाती है, अन्यपर भी निमित्तदृष्टिसे हो जाती है, प्रकाशन क्रियाका अपने आपमे प्रयोग करनेमे विरोध नही । इसी प्रकार जानन क्रियाका भी अपने आपमे प्रयोग करनेमे कोई विरोध नही । पहले यह तो देखो कि ज्ञानकी क्रिया है क्या ? ज्ञान की क्रिया प्रकाशन है, जानन है । जानन क्रिया ऐसी कोई हौवा नहीं है कि खुदके प्रयोग करनेमे कोई कठिनाई आया करे । दीपक जल रहा है, उसे उठानेका किसीने हुक्म दिया तो किसीने ऐसा विसवाद नही किया कि दूसरा दीपक दो जिससे उसे देखकर उठा लाऊ । दीपक को देखनेके लिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नही पडी जैसे दीपककी क्रिया प्रकाशन है, तो खुदकी प्रकाशन क्रियाका खुदमे विरोध नही है, इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया जाननका खुदमे भी विरोध नही आता । इसी प्रकार ज्ञान जानता है, तो सारे पदार्थ भी जाननेमे आते और खुद भी जाननेमे आता । जानन क्रियाका ज्ञानमे विरोध नही ।

निमित्तदृष्टिके व्यामोहकी अनुचितता—निमित्तदृष्टिका यह अनुचित व्यामोह है कि ऐसा मालूम देता कि अरे ज्ञानकी क्रिया अपने आपमे कैसे आ जायगी । भैया ! वस्तुके अखड सत्की खबर लो तो यह बात सहज समझमे आ जावेगी । प्रश्न तो यह किया जा सकना ठीक था कि ज्ञान अपनेसे भिन्न सत्ता वाले परपदार्थोको कैसे जान सकता सो इसका उत्तर तो उपचार मात्र है । यह बात हम खुद अनुभव करके भी देख सकते हैं कि हम भी हैं और दूसरे भी हैं 'जीवो और जीने दो' ऐसा हम खुद भी अनुभव करते है । यद्यपि जैनधर्ममे यह कहा कि न खुद जीवो और न दूसरेको जीने दो अर्थात् चतुर्गतिमे न खुद भ्रमण करो और न दूसरे को करने दो अथवा न खुद जन्म मरण करो और न दूसरेको जन्म मरण करने दो किन्तु यह यदि हम लोकमे कहे तो बडी आफत पैदा हो जाय । लोक सोचेंगे यह क्या बात कही जा रही है कि न खुद जीवो और न जीने दो । अच्छा, यह तो ठीक है कि न खुद मरो न मरने दो, किन्तु भैया जीना बद करोगे, तभी तो मरना बद होगा ।

आत्माकी स्वभावत: ज्ञायकरूपता—परपदार्थका परिच्छेदक जो यह आत्मा है सो यह आत्मा ज्ञेय पर पदार्थोको जानता है, ज्ञेय पदार्थको जानते हुए भी इस आत्माको खुदको

जाननेमे अन्य ज्ञानको नही ढूंढा जाता, क्योकि यहां स्वय ही ज्ञानक्रियाकी उपलब्धि है। जानन क्रिया खुद अपनी आत्मामे है तो जानन क्रियाको समझनेके लिए दूसरे जानने वाले ज्ञानको ढूढनेकी आवश्यकता क्या ? क्योकि स्वय ज्ञानक्रिया करके उपलब्धि होती। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय उत्पादव्यय वाले ये पदार्थ हैं अथवा ज्ञेय तो द्रव्य है ज्ञान पर्याय स्वरूप वस्तु है। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जीव खुद भी और अन्य समस्त अनतानत जीव भी तथा अनतानत पुद्गल व धर्मादिक हैं। यह जीव स्वय स्वतन्त्र होते हुए भी जानने वाला होता ऐसी खासियत दुनियाके और वस्तुवोमे नहीं होती। रेडियो रिकार्ड चलचित्र सब जगह ज्ञानका बिल्कुल अभाव है, शरीर भी जड है, उसमे जानन क्रियाका अभाव है, जानन क्रिया का सद्भाव केवल जीवमे ही होता जाननेकी क्रियाका परिणमन वाला केवल जीव है और कोई पदार्थ नही है, जगतके अन्य सारे पदार्थ मात्र ज्ञेय हैं।

प्रकाशक प्रकाश्यकी स्वनिष्ठता—इस प्रकार कर्ता और कर्ममे भी भेद मत डालो। ज्ञानमे श्रुतकी उपाधि भी नही लगती। यद्यपि प्रकरणवश निश्चयके बाद व्यवहारका प्रकरण चला दिया। इसमे भी निश्चयका पुट लगा है कि यह आत्मा ज्ञान तो है ही, परन्तु खुद भी ज्ञेय है। यहां ज्ञेय जाननेमे आने वाला है। दीपक प्रकाशक है और प्रकाश्य भी है। इसी प्रकारका ज्ञान याने जानना, जानने वाला भी है और जाननेमे आने वाला भी है। प्रकाशका काम एक ही ढगसे एक ही तरगसे चल रहा है। उसका परिणमन प्रकाशन कहलाता। आत्मा भी अपनी एक तरगसे है, एक जानन क्रियाको परिणाम करके सत् है, ऐसा वह आत्मा उसका वही परिणमन एक ज्ञायक ज्ञान और ज्ञेय है। तीनो बातें रूप स्वय एक ही कामको करने वाला आत्मा है। यह क्रिया क्रियावानको अभेद करके जैसा है समझाया गया है। इस तरहसे यह आत्मा ज्ञान है और ज्ञेय भी है। यह आत्मा स्वय ज्ञान है और यह आत्मा स्वय ज्ञेय है। दीपकका प्रकाश है सो वह तो एक है, पर वह प्रकाशक भी है और प्रकाश्य भी है। प्रकाशमे स्वय भी आ रहा है और प्रकाश करने वाला भी हो रहा है। इसी तरहसे ही एक ही जानन ज्ञायक और ज्ञेय बन रहा है। उसकी एक ही तरगके होनेसे ज्ञायक भी बन रहा और ज्ञेय भी बन रहा। वह स्वय जानने वाला है और स्वय जाननेमे आने वाला भी है। जैसे प्रकाशक दीपक अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावसे ही सत् है और प्रकाश्य परसे असत् है इसी प्रकार ज्ञाता भी अपने द्रव्यक्षेत्रकाल भावसे सत् है और ज्ञेय परसे असत् है। जैसे दीपककी उत्पत्तिमे ही पर निमित्त है किन्तु प्रकाशन क्रिया स्वतन्त्रतासे हो रही है वैसे ही ज्ञानपर्यायकी उत्पत्तिमे निमित्तमात्ररूप ज्ञानावरणका क्षय अथवा काल द्रव्य निमित्तमात्र होओ किन्तु जानन क्रियामे वह पूर्ण स्वतन्त्र है। षट् द्रव्योमे प्रधान एक जीव द्रव्य ही है। एक जीव द्रव्य न होवे और सभी द्रव्य बने रहे तो कोई भी व्यवस्था नही बन सकती।

आत्माकी सारभूतताका कारण—जगतके जितने भी द्रव्य है उनमें सारभूत एक जीव द्रव्य है। जीव द्रव्यकी तीन अवस्थाए होती है। वहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमे परमात्मा ही सारभूत अवस्था है। इस अवस्थामे भी दो अश द्रष्टव्य होते है, स्वभाव और तरग। इनमे स्वभाव ही सारभूत है, तरग नहीं। केवलज्ञानमे भी स्वभावको ही सारभूत माना है। उसी सारभूत तत्त्वका लक्ष्य करके भव्य जीव ससारसे तिर जाते है। तब आत्मा द्रव्यरूप रहा और आत्मा ज्ञानरूप रहा अर्थात् आत्मा ज्ञेयरूप रहा और आत्मा ही ज्ञानरूप है। वाकी जितने भी द्रव्य और ज्ञेय हैं वे सब आत्माके ज्ञेयरूप ही रहे। परन्तु मैं स्वय ज्ञेयरूप भी रहा और ज्ञानरूप भी रहा। आत्माके अतिरिक्त सारे द्रव्य मेरे लिये केवल ज्ञेय रूप है ज्ञानरूप नही। इसी तरह सबमे तत्त्व जानना। यह आत्मा तो जानने वाला है और ये सब जाननेमे आने वाले हैं। ज्ञानका भी ऐसा परिणमन है जो जाननेमें आया करे और जाना भी करें। जो जाननेमे भी आया करे और जानने वाला भी हो सके। आत्माके ज्ञानका आलम्बन करके यह पदार्थ ज्ञेय बनते हैं और इनके आकारका आलम्बन करके यह आत्मा ज्ञानरूप बनता है। इन दोनोमे ऐसा सम्बन्ध है। जैसे दर्पणके आगे मयूर अर्थात् मोर खड़ा हो गया तो उसमें मोरका प्रतिविम्ब आ गया। दर्पणने मोरको झलकता कर दिया। इस प्रकार दर्पणमे झलकानेकी शक्ति है और मोरमे झलक जानेकी शक्ति है। यदि इसका विरोध करो तो मोरको भीतके सामने खडा करदो तो वहाँ भीतमे झलकानेकी शक्ति नही है सो झलकता तो नही। अथवा दर्पणके आगे सारे अमूर्त पदार्थ पडे हुए है तो भी दर्पणमे वह काम नही बना जो पहले बन रहा था, तो कहा जाता कि उन अमूर्त पदार्थोमे झलक जानेकी शक्ति नही। जैसे झलकनेकी शक्ति वाला पदार्थ हो और झलकानेकी शक्ति वाले पदार्थ हो तो फिर उसमे झलकनेकी वात आती है। इसलिये ये सब पदार्थ झलकनेकी शक्ति रखते है और आत्मा झलकानेकी शक्ति रखता है और इस प्रकार ये सब पदार्थ आत्माके ज्ञानमे झलक जाते है।

पदार्थमे प्रमेयत्व गुणकी सार्थकता—अभी प्रश्न उठा है कि जगतके और जितने भी पदार्थ है उनमे प्रमेयत्व-ज्ञेयत्व धर्म बनानेकी आवश्यकता क्या है ? ये तो जड आदि पदार्थ है, जाननेमे आ गए। उनमे ज्ञेयधर्म माननेकी आवश्यकता क्या ? प्रमेयत्व धर्मकी क्या आवश्यकता है ? जैसा अस्तित्व है समझमे आता परन्तु प्रमेयत्व ऐसा कौनसा गुण है जो इसमे माना है। इसमे इसकी आवश्यकता क्या है ? उत्तर देते हैं कि जैसे मोरमे झलक जानेकी शक्ति नही होती तो दर्पणमे इसका प्रतिविम्ब नही होता। जगतके पदार्थोमें प्रमेयत्व धर्म नही होता तो ये जाननेमें नही आ सकते। इसलिये अन्य गुणोंके साथ प्रमेयत्व, गुण भी इन पदार्थोंमे माना गया है। इसी तरहसे यह आत्मा ज्ञान है और जगतके सारे पदार्थ ज्ञेय है

और आत्मा स्वय ज्ञेय भी है। इनका आलम्बन करके द्रव्यके ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञेयके आकारसे जो आत्माकी परिणति होती वह ज्ञान कहलाया।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता—ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध दोनोका रूखापन होने पर भी स्नेहत्व सिद्ध करता। ज्ञाता तो मै एक अकेला ही हू। मेरे ही जाननेमे अनन्त पदार्थ आते है। ज्ञान भी इतना शक्तिशाली बताया गया है कि उसमे सब पदार्थ आ जाते है, वह जानने से वजनदार नही होता। यदि अनन्त द्रव्य भी जाननेमे आवे तो भी वह हलकेका हलका ही रहता। लम्बाई चौडाई या वजन ज्ञानमे नही होता। वह तो गोल और लम्बाईको ग्रहण कर रहा है, इतना ही मात्र ज्ञानका काम है। किन्तु पदार्थोके आकारसे ज्ञान लम्बा चौडा हो जाया करे ऐसा नही। यह ज्ञान अमूर्त, सूक्ष्म और विलक्षण वस्तु है कि जगतके सारे पदार्थ इसके जाननेमे आते तो भी वह निर्मल और स्वच्छ है और वैसेका वैसा ही रहता है। यह ज्ञान समस्त परद्रव्योसे अत्यन्त प्रथक् रहता हुआ स्वय परप्रकाशक है। इस लोकमे ज्ञानमय आत्मा सर्वकी व्यवस्था बतानेवाला सारभूत तत्व है इस प्रकार ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता कही।

समस्त परिणमनोकी ज्ञानमें वर्तमानता—अब यह सिद्ध करेंगे कि अतीतकालमे हुए द्रव्योकी पर्याय और भविष्यकालमे होने वाले द्रव्योकी पर्याय ज्ञानमे वर्तमान पर्यायकी तरह ही प्रतिभासित होती। वर्तमानकी पर्याये भी वर्तमान हो जानेसे प्रतिभासमे नही आ रही है। वर्तमान होनेके कारण वर्तमान पर्याय सर्वज्ञके ज्ञानमे आये तो सर्वज्ञके ज्ञानमे परकी अपेक्षा हो गई। मतिज्ञान वर्तमानमें ही जान सकता। जैसे हमारे मतिज्ञानको वर्तमान नाना पर्यायकी अपेक्षा आवश्यक होती वैसे केवलीके केवलज्ञानको नाना द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा आ जायगी। फिर वर्तमान पर्याय केवलीके ज्ञानमे आए क्यो? इसलिए आये कि उनमे सत्ता है। सत्ता जो है, सत्ता जो होगी, और सत्ता जो थी, पर्यायकी दृष्टिसे सत्ताकी उनमे समानता है, इसलिये वे ज्ञानमे आ गये। जब तीनो कालकी पर्याय एक साथ ज्ञानमे है तो वर्तमान भी ज्ञानमे है। एक भीतपर हम अतीत कालके २४ तीर्थंकरोके फोटू लगा दे तो वे तीनो कालके फोटू एक साथ वर्तमानमे ही दृष्टिगोचर हो गये। इसी तरहसे इस ज्ञानरूप भीतपर केवलीके ज्ञानभूमि पर वर्तमानकी तरह ही भूतकाल और भविष्य कालके द्रव्योकी पर्यायें एक साथ प्रतिभासमे आईं। इस तरह यह सिद्ध करते है कि भगवान एक साथ ही तीनो कालके पर्यायोको जानते तथा सब पर्यायोको युगपत् जानते हुए भी सबमे सकरता नही हो पाती है सभी द्रव्य और पर्याय पृथक् पृथक् रूपसे प्रतिभात होते है, इस तत्त्वको उद्योतयति अर्थात् उसकाते है जैसे दीपक जब कम उजाला देता है तो उसकी बाती उसकेर दी जाती है मानो इसी प्रकार आचार्य महाराज अपनेमे बसे ज्ञानको तीर्थप्रवृत्तिके लिये उसका रहे है, बढा रहे है, प्रगट कर रहे है, उद्योतित करते है—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

सर्वज्ञमे प्रतिसमय समस्तज्ञेयाकारता—समस्त द्रव्यसमूहोकी समस्त पर्यायें जो कि अभी सत् है अथवा असत् अर्थात् पहिले थी और आगे होगी ऐसी है वे सभी सर्वज्ञके ज्ञानमे पृथक् पृथक् रूपसे वर्तमान है जाननेमे आ रहे है । देखो जितने प्रकारके द्रव्य है सभी प्रकारके द्रव्य तीनो समय अपने स्वरूपही की भूमिका लिए हुए है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य था, है और होगा । वह तीनो समयोमे अपनी सत्ताको लिए हुए रहता है और उनकी जो पर्यायसम्पत्तिका लाभ है वह होता है क्रमसे । प्रत्येक पदार्थ पर्यायसम्पत्तिको क्रमसे पाता रहता है एक साथ सारे पर्याय नही आते, सब पर्याय द्रव्योमे क्रमसे आयेंगे । तो कितने ही पर्यायें तो ऐसी है जो हो चुकी है, कितने ही पर्याय ऐसी है जो हो रही है और कितनी ही पर्याय ऐसी है जो आगामीकालमे होवेगी । इनमे से जो हो चुकी है वे और जो होवेगी वे भी सभीकी सभी पर्यायें भगवानके ज्ञानमे एक साथ ही प्रतिभासमे आ रही हैं एक द्रव्यकी तीनो समयकी पर्यायें एक साथ जिस समय ज्ञानमे आवें सभीकी सभी पर्याये एक समयमे एक साथ आ गईं तो ज्ञानमे सकरता आ गई और यदि क्रमसे एक एक पर्याय आये तो कुछ भेद भी रहा, वहां सर्वज्ञता नही । जिसके तीनो कालकी पर्यायें एक साथ आजाये तो आत्माके अनुभवसे वह स्थिति क्या होती होगी ? सबका सकर होगा उस ज्ञानकी स्थिति क्या रही ? वह ज्ञेयाकार भी क्या रहा ? तीनो कालकी पर्यायें सब द्रव्यकी एक साथ वहाँ आजाती है । तो भी विशेष लक्षण उनका निश्चित है वह छूटता नही । देखो प्रभुके विराट् रूपको, अनंतानत पदार्थ व उनकी अनतानत पर्यायें एक साथ ज्ञानमे आ धमके फिर भी सब ठीक रहे एक ही कालमे उस ज्ञानकी स्थितिमे सबकी सब तीनो कालकी पर्याये आजाती यह शकास्पद बात नही । छद्मस्थ भी अतीत कालका चिन्तवन करता तो यहाके ज्ञेयाकारमे वह अतीत प्रगट हो जाता है और भविष्यकी बातका भी चिन्तन करे तो वह पर्याय भी वर्तमानमे इस आकार हो जाती है । छद्मस्थके भी अतीतकी बात विचारनेपर वह आकार ज्ञानमे आ जाता है भविष्य विचार सही हो या न हो सके आकार तो आ ही जाता है हमारे भविष्यका भी आ जाता है तो केवली के आ जानेमे कोई शका नही । जैसे चित्रपट है उसमे अतीत कालके तीर्थकरोका भी चित्र लगा दो और वर्तमानके तीर्थकरोका भी चित्र लगा दो तथा भविष्यत्के तीर्थकरोंका भी चित्र लगादो तो वे अतीत वर्तमान और भविष्यतके चित्र उस चित्रपटपर वर्तमानकी तरह एक साथ प्रतिबिम्बित हो रहे है । इसी तरहसे भगवानका ज्ञान तो चित्रपटकी तरह है और अतीत और अनागत सभी पर्यायोका वहाँ ज्ञेयाकार हो रहा है । भूत भविष्यत और वर्तमान के सभी पदार्थ उनके ज्ञानमे एक साथ वर्तमानकी तरह प्रतिबिम्बित हो रहे है फिर भी सब

पर्याय भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतिभात है ।

त्रैकालिक पर्यायोकी वर्तमानमे दृष्टिगोचरता—दूसरी शका यह उठती है कि भूत काल और भविष्यकालकी सभी पर्याय भगवानके ज्ञानमे वर्तमान जैसी कैसे हो गई । तो वे पर्यायें अथवा पदार्थ चाहे वर्तमान नही है, परन्तु पदार्थोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है जो ज्ञेयाकार बना है वह ज्ञेयाकार तो भगवानके ज्ञानमे वर्तमान ही है । जैसे अपनी कोई अतीतकी घटना बिचारी, वह घटना जिस दिन हुई थी उस दिन हुई थी, आज वह नही है तो भी जिस कालमे वह विचार रहा है उस विचारके आनेके समय तो घटना वर्तमान रूपमे दीखती है उस घटनाका आकार अथवा बध अब भी मौजूद है । इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवानके तीनो कालोकी पर्यायें वर्तमानमे दृष्टिगोचर होती है । जो ज्ञेयाकार होता है, सारे पदार्थोंका जो ग्रहण होता है ऐसा वह जो ज्ञेयाकार है वहा वर्तमानपनेका विरोध नही रहता, अर्थात् वे सारे के सारे ज्ञेयाकार ज्ञानमे वर्तमान है ही वर्तमानकी तरह ही है । जैसे जो पर्याय आ गई, आ रही है और आवेगी, ऐसी पर्यायें, उनका जो चित्र आगा या ग्रहण आया या ज्ञेयाकार जो उसके ग्रहणमे आए वे तो वर्तमानरूप ही है । उपयोगभूमिमे तो भूत और भविष्यके पदार्थ व वर्तमान ही हो रहे है । भगवानके ज्ञानकी जगह तो वे पर्यायें वर्तमान ही है । जैसे छद्मस्थ पुरुषके मनके अतीत पर्यायका विचार आवे तो जिस कालमे विचार आया उस काल मे तो वह पर्याय वर्तमान ही है, जैसे चित्रकी भीतमे बाहुबल आदि, या श्रेणिक आदि जो तीर्थंकर आगे होवेंगे, उनका भी चित्र लग गया तो वे तो सब वर्तमानकी तरह ही झलक रहे । इसी तरहसे केवली भगवानके उपयोगकी भीतपर अतीत अनागतके चित्र एक साथ वर्तमान रूपमे आ रहे है । इसलिये उनकी ज्ञान भीतपर द्रव्यकी जितनी भी पर्यायें हैं वे सब वर्तमानकी तरह ही प्रतिविम्बित हो रही हैं ।

परमे तन्मयता न होनेसे ज्ञानका परमे अप्रयोग—सर्वज्ञतामे भी केवली भगवान पर द्रव्यकी पर्यायोको जाननेमात्रसे जानते है, तन्मयतासे नही जानते । उनका परपदार्थोंपर प्रयोग तन्मयतासे नही होता । निश्चयसे केवलज्ञान आदि गुणोके आधारभूत निज पर्यायमे तन्मय होकर जानते । बाह्य पदार्थोंको अपने सवेदनाकारसे तन्मयताकारसे नहीं जाना वे तो अपने सवेदनाकारसे तन्मय होकर अपने आपको ही जानते । भव्य जीव अपने सिद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप जो निश्चय रत्नत्रय पर्याय है, उस पर्याय को ही ये भव्य जीव जानते, इसके अतिरिक्त और किसी दूसरी चीजको नही जानते । यह आत्मा अपने ही पर्यायको जानकर सबका जानने वाला कहा जाता । यह जीव अपनी पर्याय को ही निश्चयसे जानता । व्यवहारसे बाह्य पदार्थका भी जानता कहा जाता । तो वह केवली निश्चयसे अपने ज्ञानको हीं जान रहे है और अपने ज्ञानको जाननेमे व्यवहारसे ज्ञानको जो

तीनो कालकी पर्यायें विषय हो गई है वे तीनो कालकी पर्यायें भी जाननेमे आई है किन्तु उनमे वे तन्मय नही हो रहे है। तन्मयता तो भगवानकी निज वर्तमान पर्यायमे ही सहज हो रही है।

ज्ञानमें तन्मात्रकी जाननरूपता—आजकल भी यहाँ तपस्वी लोग और ज्ञानी लोग अतीतकी और भविष्यकी बात बताते हुए देखे जाते है। ज्ञानमे ऐसी एक शैली पडी हुई है कि यह ज्ञान भविष्यकी बात भी इस ज्ञानको आलम्बन करके यह ज्ञान भविष्यके ज्ञेयाकार रूप हो जाता है। जिनके सम्यग्ज्ञान होता है वे भविष्यकी बातको निश्चय रूपसे कहते हैं और जिनके यह नही होता वे कुछ न कुछ रूपसे जानते तो रहते है। उस ज्ञानमे ऐसी शक्ति तो है कि अतीतके और भविष्यके पदार्थोंका भी आकार वह जान लेता है। यहाँ पर यह बात सिद्ध होती है कि सिद्ध भगवानके या केवली भगवानके जहाँ कि अतीत और भविष्यके पर्याय झलकते है वहाँ ही वर्तमानके भी पर्याय झलकते है और जहाँ वर्तमानके पर्याय झलकते हैं वहाँ ही भूत और भविष्यके पर्याय भी ज्ञानके आकारमे आते, वह सबको अविशेषताके साथ एक समय ही जानता है। इस ढंगसे सभी पदार्थ उनके ज्ञानमे आगए विश्वमे अनन्त पदार्थ है, असख्यात है, वे अनन्त और असख्यात पदार्थ भी उनके ज्ञानमे आ गए है। तो वह ज्ञान तो उनसे भी ज्यादा अनन्त और असख्य हुआ। उस अनन्त ज्ञानमे अनन्तो पर्यायें आती है न उन पर्यायोमे अन्त होता है और न ज्ञानमे अन्त आता है और जान जाते है सब।

वस्तुतः ज्ञानकी असीमता—ज्ञानकी जाननेकी शैली इतनी अद्भुत होती है कि ज्ञान का काम तो जाननेका है और इस जाननेमे भूत भविष्यत और वर्तमान सभी पदार्थ एक साथ आ जाते है। केवल वर्तमानका जानन, ऐसा पचडा तो मतिज्ञानमे लगता है। ज्ञानका वह इतना ही विकास है, वह स्वय अनेक निमित्तोकी अपेक्षा रखने वाला है, ऐसा समझते इसलिये इन्द्रियोके समक्ष होने वाली बाते ही मतिज्ञान जान पाता है। परन्तु ज्ञान तो केवल जानता है। वह है था और होगा, इस सबको जानता है। उसमे केवल सत्ताका सम्बन्ध होना चाहिए। सत्ताका सम्बन्ध था, है और होगा, ऐसी बात होवे जब, सबको वह जानता है। पर्यायकी सत्ता वर्तमान होनेके कारण केवली जानते है ऐसी बात नही है। उनका ज्ञान तो ऐसा सकर हो गया कि सारीकी सारी पर्यायें उनके आ गईं। द्रव्यमे तो वे पर्याय क्रमसे आवेंगी परन्तु क्रमसे आने वाली सारीकी सारी पर्यायें केवलीके ज्ञानमे एक साथ आ गईं। इस तरहसे यह बात सिद्ध की है कि ज्ञानकी ऐसी शक्ति है। ज्ञान तो केवल जानता है। जब तीनो कालकी पर्यायें एक साथ सिद्ध भगवानके ज्ञानमे आ गई तो वहाँ क्रम कहा रहा ? जाननेमे आनेका क्रम रहा ही नही। दूसरे सिद्ध भगवानके स्वय यह विकल्प नही है कि यह भूतकी है, यह वर्तमानकी है और यह भविष्यकी पर्याय है। वहाँ तो समस्त पर्यायोका ऐसा

आक्रमण हो गया कि सबकी सब एक साथ प्रगट हो गई। यह अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात है। यहाँकी व्यवस्था अतीन्द्रिय ज्ञानके महत्त्वके द्वारा नही कर सकते और केवलीके ज्ञानकी व्यवस्था यहाँके ज्ञानकी व्यवस्थामे नही हो सकती, और न यहाँकी व्यवस्थामे वहाँकी अवस्था कोई कर सकता। केवलीके तो एक साथ सारी तीन लोक और तीन कालकी पर्यायें ज्ञानमे एक साथ आ गई। पदार्थोंकी यह व्यवस्था है कि इनकी अनेक पर्यायें क्रमसे होती है, एक साथ नही हो सकती। परन्तु सिद्ध भगवान या केवलीके ज्ञानमे तीनो लोक और तीनो काल और तीनो लोककी पर्यायें एक साथ आ गई। यह केवलज्ञानकी महिमा है। उसको जानकर हम यहाँकी व्यवस्था करें तो वह सब बेकार। जिनके लिए बेकार, मोहियोंके लिए। उनका तो अनन्त ज्ञान है, अनन्त स्वरूप है, स्थिति ही अनन्त है स्वच्छता अनन्त है, जिससे उनके ज्ञान मे सब पर्यायें एक साथ प्रतिभासित हो जाती है।

त्रैकालिक पर्यायोकी ज्ञानमे सद्भूतता—अब तक जो पर्यायें नही हुई या जो पर्याय आगे होगी, ऐसी असद्भावात्मक वस्तु भी ज्ञानमे सद्भूत ही है। जो पर्यायें हुई नही या जो अपना स्वरूप पाकर नष्ट हो गई वे सब वर्तमानमे असद्भूत है, परन्तु ज्ञानकी तो प्रत्यक्षताका साभिमुख्य करती ही है जैसे श्रेणिक भी जब तीर्थङ्कर होगे उनकी प्रतिमा या आकार कोई बना ले तो जैसे कि उस शिलाके अन्दर वह आकार निष्प्रकम्प स्वभाव वाला ही है। वैसे ही केवलियोके जाननेके आकारमे पूराका पूरा ही तो प्रतिभासमान हो रहा है वह पर्याय इस समयमे भी ज्ञानमे ग्रहणमे आ रही है तो ज्ञेयाकार तो वर्तमान ही होगा। कलकी चीज तो कल होगी, किन्तु ज्ञानमे तो वह वर्तमान ही होगी। यादके कालमे तो १० साल पहलेकी भी घटना वर्तमान ही होगी। दो साल पहलेका दुःख भी आज विचारने लग जायें तो आज भी कुछ दुःख हो जायगा। जिस समयमे विचार रहे उस समयमे भूतकी भी और भविष्यकी भी चीज वर्तमान ही हो रही है। इस तरह अतीतकी पर्याय और भविष्यकी पर्याय ज्ञानीके आकारमे आ रही है, तो वे तो उस कालमे वर्तमान ही हो रही है। वर्तमान ज्ञेयाकार होने की वजहसे वह सबको जान गया। ज्ञानमे जब ऐसी निर्मलता आ जाती है तो ज्ञानमे यह सीमा नही होती कि इतना सीमाको और इतने कालको जाना वह तो अनन्त सीमा और अनन्त कालको जानता। सीमा होगी तो उसके अतिरिक्त पदार्थका ज्ञानावरण आ गया। ऐसे स्वच्छ ज्ञानमे यह सीमा नही लग सकती, जिससे कहा जाय कि इतने कालकी पर्याय जानता है, और इतनी सीमाको जानता है। उसके लिये तो सभी पदार्थ वर्तमान हो रहे है। अतीत और भविष्यकी पर्यायें वर्तमान हो रही है। इसी प्रकार वह केवली भगवानका ज्ञान है। जिस समय छद्मस्थ अपने ज्ञानमे अनादि अनत अहेतुक ज्ञानस्वभावकी ही जिसकी दृष्टि रहती थी, ऐसा वह छद्मस्थ अपने ज्ञानको केन्द्रित करनेके कारण, अपने आपको सयमित कर

देनेके कारण, उनकी ऐसी निर्मल पर्याय है, ज्ञान ऐसा निर्मल बन जाता है कि आवरणके क्षय होते ही तीनो कालके सारे पदार्थ वर्तमानकी तरह प्रतिबिम्बित हो जाते है । यह केवलज्ञान की स्वच्छताकी महिमा है । वे भगवान परपदार्थको नही करते । आत्माके प्रदेश तो यहाँ ही है और सारे पदार्थ एक साथ ज्ञेयाकार बन रहे तो यहाँ क्रम कैसे चले यह इस प्रकरणमे बतला रहे है । सबके सब पर्याय एक साथ ग्रहण हो रहे है, उनका क्रम नही हो सकता । वहाँ तो केवल जानन जानन ही हो रहा है । उनके क्रमका विकल्प नही है । परन्तु पर्यायोमे स्वयमे क्रम है । केवलीके जाननेमे क्रम आना या विकल्पका आना एक ही अर्थ रखता है, सिनेमाकी तरह क्रमसे केवलीके ज्ञानमे सब चित्र आये तो यहाँ विकल्प हो जाता है । केवली भगवानका सातिशय माहात्म्य है कि सबके सब पदार्थ सबकी सब पर्याये एक साथ उनके ज्ञान मे झलक रही हैं, वहाँ विकल्प नही । छद्मस्थके ही क्रममे विकल्प आता है । केवलज्ञानकी महिमाका पार गणधर जैसे बडे-बडे महर्षि भी न पा सके ।

ज्ञानस्वभावके अनुभवका प्रताप—जिन साधुओने अपने आपमे बिराजमान अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञानस्वभावका आदर किया, उसपर ही जिनकी दृष्टि रहती है, इस प्रकार परके स्वरूपका त्याग करके निजके स्वरूपको ग्रहण करके अपने आपके स्वरूपमे जो निश्चल होकर रहे, ऐसे उन साधुओके जो निर्मल ज्ञान पर्याय प्रगट होती वह त्रिकालज्ञ और निर्दोष है वह निर्मल ज्ञान पर्याय कैसी है ? उसके आवरणका क्षय हो गया है अतः तीनो लोक और तीनो कालोकी पर्यायें वर्तमान हो जाती है । ज्ञानमे जो पर्यायें आई तो उस कालमे तो वह ज्ञेयाकार के बराबर ही है । यादमे आई हुई घटनायें, ज्ञानमे आए हुए विचार भी तो वर्तमानकी तरह ही यहाँ हो रहे है वे विचार अथवा घटना वर्तमानकी तरह यदि नही है तो दुःख भरी घटनाओ के याद आते ही दुःख नही हो सकता । जिन जिन जीवोको जब जब दुःख होता वह वर्तमान पर्यायके अनुभवसे होता । द्रव्यमे जो आकार होनेको है ये ही ज्ञानमे झलकते । द्रव्यमे जो पर्याय थी और जो है अथवा जो होवेगी वही ज्ञानमे जानी गई । होनेके कारण जाना गया परन्तु जाननेके कारण वह हुआ नही । जैसा पदार्थ हो रहा है उसका आकार वह जानेगा । वह ज्ञान जैसा स्वच्छ है कि जैसा हुआ है या हो रहा है या होवेगा वह उस ज्ञानमे आता है । जो कुछ होना है सो केवलीके ज्ञानमे है । ज्ञानके कारण कुछ होता नही है, परन्तु निमित्त-दृष्टिसे वैसा होनेके कारण वैसा ज्ञान होता है । जो कुछ हुआ है या होवेगा, जो था वह ज्ञानमे आता । परन्तु मै तो ऐसा ही जानूंगा, तो ऐसी हठसे तो वैसा हो नही सकता । यहाँ तो जो होवेगा सो ज्ञानमे जाना । हमने जो किया वह ज्ञानमे जाना गया । जो कर रहे है वह ज्ञानमे जाना गया और जो करेंगे वह ज्ञानमे जाना ।

साक्षितामे कर्तृत्वका अभाव—भगवानका काम भी ज्ञाताद्रष्टा, साक्षी रहनेका है ।

उनका काम तो केवल जानना ही है। यदि उनके ज्ञानमे ज्ञानके कारण यहाँ वे सब पर्यायें है तो वे सृष्टिके कर्ताके विकल्पी हो गए और केवलज्ञानमे फर्क आ गया। जैसे हम कभी किसी आत्माके विषयमे ऐसा विचार करे कि इसके सीग होगा और पूँछ होगी तो ऐसा हो ही जाय यह तो नामुमकिन बात है। यदि हमारे जाननेके कारण ऐसा होवे तो बडी गडबडी पैदा हो जाती है। पदार्थमे पर्याय होती है वह ही केवली जानेगे। जो होवेगी सो ही जानेगा। केवली तो जाननेकी व्यवस्थाके मात्र ज्ञाता है। जैसे ज्योतिषीने जान लिया कि ६ बजे सूर्य उगेगा, तो ज्योतिषीके जान लेनेके कारण सूर्य ६ बजे थोडे ही उगा, परन्तु सूर्य ६ बजे उगनेसे ज्योतिषीने जाना कि ऐसा होवेगा। ज्योतिषीने बताया कि फलाँ दिन चन्द्रग्रहण होगा। तो चन्द्रग्रहण ज्योतिषीके बतानेके कारण थोडे ही होगा, चन्द्रग्रहण तो होना ही है, ज्योतिषी तो उसको जानता है और उसने मात्र बताया ही है। उसके ज्ञानमे ऐसा आया कि उस दिन चन्द्रग्रहण होवेगा ऐसा निश्चय है। तो इस प्रकार वह तो ज्ञाता द्रष्टा मात्र ही रहा। वह जगतके पदार्थोका कर्ता नही रहा।

आत्मज्ञता व विश्वज्ञता—इस प्रकार अब तक जो हुआ नही होगा किन्तु आगे वह व जो हो चुका वह सब केवलीके ज्ञानमे वर्तमानकी तरह ही प्रगट हो गया, असद्भूत किन्तु अपने अपने कालमे सद्भूत जो पर्याए हैं वे भी केवलीके ज्ञानमे झलकी। अब यहाँ निश्चय और व्यवहारको भी लगाओ। निश्चयसे ज्ञानी अपनी पर्यायोको जान रहा है और व्यवहार से सारे विश्वको जान रहा है। ज्ञान गुण तो आत्माके प्रदेशमे ही है, आत्माके बाहर नही है। तो ज्ञानकी क्रिया जो भी होगी वह आत्माके प्रदेश ही मे तो होगी। आत्माके ज्ञानगुण की क्रिया आत्मप्रदेश ही मे तो रहेगी बाहर नही रहेगी। ज्ञानकी जाननेकी क्रिया आत्माके अन्तर ही रहेगी बाहर नही हो सकती इसलिए निश्चयसे तो यह वर्णन है कि केवली अपनी ही पर्यायोको जान रहा है, परन्तु व्यवहारसे यह वर्णन है कि वह सारे विश्वको जान रहा है।

अब आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराज असद्भूत पर्यायोकी अर्थात् जो हो चुकी है अथवा जो आगे होगी, इस समय सत् नही है, उन पर्यायोको कथचित् सद्भूतपना धारण करते है, यहाँ विदधाति क्रिया देकर श्री अमृतचन्द जी सूरि बडे रहस्यको स्पष्ट कर रहे है—भगवान केवलीके ज्ञानमे असद्भूत पर्यायें ज्ञेय होनेके कारण सद्भूत है, और इस विषयको कुन्दकुन्द महाराज बताते है, तो बतावेंगे तभी ना, जब अपने ज्ञानमे उसे धारण कर लें, यहाँ कुन्दकुन्द देवने इस प्रकार इस तथ्यको जान लिया कि सूरिजी विदधाति शब्दसे वर्णन कर रहे हैं—

जेणेव हि सजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया-पज्जाया णाणपच्चक्खा॥३८॥

वर्तमानमें असद्भूत पर्यायोकी भी ज्ञानमें सद्भूतता—जो पर्यायें अब तक भी सभूति का अनुभव नही करती हैं अर्थात् जो पर्यायें अब तक हुई नही है । वे भी प्रभुके ज्ञानमे प्रत्यक्ष है यहाँ पर्यायें ऐसा कर्तृपद देनेसे इतना तो सुनिश्चित हुआ कि जिनके बारेमे कहा जा रहा है, वे अवश्य सत्तावाली है, परन्तु वर्तमानमे सत्तारूपसे नही है, ऐसी भविष्यकाल सम्बन्धी पर्यायें है । तथा ऐसी पर्यायें जो आत्मलाभका अनुभव करके विलयको प्राप्त हुई है, ऐसी भूत-काल सम्बन्धी पर्यायें हैं, वे भी प्रभुको ज्ञानमे प्रत्यक्ष है । ये पर्याये अपने स्वरूपका लाभ करके अर्थात् पर्यायोकी वर्तना प्राप्त करके विलयको प्राप्त हुई है । इन पर्यायोने द्रव्यमे से ही आत्मलाभ किया था, और द्रव्यमे ही विलयको प्राप्त हुई है । वे द्रव्यकी एक समयकी अवस्था थी, द्वितीय अवस्था होनेके कालमे विलयको प्राप्त हुई यह विलय बडा विलक्षण है । द्रव्यसे बाहर कही जाकर नष्ट नही हुई और न द्रव्यमे गुप्तरूपसे उपस्थित है, फिर भी द्रव्यमे विलीन हो गई है । द्रव्यकी समस्त पर्यायें उद्भव, विलय या भावरूपसे द्रव्यमे है । द्रव्य त्रैकालिक है वह अवस्थासे दूर होकर रह ही नही सकता । यही कारण है कि हम किसी भी पर्यायको मुख्य करके द्रव्यको नही विचार सकते । द्रव्य या तो सर्व पर्यायरूप एक चिन्तनामे आवे या किसी भी पर्यायरूप नही, किन्तु मात्र स्वभाव रूपसे चिन्तनमे आवे तब ज्ञेय होता है । ये सभी भूतकाल या भविष्यकाल सम्बधी पर्याये यद्यपि वर्तमानमे असद्भूत है, असत् है, तथापि सर्वज्ञ भगवान अथवा सीमित पर्यायके लिये अवधिज्ञानी आदिके ज्ञानके प्रति नियत है । अतः वे सब पर्यायें ज्ञानकी प्रत्यक्षताको अनुभव करते है । ज्ञानमे तो सदा ही वर्तमान है, इस कारणसे सद्भूत ही है, यहाँ ज्ञानकी ओरसे देखो, वे सभीकी सभी पर्यायें वर्तमान पर्याय ही की तरह ज्ञानमे प्रत्यक्ष है, वर्तमान है ।

क्रमवर्ती पर्यायोकी युगपत् झलक—यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञानियोके ज्ञानमे, जिस कालक्रमसे वे सब पर्याय होना है, उस क्रमसे सद्भूत पर्याय ज्ञेयमे हो रही है, परतु भूत भविष्य वर्तमान का केवली भगवानके विकल्प नही है, और वे सब पर्याय एक कालमे ज्ञेय है, तब छद्मस्थको भी शायद केवलीके विषयका पता लग जाय, तो वह भी क्या निर्णय करे कि इन पर्यायोमे यह पर्याय वर्तमान है और यह पर्याय भूतकालकी तथा यह भविष्यकालकी है एव केवली भगवान तो निर्विकल्प हैं उन्हे निर्णय जैसे विकल्पकी पडी ही क्या है ? भैया ! देखो क्रम भी झलका तो भी उन पर्यायोका यहाँ यह निर्णय कठिन है, भूतकालकी कौन और भविष्य अथवा वर्तमान कालकी कौन पर्याय है ? प्रभुकी यही तो विलक्षण लीला है इसका अनुभव वे ही कर सकते हैं । धन्य है, हे केवलज्ञान ? तुम उत्कृष्ट निर्मल ज्ञानवृत्ति हो किसी भी प्रकारकी मली-मसताको तुममे स्थान नही है । अहा, इस केवलज्ञानमे सभी पर्यायें सद्भूत हो रही है । जैसे एक पाषाणकी शिलामे भूतकालके देवो और भविष्यकालके देवोकी तथा वर्तमानमे विहरमान

देवकी प्रतिमाये उकेर दी जावे तो उस शिलामे भूतकालके वर्तमान कालके व भविष्यकालके सभी वे देव एक कालमे वहा या जानने वालेके ज्ञानमे सद्भूत ही है। उसी प्रकार समस्त पर्यायें भगवानके ज्ञानमे उत्तीर्ण हैं, सो वे सब पर्यायें भूतकी हो, वर्तमान व भविष्यकी सभी सद्भूत हैं।

निश्चय और व्यवहारसे ज्ञेयाकार व ज्ञेयकी सद्भूतता—यहाँ नयविभाग करके ऐसा विशेष ज्ञान करना चाहिये कि ज्ञानमे सर्व पर्यायोका ग्रहण है, सो ज्ञानमे ज्ञेयाकारकी अपेक्षा सद्भूत निश्चयनय है, परन्तु ज्ञानमे वे सब भासते है। अत वे सर्व पर्यायें सद्भूत है, यह व्यवहारनयसे है। जैसे कि भगवान उत्कृष्ट आनन्द ही है, एक स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाववर्तनको मोक्षपर्यायको तन्मयतासे अनुभवते है, जानते हैं। इसी प्रकार सर्व पर्यायोके अनुरूप ज्ञानमे जो ग्रहण है, उस निज ज्ञेयाकार रूप ज्ञानवृत्तिको तन्मयतासे उस काल करके परम्परया अनतकाल तक तन्मयतासे अनुभवते है, जानते है। हम सब भी तो इसी प्रकार यथासभव जितने पदार्थोंके अनुरूप हमारे ज्ञानमे जो ग्रहण है, उस निज ज्ञेयाकार ज्ञानवृत्तिको उस कालमे तन्मयतासे अनुभवते है, जानते है। परन्तु इस ज्ञेयाकारमे जो विषय पडा है। ऐसे समस्त परद्रव्य पर्यायोको भगवान जानते है, यह व्यवहारनयसे कथित है। हमारे ज्ञानके लिये भी जो परद्रव्य पर्यायोका जानना कहा जाता है, यह भी व्यवहारनयसे कथित है। भगवानका ऐसा परिस्पष्ट ज्ञानस्वरूप है, जिसमे कि सर्वद्रव्य पर्याये सहज ज्ञेय होते है, उसकी भावना करने वाले निजसवेदन पर्यायको तन्मयतासे अनुभवते है, जानते है। यह तो निश्चयनयसे है, और सिद्ध भगवानको या केवलज्ञानको हम जान रहे हैं, यह सब व्यवहारनयसे कथित है। यहाँ ज्ञानकी असीम महिमा बताई है। ज्ञानका कार्य जानना है, सो जो कुछ भी था, है, होगा, उस सबको जाननेमे आवारक कोई पदार्थ नही, अत सर्वको यह केवलज्ञान जानता है। अत जो पर्यायें बीत चुकी हैं अथवा जो पर्यायें होने वाली है, वे भी सब केवलज्ञानमे प्रत्यक्षविषयताको अनुभवते है, सो सब सद्भूत हैं। अब आगे इसी सम्बधमे और भी पुष्टि करते है कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमे प्रत्यक्ष ही है—

जदि पच्चक्खमजाद पज्जाय पलयिद च णाणस्स।
ण हवदि वा त णाण दिव्वत्ति हि के परूविति ॥३९॥

ज्ञानकी दिव्यता—यदि अजात कहिये भविष्यकी पर्याय तथा प्रलयित कहिये अतीतकालकी पर्यायें समस्त ज्ञानके प्रत्यक्ष नही होवे तो फिर वह दिव्य ज्ञान कैसे कहला सकता, उसे दिव्यज्ञान कौन कह सकता। दिव्य ज्ञानकी कथा छोडो वास्तवमे तो वह ज्ञान ही नही रहता। ज्ञानका स्वभाव जानना है। हमारा वर्तमान ज्ञान भी अपने स्वभावका काम कर रहा है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बधवश ज्ञानावरणका निमित्त पाकर सम्पूर्ण विकासमे नही है,

फिर भी अतीत अनागतकी बात समझनेको उद्यन हो ही रहा है। यह तो ज्ञानावरणका निमित्त पाकर सम्वृत्त हुए ज्ञानकी कथा है, किन्तु जहाँ ज्ञानावरण लेश भी नही रहा, वहाँ ज्ञानके कार्यमे मर्यादा बनानेका हेतु ही क्या ? अत. वह ज्ञान असीम जानता ही है। यदि यह ज्ञान समस्तको न जाने तो थोडेको जानना तो सर्वथा असिद्ध है ही और समस्तको जानना स्वीकार नही है तब वह ज्ञान जाननपनसे रहित होनेके कारण ज्ञान ही नही रहा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ज्ञान निश्चयसे सहज आनद है एक स्वभाव जिसका ऐसे निज शुद्ध आत्मामे तन्मयतासे जानन करता है तथापि यह निश्चयकी दृष्टिसे तो सत्य है, फिर भी परिणमन तो वहाँ समस्त विश्व ग्रहणरूप है। अतः व्यवहारनयका विषय खडित नही किया जा सकता है। इस प्रकारसे तो हम सभी मात्र स्वमे ही तन्मयतासे परिच्छेदन करते है, किन्तु जो परिच्छेदन है वह जिन-जिन वस्तुओके परिच्छेदनरूप है, उन द्रव्योके तथा उनके गुण और पर्यायोके परिज्ञानसे बाहर नही किया जा सकता है। निर्दोप आत्माके विज्ञानमे समस्त तत्त्व जो पर्यायमे सत् है, पर्याय है अथवा होगा, वे सभी द्रव्य गुण पर्याय क्रमरहित एक साथ इन्द्रियो बिना साक्षात् प्रत्यक्ष होते है।

संभावित भाव व असंभावित भावकी ज्ञानप्रत्यक्षता—भविष्यकी पर्यायोको असभावित पर्याय है। होना तो अपने कालमे निश्चित है, परन्तु अभी सभावित नही हुए इसी तरह अतीत पर्यायोको सभावित भाव कहते है, जिनका होना अच्छी तरह यथास्थितिसे हुवाया गया है। पर्याय, परिणामन उसी द्रव्यकी वर्तमान तरग अवस्था है, वह अपने उपादानसे ही उत्थित होती है। वह द्रव्यमे उस काल तन्मय होती है, तथापि उस काल भी द्रव्यस्वभावमे प्रवेश नही करती अर्थात् इस कालमे भी वह स्वभाव नही हो जाता है। पर्याय द्रव्यका क्षणिक प्रभाव है। वह प्रभाव यदि स्वभावके अनुकूल है तो वह केवल साधारण काल निमित्तको पाकर जो कि स्वतः सदा अनिवार्य होता ही है, होता है। इस स्वभाव प्रभावमे पर उपाधि नही होती। किन्तु यदि प्रभाव स्वभावके विपक्ष है, तब साधारणकाल निमित्तके अतिरिक्त अन्य उपाधिके सन्निधानको निमित्त पाकर अपने उपादानसे ही उठकर वर्तमान होता है। ऐसी समस्त पर्याये वस्तुत अपने कालमे वर्तमान समयमात्र क्षणिक है, परन्तु विभाव अन्य समयनिरपेक्ष न होनेसे किसी जातिका विभाव साधारणतया आवली, अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। सर्व द्रव्योकी समस्त पर्यायें सर्वज्ञके ज्ञानमे युगपत् प्रत्यक्ष प्रतिभासित है, क्योकि कोई प्रतिबन्धक निमित्तरूप ज्ञानावरण कर्म न रहनेसे ज्ञानका प्रताप निर्विघ्न बढ ही जाता है वह प्रताप किसी प्रकार खडित नही होता। यह ज्ञान ऐसे एकदम वेगसे सर्व विश्वको जानता है जैसे मानो ज्ञानने अनिवार्यतया सर्व तत्त्वोपर आक्रमण कर दिया हो अथवा सर्वज्ञेय अपना स्वरूप सर्वस्व ऐसे वेगसे सर्वज्ञके ज्ञानको मर्मापित कर देते है मानो सर्वज्ञेयोका सब ज्ञानमे

एक साथ हमला हो गया हो। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानकी महिमा ही क्या? अथवा वह ज्ञान ही नही रहेगा। अतः आवरणके हटते ही स्वय ज्ञानशक्तिसे प्रगट होने वाले केवलज्ञानके सब द्रव्य गुण पर्यायोका जान लेना निश्चित सिद्ध है। अतीत और अनुत्पन्नको जाननेकी सामर्थ्य न होना तो इन्द्रियज्ञानमे ही घटित होता है इस अभिप्रायको लेकर अब श्रीमत्कुदकुद देव इन्द्रियज्ञानीके सम्बन्धमे वितर्कण करते है—

> अत्थ अक्खणिवदिद ईहापुव्वेहिं जे विजाणति ।
> तेसिं परोक्खभूद णादुमसक्कति पण्णत्त ॥४०॥

इन्द्रियज्ञानकी परोक्षभूतता—इन्द्रियोके सन्निधानमे प्राप्त हुए पदार्थको विचार विमर्षपूर्वक ईहादिज्ञानपूर्वक जो जीव जानते है उन जीवोको परोक्ष वस्तु जानना अशक्य ही है ऐसा वीतराग ऋषिराजने कहा है। छद्मस्थोका ज्ञान ईहादिक्रमसे होता है वह अनेक पदार्थोको स्पष्ट कैसे जान सकता है? तथा छद्मस्थोको ज्ञान इन्द्रिय और विषयोके सन्निकर्ष को पाकर उत्पन्न होते हैं अत सबके साथ ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध असभव है। पुनः वह इन्द्रियज ज्ञान सबको कैसे जान सकता है? यहा इन्द्रियाँ और पदार्थोके सन्निकर्षसे तात्पर्य इतना ही समझना कि जितने दूर समीप योग्य क्षेत्रमे अवस्थित पदार्थको इन्द्रियोके निमित्त द्वारसे आत्मा जानता है उतने मुकाबलेमे इन्द्रिय व विषयोका उपस्थित होना सन्निकर्ष है। इस प्रकारके सन्निकर्षको पाकर जानने वाला ज्ञान न विस्तृत क्षेत्रको जान सकता है, न भूत भविष्यत्को जान सकता है और न सूक्ष्म पदार्थोको जान सकता है। किन्तु ये है सब ज्ञेय। तब किसी न किसीके द्वारा ज्ञात होना ही चाहिये सो वह अतीन्द्रिय ज्ञानका ही कार्य है। अतीन्द्रिय अनैमित्तिक उत्पत्तिके स्वभाववाला होनेसे एक साथ ही सर्व कालवर्ती सूक्ष्म, स्थूल, मूर्त अमूर्त सर्व पदार्थोको जानता है। अन सर्वज्ञ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होता है इन्द्रियज्ञानसे नही। क्योकि इन्द्रियका सन्निपात किसी स्थूल पदार्थके एकदेशपर ही हो सकता है। अमूर्त पदार्थोमे तो असभव ही है सूक्ष्म पदार्थमे भी असभव है। जिन पर्यायोने अपना कोई विशिष्ट अस्तित्वकाल ढो दिया है उन्हे तो जानेगा कैसे तथा जिनका अस्तित्व अभी उपस्थित नही हुआ ऐसी पर्यायोको जाने कैसे? एक पदार्थमे पर्यायोकी अपेक्षा भिन्न २ अस्तित्व है अतीन्द्रियज्ञानके लिये पदार्थका अस्तित्व मात्र ही बात है। विशिष्ट अस्तित्व चाहे बीत चुका हो तो क्या? व उपस्थित न हुआ तो क्या है? किसी कालावच्छेदेन अस्तित्व हो उस सबको विशुद्ध ज्ञाता जानता है। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञता अतीन्द्रियज्ञानमे ही होती है, इन्द्रियज्ञान मे उसकी सभवता नही है। अतीन्द्रियज्ञानमे क्या क्या ज्ञेय है इस विषयमे जो जो भी उत्तर दिये जावें वे सब सभव है। अब इस गाथामे उक्त भावका विवरण करते हैं—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गद च जाणदि त णाणमदिदिय भणिय ॥४१॥

जो ज्ञान एक प्रदेशीको, बहु प्रदेशीको, मूर्त पदार्थको, अमूर्त पदार्थको, भविष्यत् पर्यायो को, अतीत पर्यायोको सबको जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है ।

इन्द्रियज्ञानमें अनेक वैकल्य—इन्द्रियज्ञान अनेक बहिरग व अन्तरग कारणपूर्वक जानता है अतः वह सबको जाननेमे असमर्थ है । इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य कारण ये है—उपदेश, मन, इन्द्रिय आदि और अन्तरग कारण ये हैं—लब्धि, उपयोग, सस्कार आदि । यद्यपि इन्द्रियज्ञानमे ज्ञानकी ही सामर्थ्य है, अन्य किसी भी परद्रव्यकी सामर्थ्य नही है, तथापि जहाँ ज्ञान अपना असर इन्द्रिय मनके व्यापारको निमित्त पाकर प्रकट करता है, वह ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान है । इसमे यद्यपि अपने कार्यके लिये स्वतन्त्रता है, यद्यपि विशिष्ट क्षयोपशम वाला यह ज्ञान अन्यको निमित्तमात्र पाकर अपनी स्वतन्त्रतासे परिणम रहा है, तथापि यह बहुप्रदेशीको ही एकदेश जान सकता है, एक प्रदेशीको नही । यहाँ अप्रदेशसे तात्पर्य एकप्रदेशी द्रव्यसे है, जैसे अणु व कालद्रव्य । इन्द्रियज्ञान स्थूल पदार्थका ही उपलभक है, जानने वाला है, वह सूक्ष्मद्रव्यके जाननेकी व्यक्तिवाला नही है । इन्द्रियज्ञानका विषय मूर्त पदार्थ ही है, अतः वह मूर्त पुद्गल द्रव्यको ही जानता है, अमूर्त पदार्थको नही जान सकता । इन्द्रियज्ञान विषय विषयीके सन्निपात पूर्वक उत्पन्न होता है और यह सम्बन्ध वर्तमानमे ही हो सकता है, क्योकि जो पर्याय प्रलीन हो चुकी अथवा जो अब तक आई नही उनके साथ इन्द्रियोका सन्निधान है ही नही । इसका कारण स्पष्ट है कि भूत भविष्यत पर्यायें वर्तमानमे स्पष्ट है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज्ञान बहुप्रदेशी मूर्तिक पुद्गलद्रव्यकी वर्तमान पर्यायको एकदेश जान सकता है, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वको जानता है । अतः सर्वज्ञता अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही है ।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी सकलप्रत्यक्षता व समृद्धता—अतीन्द्रियज्ञानकी दशा पूर्ण निराकुल रहनेकी अवस्था है । पूर्ण निराकुलता ही हमारा ध्येय है, इसकी अवस्थाको पहिचानना हमे आवश्यक है, जिसे प्रथम ध्येय बनाकर स्वभाव मे विलीन कर स्वभाव प्रतिभास रूप पुरुषार्थसे पाना है । निराकुल प्रतिभासका परिणमन एक ऐसा अपूर्व निमित्त है कि जिस निमित्तको पाकर ज्ञानावरणादि आत्मघाती कर्म स्वय क्षीण हो जाते है, तब आवरण रहित यह ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान होता है और सर्व प्रकारके पदार्थोंको सर्वदेश स्पष्ट जानने लगता है । ज्ञानका स्वभाव जानना है । हमारा ज्ञान साधारण है । अतः अन्तरग आवरण रागादि पयाय व बहिरग आवरण ज्ञानावरणादिको निमित्तमात्र करके अपनी अजघन्य वृत्तिसे परिणम रहा है, किन्तु अतीन्द्रियज्ञान निरावरण है । अतः उसकी सीमा होना असभव है, इस ही कारण जो कुछ भी ज्ञेय है, वह सब अतीन्द्रियज्ञान द्वारा परिच्छेद्य है, चाहे वह एक प्रदेशी

हो, बहुप्रदेशी हो, मूर्त हो अथवा अमूर्त हो, भूत हो अथवा भविष्यत् कुछ भी हो, सभी अतीन्द्रिय ज्ञानमे ज्ञेय है। समस्त पदार्थोंमे प्रमेयत्व गुण है। अत. अवश सकल ज्ञानके प्रमेय होते है। जैसे ज्वलमान अग्निका दाह्य वह सब है, जितनेका आकार रूप अग्निका परिणमन है, और अग्निका उतने आकार रूप परिणमन है, जितना वह सब दाह्य है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानका उतने आकाररूप परिणमन है, जितना कि सर्व ज्ञेय है। इस प्रकरणसे यह प्रयोजन लेना कि सर्वज्ञ अतीन्द्रियज्ञानसे ही होते है। सर्वज्ञता निराकुल दशाकी स्थायी अवस्था है। इससे विपरीत इन्द्रियजज्ञान और मानसिकज्ञान है। अत इस अशक्त ज्ञानकी दृष्टिको त्याग करके समस्त विकल्परहित परम समाधिरूप स्वसवेदन ज्ञानमे रमण करना चाहिये, इससे ही वीतराग व सर्वज्ञकी अवस्था प्रकट होगी। जिस अवस्थामे निराकुलताके विनाशका कभी किञ्चित् भी सदेह नही है।

प्रश्न—जब यहाँ हम लोगोका ज्ञान जिस ज्ञेयके आकाररूप परिणमता है, उस ज्ञेयके अनुरूप साता असाता विकल्पकी क्रिया बन जाती है, तब ज्ञेय अर्थके अनुरूप परिणमनेकी बात सर्वज्ञके भी होगी और इस प्रकार हम थोडेसे ज्ञेयके ज्ञानसे इतने व्याकुल हो जाते हैं, तब सर्व के जाननहारकी विह्वलता तो असीम हो जायगी? उत्तर—बन्धुओ! ज्ञेय अर्थके अनुरूप साता असाता रूप परिणमनकी क्रिया ज्ञानसे नही होती, किन्तु निर्विकार स्वसवेदन रूप ज्ञानानुभव के अभावमे किसीके चारित्रगुणके विकारसे होती है। आगे इसी विषयके सम्बधको लेकर प्रकारान्तरसे आचार्य देव कहते है—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइग तस्स।
णाणत्ति त जिणिदा खवयत कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

ज्ञेयार्थपरिणमनमे विशुद्धताका अभाव—यदि ज्ञाता ज्ञेय अर्थको परिणमे अर्थात् पदार्थ को जानते हुए पदार्थ सम्बधी यह ऐसा है, इत्याद्याकारक विकल्प तो क्षायोपशमिक ज्ञानमे ही होते है। विकल्प करते हुए ज्ञाता पुरुषको जिनेन्द्रदेवने कर्मका अनुभव न करने वाला कहा है। परिच्छेत्ता पुरुष वही है, जो परविषयक ज्ञान करते हुए ज्ञेयसे पृथक् निज तत्त्वके निजके अनुरूप ही परिणमे। यदि वह परिच्छेद्य अर्थके अनुरूप विकल्पसे परिणमता है, तो वह स्वाभाविक ज्ञानका लक्षण नही है, अथवा वह ज्ञान ही नही है। जो सकल्प विकल्प है, वह श्रद्धा व चारित्रगुणका विकार है। ज्ञानका कार्य मात्र जानन है। ज्ञानका जाननरूपसे ही प्रकट होना ज्ञानकी अवस्था है, इसके साथ जो विकार भाव है, वह सब मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्त पाकर अन्य गुणोंका विकार है। छद्मस्थ जीवोमे जो यह जघन्य स्थिति पाई जाती है, वह कर्मके निमित्तसे है। किन्तु जीवगुणघातक समस्त कर्मोंका जिनके क्षय हो चुका है, उनके अब अत्यन्त स्वायत्त स्वाभाविक परिच्छेद है। पदार्थके विषयमे कुछ भी कल्पना करना

ज्ञानकी अस्वाभाविकता है । पदार्थ जैसा अवस्थित है, उसरूप जाननमात्र ज्ञानकी स्वाभाविकता है । जो कोई जीव अर्थके अनुकूल परिणमता है, अर्थात् विकल्प या इष्ट अनिष्ट भाव करता है, वह कठिन निज कर्मके भारको तथा इस निमित्तको पाकर बँधे हुए कार्माणके भारको भोगता हुआ आकुल रहता है, जैसे कि कोई मृग मृगमरीचिकामे जलकी कल्पना कर दुःसह क्लेशको सहता है ।

अतीन्द्रियज्ञानमें मलीमसताका व आकुलताका अभाव—सर्वज्ञ देवका ज्ञान अतीन्द्रिय है, क्षायिक है, उसमे अस्वाभाविकता अथवा मलीमसता नही है । क्षायिक ज्ञानीकी विकल्पपरता तो दूर रही, छद्मस्थ अवस्थामे भी जिसे प्रगट करने वाला है, उस योगीके भी विकल्पपरता नही है । उसके बहिरग ज्ञेय पदार्थका अवलम्बन भी नही है । इसी कारण रागादि विकल्प रहित उत्कृष्ट स्वसवेदन ज्ञान उसके होता है । जिसके फलस्वरूप अत्यत विशुद्ध लोकालोकप्रकाशक त्रिकालज्ञ केवलज्ञान प्रकट होता है । इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध है कि ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया ज्ञानसे नही होती । यदि ज्ञान पहिले अर्थ रूपसे परिणमे पश्चात् अर्थको जाना करे अर्थात् यह अमुक है, यह अमुक है, इस प्रकार विकल्पकी पूर्ति करे, पश्चात् जाने तब तो पदार्थ अनन्तानत है, विकल्पोकी पूर्तिको ही अधिक समय चाहिये, फिर सकलज्ञता कैसे हो सकती है ? तथा निरावरण ज्ञान सकलज्ञ न हो सके तो वह ज्ञान ही नही है । भगवत अरहत सिद्ध प्रभुके केवलज्ञानमे कोई कमी नही है । जो ज्ञानकी वृत्ति है, वह पूर्ण है और जो विकाररूप वृत्ति है, वह किञ्चित् भी नही है । केवलीके ज्ञानका विलास अद्भुत है, इसमे तीन लोक व अलोक तथा भूत वर्तमान भविष्यत् सर्वकाल विकल्पकी रुकावट बिना स्पष्ट प्रतिभासित होता रहता है । ज्ञानका ही काम ज्ञान करता है, विकारका काम नही । एक शक्ति दूसरी शक्तिका काम नही करती, और न कोई शक्ति परिणमे बिना रहती है । केवली भगवानकी ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति स्वभावरूप परिणम रही है । परमात्माके ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियाके हेतु रति अरति भाव नही है । अत पूर्ण निराकुल परिणमनके साथ अपने ज्ञाता स्वभावरूप परिणम रहे है ।

प्रश्न—यदि ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया अर्थात् रागद्वेपमयी वृत्ति ज्ञानसे प्रकट नही होती है तब यह क्रिया व इसका फल रूप आकुलता कैसे प्रकट होती है ? इसके उत्तरस्वरूप श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य विवेचन करते है—

उदयगदा कम्मसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बधमणुहवदि ॥४३॥

उदयगतभावोमें अनुरक्तके बधका अनुभव—जीवके कषायभावको निमित्त पाकर बँधे हुए कर्म अपनी अवधि समाप्ति होते ही स्वभावसे उदयको प्राप्त होते है उनके निमित्तसे

शुभ अशुभ कर्म फल व्यक्त होता है। यदि आत्मा उनमे रागद्वेष न करे तो उस कर्म फलके कालमे भी बध नही होता, परन्तु उन कर्म फलोमे जो मोहित हो, रागी हो, द्वेषी हो, वह बन्धको अनुभवता है। ससारी जीवके तो पुद्गलकर्म उदयागत है ही। यह उदय पुद्गलकर्मके परिणमनसे है इसको निमित्त पाकर जीव सुखी और दुःखी होता है अथवा बाह्यविभव व विपदाओका समागम होता है। यहाँ ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे अंतरमे ज्ञानमय परिणमता है वह हो रहे कर्मफलमे एकत्व नही करता किन्तु कर्मफलोमे ही "मैं कर्म करता हू, मैं कर्मफल भोगता हू" इस प्रकार अनुभव करने वाला मोह राग द्वेषसे परिणत होता है अतएव ज्ञेयार्थपरिणमन रूप क्रियासे बध होता है। पदार्थोको जानकर इष्ट अनिष्ट भाव करना ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया है। इसके फलस्वरूप बन्ध हो जाता है। इस प्रकार यही निश्चित सिद्ध हुआ कि क्रिया व क्रियाका फल ज्ञानसे नही होता है किन्तु मोहके उदयसे होता कर्मके उदयसे नैमित्तिक भाव जो होता है वह इतना ही सात असात आदि रूप है वह भी आत्मचारित्रगुणका विकार है उसमे एकत्व करना मोहका कार्य है, ज्ञानीके भ्रमका विनाश होनेसे मोहकी योग्यता है ही नही। अत कर्मका उदय बधका कारण नही और न ज्ञेयका जानना रागद्वेषका कारण है निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनासे च्युत हुआ यह जीव अपनी अवस्थामे मोहरूप विशेष करता है तब मोहमूलक रागद्वेष होने से कर्म प्रकृतिके बध-स्थितिका बधन अनुभागका सम्बन्ध लेते हुए प्रदेश बधकर आत्माके एक क्षेत्रावगाहमे स्थित हो जाते है। इसमे मोह रागद्वेष अतरंग निमित्त कारण है इसके विपाकसे हुए कर्म बन्धके उदयको निमित्त पाकर फिर विकल्पको अनुभवता और यह परंपरा तब तक चलती है जब तक विभावसे एकत्व नही तोडा जाता। मलीन अवस्थामे भी आत्मा स्वभावसे है परभावसे नही। जिस भावसे मैं नही उसकी एकताका विकल्प मिथ्या है अहित है। भगवान केवलीका ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ अतीन्द्रिय है उनके ज्ञानमे त्रिलोक त्रिकाल असमान होनेपर भी ज्ञेयार्थ परिणति, इष्टानिष्ट बुद्धि नही होती है यही सुखका मूल है। ज्ञान ज्ञान बना रहना सुख है। कर्मका उदय होनेपर भी ज्ञान बधका कारण नही होता किन्तु बधके कारण तो रागादि अध्य-वसान भाव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे ज्ञेयार्थपरिणतिरूप क्रिया नही होती है और इस कारण ज्ञानसे बध नही होता है बधक तो उदयमे जुडने वाला जीव है।

अब श्रीमत्केवली प्रभुको विहारादि क्रिया भी क्रियाके फलको अर्थात् बधनको नही करती है ऐसा अनुशासन करते है—कहते है। भगवानके अनुरूप यथायोग्य अपना उपयोग नही बनता, तब इस प्रकार अपने को बनाना अनुशासन ही तो है। प्रभुका शासन कभी न बदलता और न कभी मलिन होता है। यहा आचार्यदेव सर्वज्ञदेवकी निश्चित सहज सुव्यवस्था को कहते है।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसि ।
अरहताण काले मायाचारोव्व इत्थीण ॥४४॥

सकलपरमात्माके अकषाय योग—चारित्रमोहके बिना विचार नही होता । अरहत के विचार भी नही, क्योकि चारित्र मोह नही होता । अन्तरगपरिणतिसे वे तो सिद्धकी तरह हैं। भगवानकी जो क्रिया होती, वह तो योग निमित्तसे होती । योगको यह आवश्यकता नही कि वह विचार होय तो होय । योगके प्रवर्तन करनेके सहयोगकी आवश्यकता नही । दिव्यध्वनि का भव्य जीवोका भाग्य और उनका वचनयोग सहयोगी है । दुनियामे कोई काम पुण्य पापके बिना नही होता । यह निमित्तकी दृष्टिसे वर्णन है, उपादानकी दृष्टिसे नही । निश्चयसे तो निजकी परिणतिसे ही उसकी परिणति है ।

दृष्टान्तपूर्वक प्राकृतिक क्रियाका विवरण—यहा मेघका दृष्टान्त दिया गया है । जैसे मेघ गरजता है, परन्तु वह विचारकर नही गरजता या मेघ चलता है, तो वह विचारकर नही चलता । इसी तरहसे यह तो दृष्टान्त विहार और वचनपर दिया गया । जसे मेघका विहार और वचन बिना विचारके होता है, इसी प्रकार अरहतका वचन और विहार बिना विचारके होता है । अरहतमे विचार नही है । उनका मन तो द्रव्य मन है । जैसे मेघके आकारोमे परिणत हुआ यह पुद्गल इसका गमन भी हो रहा है, यह एक स्थानपर खडा भी है, यह गरजता भी है, अथवा पानी भी बरसता है इसी प्रकार भगवानका विहार भी होता है । वे एक स्थान पर अवस्थित भी होते है, उनके वचनोको गरजना, समझना और मेघकी तरह जलकी वर्षा भगवानकी दिव्यध्वनिकी वर्षा अमृतकी वर्षा समझना । तो जैसे मेघ अपनी कोई क्रिया विचार कर नही करता उसी प्रकार भगवानकी कोई भी क्रिया विचारकर नही होती । पुरुषके प्रयत्नके बिना जैसे मेघमे यह देखी जाती है उसी प्रकार केवलीमे भी ठहरने, चलने आदिकी क्रिया अबुद्धिपूर्वक भी देखी जाती है । इसी प्रकार ठहरने, चलने, विहार करने, धर्मोपदेश देने आदिकी क्रियाए मोहके उदयसे नही होती और उनके ये क्रिया विशेष होती भी है, तो उन क्रियाओसे कर्मफल जो बध है वह नही होता है । कभी-कभी आपमे भी क्रियाये हो जाती है, जिनका विचार नही होता । जैसे पैदल कही जाते है और बिना विचारे ही १० कदम आगे चल जाते है । तो यह पैदल चलना बुद्धिपूर्वक तो नही होता है । उस चलनेके निमित्तसे बध भी नही होता । जहा दिमाग लग रहा है, कषाय हो रही है उसकी वजहसे बध हो रहा है, इसी प्रकार भगवानके भी कोई क्रिया विचारसे नही होती । वह तो भव्य जीवके भाग्यसे होती है ।

वीतरागकी क्रियामें क्रियाफलकी अनुत्पादकता—भव्य जीवोके भाग्यसे वीतराग भगवान के जो जो क्रिया होती है वह क्रिया फलको पैदा नही करती याने बधको पैदा नही करती ।

केवलीकी क्रिया विचारपूर्वक भी नही होती तो भी उनके श्रीविहार आ गया। विहार वगैरहकी क्रियाए उनके होती ही रहती है। केवलीका विहार भी श्रीविहार आचार्यों द्वारा कहा गया है। केवलीके श्रीविहार इस प्रकारका शब्द कहनेमे श्रद्धा आती है। जैसे मेघ ठहरता है अथवा चलता है तो विना प्रयत्नके या विना विचारके ठहरता या चलता है, इसी प्रकार केवलीके मोहके अभावमे जो क्रियाए होती है वे उनके बन्धको पैदा नही करती। केवली भगवान ऐसे वीतराग है कि भगवान केवली हो रहे है तो आपके लिये कुछ लौकिक सिद्धि करने वाले नही रहे। वे तो भगवान ही रहे। वे दूसरोसे बातचीत मिलना जुलना भी नही करते। वे तो केवल भगवान ही गये, वे तो सबमे निराले, सबसे अलग, सबसे निर्मल भगवान हो गये। भव्य जीवोंके भाग्यकी वजहसे वे समवशरणमे बैठे होते है और उनकी क्रियाए होती है। वहां उनका कोई सम्बन्धी बैठा हो तो उनसे कोई भी बोल नही सकता। वे तो सबके लिये निराले हो गये। भगवान हो गये। भव्य जीवोका जो भाग्य है व निश्चयत उनके आयुका उदय है इस लिये वे यहां है, परन्तु यहां रहकर भी वे केवल सिद्ध की तरह है। ज्ञानी भी शरीरसे अपने आपको उपयोग द्वारा न्यारा रखता, इसी प्रकार केवली तो परमोपेक्षासे अपने शरीरसे न्यारे है। शरीरकी क्रिया इस प्रकार क्रिया विशेष होने पर भी बन्धको करने वाली नही होती। जिस जीवने वस्तुके स्वरूपको समझा और इसी तरहसे अपनेको भी वस्तुके एक सत रूप ही समझा, कदाचित बाह्य क्रियाए भी ऐसे जीवको हो जाए तो भी उसके उस क्रियाका बन्ध नही है।

निज ज्ञान दृष्टिमे कृतकृत्यता—हमारे लिये एक स्वतन्त्र निजज्ञानदृष्टि ही दुनियामे करनेकी चीज है और इसके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी चीज नही है। केवल इस दृष्टिके पाने पर ही मुनि श्रावक आदि सब धर्म सहकारी बन जाते। ज्ञान स्वभावकी दृष्टिके बिना सारा धर्म कर्म करना मात्र एक क्रिया ऊपरी चीज रह जाती है। जो मुनिराज तपस्या करते हुए दर्शनाचारसे यह कह रहे कि हे ८ अगवाले दर्शनाचार, तब तक मै तुमको पाल रहा हू जब तक तुम्हारे प्रसादसे मैं तेरे विकल्पसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालूं। तुम्हारी पालनक्रियासे रहित शुद्ध तत्त्वमे नही हो जाऊ तब तक तुम मेरे पास बने रहो। ज्ञानाचारो को भी सत्तारूप नही रखता है। वह कहता कि मै तुम्हारा तब तक पालन करता हू, जब तक तेरे प्रसादसे तेरेसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालू। ऐसा विरक्त, त्यागी ज्ञानी, क्या पर्यायोमे अपनी बुद्धि रखेगा, क्या अपने पास रहने वाले कमडल पीछीमे अपनी बुद्धि रखेगा, क्या शास्त्रोमे ही उसकी बुद्धि रहती होगी? उसकी बुद्धि तो केवल एक ज्ञानदृष्टिमे होती है, एक अलौकिक अवस्था, लोकोसे विरुद्ध अवस्था उसकी होती है। विरुद्ध अवस्थासे मतलब जैसा यहांकी प्रजा करे उससे उल्टी बुद्धि, उल्टे भाव उनके हो। उनका मोह एण्ड कम्पनीसे

स्तीफा हो गया। अब वे उसके सदस्य नही रहे, उससे अलग हो गये। जब दुनियासे ही वे अलग रह गये तो दुनियाके लोगोसे उनका क्या सम्बन्ध रहा ? वे तो केवल एक ज्ञानदृष्टिमे ही सदा रहते। उन्होने तो ससारसे पार होनेकी चीज अपनेमे रखी।

निजज्ञानदृष्टिमें कृतकृत्यता—विशुद्ध ही उनके सस्कार है, उन सस्कारोके फलसे यह बात पैदा होती कि केवली होनेपर सब क्रियाये बिना विचारोके अपने आप हो गईं। उनकी दिव्यध्वनि किसीकी प्रार्थनासे नही खिरती। इस प्रकार राग द्वेष मोहसे वे अलग रहते। उनकी माँ भी सामने बैठी हो तो वह माँ तो बेटा कहती हो परन्तु बेटा नही रहा। जो माँ का बेटा होता हुआ भी माँका बेटा नही रहा। न प्रेम, न राग, न आकर्षण कुछ भी तो उनमे नही रहा। भगवान तो केवल मूर्तिकी तरह ही है। मूर्तिमे और समवशरणमे बैठे भगवानमे केवल इतना ही फर्क है कि मूर्तिमे तो दिव्यध्वनि नही रहती और वहाँ दिव्य-ध्वनि रहती है। जो कुछ चीज आप समवशरणमे देखेंगे वह यहाँ भी देखलें। यहाँ भी तो उन्हीकी मूर्ति है। वहाँ समवशरणमे भी तीर्थंकरकी आत्मा नही दीखेगी। आप ही वहाँ कल्पनासे देखोगे तो वहाँ यह देखोगे कि तीर्थंकरका ऐसा स्वरूप है। वहाँ भी स्थापनासे ही तीर्थंकरको देखोगे। तो यहाँ भी तो कल्पनासे और स्थापनासे तीर्थंकरका स्वरूप देख सकते हैं। फर्क इतना ही है कि वहाँ तो उनके रहते हुए स्थापना की और यहाँ न रहते हुए स्थापना की। स्थापनासे ही आपने अर्हंतको समझा। यहाँ भी आप स्थापनासे ही अर्हन्तको समझे। जैसी शक्ल स्वरूप वहाँ देखोगे यहा भी वहा की तरह ही आ जायगा।

स्थापनाका भाव—भैया! स्थापनासे अरहत दोनो प्रभुदेह व मूर्ति दोनो ही जगह समझे गये। फर्क इतना ही है कि वहाँ है और फिर स्थापनासे कल्पना की और यहाँ उनकी आत्मा नही है, और फिर स्थापनासे कल्पना की। एक फर्क यह भी है कि वहाँ झट कल्पना की जाती थी और यहाँ विलम्ब होता। कितने आडम्बरसे यहाँ स्थापना की जाती है। पाँचो कल्याणक किये और फिर स्थापना हुई। ये सारे काम इसलिये करते कि बहुत काम करनेके बाद स्थापना गहरी हो जाती है, और हमारे भाव भी उनमे गहरी तौरसे माननेको तैयार हो जाते है। जैसे कई दिनोका और कई आड़म्बरोके साथ विवाह करनेसे विवाहका सम्बन्ध अमिटसा रहता था, परन्तु अब एक मिनटमें विवाह हो जाता है, जिसके फलसे यह देखा जाता कि तलाकमे देर नही लगती। इसलिए यह सम्बन्ध हमारा जो गहरा बनता है, वह इतने आडम्बरोके करनेसे होता है। इसी तरह कई काम करनेके बाद स्थापना करनेसे स्था-पना गहरी हो जाती है। यहाँ स्थापना गहरी बनानेके वास्ते, अरहतको जाननेके वास्ते इतना परिश्रम करना पड़ता, और समवशरणमे इतना काम नही करना पडता। वहाँ स्थापना जल्दी हो जाती है, परन्तु स्थापनाके लिये मूर्ति स्वरूप नही होय। यहाँकी मूर्तिका वैसा ही स्वरूप

होय जो समवशरणमे होता है तो भी कम समय लगे।

प्रभुदर्शनका भाव—दारोगा जी के मन्दिरमे यहाँ भी दो कृष्णवर्ण बडी मूर्तिया हैं। उनके दर्शन करके हमारी कल्पनाकी बात कहते हैं। पहली मूर्तिके पास जानेपर हमको जवाब मिलता कि तुम रागद्वेष आदिको छोडकर हमारी ही तरह ऐसे क्यो नही बैठ जाते ? दर्शन करते-करते हम दूसरी मूर्तिके पास पहुचते, तो वहाँ भी हमारी कल्पनाको जवाब मिलता कि ससारमे कही सार नही दीखता, इसलिये हम बैठ गये। ऐसा हमको वहाँ दर्शन करते हुए रोज विकल्प होता। हम भगवानसे वहाँ ऐसी ही बातचीत करते है और वहाँ ही हमे आनन्द आ जाता है। इसलिए यहाँ भी भगवानकी मूर्तिमे समवशरणकी तरह ही लाभ लिया जा सकता है। वहाँ और यहाँ इतना ही तो फर्क है कि यहाँ दिव्यध्वनि नही निकलती और वहाँ निकलती है। और स्थापनामे इतना फर्क है कि वहाँ भगवान मौजूद नही है फिर स्थापना करते और यहाँ भगवान मौजूद नही है, फिर स्थापना करते। वैसे वहाँ भी कल्पनासे अरहतको जाना और यहाँ भी कल्पनासे अरहतके स्वरूपको जाना। अत जिसकी मूर्ति बनाओ, उसके मूर्तिमे दर्शन करो, केवल मूर्तिके दर्शन मत करो। ऐसे भव्य जीवोका जीवन बहुत पवित्र जीवन था। हमे भी अपना पवित्र जीवन बनाना है। दुनियामे कोई हमारी मदद नही करेगा। यहाँ हम असहाय है, अशरण है, अपनी निर्मलता बनानेसे तो हमारे लिए हम आलम्बन है, और यदि हमारी निर्मलता नही बनेगी, तो हमारे लिए जगतमे कोई आलम्बन नही बनेगा।

धर्मपालनमे समताका उद्देश्य—दर्शन करके, स्वाध्याय करके साधुसमागमसे, चारो भावनावोको भाकर अपनी निर्मलता बढाओ तो इसका फल यह होगा कि हमारा स्वरूप जिनकी चर्चा करते, उन केवलीकी तरह ही हो जायगा। इसलिये चारो भावना भावो। सब जीवोमे मेरी मित्रता है। किसी जीवको दुख पैदा न होय, ऐसी इच्छाका होना मैत्री है। किसीके दुख उत्पन्न न होय, ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। गृहस्थियोकी और मुनियोकी मैत्रीमे फर्क होना है। मुनि दु खीको देखते है, परन्तु कमडलसे पानी पिलानेका विकल्प नही करते। ज्ञानी जीवकी मैत्री तो केवल यह ही होती है कि वह ऐमी भावना भाये कि जगतमे किसीको भी दुख न हो, इसका मोह मर्म मिट जावे तो स्वय सुखी हो जावे। यह है मित्रता की भावना। किसी ज्ञानी जीवको देखकर हर्षका परिणाम होय कि मैने सब कुछ पा लिया है, यह कहलाती है प्रमोदकी भावना। फिर आती है दया। दया किसे कहते हैं ? इसका दुख दूर हो, इस प्रकारका अपनेमे परिणाम आ जाना, यह दया है। राग, द्वेष, मोहरहित ज्ञानी पुरुषोकी दया यह होती है कि इनका अज्ञान दूर हो जाय। इन्होने अज्ञानके दूर होनेका स्वाद लिया। अज्ञान ही उनको दुनियाका दुःख रहा है और सारे दुःख तो उनकी दृष्टिमे क्षणिक है। केवल अज्ञान मिट जाय और उनके ऐसी ज्ञानदृष्टि ही रह जाय, ज्ञानियोकी इतनी ऊची दया

होती है। अज्ञान दूर हो जाय तो दुःखकी जड ही मिट जाय। जिसके विपरीत वृत्ति होय तो न प्रेम करना और न द्वेष करना। विपरीत वृत्तिसे द्वेष करना भी बुरा और प्रेम करना भी बुरा। रागको पैदा होनेका मौका ही मत दो। जैसे कटना कुत्ता बैठा हो, तब कहते है कि न तो इसे पुचकारो और न इसे मारो, दोनो ही काम मत करो। इसी प्रकार दुःख बुद्धि वाले किसी जीवसे न प्रेम करो और न द्वेष करो।

चारो भावनावोंमे समताकी झलक—एक समता भावको सब जीवोंमे रखो। समता आई कैसे ? सब जीवोंसे मित्रताका परिणाम क्या ? मित्रता करनेसे सबमे समताभाव आ ही गया। गुणीको देखे हर्ष किया तो उनके बराबर कैसे बना ? गुणीके गुणकी जो भावना करी, उस गुणकी भावनासे ऐसी विशेषता पड गई कि ठीक अन्तरगके निकट पहुच गया, इस तरह से उसके निकट पहुचा। प्रमोद करनेसे उसके निकट पहुच गया। दयासे कैसे निकट पहुचा ? हमारे पेटमें अन्न है अर्थात् हमारा पेट भरा हुआ है और दूसरेका खाली है। यदि दूसरेका भी पेट भर जाता है तो वह भी हमारे समान हो जाय। इस प्रकार दयासे भी समता आ गई, सब जीवोसे मित्रता करना, सब ज्ञानी जीवोका प्रमोद करना, दुःखी जीवपर दया करना, दुःखीको अपने बराबर बना लेनेकी पर्याय है, समताका प्रयत्न ही तो उन सबसे होता। विपरीत बुद्धिसे माध्यस्थ भाव रखा, उसमे भी तो समताका भाव ही है।

स्वरूपपरिचयका विवेक—इस समतापरिणामसे यदि चारो प्रकारकी भावना करके निर्मलता बढाओ, तो यह निर्मलता ही आपके कामकी चीज होगी। दूसरोके बहकावेमे मत आओ और अपनी ओर ही दृष्टि डालो। जैसे किसी लडकेसे कोई कह देते कि तेरा कान तो कौवा ले गया। वह लडका यह सुनकर रोता जाय और कौवेके पीछे लगा यह कहता जाय कि मेरा कान तो हाय कौवा ले गया। कोई ज्ञानी उससे कहे कि नही तेरा कान कौवा नही ले गया तो उसकी समझमे नही आवे और वह कहे कि मुझे बहुतसे आदमियोने कहा है कि मेरा कान कौवा ले गया तो मै तुम्हारी बात कैसे सच मानूं ? तब ज्ञानी कहते कि बात तो तेरी ठीक है, परन्तु तू अपने कानको तो टटोल। कानको टटोलकर लडका कहता है कि अरे नही ले गया, हमारे पास ही हमारा कान है, इसी तरह कोई कहता कि हमारा सुख उसने बिगाड़ दिया। अपने अन्दर टटोलकर देखो कि तेरेमे तेरेसे बाहरकी कोई चीज आई क्या ? अपने स्वरूपको टटोलकर देखनेके बाद यह बात मालूम हुई कि इसमे तो मैंने बड़ी कुबुद्धि लगा रखी है, इसमे तो परपदार्थका प्रवेश ही नही है। वह तो अपनी सत्तासे स्वयं सत्तावान है। मेरेमे बडी शक्ति है। मेरी ज्ञानशक्ति मेरी आत्माके प्रदेशोंसे बाहर नही जाती है। मेरेमे तो बडी भारी शक्ति है। उस ज्ञानशक्तिसे परका कोई काम नही होता है। न वह किसी परको करता और न कोई पर उसको करता। पर तो अपने आप ही को करता और उसकी

अवस्था ही उसका कर्म है। यह अमृत बुद्धि जीवके आ जाय, तो वह सब कुछ है। यह नही है तो मिथ्याबुद्धि स्वय नष्ट कर देने वाली है।

निमित्त उपादानमे परस्पर अक्रिया—जैसे कहते है कि इजनने डिब्बोको चलाया। परन्तु यह सब गलत बात है। इजनका निमित्त पाकर वे डिब्बे अपने आपको चलानेकी क्रिया करने वाले बने। इजन अपनेमे क्रिया कर रहा है और उसका सयोग अथवा निमित्त पाकर यह जो डिब्बे है, वह चले तो अपनी परिणतिसे चले। इजनके पहियोके चलनेमे वह नही चले। वहाँ ऐसी स्वतन्त्र परिणति देखो तो वह डिब्बा अपनी ही क्रिया अपने आपमे कर रहा है। इसी तरह कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी क्रिया नही करता, वे सब तो अपनी सत्तामे ही रहते है। जैसे १० हाथ दूरपर एक लड़का खडा हुआ कुछ अगुलीके इस प्रकारके इशारे कर रहा है। जिससे कोई आदमी चिढ रहा है। वहाँ अज्ञानी आदमी उस लडकेसे कहता कि तुम उसे क्यो चिढाते हो, और ज्ञानी उस बालकसे ही कहता कि तुम क्यो चिढते हो? वह तो अपनी चेष्टा स्वय कर रहा है, वह तुम्हे चिढा कहाँ रहा है? जब चेष्टा करते-करते उसके हाथ थक जायेंगे तो वह चेष्टा करना बन्द कर देगा। जैसे तुम उससे कहते कि क्यो चिढाते हो, तो वह यही उत्तर देगा कि मै चिढा कहाँ रहा हू, मैं तो अपनी चेष्टा स्वय कर रहा हू? वह मेरी चेष्टामे चिढता है तो चिढे। इस तरह वह दूसरेका कुछ नही बिगाड रहा है। वास्तवमे उस लडकेने नही चिढाया। व्यवहारमे निमित्त पडनेके कारण व्यवहारी जीव यह कह देता कि इसने उसे चिढाया। इसी तरह दुनियामे हमारा कोई कुछ नही करता, परन्तु उनका निमित्त पाकर चारित्र ज्ञानमे जो विकार होता है, उससे हम यह कहते हैं कि उसने हमारा काम बिगाडा, वरन् निश्चयसे हम तो केवल अपना आपको ही करते और दुनिया वाले भी केवल अपने आपको ही करते, और तो और हम अपने शरीरके ही कर्ता नही बन सकते। जिस शरीरमे हम रह रहे उस शरीरके ही कर्ता धर्ता नही, और तो जाने दो, जिन कषाय भावोमे हम रह रहे, उनके भी हम कर्ता धर्ता नही। निज कषाय भावोको मैं करने वाला नही, तो दुनियामे किसीका करने वाला मैं कैसे बन गया? ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि रखने वाला जो जीव है, वह अपने आपको ही करता है। स्वातन्त्र्य स्वरूपकी दृष्टि रखने वालेके कोई दिन ऐसा आ जायगा कि यह परिणति केवली जैसी हो जायगी और वहाँसे भी चलकर सर्वज्ञ बनकर सिद्ध भगवान हो जायगा।

प्रभुके उदयकी निष्फलता—पहिले यह बतलाया था कि केवली भगवानकी जो क्रिया होती है वह बन्धको नही करती है, क्रियाफलको नही साधती। इस बातका वर्णन करनेके बाद अब कहते है कि जब ऐसी बात है कि केवली भगवानकी क्रिया बन्धको नही करती, तो इसके मायने तो यह निकले कि तीर्थंकर भगवानके पुण्यका उदय निष्फल है, बेकार है। हाँ

यही तो है । पुण्यका उदय समवशरणके रूपमे अनेक लोगो द्वारा पूजे जानेमे पुण्य उदय तो है, परन्तु यह पुण्यका उदय अकिंचित्कर ही है । अरहत देवको उसका कुछ फल नही हो रहा है, और उनके द्वारा जो साधन जुटे है, उससे भी उनको कोई फल नही होता । इसका अवधारण करते है । कहते है यहाँ अवधारण शब्दका प्रयोग हुआ, जिससे यह सिद्ध है कि यही बात प्रयोगरूपसे आचार्यदेवके श्रद्धानमे अकाट्य है, और इस प्रकरणको करते हुए तो उपयोग इसी प्रकार बन रहा है । यहाँ तीर्थंकर परमदेवका पुण्यफल अकिंचित्कर ही है अर्थात् उनके आत्मसुखमे रच भी बाधक नही और न बधक है, यह कहते है—

पुण्णफला अरहता तेंसि किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगित्ति मदा ।।४५।।

विशिष्ट पुण्यफल—अरहत पुण्यफल वाले है । जो पुण्य पच महा कल्याणकको पूजा करावे, तीन लोककी विजयको जो करे, ऐसा तीर्थङ्कर भगवानका जो पुण्यफल है, उसके फल से उनकी आत्मामे कोई फल नही होता । क्योकि उनकी आत्मामे मोह रागादि भाव नहीं है । शुद्ध ज्ञानदृष्टिका आवरण करने वाले, अपने ही अन्दर अनादिसे अनन्त तक प्रकाशमान ज्ञानस्वभावपर दृष्टि न पहुच देने वाले, उसमे अडचन पहुचाने वाले मोहादि भावोसे वे विरहित है, इसलिये उनकी क्रिया क्षायिकी क्रिया है । हाँ कर्मके उदयसे क्रियायें हैं, एतावता औदयिकी है । यदि भगवानकी क्रियाको औदयिकी न कहे तो विहार करते है, चलते है, उठते है, बैठते है, ये सब स्वाभाविक क्रियायें हो जायेगी, सो बात नही, क्योकि ये सब कर्मके उदयका काम हो रहा है, परन्तु वह कर्मोदय क्या उदय है, जो कर्मबन्धको न पैदा कर दें । औदयिकी होने पर भी कर्मोके क्षयका ही कारण है । कर्मोके उदयकी दृष्टिसे देखो तो वह औदयिकी है, और उसका फल क्या होता, उस दृष्टिसे सोचो तो उनकी क्रियाको क्षायिकी कह दो ।

प्रभुके पुण्यफलसे सहज परम उपेक्षा—अरहन्त भगवान कैसे है कि समस्त अच्छासे अच्छा पुण्य कर्म उदयमे आने वाला है ऐसे पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल है । तीन लोकपर जिन्होने विजयकी है, अधोलोकके जीव भी जैसे भवनेन्द्र व्यन्तरेन्द्र आदि जिनको आकर नमस्कार करते है, ऐसे वे अरहन्त है जिनको की देव इन्द्र आदि भी नमस्कार करते है । यहां मनुष्येन्द्र चक्री आदि व तिर्यंचोके इन्द्रसिह आदि भी नमस्कार करते है जिनको इन्द्र भी नमस्कार करें तो उसमे उस जाति भरकी भक्ति आ गई । इस तरह वे त्रिलोकीनाथ है, फिर भी वे अत्यन्त वीतराग जो अपनी क्रियासे कुछ काम नही निकालते फिर भी ससारके प्राणी अपना काम निकाल ले जाते है । यहाँ भी कोई दूसरेका कुछ काम नही करता, मात्र अपनी ही चेष्टा करता है । इस तरहसे अरहतने भी अपनी ही चेष्टा की । जैसे हम अपना ही काम करते, इसी तरह वे भी अपना ही काम करते और हमारे निमित्तसे दुनियामे कुछ हो जाता

है, इसी तरहसे उनके निमित्तसे भी दुनियामे बहुत कुछ हो जाता है। उनकी दृष्टिसे वह पुण्य का उदय अकिंचित्कर ही है। जैसे यह लक्ष्मी जिन्हे नही चाहिये उनके चरणोमे लोटती है और जो इसकी आराधना करते है फिर भी लक्ष्मी वहाँ फटकती ही नही। इसी तरह वह पुण्य लक्ष्मी ही तो है। सब स्थानोमे रहकर भी वह अरहत भगवानकी हालतसे वर्णन तो है ही, फिर भी किसीमे शका न हो जाय, इसके लिये माननेकी प्राकृतिक ही ऐसी बात होती कि समवशरणमे रहते हुए भी, गन्ध कुटीर कमल आदि पर रहते हुए भी उनसे चार अगुल उनसे ऊपर रहते है।

तीर्थंकर भगवानकी महनीयता—तीर्थकर भगवान सर्व महनीय है, विशाल बलशाली है, उनकी अपूर्व महिमा है फिर भी वे स्वरूपमग्न है। बलकी बात देखो भैया! कितना बल है? जैसे बीस बकरोका जितना बल है उतना एक गधेमे होता है, २० गधोका बल एक घोडेमे होता, २० घोडोका जितना बल एक भैसेमे होता है, २० भैसोका बल एक हाथीमें होता है, कितने ही हाथियोका बल एक सिहमे होता है और कितने ही सिहोका बल एक अष्टापदमे होता, कितने ही अष्टापदोका बल एक नारायणमे होता, कितने ही नारायणोका बल एक चक्रीमे होता, कितने ही चक्रियोका बल एक साधारणदेवमे होता, कितने ही देवों का बल एक इन्द्रमे होता और अनेक इन्द्रोका बल एक तीर्थंकर भगवानकी अंगुलीमे होता। यह बल तो गृहस्थ तीर्थंकरका है, अर्हन्त होनेपर तो अनतशक्ति आ जाती है। दुनियाके विजयी मल्ल जो होते है उन्हे यह आवश्यकता नही कि वह दुनियाके मल्लोसे लड लडकर दुनियामे विजयी मल्ल कहलाये, उस एक मल्लको ही पछाडनेकी उसको जरूरत है। तभी वह विजयी कहलाने लगेगा। इसी तरहसे तीन लोकके नाथ भगवान है। वहाँ यह आवश्यकता नही है कि उनको सारे जीव आकर नमस्कार करें और सिलसिलेसे उनकी भक्तिमे अपना नाम लिखावें। स्वर्गोंका नाथ इन्द्र उनके सामने झुक गया, मनुष्योका नाथ चक्रवर्ती उनके आगे झुक गया, तिर्यञ्चोका इन्द्र सिह भी उनके सामने झुक गया तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि सारे स्वर्गों के देव, सारे मनुष्य और सारे तिर्यञ्च उनके सामने झुक गये। तीनो लोकोंके सारे जीव भगवानकी भक्तिमे आ गये। ऐसे तीन लोकोंके विजयी अर्हन्त भगवान बन गये। उन्होने मोहादि भाव जीता, इसलिये भी वे तीन लोकके विजयी कहलाये क्योकि मोह तो तीन लोकका विजयी कहलाता और भगवानने मोहको जीत लिया। ऐसे अरहतकी जो क्रिया होती है वह सभीकी सभी कर्मके उदयके प्रभावसे हुई। उस क्रियाका ऐसा स्वभाव बन पाया इसलिये वह क्रिया औदयिकी ही है। परंतु औदयिकी क्रिया होनेपर भी वह कर्मका उदय व्यवहारसे अरहन्तका और निश्चयसे कर्मका होता है। भगवानकी जो क्रिया होती है उस क्रियामे भव्य जीवोका पुण्य व्यवहारसे निमित्त होता है।

दिव्यध्वनिमें योग व भव्यभाग्यका निमित्त—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि भव्य जीवोके पुण्यके उदयसे यह बात सम्भव लगती कि उनके पुण्यके उदयसे भगवानकी दिव्यध्वनि आदि क्रियाए हुईं, परतु उनकी जो दिव्यध्वनि आदि क्रिया कर दे, ऐसे उस पुण्य कर्ममें क्या ताकत है ? उत्तर—यदि उनकी क्रियाको केवल भव्य जीवोका पुण्यफलका ही कारण कहा गया हो तो ठीक नही बनता। वह क्रिया तो निश्चयसे उनके ही योगका फल है। भव्य जीवका पुण्य उदय तो केवल निमित्त ही है। उनमेसे जो वचन वर्गणाए निकलने लगी तो वह भव्य जीवोके पुण्यके उदयका फल है। पुण्य कर्म किसीके ठोकर नही मारता। सब अलग-अलग जगह रहते फिर भी क्रिया होती है। निमित्तनैमित्तिक सम्बध ऐसा है कि निमित्तकी तो उपस्थितिमात्र है, उपादानमे क्रिया अपने आप हो जाती है। कितने ही कार्य ऐसे होते है कि बहुत दूर-दूर रहते है, कोई ठोकर भी नही लगाता, फिर भी निमित्तनैमित्तिक कार्य होने लगते है। भव्य जीवोका भाग्य और वचन दोनो अलग-अलग है, फिर भी कार्य दोनोका ही हो रहा है। उस समय यह अरहतका बडा अपराध है, (प्रशसामे) कि बडे होकर छोटोमे रह रहे, परन्तु जब छोटोमे रह रहे तो जहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, वहाँ तो काम करना ही पडेगा। बडा छोटोमे रहेगा तो उसे काम तो करना ही पडेगा, नेता यदि प्रजामे रहेगा तो उसे काम तो करना ही होगा। यदि वह सिद्धोमे चला जाय और यहाँ न रहे या योगनिरोध हो तो काम नही करना पडेगा। हम छोटोमे रहेगे तब तक तो सब क्रिया करनी ही पडेंगी। ऐसी प्राकृतिकता रहती ही है। अब यहाँ यह प्रश्न उठा कि सिद्धान्तमे ऐसा कहा गया कि एक द्रव्यकी क्रियाका असर दूसरे द्रव्यकी क्रियामे नही होता, तो भव्य जीवोंके पुण्यका असर भगवानमे कैसे आ गया ? निश्चयमे यही उत्तर आवेगा कि भव्य जीवोके पुण्यके प्रतापसे भगवान की दिव्यध्वनि नही खिरती, किन्तु योग व विशिष्ट पुण्यफलसे खिरती है।

प्रभुकी वृत्तिमे क्षायिक भाव—जिसके उदयसे ही सर्व कर्मका बध होता, ऐसा जो मोहनीय कर्म है, उस कर्मका क्षय हो जानेके बाद जो उपरजक भाव है, उनका अभाव होनेसे वह क्रिया चैतन्यके विकारका कारण नही हो सकती, वह क्रिया औदयिकी तो है, परन्तु उस क्रियाका लाभ बन्ध नही है, इसलिए तथा उस कर्मके उदयका कार्य क्या है ? मोक्ष, इसलिये केवलीकी क्रिया क्षायिकी ही है। जैसे कि किसी वृत्तपरसे कोई फल टूटा और वह फल टूटकर उसी डठलमे फिर तो नही लगता, यह फल तो मुक्तिके लिये टूटा। इसी तरहसे जो कर्म उदयमे आकर टूटा वह फिर हमारे नही चिपक सकता, वह दूसरी शक्ल बनाकर आ जाय यह हो सकता है। वही फल फिर दूसरी तरहके परमाणु लेकर पेड़मे दूसरे किसी वर्ष चिपक जाय यह हो सकता है, परन्तु वह फल उसी शक्लमे फिर उस पेडमे नही लग सकता। कर्म उदय मोक्षके लिये ही, छूटनेके लिये ही आते, परन्तु वे उदयमे आकर फिर उसमे नही चिपक

सकते। भैया! देख लिया ना अधेर!! कर्मका उदय मोक्षके लिये होता। भगवानकी औदैयिकी क्रिया एक तो कर्मबधका कारण नही और इसमे मोक्षका कारण देखा गया, इस लिये वह क्रिया क्षायिकी ही है। कर्मके उदयके विना वह क्रिया नही होती, इसलिये वह औदायकी ही कही गई। ऐसी औदैयिकी क्रिया उनके बन्धका कारण नही होती, वहाँ कर्म छूटता मात्र है इसलिये क्षायिकी है।

राग द्वेषकी औपाधिकता व विक्षति—यहाँ एक प्रश्न है कि कर्मके उदयसे तो सुख दु खकी क्रिया होती, उससे तो बन्ध नही होता, परन्तु रागद्वेप आदि भावोसे बन्ध होता और कर्मके उदयसे रागद्वेप आदिकी क्रिया नही होती, क्योकि वह अनादिमे है, फिर मुक्ति कैसे हो ? उत्तर—यदि कर्मके उदयसे रागद्वेष आदिकी क्रिया न हो तो कर्म छूटे ही नही। क्योकि वह स्वभाव बन गया। जैसे सुख दु खका कारण कर्म साता असाता वेदनीय कर्म कहा है इसी तरह रागद्वेषके कारणभूत मोहनीय कर्म कहे गये हैं। जिनके मोहनीय कर्म शिथिल हो जाते है, उनके सुख दु खमे राग नही जाता। अनादिसे परम्परा है, किन्तु विवक्षित रागद्वेष तो कारण पाकर हुआ वह क्षणिक है। कारण व उपकारणोंके अभावमे रागद्वेपका भी क्षय हो जाता है।

प्रभुकी क्षायिकी क्रिया—यहा एक शका यह भी है कि जब कर्मके उदय आनेपर रागद्वेष होते तो उदयमे भी आते रहेगे और फिर बध होते भी रहेगे, तब छूटना कैसे हो ? समाधान—यह दोनो पदार्थ सत्तावान है। आत्मा और पुद्गल कर्म ये प्रकृतिसे परिणमते ही रहते है। प्रकृतिसे कर्मका भी मन्द अनुभाग आ जाता है; परन्तु उस मन्द अनुभागकी हद होती है। उस मन्द अनुभागके समयमे आत्मामे सभालनेकी सावधानी आई और कर्मबन्ध कम हुए और उसकी परम्परा कम होते होते समाप्त हो जाती है और कभी समय ऐसा आता कि वह कर्मबन्ध नही करता। औदयिकी क्रिया होने पर भी वह क्रिया बन्धको नही करती। यह कर्ममल्ल और आत्ममल्ल, दो मल्लोकी लडाई है। एक तरफका फैसला नही देना कि कर्मके आधीन आत्माको ही परिणमना पडता क्योकि आत्मज्ञानके अनुसार कर्मको भी तो मिटना पडता। कभी लडाई ठीक बनते-बनते किसीकी ऐसी बात बन जाती है कि कर्मोसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है। इसलिये अर्हन्त भगवानकी क्रिया औदयिकी तो है परन्तु क्रिया फलके नही करनेके कारण वह क्षायिकी ही मानी गई है। कर्मका फल अर्हन्त भगवानके स्वभावके विघातके लिये नही होता तब ही उनकी क्रिया क्षायिकी है। हम को भी यही सोचना चाहिये कि मैं भी एक निमित्तमात्र हूं और दुनियाके और लोग भी निमित्त मात्र हैं और यह कार्य अपने आप होते। किसी परपरिणतिमे अहकार करना अज्ञान है।

व्यर्थ कर्तृत्वका अहङ्कार—एक सेठ जी के चार लडके थे। एक कमाऊ था, एक

जुआरी, एक अन्धा और एक पुजारी, ये चार लडके थे। कमाऊ कमावे और सभी खावें। कमाऊकी स्त्री उससे रोज लडे कि तुम तो कमाओ और दुनिया भरके ऐरे गैर खाते है, हमे यह अच्छा नहीं लगता, इसलिये न्यारे हो जाओ। तब वह पिताजीके पास जाता है और कहता है कि हमारी स्त्री मानती नही है इसलिये हमे न्यारा करदो। पिताजी कहते है कि अच्छा तुम न्यारे होना ही चाहते हो तो न्यारे हो जाना, परन्तु न्यारे होनेसे पहले शामिल तीर्थयात्रा तो करलो। वे राजी हो गये। सबके सब ५ दिनके वास्ते यात्रामे एक शहरके पास ठहर गये। पहले दिन पिताने कमाऊ बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि सबके लिये बढिया भोजन लाओ। वह बाजार गया और उसने कुछ सामान खरीदा और उसे फिर नफे से बेचा और दो रुपये और कमाये और इस तरह २२) रुपयेका भोजन लेकर आया। दूसरे दिन पिताने जुआरी बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि बढिया भोजन लाओ। वह बाजार गया। वहा रास्तेमे कही जुआ हो रहा था, तो उसने वे २०) रुपये दावपर लगा दिये, उसका दाव आ गया और उसने २०) रुपये के ४०) रुपये कर लिये और उन रुपयोका कमाऊ लडकेसे भी अच्छा भोजन लेकर आया। तीसरे दिन अन्धे लडकेकी बारी आई। उसे भी २०) रुपये दिये गये। अन्धेको रास्ता दिखानेके लिये उसकी स्त्री गई। रास्तेमे अन्धेके एक पत्थरकी ठोकर लगी। तब उसने उस पत्थरको ही बीचमे से हटा देनेकी बात सोची, ताकि उसीकी तरहके और अन्धोंके उसकी ठोकर न लगे। उसकी स्त्रीने पत्थरको उठानेमे उसकी मदद की। जब वह पत्थर उखडा तो स्त्री चीख पडी कि यहा तो अशर्फियोंका हडा पडा हुआ है। उसने उन अशर्फियोमे से कुछ अशर्फियां ली और उनसे अच्छेसे अच्छा भोजन खरीदा और उस भोजनके साथ बाकी बची अशर्फिया भी उसने ले जाकर पिताको दे दी। चौथे दिन पुजारी लडकेकी बारी आई। उसको भी पिताने २० रुपये देकर भोजन लानेको कहा। उसने सोचा कि पहले भगवानके दर्शन कर लू और पूजा आदिसे निवृत्त हो लूं, फिर भोजन लेकर घर चलूंगा। उसने उन रुपयोकी सामग्री आदि खरीद ली और १० बजे पूजन के लिये बैठा तो शामके ५ बज गये और बैठा ही रहा। यह देखकर मदिरके अधिष्ठाता देव को चिन्ता हुई कि इसके पीछे सारे घर वाले भूखे बैठे होंगे। देवताने उस जैसा ही रूप बनाया और बैलगाडियोमे बहुत अच्छेसे अच्छा भोजन लादकर पुजारीके पिताके पास वह गया और कहा कि पिताजी यह लीजियें भोजन। पिताने कहा कि शाबाश! आज तो तूने कमाल कर दिया। जा सारेके सारे गांवको आज यहा ही भोजनका निमन्त्रण दे आ। सारेके सारे गाँवको भोजन कराया गया, भिखारियोको भर पेट भोजन कराया और खूब ठाटबाट किये। जब शामके ६ बजे तो पुजारी पूजनसे उठा और सोचा कि मेरे पीछे आज तो सबके सब भूखे मरे। उसके पास जो पूजाके उपकरण आदि थे उनको भी उसने वही छोड दिया

और पिताके पास भागा भागा गया और उनके चरणोमे पडकर कहा कि पिता जी मुझसे बडा अपराध हुआ। तब पिता बोला कि अरे तूने तो इतना बडा भारी चमत्कार दिखाया। तब बेटे ने अपनी कथा सुनाई और बोला कि आप लोग तो भूखे ही पडे होगे। तब पिताने भी उसको सारी बात बताई। तब पिताने उस कमाऊ पूतसे कहा कि अकेले अकेलेका पुण्य फल देखा, अब भी यदि तुझे न्यारा होना होय तो होले तुझे न्यारा कर दूं। तब कमाऊ लडका बोला कि नही पिताजी मेरा पुण्य तो दो रुपयेका है, मै न्यारा होकर क्या करूंगा? इसलिये जगतमे कुछ भी हो रहा हो उसे देखकर हमे यह नही समझ लेना चाहिये कि मैं जगतका कुछ करता हू।

प्रभुके कर्मोदय कर्मक्षयार्थ—जगतके सारे काम अपने आप हो रहे है, मैं जगका क्या काम करता हू, इस प्रकारका विचार करके अपनी आत्माके स्वरूपको देखो और किसी प्रकारका विकल्प न करो। भगवानके कर्मका उदय भगवानके स्वभावको नष्ट करनेमे समर्थ नही हो सकता। कर्मका उदय तो रागीके बधका कारण होता, यह तो आगमका वचन है, परन्तु भगवानके कर्मके उदयका कोई फल नही है। भगवानकी क्रिया औदयिकी तो है, परन्तु मोहके उदयसे रहित होनेसे औदयिकी क्रिया भी बन्धका कारण नही है। यहाँ कर्मके उदय सब जगह चल रहे है, सदा चल रहे हैं, परन्तु अपनी शुद्ध आत्माकी चर्चामे चलते रहे तो हमारे स्वभावश्रद्धानका विघात नही करते। द्रव्यमोहका उदय होनेपर भी यदि शुद्ध आत्माके भावसे बध नही हुआ तो उसके बन्ध नही होगा, मोक्ष होगा। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया कि केवली जीवका जो कर्मका उदय है, उसके उदयसे परिणामोमे विकार नही होता।

आत्मपौरुषकी कार्यकारिता—इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हमे भाग्यके भरोसे ही नही बैठना चाहिये। एक कर्मके ही आधीन बनकर नही रहना चाहिये। अपने आपको कर्मके आधीन नही बनना चाहिये। हमे अपना बल समझना होगा और पूर्ण स्वरूपकी दृष्टि रखनी होगी कि हम जो कर सकेंगे तो पुरुषार्थसे कर सकेंगे। प्राणी अपने आपमे ही परिणमता और किसीका कुछ नही कर सकता। इसी तरह जगतके सारे जीव अपने मे ही परिणमते, जगतका कुछ नही कर सकते। ऐसे ही ससारमे हम अपने पुरुषार्थसे ही तिर सकेंगे, ज्ञानदृष्टिके बलसे तिर सकेंगे और दूसरोके बलसे नही तिर सकेंगे। अपने ज्ञानस्वभाव की वजहसे तिर सकेंगे, इसलिए मोह आदि विभावोमे पडकर हमे अपनी आत्माको बरबाद नही करना चाहिये, और एक आत्मदृष्टिको अपनाना चाहिये तभी हमारा कल्याण हो सकता है, और हम ससाररूपी समुद्रसे तिर सकते हैं।

अब यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि केवली भगवानकी जो समवशरणादि लक्ष्मी है उनकी नही, लोगोके कहनेमे ऐसा आता है कि समवशरण आदि, लोकपूजा आदि जितने भी

हैं, वे सब पुण्यके विपाक है । ये सब ठाठ-बाट उनके स्वभावका घात नही करते । ये भगवान के स्वभावका घात नहीं करते । तो कहते कि जब कर्म केवलीके स्वभावका ही घात नही करते, तो उनकी तरह सभी जीवोके स्वभावका घात नही करते होगे, तो फिर ऐसा कहनेमे अनोखी बात क्या बताई ? साख्याभिनिवेशी शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जितने भी जीव है, सभी जीवोके स्वभावका कर्मघात नही करते । प्रयोजन यह है कि तत्त्व दो है, जीव और प्रकृति, इनमेसे जीव जो है, वह सत्य जीव है, पुरुष है, वह हर प्रकारकी गडबडियोसे रहित है, केवल अपने स्वरूपका लाभ करता है, और कोई बात यह जीव नही करता । यह जितना भी ठाट-बाट है सब प्रकृतिका है । इस तरह केवलीकी तरह सभी जीवोमे स्वभावका घात नही देखा जाता, इसका समाधान करते है ।

जदि सो सुहोव असुहो ण हवदि आदा सय सहावेण ।
ससारो विन विज्जदि सव्वेसि जीवकायाणं ॥४६॥

शुभाशुभभावारूपता—यदि जीव अपने उपादानसे शुभ अशुभरूप न होवे तो फिर सभी जीवोंके ससारका अभाव हो जायगा । सो ससारका अभाव नही है, यह तो स्पष्ट हो रहा है । जहाँ यह कथन है कि जीव शुभाशुभरूप नही परिणमता, वह परम शुद्ध निश्चयनयका कथन है, सर्वथा ऐसा नही है । इस ४६वी गाथामे केवलीकी तरह कर्मों द्वारा सभी जीवोके स्वभावके घातका अभाव निषिद्ध करते, कर्म सभी जीवोंके स्वभावका घात नही कर पाते ऐसा नही है । निश्चयके विषयको अशुद्धभाव होनेपर भी पर्यायमे घटाने वाले सत्पथसे भ्रष्ट हो जाते है । एक सन्यासी और एक शिष्य था । सन्यासी शिष्यको प्रतिदिन यही पढाया करता था कि आत्मा पुरुषका कर्म निमित्त आदि कुछ भी नही करता है, वह तो केवल ज्ञाताद्रष्टा ही है । किसी कार्यसे पुरुष अशुद्ध नही होता । एक दिन गुरुजी एक मुसलमानकी दुकानपर रसगुल्ले खा रहे थे, तो शिष्य उधरसे निकला और उसने गुरुजी को रसगुल्ले खाते देख लिया । उसने गुरुजी के पास जाकर पूछा कि महाराज आप मांस वाली दुकानपर रसगुल्ले कैसे खा रहे है ? गुरुजी ने उत्तर दिया—कौन खा रहा है, आत्मा कुछ नही खाता है, न छूता ही है । जो खा रहा है वह खा रहा, आत्मा नही खा रहा । शिष्यको यह सुनकर गुस्सा आया और उसने गुरुजी के एक तमाचा जड दिया । तब गुरुजी बोले कि अरे यह क्या कर रहा है, तो शिष्यने उत्तर दिया कि महाराज तमाचा तो आत्मामे लगता नही है, और न यह आत्मा दुखी होता है, न पिटता है, और न कुछ करता है । यह सुनकर गुरुको बडा क्षोभ हुआ, परन्तु सत्यता का पता भी लग गया । उसने शिष्यसे कहा कि तूने आज मेरी आँखे खोल दी । इस तरह सब कुछ दुःख सुख इस आत्मामे विषयकषाय रोग आदि होते है, यह समूचे आत्माके भाव है । पर्यायितया भी यह आत्मा न करता है, न भोगता है, न कोई गड़बड़ पैदा करता है, इस

निश्चयाभासीको मिथ्यादृष्टि कहा गया है । जो सच्ची बातको मानने वाला नही है व मैं शुद्ध बुद्ध हू, कुछ भी नही करता हू ऐसी बात बनाता और अन्तरङ्ग मे दुःखी हो रहा है मोही भी हो रहा है, उसको कहते है निश्चयाभासी ।

आवसरिक परिणमनकी सिद्धि—इस गाथामे बताया है कि आत्मा यदि स्वय शुभ या अशुभ नही होता, तो समस्त जीवोके ससार भी विद्यमान नही है, ऐसा सिद्ध होगा । यदि यह माना जाय कि आत्मा स्वय स्वभावसे शुभ या अशुभ नही है तो शुभाशुभ भावोंसे परिणमित नही होता, तो समस्त जीव निकायोके ससार भी विद्यमान नही है, ऐसा सिद्ध होगा । यदि यह आत्मा अपनी ही परिणतिसे शुभरूप या अशुभरूप भावसे नही परिणमता होता, तो ससारके सारे जीवोंके ससारका अभाव होता । प्रकृति और पुरुषका विवेक करनेकी आवश्यकता उस सिद्धान्तको क्यो करनी पडी ? जब आत्मा कुछ करता ही नही तो यह उपदेश क्यो करते हो कि पुरुष और प्रकृतिमे भेदविज्ञान करो । सिद्धान्त तो यह बनाते कि पुरुष अलिप्त है, और उपदेश यह दिया जाता कि मोहमे मत पडे रहो, प्रकृति और पुरुषमे भेदविज्ञान करो । ऐसा कहनेकी आवश्यकता क्यो हुई ? भेदविज्ञानकी आवश्यकता इसलिए है कि दुखी हम होते हैं, ससारमे भ्रमण करनेवाले हम ही हैं, भ्रमके कारण यह जीव शुभ और अशुभभावसे अपनी परिणतिसे परिणमता । न परिणमता तो ससाररूप भाव ही नही रहता । सारे जीवोंके ससार नही है, यह तो प्रकृतिके ससार लगा हुआ है । प्रकृति ही कर्ता हो रहा है । यह बात सुननेमे तो सुहावनी लगती, परन्तु है नही । ससार नही है, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ मोक्ष है । सो हमारी आत्माके मोक्ष है क्या ? जब प्रकृति और पुरुषका भेदविज्ञान करो और वह दृढ हो जाय तो मोक्ष होता । इसका अर्थ है अभी मोक्ष नही, मोक्ष नही होना, इसका भी नाम ससार है । यदि यह आत्मा एकान्तसे नियमसे शुभ अशुभभावसे नही परिणमे, तो हमेशा ही सर्व प्रकारसे बिना विरोधके शुद्ध स्वभावरूप ही इस जीवको रहना चाहिए । तो सारेके सारे प्राणी समस्त बन्धके साधनोसे शून्य हो जायेंगे । बन्धका साधन ससार और ससारका साधन रागद्वेष है । सारे वैभवका कारण या साधन भी रागद्वेष है । ससारका साधन रागद्वेष मोह आदि और कर्मबन्धका साधन भी रागद्वेष मोह आदि भाव । जब कर्मबन्धका साधन ही नही रहा तो उसके आवागमन ही नही रहा । ससार ही नही रहा तो नित्य मुक्त हो गया ।

पर्यायदृष्टिसे जीवकी अनादिमुक्तताका अभाव—अभी जैनियोंमे भी जो अध्यात्मका पाठ बतलाते हैं, ऐसे कुछ त्यागी जनोने इस बातकी श्रद्धा कर ली है कि एक आत्मा ऐसा है जो अनादि अनन्त नित्य मुक्त है । वह बन्धमे पडा ही नही था और बाकी जितने आत्मा कर्म काटकर मोक्षमे जाते, वे नित्य मुक्त नही है । जैनियोमे भी इस प्रकारकी श्रद्धा करने लगे हैं कि एक परमात्मा तो अनादि अनन्त है, और अनेक परमात्मा ऐसे हैं जो अनादि अनन्त नही

हैं। यह सिद्धान्त निकल कहाँसे आया ? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रोमे हर जगह यह लिखा कि अनादि अनन्त अहेतुक करता, भोगता, भावसे रहित बन्ध मोक्षकी कल्पनासे दूर ज्ञानस्वभाव है। यह तो अपनेमे देखनेकी बात थी, अपनेमे निरखे, ऐसा जो सामान्य ज्ञानमे है उसको निजमे निरखो, वह है अनादि अनन्त परमात्मा। कथन तो यह था कि निजमे ही उस परमात्माको ढूंढना। एक परमात्मा जो सब भेदोसे रहित है, वह अपने अन्दर न पढ़कर दूसरे क्षेत्रोमे पढने लगा, ऐसी परमात्मामे दृष्टि आ गई और जैनोमे भी किसीमे यह श्रद्धा बन बैठी, परन्तु ऐसा कोई आत्मा नही है, जो अनादि मुक्त हो। पर आत्मा है तो सही। अनादिकालसे मोक्ष भी जा तो रहे है, परन्तु जो अनादि मुक्त है, वे भी कभी ससारमे थे। जब हम स्वरूप पर दृष्टि डालते है, तो उस स्वरूपकी आराधनामे पड करके हमे जो फैसला देना पडता है, उस स्वरूपका घात नही है ऐसा देखना पडता है, तो यह कहना पडता है कि प्रत्येक जीव कर्मसे छूटा है, यह कहते हुए भी यह कहना पडता है कि छूटनेसे पहले वह कर्मबद्ध था। न मोक्षका आदि बताया जिसको और ससारका भी आदि नही है, फिर भी ससार मोक्षसे आठ वर्ष जेठा हैं। इस तरहसे अनादि मुक्त ईश्वरकी कल्पना लोगोमे थी, वह अपने आपमे रहने वाले अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञानस्वभावको देखकर यह चर्चा करते। इस निजदृष्टिको भूलनेका फल हैं, यह भूल है। यह जीव स्वयंकी परिणतिमे ससारी है। केवली बाह्य पदार्थोमे रहते हुए भी स्वभावके घात वाले नही है, इसी तरहसे ससारी भी बाह्य पदार्थोमे रहते हुए अपने स्वभावका घात करने वाला नही है, ऐसा नही मानना चाहिए। ससारीके स्वभावका घात तो हो रहा हैं।

पर्याय स्वभावघात सम्बन्धी शका समाधान—यहाँ एक प्रश्न उठा कि जैसे ससार की समस्त वस्तुए अनादि है, इस तरहसे सिद्ध भी एक वस्तु हैं, वह भी अनादि सिद्ध माना जाना योग्य है? समाधान—सिद्ध वस्तु नही है, सिद्ध तो पर्याय है। आत्मा वस्तु है और सिद्ध अवस्था है, पर्याय है, वस्तु नही। यह तो वस्तुकी तरग अवस्था है। वस्तुकी अवस्था एक समयकी ही होती है। प्रत्येक अवस्था क्षणिक है सिद्ध वस्तु नही, किन्तु आत्मा वस्तु है। वह सिद्धपर्याय या सर्वगुणोकी पर्याय क्षणिक होकर उसकी एक ही पकार अनन्तकाल तक होवेगी, क्योकि वह स्वाभावपर्याय है। अब यह प्रश्न होता है कि ये अवस्थाए ससार भी है, केवलज्ञान भी है, सिद्ध भी है, तो क्या ये अनादिसे चल रही है। उत्तर है कि अनादि से ही चल रही है, परन्तु समूह रूपसे यह उत्तर होगा कि ये सब अवस्थाए अनादिसे चल रही है। ऐसा नही है। किसी आत्माकी सिद्ध अवस्था है तो किसीकी केवलज्ञान अवस्था है और किसीकी ससारी अवस्था चल रही है। यदि जीव अपनी परिणतिसे शुभ अशुभ भावसे परिणमता है ऐसा न माना जाय तो वह नित्य मुक्त बन जायगा। इसलिए आत्माके परिण-

मनका उपादान कारण विवक्षित पर्यायी आत्मा वस्तु है, सत्ता है, इसलिए प्रति समय निरतर परिणमता ही रहेगा। आत्मा द्रव्य है इसलिए परिणमता है। जब आत्माका परिणमनेका स्वभाव है तो कर्मोदयकी उपाधि रहेगी तब शुभ अशुभ भावसे परिणम जायगी जैसे स्फटिक है उसमे मयूर पख जटा आदि उपाधि लगा दी जाय तो उसमे वह रग आजायगा क्यो कि स्फटिकका उन परिणमनेका स्वभाव है, इसी तरहसे आत्मा परिणमे बिना नही रह सकता। इस तरहसे यह बात सिद्ध की है कि ससारी जीवके यह कर्मोदय सम्पदा ऐश्वर्य वगैरा स्वभावके विघातको करता है और केवलज्ञानीके ये स्वभावके विघातके कारण नही है। कोई कहे कि ये सब तो स्वभावका घात करने वाले नही है, इनके छोडनेका उपदेश क्यो करते ? परन्तु इस जीवके कर्मोदयका डक लगा है तब तक यह बाह्य पदार्थोको निमित्तमात्र बनाकर उन रूप परिणमता।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध और अशुद्धता—अब यह प्रश्न है कि जब यह जीव पहले शुद्ध नही था तो हम भी नही कह सकते कि बाह्य वस्तुओने हमे अशुभता या अशुद्धता लगाई। समाधान यहाँ पहले और बादका सवाल ही नही, यहाँ तो वर्तमान कालमे ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिस कालमे उपाधि रूप निमित्त है उस समयमे वहाँ रागद्वेष रूप परिणमन है और अनादि से प्रति समय उपाधि रूप रागद्वेष रहे तब प्रति समय रागी द्वेषी रहा, अत यह आवश्यकता नही है कि पहले शुद्ध होय फिर निमित्त आये तो अशुद्ध हो जाय। दूसरा कारण यह है कि जिस उपाधिके कारण आत्मामे वर्तमानमे राग है वह राग उस उपाधिके निमित्तसे पहले नही था। ऐसी हालतमे वर्तमानमे जो राग जिस निमित्तसे होता है उस रागसे तो वह आत्मा पहले शुद्ध था, यहाँ शुद्धसे मतलब सर्वथासे नही किन्तु उस विवक्षित रागसे है। वर्तमानमे जो कार्य होते है वे अनादिसे नही चले आते। यदि अनादिसे चले जाते तो यहाँ यह सन्देह होता कि जब पहले से ही ये चले आ रहे है तो फिर निमित्तका नाम क्या ? निमित्तने जो उसी कालमे गडबडी की वह पहले तो नही थी। प्रति समय निमित्त रहा और प्रति समय उसका कार्य रहा। ऐसा भाव इस जीवके अनादिसे चला आ रहा है। इसलिए यह आवश्यकता नही रही कि पहले यह आत्मा शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हुआ हो। जैसे स्वर्ण पाषाणका जबसे जन्म हुआ तभीसे वह अशुद्ध है। शुरूसे शुद्ध होवे और फिर कालिमा आवे तो वह अशुद्ध होवे यह उसमे आवश्यकता नही रहती। जब उसको अग्निमे पका कर उसका निमित्त हटा देते है तब वह शुद्ध हो जाता है। इसी तरह आत्मामे प्रति समय निमित्त और प्रति समय अशुद्धता है।

परिणमनमे नयविभाग—जिसे शका होती है, उसकी वह शका उस सिद्धान्तमे कही कुछ किसी ढगसे कही गई हो तो भी प्राय उपस्थित होती है। इस गाथामे यह शङ्का उप-

स्थित की गई कि जैसे केवली भगवान किसी बाह्य कारणसे शुभ अशुभ भाव नही परिणमते, इसी तरहसे ससारके कोई भी जीव किसी भी तरह शुभ अशुभ रूप नही परिणमते । निश्चय का सिद्धान्तमे कथन था । उस कथनको सुनकर शुद्ध नयकी बात बोलकर यह पकडकर रह गये कि आत्मा शुभ अशुभ भावसे नहीं परिणमता । शुद्धनयसे इसके क्या अर्थ है ? जैसे ज्ञान मे ज्ञानकी पर्यायें होती जा रही है, प्रति समय उसमे पर्यायें चल रही है, और उन पर्यायोमे लगातार एक चीज है, जिसकी कि वे पर्यायें है । ज्ञानकी जितनी हालत हो रही है, उन सबमे ज्ञान कोई एक चीज है । वह एक चीज जिसे हम समझना चाहते है क्या वह कोई पर्यायरूप है । यदि हम किसी पर्यायरूप उसे खोजते हैं तो केवल पर्याय ही हमारे हाथमे आती है । इसलिए हम उस ज्ञानको किसी पर्यायरूप न निरखें, एकस्वरूप सब पर्यायोमे अनुगत ऐसा निरखें तो हम एक शुद्धनय ज्ञानस्वभावको जान सकेंगे, शुद्ध रूप वह ज्ञानस्वभाव तो किसी रूप भी नही परिणमता । परिणमता तो है, परन्तु वह परिणमन व्यवहारका विषय है, परन्तु निश्चयसे जिस एक चीजका वह परिणमन है, वह एक तत्त्व तो परिणमता नही तो उसमे शुभ अशुभभावसे परिणमन नही हो सकता । ऐसा मान लो कि वह चीज नही, हम तो सोच रहे, क्योकि चीज जो है, वह द्रव्यपर्यायात्मक होती, सामान्यविशेपात्मक होती । इसलिए सामान्यविशेपात्मक उस चीजमे जिस समय सामान्यको मुख्यरूपसे देख रहे है, उस समयकी यह चर्चा है और उस वस्तुमे जिस समय पर्यायको मुख्य करके देख रहे हैं, उस समयकी चर्चा है परिणमन, और बिना पर्यायको मुख्य करके देख रहे है, उस समयकी चर्चा परिणमन नही है । जो परिणमन है, वह तो परिणमन है, और जिसका परिणमन है, वह एक सामान्यतत्त्व है । उसमे परिणमन नही देखा जायगा । उस वस्तुकी दृष्टिके रूप देखो, तो यह चर्चा है कि वह चीज शुभ अशुभ रूप नही परिणमता ।

द्रव्यदृष्टिमे परिणमनका असद्भाव—देखो भैया ! द्रव्यार्थिकनयका लक्षण क्या व पर्यायार्थिकनयका लक्षण क्या ? वहाँ यह बताया कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें द्रव्यको मुख्यरूपसे देखो—द्रव्यार्थिकनय है, द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमे परिणमनकी दृष्टिसे देखने वाले नयको पर्यायार्थिकनय कहते हैं । सामान्यविशेपात्मक वस्तुमे सामान्यको मुख्यतया देखने वाले नयको शुद्ध निश्चयात्मकनय कहते हैं, और सामान्यविशेपात्मक वस्तु व्यवहारको मुख्यतया देखने वाले नयको व्यवहारात्मकनय कहते हैं । सामान्यविशेपात्मक कहनेमे वस्तुके दो तरहके तत्त्व हुए—सामान्यतत्त्व और विशेपतत्त्व । उसमे सामान्य तत्त्व क्या है ? यदि उसको निराकारतासे देखे तो वह सामान्य तत्त्व होगा, और यदि पर्याय तरग परिणमनको देखें तो वह विशेप तत्त्व हो जायगा । उस समय वह सामान्यतत्त्व नही होगा । वह सामान्य एकस्वरूप है, सामान्य अंश परिणमन रूप नही । उसका जो परिणमन होता वह तो परिणमन है ही । किन्तु सामान्य न

शुभरूपसे परिणमता और न अशुभरूपसे परिणमता, ऐसी सिद्धान्तकी चर्चा जैनसिद्धान्तमे है। उस चर्चाको सुनकर कितनो ही ने यह मान लिया कि यह आत्मा ससारमे परिणमता ही नही। यदि यह आत्मा शुभ अशुभ रूप भावसे न परिणमे तो व्यवहारनयमे भी ससार नही रहेगा।

नयविभागसे संसारसिद्धि—एक बात और है कि ससार व्यवहारसे है कि निश्चयसे। ससार व्यवहारसे है। व्यवहार पक्ष वाले मनमे यह चुलबुलि रखते हैं कि व्यवहारसे ससार है तो ससार झूठमूठका है, परतु ससार व्यवहारसे है, यह कहनेका अर्थ यह नही लगाना चाहिए। अर्थ यह लगाना चाहिए कि पर्यायमे ससार है, द्रव्यमे ससार नही है। सामान्य अशमे ससार नही है। जब हम विशेष अशसे देखते है तो ससार नही है। एक नयसे संसार है और एक नयसे देखते हैं तो ससार नही है। यह आत्मा शुद्धनयसे शुभाशुभरूप नही परिणमता, इस तरह अशुद्ध नयसे भी नही परिणमता, तो इसका संसार ही खत्म हो जायगा। सभी जीवोमे ससार खत्म हो जायगा, सो है नही, प्रत्यक्ष ससार दिख रहा। तो यह सिद्ध होता कि आत्मा परिणमता है। परिणमनेका आत्माका स्वभाव है। वह कर्म उपाधिके कारण उपाधियोको ग्रहण कर लेता है। ऐसा नही हो तो ससारका अभाव हो जाय, परतु ऐसा मानना ठीक नही, क्योकि ससारके अभावका मतलब मोक्ष, परन्तु उन सबके ऐसा नही है। वह ससारमे पड़ा हुआ है, इसलिए सब ससारी ससारमे पडे हुए हैं। वे तो उसी जैन सिद्धान्त स्याद्वादकी मुद्रासे मुद्रित है। ये तो हमारी द्रव्य कम्पनीका ट्रेडमार्का है। जैन सिद्धातका भी ट्रेडमार्का स्याद्वाद है। जिस ग्रथके यह ट्रेडमार्का हो, उसी ग्रंथको जैनशास्त्र कहा जा सकता है। जिस ग्रन्थमे बराबर हम लोगोको सम्हालनेके वास्ते बीचमे व्यवहारका प्ररूपण है, और निश्चयका परूपण नही है, तो उस शास्त्रसे हमारा हित नही हो सकता। इसी तरह जहाँ व्यवहारको छूये भी नही, वर्णन मे वहाँ हित नही, तो निश्चय व्यवहार दोनो दृष्टियोसे स्वरूपको समझाकर निश्चयको भी छोड देगे और व्यवहारको भी छोड देंगे और एक निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी कल्पना करेंगे।

निष्कलङ्क स्वभावकी ओर गमन—जो ज्ञानस्वभाव सामान्य है, वह तो शुभ अशुभसे नही परिणमता। वह तो सामान्यदृष्टिसे शुभ अशुभ भावसे नही परिणमता, परन्तु जिस द्रव्यमे वह सामान्य है, वहाँ भी शुभ अशुभभावसे परिणमता और वह सामान्य उस समय उस दृष्टिमे कहलाता विशेष। इसलिए हम अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको प्रबलसे प्रबल बनाए और पर्यायबुद्धिसे अपना चित्त हटावें। पर्यायका अनुभव हम यहा बराबर करते, परन्तु भेदविज्ञानसे व्यवहार करें तो कुछ उत्तम है। जैसे मैं इस आत्मासे पृथक् चीज हू, इसी तरह दुनियाके प्रत्येक जीवको देखकर भी हमारे अदर यह भाव आवे कि उनकी आत्मा भी उनके शरीरसे अलग चीज है। हमारी आत्मा भी इस शरीरसे न्यारी है, दूसरोके प्रति भी यही है। यह भाव

लानेमे कितना झगडा मिटता ? जैसे मेरी आत्मा मेरे शरीरसे अलग है, उसी तरह दूसरेकी आत्मा भी उसके शरीरसे अलग है। आत्मा-आत्मा न्यारी है और शरीर-शरीर न्यारे है। शरीर-शरीर लड नही सकते, क्योकि वे अजीव है। सबका स्वरूप बिल्कुल पृथक् है। इस दृष्टि से निरतर बधा हुआ भी राग मिटना भी सरल है। कदाचित् राग मिट जाय तो जो अनुकूलता आई है, उससे सुख आ ही गया तो दूसरेकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ ? ससार अनादिसे रहा और अनन्तकाल तक रहेगा। जितने भी मोक्ष गये तो संसारका लक्ष्य चले जानेसे गये। उनका रागादि भाव सब जाता रहा। यदि कोई मोक्ष चला जाता तो उसके पीछे भी ससारका कार्य उसी प्रकार चला करता। इसी तरह यदि घरमे से कोई मर जाता है, तो भी घरका कार्य चल रहा है। इससे वस्तुका स्वतन्त्र स्वरूप जानकर जगतके बाह्य पदार्थोंसे अपना चित्त हटाकर अपने स्वरूपको समझकर अपनी आत्माकी उन्नतिमे लगो। यहाकी सारी चीज तो स्वप्नवत है। केवल आत्माकी दृष्टि करनेसे ही सब कुछ होगा। यहाँका कोई समागम किसी का भला नही कर सकेगा।

अतीन्द्रियज्ञानके अभिनन्दनका संकल्प—ज्ञानके इस प्रकरणमे ज्ञानकी विशेषताओको बतलाते बतलाते बीचमे अभी ३-४ गाथाओमे ज्ञानका कुछ ऐसा आकार वर्णन किया, जिससे कुछ ऐसा अनुभव किया कि बडी कठिन चर्चा करते हुए बीचमे मानो आचार्य महाराजने भी आराम लिया और श्रोताओने भी आराम लिया। ऐसी आरामकी चर्चा करनेके बाद आचार्य महाराज फिर वही बात लेते है। अब फिर उसी प्रकृतका अनुसरण करके यह बात बतलाते कि अतीन्द्रियज्ञान सर्वको जानता है। अतीन्द्रियज्ञानका सर्वज्ञपनेसे अभिनन्दन करते है। अभिनन्दनको सारी शक्ति लगाकर भी की जावे तब भी उसके अन्दरकी महत्ता बताना अशक्य है, इसी तरह अतीन्द्रियज्ञान सहज ही स्वच्छ और पूर्ण अनाकुल है, उसकी महत्ता कैसे कही जावे, सो अतीन्द्रियज्ञानमे व्यक्त सामर्थ्य सर्वको जानना भी है। अतः सर्वज्ञपनेसे अभिनंदन करते है। अभिनदन करते समय अन्तर्रहस्य-अन्तर्महत्त्वका अनुभव होते ही सर्व ओरसे नन्दन-प्रमोद हो जाता है, इसकी शैलीसे यहाँ आचार्य देव अतीन्द्रियज्ञानको सर्वज्ञपनेसे अभिनदनते है।

जेतक्कालियमिदरं जाणहि गुगव समतदो सव्व।
अत्थ विचित्तविसम त णाण खाइय भणिय ॥४७॥

अतीन्द्रियज्ञानका अभिनन्दन—केवलीके जाननेमे और हमारे जाननेमे ऐसा अन्तर है कि हम चीजको पकडते है और वे चीजको पकडते नही। पकडनेका अर्थ हाथसे पकडना नही, बातचीतसे पकड़ना श्रद्धासे पकडना है। परन्तु उनके ज्ञानमे वह पकड़ना नही होता। इस कारण हमे कई बार ऐसी बीचमे शका हो जाती है कि इसे भी जानता है तो कैसे जानता है व क्या जानता है, कहाँ जानता है तथा सबको कैसे जाना ? परन्तु जाननेका क्या काम है ?

यह सोचे तो कोई शका नही रहती। जाननेका काम तो केवल प्रतिभासमात्र है। उसके अन्दर विकल्प करना भी ज्ञानमे नही फसा है। जैसे कि तत्कालके जाये हुए बालकको कमरे मे सारी चीजें प्रतिभासमे आती है परन्तु उनमे उसके विकल्प पैदा नही होते, इसी तरहसे जब तक ज्ञान इन्द्रियोसे पैदा होता है तब तक उसमे नाना उपाधिया होती है, परन्तु जब वह इन्द्रियोसे रहित हो जाता है अर्थात् अतीन्द्रियज्ञान हो जाता है तब स्वभावसे ही सबको जानने वाला होता है। केवलीका जानना ऐसा है कि प्रतिभास मात्र। उनके ज्ञानमे सब बात गर्भित हो जाती है। प्रतिभास मात्र स्वरूप होनेसे कहा गया कि वे अनन्त जान गये, परन्तु वहाँ अन्त नही कहा गया। जहाँ प्रतिभासमात्र है, उसे हम अपनी भाषामे कहे, अपने विकल्प रूपसे सोचें तो उनका जानना न जानना समान है। ऐसा प्रतिभास मात्र अतीन्द्रिय ज्ञान जो है वह सर्वको जानता है इस रूपसे प्रशसा करते हैं। इस प्रकार निर्विकल्प प्रतिभास तक जावे तो प्रतिभासका विस्तार समझमें आवे।

अतीन्द्रिय ज्ञानमे सर्वज्ञानसमृद्धता—जो ज्ञान वर्तमानकालकी बातको जानता है, भूत कालकी बातको जानता है और भविष्यकी बातको जानता है और जो सबको एक साथ ही जानता है, सर्व ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोसे सर्वको जानता, विचित्र या नाना प्रकारके पदार्थोंको जानता, विषमको जानता, ऐसे अर्थोको जो जानता है वह ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। वर्तमानकालमे जिसकी वर्तना कलित है, वर्तना माने उपस्थिति। एक समयकी सत्ताको या एक समयके परिणमनको वर्तना वह सकते। एक समयके परिणामको परिवर्तनकी शक्लमे नही जान सकते। इसलिए एक समयके परिणमनोका नाम वर्तना रह सकता। भिन्न समय के परिणमनको परिणमन कहा गया। एक समयमे यदि वर्तना नही रहे, सत्ता नही रहे तो आगे भी क्या हो? वह सत्ता कुछ काम करके ही तो रहती तो उस समयमे वह परिणमन चल रहा है, परन्तु उस समयके परिणामनका नाम वर्तना है। इस तरह वर्तमानकालकी चीज जिसके वर्तना कलित है अथवा चल रही है, अतीत कालकी और भविष्यकालमे भी जिसके वर्तन कलित है, उनकी वर्तना कलित है इसलिए जानते। कलित माने सत्ताका होना। वर्तमान काल, भूतकाल तथा भविष्यकालमे उनकी वर्तना कलित है, इसलिए आत्माके सर्व प्रदेशोंसे तीनो कालोको एक साथ ही जानते।

पदार्थका प्रतिसमय परिणमन—यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब एक समयमे परिवर्तन नही और परिवर्तन भिन्न समयोमे कहा जायगा और इस तरह केवली प्रत्येक समय की सत्ताको जान रहे है, इसलिए उन्होने पर्यायोको नही जानी। इसका उत्तर यह कि एक समयमे परिवर्तन नही होता, यह बात मुकाबलेको लेकर कही है। एक समयमे जो परिणमन है वह पर्याय नही है ऐसा नही। प्रति प्रति समयका परिणमन पर्याय ही है। परतु एक समय की परिणतिमे यह नही छाट सकते कि इस तरह यह इतना जुदा हो गया, इसलिए वर्तना

वहा गया। तीनो कालोकी जो पर्याए हैं जो वर्तना है, उस पर्यायको वर्तनाके लक्षणमे यह बतलाया कि यह नही बतला सकते कि इतना बदल गया। यह बात एक समयकी दृष्टिमे नही बतला सकते, परन्तु एक समयमे जो वह देखने मे आ रहा है वह पर्याय ही है। एक समय वर्तना भी पर्याय ही है। प्रति प्रति समयकी जो पर्यायें है उनके होनेके कारण ही तीनो कालोमे पर्यायें आती है ?

प्रतिभासकी निर्विकल्पता—हमारे ज्ञानमे यदि एक समय २५ पदार्थ आ गए तो २५ पदार्थ ज्ञानमे तो एक साथ आ जाते, परन्तु ज्ञानमे एक साथ आ जानेपर भी जैसे ये अपने स्थानपर तो न्यारे न्यारे ही है, इसी तरहसे वह सब पर्याय एक साथ उपयोग भूमिमे आजाने पर भी उनके क्षेत्रमे तो न्यारी न्यारी ही है। इसी तरहसे केवलीके ज्ञानमे तीनो लोक और तीनो कालकी सारी पर्याय एक साथ आ जाती, फिर भी कही ऐसा नही होता कि वहां क्षेत्र और कालमे सकरता आ जाय। वे पर्याय जिस भिन्न-भिन्न सत्ता रूपसे, पर्याय रूपसे अव-स्थित है, वैसे ही उन्होने जानी। उन्होने उन पदार्थोको इसी तरहसे जाना कि वे जैसे है वैसे ही है। वे उनमे विकल्प नही करते। जो पर्याय जिस कालकी है, जिस तरहसे है, जिस नम्बरसे है, जो उनकी स्थिति है, वे सब एक साथ प्रतिभासमे आ गई, परन्तु उनमे विकल्प नही होता कि यह भूतमे है, यह वर्तमानमे है और यह भविष्यमे है। जैसे तत्कालका जाया बालकको सब चीज कमरेमे मालूम तो है परन्तु उसके यह चीज कोनेमे रखी है, यह छतपर रखी है, यह खूंटीपर रखी है, ऐसा विकल्प नही होता, इसी तरहसे ज्ञानीको पदार्थोके सम्बन्धमे विकल्प न होनेपर भी जहा जिस कालमे जो अवस्थित है वे सब पर्याए प्रतिभासमे आ जाती वहा विकल्प नही होता।

ज्ञानमे सर्वज्ञताका स्वभाव—अभी एक प्रश्न यह उठा कि क्षेत्रकी चीज तो हमारी समझमे आ सकती है, परतु कालकी चीज सब जो नही है, जो होवेगी वह सब एक साथ कैसे ज्ञानमे आ सकती है ? तो इसका समाधान यह है कि जब छद्मस्थके भी भूतकाल और भविष्यत् कालकी बात आ जाती है तो इसमे भी कोई सन्देह नही होता। परन्तु एक साथ कैसे आ जाती है ? एक साथ वहां क्यो आ जाते है, जैसे वहां यह प्रश्न करते वैसे हमे यहां भी प्रश्न करना चाहिए कि जब ज्ञानका स्वभाव जानना है तो वहा क्रम क्यो लगाते है ? हमारे जो क्रम पड गया है, इसका कारण है क्षयोपशम अवस्थामे रहने वाले ज्ञानावरणके पुद्गल। उनके कारण मात्रनिमित्तमे हम तीनो कालके पदार्थोको एक साथ नही जान सकते। एक साथ जान सकते—इसमे कारण नही ढूंढा जाता, स्वभावमे कारण नही होता, विभावमे कारण होता है, क्रममे कारण है और अक्रममे कोई कारण नही होता। क्रममें आश्चर्य है, खेद है, अफसोस है, पर अक्रममे नही। वह अक्रम ही एक साथ जानता।

प्रश्न यह होता है कि जो चीज सत्तासे नष्ट हो गई उसका जानना कैसा ? इसका यह उत्तर है कि जो चीज नष्ट हो गई, उसको हम भी जानते। ज्ञानोपयोगमें इस ज्ञानभावमे जो समस्त ज्ञेयाकार झलक उस ज्ञान पर्यायमें वर्तमानकी तरह है। जैसे कि हमारे ज्ञानमे १० वर्ष पुरानी घटनाकी याद आई, तो वह आजकी हमारी ज्ञानपर्यायमे वह तो वर्तमान है, परन्तु उस जगहमे और उस कालमे तो वह घटना तो भूत ही है। ज्ञानमे तो ज्ञेयाकाररूप मे वर्तमान है अर्थात् वे सबके सब हमारे ज्ञानमे झलके, यह झलक तो वर्तमान है, यह झलक तो हमारे ज्ञानकी इस समयकी पर्याय है, इसलिए उनका जानना सब हमारे लिए वर्तमान है, परन्तु वह घटना वर्तमान नही है। इसलिए जो वस्तु नष्ट हो गई उसको भी जाना जाता।

स्वतंत्र ज्ञानमे स्वतंत्र समृद्धि—समस्त अर्थसमूहको अतीन्द्रियज्ञान जानता है। कैसा है यह अर्थसमूह ? इसके बहुत सुन्दर विशेषण देते है। पृथक् पृथक् रहने वाले जो निज निज के लक्षण है, जो पदार्थोंकी विशेषता बतलाते है ये जो अलग-अलग अपना लक्षण लिए हुए हैं, इनको कहते है उनकी लक्ष्मी। लक्ष्मी नाम लक्षणका है। इस पदार्थका जो स्वरूप है वह इस पदार्थकी लक्ष्मी है। आत्माका स्वरूप आत्माकी लक्ष्मी है। प्रत्येक द्रव्यका लक्षण उस द्रव्य की लक्ष्मी है। पृथक् पृथक् रहने वाली रूप लक्ष्मी, उस लक्ष्मीसे इगित किया हुआ जो अनेक प्रकारका प्रगट वैचित्र्य है, जिसमे वह है अर्थसमूह। जिन अर्थोंमे यह बात प्रगट कर देते है कि यह भिन्न-भिन्न परिणतिको लिए हुए है, भिन्न-भिन्न परिणतिको लिए हुए नाना प्रकारके पदार्थोंको यह ज्ञान जानता है, और कैसे है वे पदार्थ ? विषम है। आग गर्म है, पानी ठडा है, यह दोनोमे विषमता है। परन्तु दोनोका ज्ञान एक साथ है। इस ज्ञानमे परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ रहते है। परस्पर विरोधी अर्थात् पैदा होती है असमानता जिसमे, ऐसे ये पदार्थ है। यहाँ राज्यशासन जैसी वीतराग अवस्था है कि व्यवहारमे विषमता होते हुए भी चतुर राजा वह है कि सबको अपने शासन-सूत्रमे बाँधे रखे। इस लोकमे नाना प्रकारके पदार्थ अलग-अलग जाति और परिणतिमे रहते हुए एक समयमे जिनको जान रहा है, ऐसा वह ज्ञान है। वह विचित्र विषम सर्व पदार्थोंको एक साथ ही जानता है। इसलिए वह ज्ञान क्षायिक कहलाता है, स्वाभाविक कहलाता है। स्वभाव विशेष तकका गोचर नही। जैसे कोई पूछे कि नीमके पत्ते कडुवे क्यो हो गए ? उत्तर दिया जाता, उसका स्वभाव है। स्वभावमे विशेष तक नही उठा करते। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, उस स्वभावसे ज्ञान सबको जान गया, यह तो उसका स्वभाव है। अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है इसमे आपत्ति पेश करनेकी गुञ्जाइश नही।

क्षायोपशमिक ज्ञानमे क्रम—अपनेमे आपत्ति करो कि मै त्रिकालको क्यो नही जानता, मैं सबको क्यो नही जानता ? अपने क्रमज्ञानमे प्रश्न पैदा करें और कारण खोजें, इसका भी-

उत्तर साफ है कि अतीन्द्रियज्ञान समस्त अर्थसमूहमे एक ही कालमे प्रकाशित करता है, क्योकि केवलीके ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल नही रहे। क्षयोपशम अवस्थामे रहने वाले जो ज्ञानावरणके कर्म पुद्गल है, वे कारण हैं हमारे ज्ञानको क्रमसे चलानेमें। उसमे यह व्यवस्था है कि ज्ञानका उपयोग क्रमसे चलता। जिनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी है, उनके भी दोनो ज्ञान एक समय मे नही चलते। हमारी भी यही व्यवस्था है, जिनके ये दोनो ज्ञान है, और इस तरह जितना भी हमारा ज्ञान आता है, सब क्रमको लेकर आता है। इसमे कारण वह है कि क्षयोपशम अवस्थामे रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गल वहाँ है।

अतीन्द्रिय ज्ञानमे सकलज्ञताका विवरण—केवलीका ज्ञान उन क्षयोपशम अवस्थामे रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गलोके अभावसे सबको जानता है। सब ओरसे क्यो जानता, अब यह प्रश्न उठता है। सब ओरसे यो जानता है कि वह सबसे निर्मल हो गया। किसी भी आत्मप्रदेशमे कोई कालिमा नही रही। उसमे प्रतिनियत देश विशुद्धि भी नही होती। जैसे एक कमरेमे ५ खिडकिया है तो प्रतिनियत अवकाश होनेसे हम खिडकियोसे ही जान सकते है, परन्तु भीत सारी गिर जाय, तो सब विकास हो गया और सब तरफसे देख सकते। जब प्रतिनियत देशविशुद्धि ही नही रही और सर्व विशुद्धि रह जाय तो यह आत्मा सर्व ओरसे जानता है। उसको सर्वज्ञ कहा गया है, अनन्तज्ञ नही कहा गया। अनन्त कई प्रकारके होते है और वे सारेके सारे केवलज्ञानसे कम होते है। कम होते है ऐसा कहनेमे कही यह दृष्टि नही लगाना कि उसकी हद हो गई। हद न होनेपर भी कम अधिकका यहाँ प्रयोग है। क्योकि सर्व पदार्थ समूह मिलकर भी केवलज्ञानकी शक्तिके जो अश है उनकी बराबरी नही कर पाते। जैसे किसी आदमीकी समझकी हद १०० की सख्यासे परे है और वह बडा जोर लगाकर भी केवल १० तक ही जान पाता और पूछता कि १०० कितने होते तो बताते कि १०० मे से १० घटा दो और जो बचे उसमे १० जोड दो, इतने १०० होते है। इसी तरह बताते कि केवलज्ञानकी शक्तिके अश इतने है कि सर्व प्रकारके अशोको सर्व प्रकारके अर्थसमूहोको जोडकर उसमेसे घटादो और जो कुछ बचे उसमे उन अशोको जोड दो, इतने केवलज्ञानकी शक्तिके अश है। केवली भगवान केवल पदार्थोंको ही जानते होते तो कह देते कि वे अनन्तज्ञ है, परन्तु केवली तो अपने ज्ञानकी शक्तिके अशोको भी जान रहे है, पदार्थोंको भी जानते है, जितने केवली हुए है उन सबकी शक्तिके अश भी जानते है, उनकी ज्ञान पर्याय को भी जान रहे है, इतना जाननेके कारण उनको अनन्तज्ञ कहकर सर्वज्ञ कहा गया। भगवानका ज्ञान अलौकिक है। उसमे ऐसी स्वच्छता है कि सर्व प्रतिभास उसमे आ जाता। परन्तु वह हम लोगोकी तरह हम लोगोकी दृष्टिमे स्पष्ट कहा जाता है ऐसा स्पष्टाभास उनके ज्ञानमे आवे तो वह सर्वज्ञ नही रह सकते, वे तो हमारी ही तरह रह

जायेंगे। उनका ज्ञान तो सर्वका प्रतिभास है। यह कैसे समझा जाय कि सर्वका प्रतिभास है ? उनके सर्वज्ञानावरणका क्षय हो गया। ज्ञानावरण कितने थे ? हमारी आत्मामे ज्ञानावरण कितने है ? जितने ज्ञान है उतने ही ज्ञानावरण है। जितने ज्ञेयोका ज्ञान है उतने ही ज्ञानावरण है। उन सबका क्षय हो गया और क्षयोपशम यहाँ रहता नही तो वे सर्वको ही प्रकाशित करेंगे। जब तक क्षयोपशम रहता तब तक सर्वको प्रकाशित नही करता। सर्वज्ञ ज्ञानमे क्षयोपशम नही रहता तब वह सबको प्रकाशित करेगा।

अतीन्द्रिय ज्ञानमे समन्तज्ञता—अब कहते कि विचित्रको भी प्रकाशित करता। नाना प्रकारकी सत्तामे रहने वाले विचित्र पदार्थोंको भी प्रकाशित करता। ज्ञानके सर्व प्रकारके ज्ञानावरणोका हो गया क्षय और कुछ ही प्रकारके ज्ञानावरणी जो क्षयोपशमरूप चल रहे थे उनका भी हो गया विनाश, इसलिए वे विचित्रको भी प्रकाशित करते, विपमको भी जानते। असमानजातीय ज्ञानावरणका हो गया क्षय और कुछ समानजातीय ज्ञानावरणोका क्षयोपशम जो हुआ था उसका विनाश होनेसे वे विषमको भी जानते है, फिर कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। मालूम होता कि जैसे व्याख्याता व्याख्यान देता-देता श्रोताओको देख लेता कि सुनते सुनते थक गये तो कहता कि अब मै आप लोगोका ज्यादा समय नही लेकर केवल उपसहार करके अपना स्थान लूगा, उसी प्रकार आचार्य भी जो यह कहते है कि हम विस्तार करना नही चाहते, उसका यह तात्पर्य होगा कि उन्होंने समझा कि ज्यादा विस्तार कर देनेसे ग्रन्थके बढ जानेके कारण लोग उसे पढकर थक जायेंगे। इसलिए कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। सारा तात्पर्य इतना वर्णन करनेका यह है कि ज्ञानका स्वभाव जानता है। जाननेका अर्थ प्रकाश है और उसका प्रकाश निनवारित है। ऐसा प्रकाश करके सत् होनेमे क्षायिक ज्ञानस्वभाव ही सर्व जगह सर्व प्रकार सर्वको ही जानता—यह तात्पर्य निकला।

आगे चलकर यह बतलाया है कि जो सर्वको नही जानता वह एकको भी नही जानता। सबको न जानता हुआ एकको भी नही जानता—इसका निश्चय आचार्यदेव करते हैं। निश्चय प्रभुकी आत्मामे नही किया जा रहा है। वस्तुत निश्चय निश्चय करने वाले आत्मामे ही होते है। ज्ञानकी व्यञ्जना कैसी होती है निमित्तदृष्टि छूटकर तथा बाह्यविकल्प भी छूट कर आत्मामे जाननकी क्या परिस्थिति होती है ? इन रहस्योका अनुभव करने वाले आचार्य निःशक निश्चय करते है।

जो ण विजाणादि जुगवअत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णाहु तस्सण सक्क सपज्जय दव्वमेग वा ॥४८॥

सर्वके जाने बिना यथार्थ एक निजके ज्ञानकी असिद्धि—जो त्रिकालवर्ती त्रिभुवनस्थ सब पदार्थोंको युगपत् नही जानता है वह निज आत्माको भी नही जानता है अथवा वह सब

पर्यायो सहित एक भी ज्ञेय द्रव्यको नही जानता। एक ही पदार्थको समस्त पर्याय सहित जाननेकी योग्यता उन्हीमे है जो सब द्रव्योको सर्वपर्याय सहित जानता है अथवा सर्वज्ञका ज्ञान समस्त ज्ञेयाकार परिणत है, सो सब ज्ञेयोके जानने पूर्वक हो तो खुदका जानना बन सकता है। केवली भगवान सबको जानते है, इसलिए वे अपने आपको भी सही जान जाते है। यदि वे सबको नही जानते होते तो अपने आपका भी सही नही जान सकते थे। वे केवली तीन कालके रहने वाले पदार्थोको तीन लोकके रहने वाले पदार्थोको एक साथ नही जानते है तो सर्व पर्यायो सहित जो एक निजस्वभाव है उसे भी जाननेमे वे समर्थ नही हो सकते।

अनन्त ज्ञेयोका ज्ञाता—एक तो आकाशद्रव्य है, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, असख्यात कालद्रव्य है, अनन्त जीवद्रव्य है और उससे भी अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य है, ये समस्त ज्ञेयोकी चर्चा चल रही है। इससे कही यह बात नही सिद्ध होगी कि पुद्गलद्रव्यो से तो अनन्तवें भाग कम जीवद्रव्य है, इसलिए उनका तो अन्त आ जाता होगा। परन्तु ऐसा नही है। जीव भी इतने अनन्त हैं कि जिनका अन्त है ही नही और इस तरहसे अनन्त पुद्गलद्रव्य हैं जिनका कि अनन्त नही है। यहाँ एक जीवके ही भोगमे आने वाले एक जीवके ही सम्बंधमें आने वाले पुद्गल अनत है। सबसे सूक्ष्म अवगाहना वाला जीव सूक्ष्म निगोदिया जीव होता है। उसके भी औदारिक शरीर जब होता है उसमे भी अनेक वर्गणाए हैं और जो एक जीवके साथ कर्मोका सम्बध है, वहा कर्मवर्गणाए भी अनन्त है। यदि जितने जीव होते, उतने ही कर्म होते, उतने ही कर्म परमाणु होते, तो एक परमाणुमे या २-४ परमाणुओके स्कन्धमे इस निमित्तपनेकी कारणता नही हो सकती कि वह जीवके कषाय भावका निमित्त हो सके। ऐसे एक जीवको जाननेके लिये अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओकी आवश्यकता है। उस जीवके शरीरके परमाणुओंकी संख्या भी अनत असख्यात है, तब फिर जिन कार्योको यह जीव छोड चुका है, और जो उनके रूपको देख रहा है, तो ये अनन्तानन्त कर्म परमाणु भी इनके दीखनेमे आ गये। तो जीवद्रव्यसे अनन्तानन्त गुने पुद्गल द्रव्य है। इतना ही नही कितने ही इन द्रव्योंमे से प्रत्येकको अतीत और अनागत कालमे जो अनुभवमे आने वाली पर्यायें है, उनकी अनेक पर्यायोका जो एक प्रवाह होता है, उस एक प्रवाहमे पतित अनन्त पर्यायोका भी ज्ञान हो गया। इतने तो सारे अनन्त द्रव्य है, ये सब स्वतन्त्र हैं। अनन्तानन्त जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य आदि सब अपनी सत्ताको लिये हुए हैं। असख्यात काल द्रव्य है वे भी, आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य वे भी सब अपनी जुदी-जुदी सत्ताको लिये हुए है। केवल तो इनकी सख्या ही अनन्तानन्त है, फिर इनकी अनन्तानन्त पर्यायें है। यह सब मिलकर ज्ञेय कहलाते। अनन्तानन्त द्रव्य और उनकी प्रत्येककी अनन्तानन्त पर्यायें, यह

सब समूह ज्ञेय है, और यह ज्ञाता कौन है ? एक जीवद्रव्य ज्ञाता है । एक तो ज्ञाता और ये सबके सब ज्ञेय है ।

सर्वज्ञेयके ज्ञातामे एकज्ञताका विवरण—ज्ञाता भी यद्यपि अनन्तानन्त हैं, परन्तु एक ज्ञाताके लिये तो सबके सब ये ज्ञेय ही है । इस तरहसे ज्ञेय तो कितने ही है, परन्तु ज्ञाता तो एक जीवद्रव्य ही है । सो वह जीवद्रव्य, जो कि अपने पूरे ज्ञानस्वभावमे आ गया है, वह जीवद्रव्य यदि सर्वको जानने वाला नही है, तो अपने आपको भी नही जान सकता । सर्वको जान लेता है, इसीलिये अपनेको भी जानता । किस तरहसे सर्वको जान लेता है ? जब कोई ज्ञानावरण ही नही रहता, तो इस ज्ञानमे ऐसा स्वभाव प्रगट होता है कि सर्व इसके ज्ञेय हो जाते है । ऐसी हालतमे यदि ज्ञेयोको न जाने तो अपने आपको कैसे जान सकता है । जैसे एक दर्पण है, दर्पणके सामने एक पेड खडा है, पेडकी डालिया, पत्ते, पुष्प, फल, छाल आदि सभी के सभी दर्पणमे प्रतिबिम्बमे आ रहे है । आप प्रतिबिम्बको मत देखो, दर्पणको देख लो, क्या बिना प्रतिबिम्बके देखे दर्पणको देख सकते हो ? प्रत्यक्ष बात है कि आप दर्पणको नही देख सकते । दर्पणका प्रतिबिम्ब और उसकी सारी पर्यायें देखनेपर ही दर्पण देखनेमे आ सकता है । जैसे ज्ञानीके ज्ञानमे सर्व पर्यायें आई, वहाँ सर्व ज्ञेयोको नही जान पाया तो यह अपने ज्ञानको भी नही जान सकता । समस्त ज्ञेय जाननेमे नही आनेपर वह एक भी जाननेमे नही आ सकता । जैसे कोई अधा सूर्यके द्वारा प्रकाशमे आने वाले पदार्थोंको नही देख पाता, तो एक सूर्यको भी नही देख पाता, इसी तरहसे यदि कोई सर्वज्ञेयोको नही जान पाये तो अपनेमे अवस्थित एक आत्माको भी नही जान पाता । कारण यह है कि जब सारे ज्ञानावरण मिट गये, और ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, और सर्व ज्ञेय इस स्वभावके कारण ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते है, कोई यदि यह चाहे कि उन ज्ञेयोको न जाने और अपने आपको जान जाय तो यह बात नही हो सकती । जब जैसे प्रतिबिम्बको न देखते हुए दर्पणको भी देखने वाला नही बन सकता, इसी तरहसे सब ज्ञेयोको न जानते हुए वह केवली अपने आपको भी नही जान सकता । जिस ज्ञातामे ज्ञानस्वभावके कारण सर्वज्ञेयोका आकार आया, वहाँ वह सर्वज्ञेयो को न जाने तो वह अपने आपको भी नही जान सकता ।

ज्ञेयाकार ग्रहणस्वभाव—इस गाथाको इस तरहमे सोचना चाहिये कि केवलीका ज्ञान जो है, उसका ज्ञानस्वभाव होनेके कारण सर्वज्ञेयोका प्रतिबिम्ब उसमे आया है । प्रतिबिम्ब नही आता, उसका ग्रहण आता है, जिसको ज्ञेयाकार कहते । उनके ज्ञानमे सब ज्ञेयोका ज्ञेयाकार आता । इतना माननेके बाद इस गाथाका रहस्य समझो । यदि वह ज्ञानी सर्वज्ञेयोको नही जानता तो वह अपने आपको भी नही जानता । जैसे एक गोलेके प्रमाण वाली अग्नि, यदि वह इतने दाह्यको नही जलाती है, तो वह अग्नि इस समस्त दाह्यके आकार रूपमे नही

परिणमन सकती । जैसे समस्त दाह्को जलाने वाली अग्नि समस्त ईंधनके कारण जो दाह्य आकार बना, तब वह इतने आकारकी अग्नि कहलाई । इसमे दोनो चीज है, जैसे मानो कुछ इतने छोटे कडेमे आग लगी है, उसके पूरे कडेमे आग लग चुकी है । अब यह जो है, यह इतने समस्त एक दहन आकाररूपमे कैसे परिणमी, क्या करती हुई परिणमी ? इतने कडेको जलाती हुई ही इतने स्वरूप रख पाई । इसी तरहसे समस्त ज्ञेयोको जानने वाला ज्ञानी समस्त ज्ञेयोके निमित्त कारणसे समस्त ज्ञेयाकार ज्ञेयोमे परिणमता, इसी तरहसे ज्ञाता यह आत्मा होनेके कारण अपनी आत्माको परिणमता है । जैसे कल्पना करो कि यदि यह दर्पण खुद जानने वाला होता तो वह दर्पण अपने निजस्वभावको निज परिणामको तब तक नही जान पाता, जब तक वह अपने सारे प्रतिविम्बको नही जान लेता । इसी तरहसे आत्मा तो स्वयका जानने वाला है ही । यह आत्मा स्वयका जानने वाला तब तक नही बन सकता, जब तक कि इसमे समस्त ज्ञयाकारके ग्रहणको नही जान पाया, तब तक वह अपने आपको भी नही जान सकता । इस बातको अपने पर घटाओ । केवलीको छोड दो । हम अपने आपको जो अनुभव कर रहे हैं, हम अपने आपके ज्ञानको जो जानते है तभी जान पाते है कि हमारे ज्ञानमे जो भी आये इसको जानते हुए ही हम अपने आपको जान पाये । जो जैसी अवस्था है उसी अवस्थामे जितना ज्ञेयोको जानना हो रहा है और जो ज्ञेयाकार जान रहे है उनको जाने बिना अपने आपको नही जान पाते । यहाँ तो हमारेमे कतिपय ज्ञेयाकार आते है और वहाँ केवलीके ज्ञान मे सर्व ज्ञेयाकार एक समयमे आते है ।

प्रत्येक आत्मामे स्वका अनुभवन—यहाँ यह प्रश्न किया कि केवलीकी उस बातको समझनेके लिए यह दृष्टान्त किया, कि ज्ञेयाकार को जानकर हम अपने आपको जान पाते । परन्तु ज्ञेयाकारको जानकर भी अपने आपको नही जान पाते, ऐसे भी कई व्यक्ति यहा है ? उत्तर—यहा आत्माके साधारण अनुभवसे मतलब है । आत्माके अनुभवके बिना दुनियाका कोई प्राणी नही रहता । मिथ्यादृष्टि सुख दु ख रूपसे अनुभव करता, सम्यक्दृष्टि अपने आपको ध्रुवज्ञान स्वभावसे अनुभव करता, परन्तु अनुभव करनेसे अलग कोई नही रहता । ज्ञेयाकारो का अनुभव किये बिना वह अपने आपका अनुभव नही कर सकता । अपने आपके सत्य अनुभव करने की बात नही कही है । जैसा भी अनुभव हो उस समय वह ज्ञान उन पर्यायोके अनुभवके बिना नही हो सकता । निगोदसे लेकर सिद्धपर्याय तक सब जीवोका यही हाल है । प्रत्येक द्रव्य अपनी ही पर्यायोका अनुभव करता ही है । ऐसा द्रव्यका स्वभाव है ।

आत्मसंवेदनकी सब जीवोमे अनिवार्यता—यदि मिथ्यादृष्टि अपनी आत्माका अनुभव न करे तो उसे सुख दु ख हो ही नही सकता । यहाँ आत्माका अनुभव करनेका तात्पर्य शुद्ध-आत्माका अनुभव नही । आत्माके अनुभवके बिना सुख दुःखका अनुभव नही हो सकता ।

सुख दु खका भी अनुभव आत्माका ही अनुभव है । सम्यग्दृष्टि तो अपने अन्दर आये हुए पापो की विवेचना करता है और मिथ्यादृष्टि अपने अन्दर आये हुए पापोकी विवेचना नही कर रहा है, वह तो अपने अन्दर आये हुये पापोका अनुभव कर रहा है । दोनो जगह अनुभवन चल ही रहा है । जैसे किसी मिथ्यादृष्टि ने किसी स्त्री पुत्रके विषयमे ऐसा परिणाम किया कि यही मैं हू, यह निकृष्ट दर्जेका परिणाम है । परपदार्थके लिये यह सोचना कि यह मै हू, यह निकृष्ट परिणाम है । परपदार्थमे यह मेरा है यह उतना खोटा परिणाम नही, परन्तु यह मैं हू यह तो निकृष्ट परिणाम है । यह मेरे है यह कहता हुआ वह यह तो कह रहा कि इसकी सत्ता न्यारी और मेरी सत्ता न्यारी है । यह परिणाम करते हुए उसने उस पदार्थपर दया तो कर रखी है कि उसकी सत्तासे न्यारा रखा इसमे अपनी भी दया आ गई । परन्तु 'यही मैं हू' कहनेमे तो उसने उसकी सत्ता ही मिटा डाली । ऐसा कहने मे कि वह आत्मा वह बन गया । इसमे तो उस आत्माकी सत्ता ही मिट जाती । इस परिणामसे तो उसने बिल्कुल अशुद्ध परिणामका अनुभव किया परन्तु ऐसा होनेपर भी उसने अपने विकल्पका ही अनुभव किया, न कि परका वह उसको जानता मात्र है । जो केवली जिनका ज्ञान स्वभाव होनेके कारण सर्व ज्ञेय जाननेमे आये, यदि वह सर्वज्ञेयोको नही जानें तो अपने आपको भी नही जाने ।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता बतानेका प्रयोजन—अभी प्रश्न यह उठा कि ऐसा समझाने का अभिप्राय क्या है ? अभिप्राय यह है कि कही कोई यह धारणा न कर ले । जैसे कितने ही सिद्धात भी ऐसे है कि आत्मा तो केवल आत्माको ही जानता, जैन सिद्धातमे भी यही सिद्धात है, निश्चयसे आत्मा आत्माको ही जानता, ऐसा सुनकर कोई जीव इस सन्देहमे न आ जाये कि आत्मा तो केवल आत्माको ही जानता, और किसी भी पदार्थको नही जानता । उसका समाधान करनेके लिये यह बात बतला रहे है कि जो समस्त ज्ञेयोका समस्त ज्ञेयाकार ग्रहणरूप पर्यायमे आ जावे, सर्व ज्ञेयाकार उस ज्ञाताके ज्ञानमे गृहीत है, यह बतलानेके बाद यह बतलाते कि नियमसे सर्व ज्ञेयोके जाने बिना अपने आपको नही जान सकते । यह कहते हुए उनके हितके स्वरूपका ज्ञान करा रहे हैं । उस हालतमे वह ज्ञानी भी समस्त ज्ञेयोको नही जानता । समस्त ज्ञेयोके निमित्तसे जो समस्त ज्ञेयाकार पर्यायोमे परिणति हुई वह ज्ञान है उसे जानता । यदि समस्त ज्ञेयाकारोको नही जाना तो उस ज्ञेयाकार स्वरूप आत्माको भी नही जान सका । वह आत्मा भी स्वानुभव प्रत्यक्षमे नही आ सकी । जैसे दर्पण प्रतिबिम्बके ज्ञानके बिना नही देखा जा सकता, इसी तरहसे ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा वहाँ है कि समस्त ज्ञेयोके आकारसे ज्ञानाकार परिणाम रहा है, तो वहाँ भी यह नही हो सकता कि समस्त ज्ञेयोको न जाने और अपने आपको जान जाये । इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि जो अपने आपको नही जानते, वे सर्वको नही जानते, और जिसका अभिप्राय था कि आत्मा कैसी है ? यह बात जब तक

जाननेमे नही आयेगी तब तक कि वह अपने आपको नही जान जायगा ।

अविश्वज्ञतामें अनात्मज्ञताका रहस्य—साख्य सिद्धान्तमे ऐसा माना है कि यह ज्ञाता आत्मा केवल अपनेको द्रव्यरूप करता है, इसके अलावा यह पुरुष और कुछ नही कर पाता । इसके लिये जिनसिद्धातको भी बताता कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञान आता । यह आत्मा जानता नही, परन्तु ज्ञानावरणका क्षयोपशम आत्माको जानता । आत्मा साता है, न असाता, परन्तु वह तो कर्मोंके उदयसे अनुभव करता । यदि वह सुखी है तो उसके साता कर्मका उदय है, वह दु खी है तो उसके असाता कर्मका उदय है । यदि ऐसा ही मानते रहेगे कि आत्मा केवल द्रव्यरूपको करता, वह और कुछ भी करे वह क्रिया आत्माको करती ही नही, चाहे वह व्यभिचार करे, चाहे वह मास मदिरा खाये, उससे आत्माका कुछ भी नही बिगडता । वे आत्मा ज्ञानके विषयमे भी यह ही कह सकते कि वह ज्ञान जानता किसीको भी नही और केवल अपने आपको ही द्रव्यरूप करता । तो ऐसे गलत अभिप्रायको मिटानेके लिये यह गाथा कही गई है कि वह ज्ञान जो ज्ञेयाकार उसमे आये हुये है उनके अनुभवके बिना रह ही नही सकता । एक ज्ञानमे ज्ञयाकार पर्यायोका अनुभव किये बिना ज्ञान रहेगा क्या ? और अपनी क्रियाको करेगा क्या ? जिसके जैसी पर्याय है उसका अनुभव किये बिना वह उसकी क्रिया होगी क्या ? इसलिये केवली भगवान सर्वको नही जानते, तो अपने आपको भी नही जान पाते । इस आत्मासे जब तक सर्वको नही जान लिया जाय तब तक यह आत्मा जाना नही जा सकता । तो इस गाथामे यह सिद्ध किया गया है कि जो सर्वको यही जानता, वह आत्माको भी नही जानता ।

स्वपरप्रकाशकताका विवरण—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि हम जिस समय घटको जानते हैं, उस घटका ज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनोका ज्ञान एक साथ हुआ कि क्रमसे हुआ है । उत्तर है कि घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान एक साथ होते । ज्ञानमे घटज्ञानके ज्ञानके बिना घटज्ञानका या घटका निश्चय नही हो सकता । जो जाना वह ज्ञान उसका सच्चा है, यह पदार्थ सच्चा है, यह जाननेके साथ उसके उत्तरमे यह प्रतीति बैठी कि उसके जाननेवाला ज्ञान वह भी सच्चा है । तो घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनो एक साथ ज्ञानमे हुए । इसका कारण यह है कि आत्मा घटको नही जानता । इस घटका निमित्त पाकर इसका जो आत्मामे घटाकार प्रगट हुआ उस आकारको ही जानता । ज्ञानको उस घटज्ञानमे ऐसी आवश्यकता नही होती कि वह अपने आत्मप्रदेशको छोडकर बाह्य क्षेत्रोमे भी कुछ क्रिया करे । द्रव्यके किसी गुणमे यह शक्ति नही है कि वह अपने प्रदेशको छोडकर बाहर क्रिया कर सके । एक घटकी क्रियाको पाकर जो यहाँ घटाकार होता है, उसने उस घटाकारको जाना । इस तरह ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारमे जो परिणमन होता है, वह एक ही साथ परिणमन होता है, छद्मस्थके दो उपयोग

एक साथ नही होते, परन्तु वहाँ दो उपयोग ही नही, वह तो एक ही उपयोग है। घटज्ञान जो परिणम गया है, वह घटज्ञान और बाह्य उपचारसे किया गया घटका ज्ञान वह दोनो तो एक ज्ञान है, प्रकार दो कहलाये, परन्तु वह तो एक ही उपयोग है, और वह एक ही उपयोग की ऐसी क्रिया है। इसलिए ज्ञानको स्वपरप्रकाशी कहा है, अर्थात् ज्ञान स्वयको और परको एक साथ जानता है। वह एक ही विषयको लिये हुए जानता है। अब प्रकाशपर आइये, इस तरहसे यहाँ यह बात सिद्ध हो गई कि जो सर्वको नही जानता है, वह आत्माको भी नही जानता है। केवली यदि सर्वको नही जानते तो वह अपने आपको भी नही जान सकते।

अनात्मज्ञतामे अविश्वज्ञता—अब इसके बादमे यह कहा है कि जो अपने आपको एकको नही जाने वह सर्वको भी नही जान सकता। जैसे कि आप यदि उस प्रतिबिम्बमय दर्पणको नही जाने जिसमे वृक्षका बिम्ब है तो फूल, पत्ती, डाली वगैरह इन सबको भी नही जान सकते। आप यदि एक दर्पणको नही जान सकेंगे तो सारे पेडको भी नही जान सकते। इसी तरहसे केवली एक उस आत्माको नही जाने तो सर्वको भी नही जान सकता। इसके कहनेका क्या प्रयोजन ? इसके कहनेका एक प्रयोजन है कि जैनधर्म अनेकान्तमे से निकले हुए सिद्धान्तको रखता है। उस अनेकान्त धर्ममे से निकले हुए एक ही सिद्धान्तको हठ करके मानने वाले जगतमे बुद्ध अनेक है। किसीने ऐसा समझ रखा कि ज्ञान तो अपने आपको ही जानता और किसीको भी नही जानता, इसलिए यह शका हो गई कि वह दोनो उपयोग एक साथ कैसे हो गये ? दुनिया भरको तो जान गया पर अपनेको नही जान रहा, ऐसी शका यहाँ भी हम कर रहे है। पर वहाँ भी अपने आपको जानन अनुभव बिना उसके सर्वका जानना नही हो सकता। जिनका यह सिद्धात है कि ज्ञान परको ही जानता है उनका यह खडन है कि वह खुदको नही जाने तो परको भी नही जान सकता। केवली यदि निजको भी नही जान सकते तो सबको भी नही जान सकते। जो दुनिया भरके लडको को जिनमे वह परकीय बुद्धि करता नही जानता तो वह अपने लडकेको भी नही जानता। वह यदि अपने लडकको यह मेरा लडका है ऐसा नही जाने तो दुनिया भरके लडकोको भी ऐसा नही जान सकता कि ये परके लडके हैं। जिसने केवल अपना ही लडका देखा है और दुनियाके और लडकोको नही देखा तो उसको यह बुद्धि नही हो सकती कि यह लडका मेरा है और जो अपने लडके को अपना नही जानता, वहाँ परके लडको को भी यह दूसरेके है ऐसा नही जान सकता। यहाँ यह शका उठेगी कि कोई आदमी जिसके लडका नही है तो यह कैसे जानेगा कि यह परका लडका है। इसका उत्तर है कि वह यह भी तो जानेगा कि मेरे लडका नही है। ऐसा सोचनेमे भी उसने अपना लडका बना ही तो लिया। जब अपना लडका बन गया तब यह

कहा जाता कि यह दूसरेका लड़का है। साधुजनोके यह विकल्प ही नही होता कि यह दूसरो का लडका है क्योकि खुदका लडका माने बिना यह विकल्प नही हो सकता, यह तो विकल्प आजायगा कि यह इसका लडका हैं परन्तु यह विकल्प नही आयेगा कि यह परका लडका है। यह तो बात सगतिमात्र कहो मोहियोकी लीला का उदाहरण है, यहाँ तो आत्मा व ज्ञेयाकार का व्यापकव्याप्य सम्बन्ध है। अब श्रीमत्कुदकुदाचार्य यह निश्चय करते हैं कि जो एक निज आत्माको नही जानता वह सर्वको भी नही जानता है।

दव्व अणत पज्जव मेक्कमणताणि दव्व जादाणि।
णविजाणदि जदिजुगव कध सो सव्वाणि जाणादि ॥४६॥

ज्ञानका विशुद्ध रूप—निज आत्मा अनत पर्याय करि त्रिकालमे सहित है और वर्तमान कालमे निजकी समस्त अनन्त शक्तियोके पर्याय करि सयुक्त है और शुद्ध आत्मामे भी स्वरसतः सर्वज्ञेयोका भास है जिससे उन उनके ग्रहणरूप आकार पर्यायसे सयुक्त है, ऐसे अनत पर्याय वाले निज आत्माको जो नही जाने तो अनत पर्याय वाले अनत द्रव्योको सबको एक साथ फिर कैसे जाना जा सकता है? यह आत्मा ज्ञानमय है, स्वय ज्ञानमय है, क्योकि ज्ञाता द्रव्य है अत आत्मा ज्ञान ही है। आत्माका ज्ञान असाधारण गुण है वह प्रत्येक आत्मामे समान स्वभावको लिए हुए है, त्रैकालिक है, अतः प्रतिभासमय होते हुए भी महासामान्यरूप है। प्रतिभासका स्वरूप पदार्थ विषय जानन है। कुछ भी ज्ञेय न हो तो जानन ही क्या? जाननका अर्थ जानना ही ये है। निरावरण निर्मल ज्ञान स्वरसतः सर्व ज्ञेयोके जाननरूप है। अतः ज्ञान ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा एक होकर भी प्रतिभास क्रियोद्यत अनन्त ज्ञान विशेषोमे व्यापता है। ज्ञानके ये अनत विशेष नाना विध मति विविधभूत विविध अवधि विविधमन पर्ययम एकविध केवलज्ञानके प्रकारसे अनन्त है। उनमें आदिके ४ ज्ञान तो कतिपय द्रव्यपर्यायविषयक प्रतिभास है और केवलज्ञान सर्व द्रव्य पर्यायविषयक प्रतिभास है। जो प्रतिभास है सो प्रतिभास सामान्यकी व्यक्ति है। आत्मा प्रतिभास सामान्यलक्षणक है। प्रतिभास सामान्य प्रतिभासमय अनन्त विशेष पर्यायोमे व्यापी है। प्रतिभासमय विशेष अर्थात् ज्ञानस्वभावका केवलज्ञान पर्याय अनन्त सर्व द्रव्य पर्याय निबधनक है, तब जो आत्मा सर्व द्रव्य पर्याय जिसके विषय है, ऐसे प्रतिभास विशेषोमे व्यापी प्रतिभास सामान्यरूप निज आत्माको नही जानता है, वह ज्ञान सामान्यमे व्याप्य जो निजके ज्ञान विशेष है, उसके विषयको अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायोको कैसे जान सकता है? जैसे दर्पणमे बहुतसे मनुष्योका प्रतिबिम्ब है, तो दर्पण को देखे बिना प्रतिबिम्ब कैसे दीखे जा सकते है? इसी प्रकार आत्मा ज्ञानसामान्य स्वरूप है, उसकी पर्यायें ज्ञान विशेष है, ज्ञान विशेषका निर्माण पदार्थके जाननरूप अभेद हेतुसे ही हुआ है, अर्थात् ज्ञानविशेष ज्ञेयभूत अनत द्रव्य पर्यायोके जानने वाले है। यहाँ यदि कोई

ज्ञान सामान्यात्मक एक निज आत्माको न जाने तो वह इस निजके चित्रामस्वरूप सर्व ज्ञेयाकारोको कैसे जाने और जो ज्ञेयाकार न जाने तो यह व्यवहार कैसे बने कि सर्व द्रव्य पर्याय उसके प्रत्यक्ष है। अतः वह बात निर्विवाद है कि जो एक निजको नही जानता है, वह सर्वको नही जानता है। पहिली गाथामे तो यह बताया था कि जो सर्वको नही जानता है, वह एक निज आत्माको भी नही जानता है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो एक निज एक आत्मा को नही जानता है वह सर्वको नही जानता है।

अविश्वज्ञतामें अनात्मज्ञताका विवरण—प्रश्न—जो सबको नही जानता है, वह निजको नही जानता है। यह कैसे ठीक हो सकता जब कि छद्मस्थ अवस्थामे सम्यग्दृष्टि भक्त सबको नही जानते, परन्तु निजको जानते है? उत्तर—यहाँसे कम ज्ञानमे भी जीव अजीवादि के परिज्ञानमे परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा सब पदार्थ जान लिये जाते है अथवा छद्मस्थ के ज्ञान विशेषमे प्रतिभासमान जो कुछ है, उस सबको जाने बिना निज आत्माको जो कि ज्ञान विशेपमे व्यापक प्रति आत्मा सामान्य रूप है, नही जान सकता। प्रश्न—जो कुछ ज्ञेय हो रहा है, उस रूपमे व्यापी निजको जाने तो जानो, इससे सर्वज्ञ तो नही हो जायगा? उत्तर—छद्मस्थ अवस्थामे स्वसवेदनरूपसे आत्मा जाना जाता है, उससे स्वभावरूप आत्माकी भावना रहती है, उस निर्विकल्प प्रतिभासमय निजकी भावनासे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इस केवलज्ञान अवस्थामे ज्ञानकी सीमाका हेतु ज्ञानावस्था न रहनेसे यह ज्ञान निज शक्तिसे सबके ग्रहणरूप परिणमता है। यह सब ज्ञानका स्वरूप है, तभी यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सर्व विश्व इस ज्ञानमे जम गया हो, क्योकि आत्मा ज्ञानमय है, स्वसचेतक है, यह स्व ज्ञान विशेप रूप परिणमता ही रहता है, ज्ञान विशेप ज्ञेयके ग्रहण रूप है। यहाँ मानो ज्ञाता ज्ञेयका परस्पर सज्वलन हो गया, सब चाहे इसका विवेचन करना अशक्य हो तो भी वस्तुतः देखो ज्ञाता ज्ञेय अत्यन्त पृथक् ही है। प्रतिभास्यमान ज्ञेय ज्ञानकी अवस्था है, जिस बाह्य ज्ञेयके अनुरूप यह प्रतिभास्यमान ज्ञेय है, वह बाह्य ज्ञेय अत्यत पृथक् परद्रव्य रूप है, सो भी प्रतिभासमे निजवृत्तिरूप प्रतिभास्यमान ज्ञेय तन्मय है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान उस सर्व परिपूर्ण निज आत्माको न जानेगा, तब परिपूर्ण आत्माका ज्ञान ही सिद्ध न होगा। अत यह बात निर्विवाद प्रतीत करनी चाहिये कि एक निज आत्माको जो न जाने तो सर्वको भी नही जानेगा।

यहाँ कोई यह तर्क करे कि सर्वज्ञ तो हो सकता है, परन्तु क्रमसे एक-एकको जान-जानकर जब सबको जान लेता, तब वह सर्वगत बन सकता, तो इसके उत्तरमे श्रीमत्कुन्द-कुन्दाचार्य कहते है कि यदि क्रम-क्रमसे अर्थको जानने वालेकी कल्पना करोगे, तो इस प्रकार वह सर्वज्ञ सिद्ध हो ही नही सकता।

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसोऽत्थे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगयं ।।५०।।

क्रमिक ज्ञानोसे सर्वगतताकी सिद्धि—यदि क्रमसे एक-एक अर्थका आलम्बन करके ज्ञानीके ज्ञान उत्पन्न हो तो वह न अविनाशी रह सकेगा, न क्षायिक, न सर्वव्यापी । क्योकि जब ज्ञान क्रम-क्रमसे एक-एक अर्थका अवलम्बन कर प्रवर्तेगा, तो जो किसी एक अर्थके अवलम्बनसे उत्पन्न हुआ था, वह आगे अन्य अर्थका अवलम्बन लेनेपर नष्ट हो गया । अर्थके अवलबनमे जिस अर्थका अवलबन हो, उसी अर्थका ज्ञान प्रवर्तेगा । इस तरह पूर्व विज्ञात अर्थ ज्ञान एक भी न रहेगा । इसी प्रकार जब एक-एक अर्थको जानकर क्रमसे अन्य-अन्य अर्थको जानेगा, तो वह ज्ञान क्षायिक नही हो सकता । समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर अब ज्ञानकी सीमा मे बाँधनेका क्या हेतु रह गया ? सीमित और क्रमशः ज्ञान क्षायिक-निर्मल नही होता । इन दो दोषोके अतिरिक्त तीसरा यह दोष है कि वह ज्ञान सर्वगत हो ही नही सकेगा, क्योकि क्रम क्रम जाननेका जिसका व्यापार चल रहा हो वह अनन्त द्रव्योको व अनन्त द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे सबको जान ही नही सकता । प्रथम तो क्रम क्रमसे जानते रहने से उपयोग वर्तमान अर्थावलम्बन सम्बन्धी रहेगा, वह सदा ही मात्र एक वर्तमान सयोगागत अर्थको ही जानेगा । संचयकी भी अपेक्षासे सबको नही जानेगा । कदाचित् ऐसा भी कहा जावे कि जिन भगवतोको अनन्तकाल विशुद्ध हुए व्यतीत हो गया, उनके तो अनन्त द्रव्योके परिज्ञानका क्रम क्रमसे करके भी सचय हो गया हो, सो भी युक्त नही है, क्योकि यदि सर्वका सचय हो गया हो तो फिर इसके बाद आलम्बनके लिये कोई अर्थ तो अवशिष्ट रहा नही, फिर तो व्यापार रुक जानेसे ज्ञानशून्यता हो जायगी । यदि कोई अर्थ शेष है जाननेके लिये, सो इनके सर्वज्ञता नही रहेगी । इस तरह क्रम-क्रमसे ज्ञानको जानते रहनेके कारण ज्ञानको सर्वगत रख देनेका जिनके विकल्प हो वह विकल्प यथार्थ नही है, क्योकि इस परिस्थितिमे ज्ञान पराधीन हुआ, क्षयोपशमाधीन हुआ व सामर्थ्यविहीन हुआ ।

ज्ञानकी निरपेक्ष वर्तना—ज्ञान अर्थका अवलम्बन लेकर जाने तो पदार्थका विनाश होनेपर ज्ञान विनाश हो गया, क्योकि ज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्तभूत पदार्थ था, उसका विनाश होनेपर ज्ञान कैसे सत् रहेगा ? इस तरह ज्ञान पराधीन होनेसे नित्य न रहा, ज्ञान क्रमसे एक-एकको जानते तो इसका हेतु ज्ञानावस्थाका क्षयोपशम मुख्य है । क्षयोपशममे प्रकृतियोका उदयाभावीक्षय व उपशम तथा उदय रहता है, जिसके ज्ञानकी वृत्ति तो चलती है, परन्तु अटक बनी रहती है, तभी ज्ञान क्रम-क्रमसे एक-एक पदार्थको जाननेकी वृत्ति रखता है, ऐसा ज्ञान क्षायोपशमिक हुआ, क्षायिक नही है । जो ज्ञान एक-एक अर्थको जानता है, वह अनन्तके विज्ञानकी सामर्थ्यसे विहीन होनेसे सर्वगत नही हो सकता । अतीन्द्रिय केवलज्ञानकी सर्वज्ञता

क्रम-क्रमसे जाननेमे नही रहती । भगवत् केवली प्रभुका ज्ञान युगपत् ही सर्व लोकालोकको अनन्त पर्यायो सहित है । ज्ञानकी स्वभाववृत्ति ऐसी ही है । ऐसा ही वर्तनेका मेरा स्वभाव है । यह निर्मल परिणति प्रभाव स्वभावदृष्टिका परिणाम है । स्वभावदृष्टिकी निर्मलताने निर्मल स्वभाव वर्तन होता है । अनन्त सिद्ध महत भगवतोने इसी प्रक्रियासे नैर्मल्य प्राप्त किया । इस प्रकार निषेधरूपसे क्रमकृत प्रवृत्तिका खटन करके अब युगपत् ज्ञानवृत्तिसे ही केवलज्ञानकी सर्वज्ञता सिद्ध करते है ।

तेकालणिच्चविसम सकल सव्वत्थ सभव चित्त ।
जुगव जाणदि जोण्ह अहो हि णाणस्य माहप्प ॥५१॥

ज्ञानका माहात्म्य—जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान नाना प्रकारके सब अर्थोको एक साथ जानना है । वह ज्ञान इस निज ज्ञानकी जाति का है । अहा, ज्ञानका माहात्म्य बहुत ही उत्तम है । जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान जिन सब अर्थोको जानता है वे सब अर्थ कैसे है ? तीनो कालोमे सदा अपने अपने समयके व्यतिरेकी पर्यायोसे परिणत हुए है, समस्त लोकमे उत्पन्न व स्थित है, ऐसे समस्त अर्थ ज्ञानको जैनज्ञान जानता है । यहाँ जैनज्ञानसे तात्पर्य अरहंत और सिद्ध प्रभुके केवलज्ञानमे है । ज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त क्षयसे उत्पन्न हुए का ऐसा ही अपूर्व परम माहात्म्य है । यह क्षायिक ज्ञान एक साथ ही सर्व अर्थोको आलम्ब करके प्रवर्तता है । यहाँ अर्थोके आलवनका तात्पर्य इतना ही है जो क्षायिक ज्ञान सद्भूत अर्थोको जानता है असत्को नही जानता, वस्तुतः अर्थो को नही जानता किन्तु सत् अर्थके ग्रहण रूप निज ज्ञेयाकारको जानता है । यहा ग्रहण उसी विषयका होता जो कि सत् है, था व होगा । यही अर्थो का आलम्बन है । यह क्षायिक ज्ञान नित्य है । यद्यपि यह ज्ञान भी वस्तुभूत होने से प्रति समय वर्तन करता रहता है तथापि निरुपाधि, अत्यन्त शुद्ध होने से प्रत्येक वर्तनाये समान होती है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान जो पहिले समयमे जानते है वही दूसरे समयमे जानते है, वही वही प्रति समयमे जानते है अतः समस्त वस्तुका ज्ञेयाकार प्रतिसमयमे है सो टकोत्कीर्णवत् सकलज्ञानमे निखात (गढ गये की तरह) हो गये है अत. नित्य है । केवल ज्ञान समस्त सत्को जानता है अत स्वभावका पूर्णविकास यही है । ज्ञानका स्वभाव जानना है और जानना भी पूर्ण । इस की पूर्णता समस्त अर्थो की ज्ञेयाकारतामे है । यही स्वभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है ।

पूर्णसे पूर्णका उद्भव—यह शुद्ध ज्ञान समस्त ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट होता है सो यह केवलज्ञान क्षायिक भाव है । ज्ञानका स्वभाव वर्तन कितना है जितना समस्त सत्का परिच्छेदन है । इस परिपूर्ण ज्ञानस्वभावको प्रकट करनेवाला क्षायिक भाव केवलज्ञान है । यह ज्ञान समस्त अर्थो का ज्ञान करता है । ये अर्थ भी सब एकसे सरल सीधे नही है किन्तु तीनो काल विपम परिणमन करते रहने वाले हैं ऐसे सर्व विषम वस्तुवोको और सम वस्तुवोको जो

कि अनेक प्रकारके है सबको जानता है। यह जानना भी क्रमसे है क्योंकि क्रमसे जानते रहने मे किसी भी समय सर्वका जानना होता ही नही है अथवा क्रमसे जानने वाला ज्ञान अपूर्ण है, यहाँ तो समस्त विघ्न निमित्तोका अभाव है और वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिके मुख्य कारण स्वरूप समयसारकी अनन्य दृढ भावनासे पूर्व योग्यताका विकास हो गया है, फिर क्रमसे जानते रहनेकी अशक्ति कैसे सभव है ? यह केवलज्ञान तो समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे व्यवस्थित समस्त अर्थोको एक साथ जाननेरूप आक्रमण करता है। अहा जिनेन्द्र प्रभुके ज्ञानकी अद्‌भुत महिमा है। यह ज्ञान सर्वथा नही है इसमे कोई सन्देह नही है। केवलज्ञान और यह हमारा ज्ञान एक ही जातिका है। पुराण पुरुषोकी तरह हम भी स्वभावका दृढ़ अवलम्बन ले, यही हमारा हित है। हे सर्वगतस्वभाव ! जयवत प्रवर्तो।

आज ज्ञानाधिकारकी अन्तिम गाथा है। यह अन्तराधिकार है। प्रवचनसारमे ३ महाधिकार है—ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चरित्राधिकार। पहला जो ज्ञानाधिकार है जिसका दूसरा नाम ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन है उसके भी कई छोटे अन्तराधिकार है, उनमे छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। तीन हिस्से वाला ज्ञानाधिकार समाप्त नही होता, परन्तु उस ज्ञानाधिकारका छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। इस ज्ञानाधिकारके अन्तमें यह बतलाते है कि दुनियामे जो बन्ध होते है, जिन जीवोके जो बन्ध होते है, वे बन्ध ज्ञानसे नही होते, किन्तु ज्ञेयार्थ परिणमन क्रियासे होते है। ज्ञेय पदार्थोंके अनुकूल जो अपना परिणमन है उस क्रियासे बन्ध होता है। 'अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्‌भावेऽपि क्रियाफलभूत बध प्रतिषेधयन्नुपसंहरति।' अब ज्ञानी जीवके ज्ञप्ति क्रिया मौजूद होने पर भी उसकी क्रियाका फल बन्ध होता है, तो वह बध ज्ञानी जीवकी ज्ञप्ति क्रियासे नही होता है, ऐसा कहते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते है।

णवि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

ज्ञप्तिक्रियासे बन्धका अभाव—यह ज्ञानी आत्मा न तो पदार्थमें परिणमता है, न पर पदार्थको ग्रहण करता है और न परपदार्थमें उत्पन्न होता है, किन्तु वह उन पदार्थोंको जानता हुआ निश्चयसे उन पदार्थोंके निमित्तसे होने वाले ज्ञानकी तद्रूप ज्ञेयाकारसे बन्धा हुआ वह ज्ञानी अबन्ध ही कहा गया है। पहले यह बताया गया था कि केवलज्ञानीका ज्ञान एक साथ तीन लोक और तीन कालके सर्व पदार्थोंको जानता है। यह है ज्ञानकी ज्ञप्ति क्रियाका [illegible] । जिन ज्ञानमें इतनी पूरी बात नहीं आती, [illegible] को छोड़कर यह कहा जा सकता कि वहां कोई न कोई राग अवश्य है। [illegible] पदार्थोंको [illegible]

पर दूसरे पदार्थको जाननेकी प्रवृत्ति रागकी प्रेरणाके कारण होती। परन्तु अर्हन्त देवमे इच्छाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनमे ऐसी क्रमप्रवृत्ति नही होती जाननकी। वहाँ तो जो जाना सो जाना। वहा रागकी प्रेरणा नही होती। वे तो एक साथ समस्त पदार्थों को जानने वाले ज्ञानके कारण सर्वज्ञ कहलाते है, ऐसी बात जानकर हमको करना क्या चाहिए ? हमको यह करना चाहिए कि मूर्ख जीवोंके चमत्कार कर देनेके कारण जो मत्र विद्या, ज्योतिष विद्या, जो जो कि खड ज्ञान है, ऐसे खड ज्ञानोंसे जो कि परमात्माकी भावनाके नाश करनेके ही कारण हैं, जिन सबका उद्देश्य परपदार्थ ही रहता है, जो परपदार्थके लक्ष्यके कारण परमात्माकी भावनाका घात रहा उनसे विमुख हटकर एक निज सहज शुद्धसवेदनमे भावना करें।

आत्महितभावनाका कर्तव्य—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि ज्योतिष विद्या, मत्र विद्या आदि जिन्हे कि परमात्माकी भावनाको नष्ट करने वाले कहते है, तो क्या ये द्वादशागमे नही आते ? इसका उत्तर यह है कि द्वादशागमे तो सब ही आते हैं, पाप भी मिथ्यात्व भी द्वादशाग मे आते हैं और उक्त मध्यमविद्यायें भी, किन्तु सबके उपयोगका विवेक करना चाहिये कि मुमुक्षु को यह चाहिये कि वह इन खडविद्याओ या खडज्ञानोको छोडकर केवल शुद्ध स्वरूप वाछा रखे और यह विचारे कि रागद्वेष रहित केवल प्रतिभासकी स्थिति ही हित है, उसकी ओर ही उसका लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे ज्ञानी जीव इन मूढ जीवोंके चमत्कार आदिमे अपने चित्त नही लाते है। उनके तो केवल एक निज शुद्ध आत्माकी भावनामे ही चित्त रहता है। यहाँ जो हमने समझा और लोगोंने समझा, उस वक्तमे तो निषेध कर रहे कि दुनियाके किसी भी अन्य काममे अपनी भावना नही करनी चाहिये और भावना यहाँ ही करनी चाहिए अर्थात् सहज शुद्ध आत्माके ज्ञानमे भावना करनी चाहिए, बस यही चीज निरन्तर रखो अर्थात् सहज शुद्ध आत्माके त्रैकालिक अखड एकस्वरूप जो ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभावमे अपने आपको अभेद करके 'यही मैं हू,' इस तरहसे कल्पना की, उस कल्पनाके द्वारा या उस कल्पना करनेके अनन्तर एक जो सहज शुद्ध आत्मामे रुचि स्थिति होती है, उस स्थितिकी भावना करनी चाहिए। वह अभेद ज्ञान कैसा है ? सारे रागादि विकल्पजालोसे रहित है। एक यह काम करनेसे यह अनुभव होता कि जो पहले जैनज्ञानका वर्णन किया, पूर्ण ज्ञानका वर्णन किया, केवलज्ञानका वर्णन किया, उसकी उत्पत्ति होती ही है। वह केवलज्ञान क्या ? चाहे सर्वज्ञ कह दो, चाहे सर्वज्ञान कह दो, चाहे केवलज्ञान कह दो, जो कि एक साथ सर्व वस्तुओका प्रकाशक है, अखड एक प्रतिभासरूप है, ऐसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारणभूत जो आत्माका शुद्ध निज अभेद ज्ञान है, उसकी भावना करो।

केवलज्ञानकी उत्पत्तिका साधन—भैया ! जिस केवलज्ञानके विषयमे हमने अब तक

समझा, जिस केवलज्ञानका स्वरूप समझा, उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, तो वह केवल निज सहज शुद्ध त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव आत्माका अभेद ज्ञान है। भीतरसे 'यह मैं' एक यह आवाज निकलती। अह अहका सर्व जीवोंको प्रत्यय है। कितने ही जीव उस प्रत्ययको शरीरमे लगाते, कुछ बुद्धिपर ही। तो कहते है कि शरीर मेरा है, शरीर मै हूँ, ऐसा नही, यदि ऐसा कर दिया तो भेदबुद्धि होगी। वहाँ तो मैं शरीर नही बन पाया। शरीरको देखा तो ऐसा प्रत्यय किया कि यह मेरा है, बाह्य पदार्थोंको देखा तो उनमे प्रत्यय किया। तो अपने आपमे जो कषायोका कालुष्य पड रहा, उनका अनुभव किया, वहाँ मैं का प्रत्यय किया, कुछ हमने खडज्ञानका अनुभव किया, उनमे भी प्रत्यय किया। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरमे, कषायोमें, खडज्ञानमे अहका प्रत्यय नही करके एक सामान्यतत्त्व जो अखड त्रैकालिक है, उसमे मैं का अनुभव करता। विकल्प नही, उसका अनुभव करनेके बाद जब अभेदज्ञान हो जाता है, तो वह अभेदज्ञानकी स्थिति केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

अभेदध्यानपर एक दृष्टान्त—किसी पदार्थको सोचते-सोचते एकाग्र चित्तसे सोचनेपर उस पदार्थमे अभेदपना आ जाता है। इस विषयमे कुछ लौकिक दृष्टान्त भी कुछ अशो तक घटित होते हैं। जैसे कोई मनुष्य ऐसा ध्यान करता है कि मैं गरुड हू, ऐसा अपनेमे गरुडका अभेद करनेसे जैसे उसे अपना मनुष्यत्वका पता नही रहता, परन्तु गरुडरूपसे अपना अनुभव होने लगता। एक देहाती, एक भूत व्यन्तरके चबूतरेपर चढकर अपने आपमे यह अभेद करता कि मै भूत हू, जब वह ऐसे अनुभवमे एकाग्रचित्त हो जाता कि मैं भूत हू, और अपना मनुष्य का रूप भुला देता है, तो वह भूतोकीसी चेष्टाए ही करने लगता। समयसारमे बताया कि एक मनुष्य यह एकाग्र चित्त होकर सोचता कि मैं बड़े सीगो वाला ४ हाथ वाले सीगो वाला भैसा हू, और उसमे इतना एक चित्त होकर ध्यानमे लग गया कि वह अपना मनुष्यपना भूल गया और यह ही अनुभव हुआ कि मैं भैसा हू, इतना सोचते-सोचते उसका ध्यान दरवाजेकी ओर जो डेढ हाथ चौडा था, उसकी ओर गया। भैसेका तो प्रत्यय हुआ ही और उसके साथ दरवाजेपर दृष्टि पडी कि डेढ हाथ दो हाथ चौडा दरवाजेमे मैं कैसे आऊँगा, वह घबरा गया कि मैं दरवाजेमे से कैसे निकलूँगा ? यह लौकिक उदाहरण है। यहाँ इससे ऐसा मतलब समझना है कि जो ऐसी सहज शुद्ध आत्मामे अह अह करके अभेदज्ञान करता है, उसको जिस कालमे ऐसी प्रवृत्ति मिलती है कि वह अनेक कर्मोंको नष्ट कर देता है। दृष्टान्तमे तो असत्मे कल्पना हुई, यहाँ सत्मे प्रत्यय हुआ, उस निज शुद्ध सामान्यतत्त्व, जिसे परमात्माका भाव भी कहते। ऐसे उस ज्ञानस्वभावमे अहका अनुभव ऐसा प्रत्यय करते-करते उसमे अभेदज्ञानरूपसे अवस्थित रह जाता।

अभेदज्ञान और धर्म—अभेदज्ञानकी मोटी पहिचान क्या, कि निजके उपयोगके उस

परिणमनके द्वारा इसके उस कालमे दूसरा कोई ख्याल नहीं रहता, न उसे क्षेत्रका ध्यान रहता और न शरीरका ध्यान रहता और न सम्बन्धका भान रहता और न कोई मानसिक भान रहता। ऐसे उस अभेदज्ञानके अनुभवसे जितने कर्म खिरें, उन्हे अज्ञानी जीव करोडो जन्म तक तप करे तो भी नही खिर सकता। ऐसा वह महान अनुभव है कि अज्ञानी जीव करोडो वर्ष तक तप करनेके बाद भी वह अनुभव ग्रहण नही कर सकता, ज्ञानी उस अनुभवको कुछ ही समयमे ग्रहण कर लेता है। ऐसे इस सहज शुद्ध आत्माके अभेदज्ञानमे भावना करो तो उसके द्वारा भविष्यमे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होगी और अनन्त सुख होगा और दुखोका नाश होगा। जहाँ जैसी अवस्थामे हम है, उसी अवस्थामे यह भावना होनी चाहिए। जितना यह किया उतना तो धर्म और जितना परलक्ष्य किया उतना अधर्म। धर्म जो है, वह चारित्र है और चारित्र है जो निज आत्मामे सहज स्वभावमे, सहज अवस्थामे है और निज आत्माका सहज स्वभाव रागद्वेष मोहसे रहित है, और वह ही धर्म है। उसीको कुन्दकुन्द भगवानने धर्म बतलाया और धर्ममय उसी सहजस्वभावी आत्मामे परम शान्ति होती है। धर्ममे शान्ति होती है, यह भी कहनेमे अवर्णवाद होती है। धर्म ही शान्ति है, धर्म ही स्वय शाति है। धर्मभाव और शान्तिभाव अलग-अलग चीज नहीं है।

व्यवहार धर्म—यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि निज सहज शुद्ध आत्माका जो अभेद ज्ञान है वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। यह आत्माकी निर्मलताका कारण है। यही निश्चय धर्म है, इसके अलावा और और क्रियाओ और और बातोमे ऐसा ज्ञानी जीव जब शुभ राग भावका उदय कर लेता है तो यह चेष्टायें होती हैं इसलिये यह व्यवहार धर्म है। प्रश्न—व्यवहारसे धर्म ऐसा क्यो कहा ? क्या व्यवहारधर्ममे कुछ सम्बन्ध नही है ? तो पशुकी हिंसाको व्यवहारधर्म क्यो नही कह दिया ? भगवानकी पूजा ही को व्यवहार धर्म क्यो कहा ? यदि व्यवहारधर्म झूठा धर्म है तो वह तो कही भी हिंसा झूठ आदिमे भी तो चिपट सकता है। उत्तर—इनसे उसका कुछ औपचारिक सम्बन्ध है। वह कितना है और कितना नही है—यह भी वर्णन प्रारम्भसे ही चल रहा है। भगवानकी पूजा आदिमे व्यवहार धर्म नाम क्यो पडा ? देखो जिसके शुरूसे हृदयमे धर्म है नही, वह पूजा कर रहा है, लोकपूजा करता है, फिर कुछ शुभ परिणाम होते रहे, कुछ बढियासी बात हुई और कुछ शुभोपयोगका अवसर मिला और वह पूजा कर रहा है। अभी सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान उसमे नही। आत्मामे त्रैकालिक सामान्यतत्त्वमे अभेद रूप रहनेकी स्थिति वाला धर्म अभी उनमे नही आया था। खैर ऐसा करते हुए उसमे कोई ऐसा भी आ सकता है कि इनका लक्ष्य छूट कर शहज शुद्ध आत्माकी बुद्धिमे आ जाय, इसलिए इसे व्यवहारधर्म कहा है। निश्चयसे धर्मका स्वरूप नही बताते। परतु कुछ लाभ हो रहा है। जो यह सहज शुद्ध आत्मा

के अभेद ज्ञानकी कल्पना चलने लगे, इसलिए वह व्यवहारधर्म है । अब यहाँके ज्ञाता स्वरूप दृष्टिसे यह देखते हैं कि धर्म तो केवल इतना है । दूसरे, ऐसे अभेदज्ञानीके जब राग आये तब राग आनेपर कबड्डी तो नही खेलने लगेगा । ज्ञानीको राग आवेगा तो ऐसी क्रियाओको आश्रय-मात्र करके उठकर आया कि व्यवहारधर्मके परिणामोको लेकर आयेगा, इसका सम्बध बताने के लिए ही इसका नाम व्यवहारधर्म है ।

धर्मके तीन पदोमें लक्षण—यह क्रियारूप परिणाम स्वय धर्मका स्वरूप नही है । धर्म तो सहज शुद्ध आत्माके अभेदज्ञान व उसकी स्थिरताको कहते है । इसलिए यह क्रिया-काण्ड धर्मका स्वरूप नही है, व्यवहारधर्म है । परन्तु यह व्यवहारधर्म ही वह धर्म है, ऐसी श्रद्धा भी रखता नही है । इसलिए यह धर्म सहज स्वभावका नाम है या जो उसका स्वरूप है, उसको धर्मका लौकिक स्वरूप कह सकते । इसलिए निश्चय और व्यवहार साथ भी चलते है । यदि निश्चयको छोड़ दो तो तत्त्व छूट जाय, और व्यवहारको छोड दो तो तीर्थ छूट जाय ।

व्यवहारधर्मकी दो किस्म बतलाई । व्यवहारधर्मकी तीसरी किस्म भी लो । द्रव्यकी जो भी पर्यायकी तरग होती है, वह तरग व्यवहारधर्म है अर्थात् तीसरी बात वह है कि जो सामान्य तत्त्व है, वह तो निश्चय है, क्योकि ध्रुव एक स्वरूप है, और जो विशेष तत्त्व परि-णमनरूप है, वह व्यवहार है । उक्त कथनमे अपने-अपने स्थानमे सब समर्थ है । इन तीन प्रकारके व्यवहार धर्मोमे से सबसे नीचे नम्बरका व्यवहारधर्म यह है, जिसके विषयमे शका हुई है । उससे ऊचे दर्जेका व्यवहारधर्म रागके उदयसे सब पदार्थोकी क्रिया जाननेका व्यवहार धर्म है, और ज्ञानीके जो आत्मामे है, वह वर्तमानकी जो तरग है वह भी व्यवहारधर्म है, परन्तु वह सबसे ऊचा कथनरूप व्यवहारधर्म है ।

ज्ञानकी अबन्धकता—केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण वह सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान है । छद्मस्थ ज्ञानीके भी और ऐसे पूर्ण ज्ञानी केवलज्ञानीके भी ज्ञप्ति क्रिया मौजूद है, फिर भी उसके क्रियाके फलस्वरूप जो बन्ध है. उसका निषेध करते है कि ज्ञानीके ज्ञानसे क्रम का बन्ध नही होता । पहले कह दिया कि अज्ञानी ही ऐसे है जो कि उदयमे आए, उनमे जो रागादि भाव करते है, वे तो बन्धका अनुभव करते है, परन्तु कर्मके उदयमे जो होता है. वह होता है, उनमे जो रागादि भाव नही करते, वे कर्मका बन्ध नही करते । सशरीर केवल-ज्ञानी जीवके कर्मका उदय भी होता है । समवशरण, विहार, दिव्यध्वनि, खडे होना, बैठना सब कुछ कर्मके उदयसे होता है, परन्तु उनमे रागादि भाव नही होनेके कारण वे कर्मबन्धको नही करते । जाननेमे आये हुए पुद्गल कर्मके अश है, ऐसा होनेपर भी जो आत्माका सचेतन करते हैं, तो वे ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे युक्त मोहादि भावसे युक्त क्रिया होती है, तो उस क्रियासे फलभूत जो क्रिया है, उससे बन्धका अनुभव करते, ज्ञानक्रियासे अनुभव नही करते ।

ज्ञानमे परके ग्रहण त्यागका अभाव—पहले प्रकरणमें एक गाथा आई, जिसका अर्थ है कि ज्ञानी और ज्ञान न परपदार्थको ग्रहण करता और न परपदार्थको छोडता, वह तो पर-पदार्थका मात्र ज्ञाता ही है। किसीने रुपयेका त्याग कर दिया तो वे रुपये उसमे लगे हुए ही कब थे ? उसमे उन रुपयोमे मात्र विकल्प कर रखा था। अब उनमेका विकल्प जो था, उसका त्याग कर देता, वह तो उसका था ही कब ? कोई आदमी कहे मैं कि मेरे रुपयोको इसलिए त्यागता हू कि इनका सदुपयोग हो। ऐसा कहने वाले आदमीने तो विकल्पका त्याग करनेके बजाय एक विकार अपनेमे और लगा लिया कि यह सदुपयोगमे जाना चाहिए, और पता क्या उस त्यागके स्तोत्रमे क्या-क्या विकल्प हुए हो ? उस विकारके कारण जो बात बनी, उससे लोग यह कहते है कि इनसे १० हजार रु०का त्याग किया। पदार्थ हममे है ही नही तो उसको छोडा क्या ? इस प्रकार अर्थोमे परिणमन-क्रिया जिस ज्ञानीकी आत्मामे नही है, वह अर्थको न ग्रहण करता और न अर्थोमे उत्पन्न होता। वहाँ तो एक केवल ज्ञप्ति क्रिया ही होती, और वह उस क्रियाका बन्धका अनुभव नही करता।

रागसे आन्तरिक उपद्रव—एक बारह वर्षके लिए अपनी स्त्री और बच्चेको छोडकर परदेश गया। बारह वर्ष बाद स्त्रीने पत्र डाला कि जल्दी आओ। वह बोला कि मैं कोई खास काममे फसा हुआ हू, मौका मिलते ही आऊगा। उसका पुत्र जब वह गया था तो बिलकुल छोटा था। वह अब बडा हो गया, और स्त्रीने अपने पुत्रको कहा कि जा और अपने पिताको फला जगहसे जाकर ले आ। रास्तेमे किसी धर्मशालामे वह पुत्र ठहरा, और उसी धर्मशालामे रात बितानेके लिए पिता भी उस लडकेके बराबर वाले कमरेमे ही ठहरा। आधी रातको लडकेके पेटमे बडे जोरका दर्द उठा। सर्दीकी रात थी। उस पेटके दर्दसे वह लडका चिल्ला-चिल्लाकर रोया। बापके पास पेटके दर्दकी अचूक दवा भी थी, परन्तु उसने सोचा कि यह आधी रातको हमको कौन तग करता है, वह चौकीदारके पास गया और उससे बोला कि हमने तुमको दस रुपये इनामके इस बातके दिये हैं कि हमे रातको आराम मिले, परतु न जाने यह कौन लडका है, जो हमको तग करता है, इसे यहाँसे निकालो। यदि नही निकालते हो तो मैं तुम्हारे मत्री जीसे शिकायत कर दूगा कि इसने मेरेसे १०) रु० रिश्वतके लिए है। इतने ही मे उस लडके के पेटमे दर्द बढ गया और वह मर गया। सुबह उठकर बाप अपने घरके लिए रवाना हुआ। घर पहुचकर उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि लडका कहाँ है तो स्त्रीने कहा कि वह तो तुम्हे ढूढनेके लिए गया है। बाप फिर लडकेको ढूढने गया। वह उसी धर्मशालामे पहुचा और चौकीदारसे पूछा कि यहाँ इस नामका कोई लडका कभी ठहरा था क्या ? रजिस्टर देखा गया और बताया गया कि जिस दिन आप ठहरे थे, उसी दिन उसके बराबर वाले कमरेमे ही इस नामका लडका ठहरा हुआ था जो उस दिन पेटमे दर्द होनेके कारण मर गया। ज्यो ही बापने

यह सुना तो वह बेहोश हो गया। देखो वह लडका मरा तो उसके सामने हो था, उसने उसे निकालनेके लिए भी उस समय कहा था, परन्तु उस समय तो वह बेहोश नही हुआ, परन्तु अब बेहोश हो गया। कारण यह था कि उस वक्त उसे यह पता नही था कि यह मेरा ही लडका है, और उसके आत्मामे तद्विषयक मोहका भाव नही था, परन्तु अब जब पता लगा कि वह जो मरा था, वह तो मेरी आँखोके सामने ही मेरा ही लडका मरा था, इसलिए अब मोह पैदा होनेके कारण वह बेहोश हो गया, इसे कहते है कि ज्ञेयार्थपरिणमन कर लिया। उस समय क्यो नही बेहोश हो गया, क्योकि वहाँपर प्रेम नही दौड रहा था, क्योकि उसे राग नही था, उसे पता नही था, और जिस समय यह मालूम हुआ कि उसका ही लडका था, वहाँ बेहोश हो गया। हम ही अपने अन्तरमे ऐसा विकल्प उठाते कि मेरा है, जब ही बन्ध होता है। जब मरनेका ज्ञान था तब तो राग नही था, और उस समय राग न होनेके कारण दुःख नही था, परन्तु अब मरनेका दृश्य सामने नही है, फिर भी उसकी दुःख हो रहा है, क्योकि वहाँ राग है। इसलिए उपदेश यह दिया जाता है कि भाई राग मत करो।

ज्ञानमूर्तिकी ज्ञानवर्तना—जिसने कर्मको नष्ट कर दिया, मोहको नष्ट कर दिया, घातिया कर्मो को नष्ट कर दिया, वह एक साथ सारे विश्वको जानते हुए, वर्तमान और भविष्य और भूतको जानता है, सर्व कुछ एक साथ जानता होता, मोहके अभावमे जिस समय यह आत्मा इस प्रकारका जानने वाला हुआ है वह परपदार्थरूप परिणमन नही करता। इस इसलिए वह तीन लोकको जानता होता। वह ज्ञानमूर्ति कैसी है? वह तीन लोक जिसका कि बडा विस्तार है और जिस विस्तारके कारण ज्ञप्तिक्रियामे भी ऐसा विस्तार आया है कि सारे ३ लोकके आकारोको जिसने पी लिया है, निश्चयसे यह आत्मा अपने ही प्रदेशमे रहकर जो असख्यात प्रदेशोमे जो ज्ञान है उसकी क्रियाको जानता है। तीन लोकके तीन कालके सारे द्रव्य गुण पर्याय जिसने पी लिये है, ऐसा वह ज्ञान तीन लोकको, पृथक् पृथक् देखता हुआ वह भी ज्ञानमूर्ति परपदार्थरूप नही परिणमता।

ज्ञानमूर्तिका जयवाद—इस प्रकार आज ज्ञानका, अथवा केवलज्ञानका वर्णन समाप्त हुआ। कलसे आनन्दका प्रकरण प्रारम्भ होगा। यह स्वाभाविक ज्ञानका वर्णन है, इससे हमे यह उपदेश मिलता है कि हे आत्मन्! तू स्वभावसे ऐसी परिस्थिति वाला है। देखो इस स्वाभाविक ज्ञानमे न तो अपूर्णताका नाम है, न आकुलताका रंच काम है, परम आनदका सहज धाम है, इसकी प्राप्तिका पहिला यत्न मनकी थाम है, इसकी लीनताके लिये ही योगियोके लिये ही योगियोके आठो याम है, यही अभिरामोमे अभिराम है, यहाँ ही सत्य विश्राम, है यहाँ ही वास्तविक आराम है। अस्वाभाविक अपूर्ण ज्ञानपर इतराना मूढोका ही

काम है। हे सुखार्थिन्! अब सर्व विकल्प विसार कर एक सर्वज्ञानपर्यायोके स्रोतरूप ध्रुव निज स्वभावकी ओर ही रहो, यही सर्वकल्याणका पिता है। निज स्वभावदृष्टिसे निजस्वभाव को कारणरूपसे उपादान करके स्वय प्रवेश करने वाले निर्मल पर्यायोके प्रवाह चल पडेंगे, जो पूर्ण सुखोकरि व्याप्त है। हे ज्ञानमूर्ति! जयवत होओ।

॥ प्रवचनसार प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

—०—
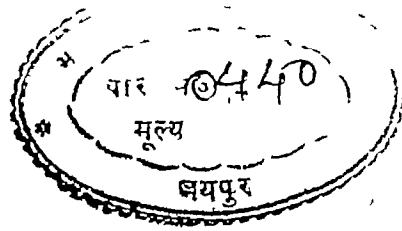
परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी।

जय जय अविकारी ॐ जय जय अविकारी।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ ॐ ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥१॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव संतति टारी।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपत भारी ॥२॥ ॐ

परसम्बध बध दुःख कारण, करत अहित भारी।
परम ब्रह्मका दर्शन, चहु गति दुःखहारी ॥३॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भडारी ॥४॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिधारी।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥५॥ ॐ